विवेकानन्द साहित्य

जन्मशती संस्करण

षष्ठ खंड

अद्वैत आश्रम
५ डिही एण्टाली रोड
कलकत्ता १४

प्रकाशक
स्वामी गम्भीरानन्द
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम
मायावती, अलमोड़ा, हिमालय

प्रथम संस्करण
5M3C–जुलाई, १९६२

मूल्य छः रुपये

विषय-सूची

वार्ता एवं संलाप—१

स्वामी विवेकानन्द

वार्ता एवं संलाप-१

शिष्य से वार्तालाप[1]

१

[स्थान : कलकत्ता, स्व० प्रियनाथ मुकर्जी का भवन, बाग़बाज़ार। वर्ष : १८९७ ई०]

तीन-चार दिन हुए, स्वामी जी प्रथम वार पाश्चात्य देशों से लौटकर कलकत्ते में पधारे हैं। वहुत दिनों वाद उनके पुण्य दर्शन होने से श्री रामकृष्ण के भक्तगण वहुत प्रसन्न हैं। उनमें से जिनकी अवस्था अच्छी है, वे स्वामी जी को सादर अपने घर पर आमन्त्रित करके उनके सत्संग से अपने को कृतार्थ समझते हैं। आज मध्याह्न वाग़वाज़ार के अन्तर्गत राजवल्लभ मुहल्ले में श्री रामकृष्ण के भक्त प्रियनाथ जी के घर पर स्वामी जी का निमन्त्रण है। यह समाचार पाते ही, वहुत से भक्त उनके घर आ रहे हैं। शिष्य भी लोगों के मुंह से यह सुनकर प्रियनाथ जी के घर पर कोई ढाई वजे उपस्थित हुआ। स्वामी जी के साथ शिष्य का अभी तक कोई परिचय नहीं। अतः उसके अपने जीवन में स्वामी जी का यह प्रथम दर्शन है।

वहाँ उपस्थित होते ही स्वामी तुरीयानन्द जी शिष्य को स्वामी जी के पास ले गये और उसका परिचय कराया। स्वामी जी जव विदेश से वेलूड़ मठ में पधारे थे, तभी शिष्यरचित एक श्री रामकृष्णस्तोत्र पढ़कर उसके विपय में सव जान गये थे और उन्होंने यह भी मालूम कर लिया था कि शिष्य का श्री रामकृष्ण के वड़े प्रेमी भक्त साधु नाग महाशय के पास आना जाना रहता है।

शिष्य जव स्वामी जी को प्रणाम करके वैठ गया तो स्वामी जी ने संस्कृत में संभाषण करते हुए नाग महाशय का कुशल-मंगल पूछा। नाग महाशय के लोकोत्तर

---

१. 'शिष्य से वार्तालाप' के शिष्य शरत् चन्द्र चक्रवर्ती हैं, जिन्होंने दो भागों में अपनी वंगाली पुस्तक 'स्वामी-शिष्य संवाद' प्रकाशित की थी। चक्रवर्ती महोदय ने प्रस्तुत वार्तालाप क्रम में 'शिष्य' रूप में अपने को सदा अन्य पुरुष में उल्लिखित किया है।

त्याग, गम्भीर ईश्वरानुराग और दीन भाव की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा—
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती[1] और शिष्य को आज्ञा दी कि पत्र
द्वारा इस सम्भाषण को उनके पास भेज दे। तदनन्तर बहुत भीड़ लग जाने के
कारण वार्तालाप करने का सुभीता न देखकर स्वामी जी शिष्य और तुरीयानन्द
जी को लेकर पश्चिम के एक छोटे कमरे में चले गये और शिष्य को लक्ष्य करके
'विवेकचूड़ामणि' का यह श्लोक कहने लगे—

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः
संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः ।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं
तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥

—'हे विद्वन्! डरो मत; तुम्हारा नाश नहीं है, संसार-सागर के पार उतरने
का उपाय है। जिस पथ के अवलम्बन से यती लोग संसार-सागर के पार उतरे
हैं, वही श्रेष्ठ पथ मैं तुम्हें दिखाता हूँ!' ऐसा कहकर उन्होंने शिष्य को श्री
शंकराचार्य कृत 'विवेकचूड़ामणि' ग्रन्थ पढ़ने का आदेश दिया।

शिष्य इन बातों को सुनकर चिन्ता करने लगा—क्या स्वामी जी मुझे मंत्रदीक्षा
लेने के लिए संकेत कर रहे हैं? उस समय शिष्य वेदान्तवादी और आचार-मार्गी
था। गुरु से मन्त्र लेने की प्रथा पर उसे कोई आस्था न थी और वर्णाश्रम धर्म का
वह एकान्त पक्षपाती तथा अनुयायी था।

फिर नाना प्रकार के प्रसंग चल रहे थे कि इतने में ही किसीने आकर समाचार
दिया कि 'मिरर' दैनिक पत्र के सम्पादक श्री नरेन्द्रनाथ सेन स्वामी जी के दर्शन
के लिए आये हैं। स्वामी जी ने संवादवाहक को आज्ञा दी, 'उन्हें यहाँ लिवा लाओ।'
नरेन्द्र बाबू ने छोटे कमरे में आकर आसन ग्रहण किया और वे अमेरिका, इंग्लैण्ड
के विषय में स्वामी जी से नाना प्रकार के प्रश्न करने लगे। प्रश्नों के उत्तर में स्वामी
जी ने कहा कि अमेरिका के लोग जैसे सहृदय, उदारचित्त, अतिथिसेवी और नवीन
भाव ग्रहण करने में उत्सुक हैं, वैसे संसार के किसी भी राष्ट्र के लोग नहीं हैं।
अमेरिका में जो कुछ कार्य हुआ है, वह मेरी शक्ति से नहीं हुआ, वरन् अत्यन्त
सहृदय होने के कारण ही अमेरिकावासी इस वेदान्त भाव को ग्रहण करने में समर्थ
हुए हैं। इंग्लैण्ड के विषय में स्वामी जी ने कहा कि अंग्रेज जाति की तरह प्राचीन रीति-
नीतिपरायण और कोई जाति संसार में नहीं। पहले तो ये लोग किसी नये भाव को

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

सहज में ग्रहण करना ही नहीं चाहते; परन्तु यदि अध्यवसाय के साथ कोई भाव उनको एक वार समझा दिया जाय तो फिर उसे वे कभी भी नहीं छोड़ते। ऐसा दृढ़ निश्चय किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता। इसी कारण अंग्रेज़ जाति ने सभ्यता में और शक्ति-संचय में पृथ्वी पर सबसे ऊँचा पद प्राप्त किया है।

यह घोषित करते हुए कि यदि कोई सुयोग्य प्रचारक मिले तो अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैण्ड में ही वेदान्त-कार्य के स्थायी होने की अधिक सम्भावना है, उन्होंने आगे कहा, "मैं केवल कार्य की नींव डालकर आया हूँ, मेरे वाद के प्रचारक उसी मार्ग पर चलकर भविष्य में वहुत वड़ा काम कर सकेंगे।"

नरेन्द्र वावू ने पूछा—"इस प्रकार धर्म-प्रचार करने से भविष्य मे हम लोगों को क्या आशा है?"

स्वामी जी ने कहा—"हमारे देश में जो कुछ है वह वेदान्त धर्म ही है। अन्य वातों की तुलना में पाश्चात्य सभ्यता के सामने हम नगण्य हैं; परन्तु धर्म के क्षेत्र में यह सार्वभौम वेदान्तवाद ही नाना प्रकार के मतावलम्बियों को समान अधिकार दे रहा है। इसके प्रचार से पाश्चात्य सभ्य संसार को विदित होगा कि एक समय भारतवर्ष में कैसे आश्चर्यजनक धर्म-भाव का स्फुरण हुआ था और वह अव तक वर्तमान है। इस धर्म की चर्चा होने से पाश्चात्य राष्ट्रों की श्रद्धा और सहानुभूति हमारे प्रति वढ़ेगी—एक सीमा तक इनकी अभिवृद्धि हुई भी है। इस प्रकार उनकी यथार्थ श्रद्धा और सहानुभूति प्राप्त करने पर हम अपने ऐहिक जीवन के लिए उनसे वैज्ञानिक शिक्षा ग्रहण करके जीवन संग्राम में अधिक दक्षता प्राप्त करेंगे। दूसरी ओर वे हमसे वेदान्त मत ग्रहण करके अपना पारमार्थिक कल्याण करने में समर्थ होंगे।"

नरेन्द्र वावू ने पूछा—"क्या इस प्रकार के आदान-प्रदान से हमारी राजनीतिक उन्नति की कोई आशा है?"

स्वामी जी ने कहा, "वे (पाश्चात्य राष्ट्र) महापराक्रमी विरोचन की सन्तान हैं। उनकी शक्ति से पंचभूत कठपुतली के समान उनकी सेवा कर रहे हैं। यदि आप लोग यह समझते हों कि उनके ख़िलाफ़ इसी भौतिक शक्ति के प्रयोग से किसी न किसी दिन हम उनसे स्वतन्त्र हो जायँगे तो आप लोग सरासर ग़लती पर हैं। और इस शक्ति-प्रयोग की कुशलता में उनके सामने हम ऐसे ही हैं जैसे हिमालय के सामने एक सामान्य शिला-खण्ड। मेरा मत क्या है, जानते हैं? उक्त प्रकार से हम लोग वेदान्त धर्म का गूढ़ रहस्य पाश्चात्य जगत् में प्रचार करके उन महा शक्तिशाली राष्ट्रों की श्रद्धा और सहानुभूति प्राप्त करेंगे और आध्यात्मिक विषय में सर्वदा उनके गुरुस्थानीय वने रहेंगे। दूसरी ओर वे अन्यान्य

शायद स्वामी जी की अब समझ में आया कि शिष्य एक निष्ठावान्, आचार-धर्मी हिन्दू है।

इसके बाद स्वामी जी श्री रामकृष्ण के भक्तों के साथ बलराम बसु के स्थान को गये। शिष्य भी बटतले मुहल्ले से 'विवेकचूड़ामणि' ग्रन्थ मोल लेकर दर्जीपाड़े में अपने घर की ओर चल पड़ा।

[२]

[स्थान : कलकत्ते से काशीपुर जाने का रास्ता और गोपाललाल शील का बाग़। वर्ष : १८९७ ई०]

आज मध्याह्न स्वामी जी श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष[1] के मकान पर आराम कर रहे थे। शिष्य ने वहां आकर स्वामी जी को प्रणाम किया और उनको गोपाललाल शील के महल को जाने के लिए प्रस्तुत पाया। गाड़ी खड़ी थी। स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "मेरे साथ चल।" शिष्य के राज़ी होने पर स्वामी जी उसको लेकर गाड़ी में सवार हुए और गाड़ी चल दी। चितपुर मार्ग पर पहुँचकर गंगा दर्शन होते ही स्वामी जी मन ही मन गंगा-तरंग-रमणीय-जटाकलापम् आदि लय के साथ कहने लगे। शिष्य मुग्ध होकर इस अद्भुत स्वर-लहरी को चुपचाप सुनने लगा। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर एक रेल के इंजन को चितपुर पुल की ओर जाते देख स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "देखो, कैसा सिंह की भांति जा रहा है!" शिष्य ने कहा, "यह तो जड़ है, उसके पीछे मनुष्य की चेतना-शक्ति काम करती है और इसीसे वह चलता है। इस प्रकार चलने से क्या उसका अपना बल प्रकट होता है?"

स्वामी जी—अच्छा, बतलाओ तो चेतना का लक्षण क्या है?

शिष्य—महाराज, चेतन वही है जिसमें बुद्धिप्रेरित क्रिया पायी जाती है।

स्वामी जी—जो कुछ प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई करता है, वही चेतन है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी अपनी जीवन रक्षा के लिये एक बार लड़ाई करेगी। जहां चेष्टा या पुरुषार्थ है, जहां संग्राम है, वहीं जीवन का चिह्न और चैतन्य का प्रकाश है।

---

१. बंगाल के एक सुविख्यात नाटककार, नट एवं श्री रामकृष्ण के एक परम भक्त।

शिष्य—क्या यही नियम मनुष्य और राष्ट्रों पर भी लागू होता है महाराज?

स्वामी जी—लागू होता है या नहीं, यह संसार का इतिहास पढ़ कर देखो। यह नियम तुम्हारी जाति को छोड़कर सब जातियों के सम्बन्ध में ठीक है। आज कल संसार भर में केवल तुम्हीं लोग जड़ के समान पड़े हो। तुम बिल्कुल सम्मोहित हो चुके हो। बहुत प्राचीन समय से औरों ने तुमको बतलाया कि तुम हीन हो, तुममें कोई शक्ति नहीं—और तुम भी यह बात सहस्रों वर्षों से सुनते सुनते कि हम हीन हैं, अपने को निकम्मा समझने लगे हो—ऐसा सोचते सोचते तुम वैसे ही बन गये हो। (अपना शरीर दिखलाकर) यह शरीर भी तो इसी देश की मिट्टी से बना है, परन्तु मैंने कभी ऐसी चिन्ता नहीं की। देखो, इसी कारण उसकी (ईश्वर की) इच्छा से, जो हमको चिर काल से हीन समझते रहे हैं, उन्होंने ही मेरा देवता के समान सम्मान किया और करते हैं। यदि तुम लोग भी सोच सको कि हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह वर्तमान है, और अपने भीतर की शक्ति को जगा सको तो मेरे समान हो जाओगे।

शिष्य—महाराज, ऐसा चिन्तन करने की शक्ति कहाँ से मिले? ऐसा शिक्षक या उपदेशक कहाँ जो लड़कपन से ही इन बातों को सुनाता और समझाता रहे! हमने तो सबसे यही सुना और सीखा है कि आजकल का पठन-पाठन केवल नौकरी पाने के लिए है।

स्वामी जी—इसीलिए हम आये हैं दूसरे प्रकार से सिखलाने और दिखलाने के लिए। तुम सब इस तत्त्व को हमसे सीखो, समझो और अनुभव करो। फिर इस भाव को नगर नगर, गाँव गाँव, पुरवे पुरवे में फैला दो। और सबके पास जा जा कर कहो, "उठो, जागो और सोओ मत। सारे अभाव और दुःख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है, इस बात पर विश्वास करने ही से वह शक्ति जाग उठेगी।" यह बात सबसे कहो और साथ ही सरल भाषा में विज्ञान, दर्शन, भूगोल और इतिहास की मूल बातों को सर्वसाधारण में फैला दो। मेरा यह विचार है कि मैं अविवाहित नवयुवकों को लेकर एक शिक्षा-केन्द्र स्थापित करूँ। पहले उनको शिक्षा दूँ, तत्पश्चात् उनके द्वारा इस कार्य का प्रचार कराऊँ।

शिष्य—महाराज, इस कार्य के लिए तो बहुत धन की अपेक्षा है और वह कहाँ से आयेगा?

स्वामी जी—अरे, तू क्या कहता है? मनुष्य ही तो रुपया पैदा करता है। रुपये से मनुष्य पैदा होता है, यह भी कभी कहीं सुना है? यदि तू अपने मन और मुख तथा वचन और क्रिया को एक कर सके तो धन आप ही तेरे पास जलवत् बह आयेगा।

शिष्य---अच्छा महाराज, माना कि धन आ गया और आपने भी इस सत्कार्य का अनुष्ठान कर दिया। फिर इसके पूर्व भी तो कितने ही महापुरुष कितने सत्कार्यों का अनुष्ठान कर गये, वे सब (सत्कार्य) अब कहाँ हैं! निश्चय है कि आपके द्वारा प्रतिष्ठित कार्य की भी भविष्य में ऐसी ही दशा होगी। तव ऐसे उद्यम की आवश्यकता ही क्या?

स्वामी जी---भविष्य में क्या होगा, इसी चिन्ता में जो सर्वदा रहता है, उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिए जिस बात को तू सत्य समझता है, उसे अभी कर डाल; भविष्य में क्या होगा, क्या नहीं होगा, इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता? तनिक सा तो जीवन है; यदि इसमें भी किसी कार्य के लाभालाभ का विचार करते रहें तो क्या उस कार्य का होना सम्भव है? फलाफल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। जैसा उचित होगा वैसा ही वह करेगा। इस विषय में पड़ने से तेरा क्या प्रयोजन है? तू उसकी चिन्ता न कर, अपना काम किये जा।

बातें करते करते गाड़ी कोठी पर आ पहुँची। कलकत्ते से वहुत से लोग स्वामी जी के दर्शन के लिए वहाँ आये हुए थे। स्वामी जी गाड़ी से उतरकर कमरे में जा बैठे और सबसे बातचीत करने लगे। स्वामी जी के अंग्रेज़ शिष्य गुडविन साहब मूर्तिमान सेवा की भाँति पास ही खड़े थे। इनके साथ शिष्य का परिचय पहले ही हो चुका था, इसीलिए शिष्य भी उनके पास ही बैठ गया और दोनों मिलकर स्वामी जी के विषय में नाना प्रकार का वार्तालाप करने लगे।

सन्ध्या होने पर स्वामी जी ने शिष्य को बुलाकर पूछा, "क्या तूने कठोपनिषद् कण्ठस्थ कर लिया है?"

शिष्य---नहीं महाराज, मैंने शंकर-भाष्य के सहित उसका पाठ मात्र किया है।

स्वामी जी---उपनिषदों में ऐसा सुन्दर ग्रन्थ और कोई नहीं। मैं चाहता हूँ, तू इसे कण्ठस्थ कर ले। नचिकेता के समान श्रद्धा, साहस, विचार और वैराग्य अपने जीवन में लाने की चेष्टा कर, केवल पढ़ने से क्या होगा?

शिष्य---ऐसी कृपा कीजिए कि दास को भी उस सबका अनुभव हो जाय।

स्वामी जी---तुमने तो श्री रामकृष्ण का कथन सुना है? वे कहा करते थे कि 'कृपारूपी वायु सर्वदा चलती रहती है, तू पाल उठा क्यों नहीं देता?' वेटे, क्या कोई किसीके लिए कुछ कर सकता है? अपना भाग्य अपने ही हाथ में है। बीज ही की शक्ति से वृक्ष होता है। जलवायु तो उसके सहायक मात्र होते हैं।

शिष्य—तो देखिए न महाराज, वाहर की सहायता भी आवश्यक है ?

स्वामी जी—हाँ, है। परन्तु वात यह है कि भीतर पदार्थ न रहने पर वाहर की कितनी ही सहायता से कुछ फल नहीं होता। आत्मानुभूति के लिए एक अवसर सभी को मिलता है, सभी ब्रह्म जो हैं। ऊँच-नीच का भेद ब्रह्म-विकास के तारतम्य मात्र से होता है। समय आने पर सभी का पूर्ण विकास होता है। शास्त्र में भी यही कहा गया है, **कालेनात्मनि विन्दति।**

शिष्य—महाराज, ऐसा कब होगा ? शास्त्रों से जान पड़ता है, हमने वहुत जन्म अज्ञान में विताये हैं।

स्वामी जी—डर क्या है ? अव जव तू यहाँ आ गया है, तब इसी जन्म में तेरा वन जायगा। मुक्ति, समाधि—ये सव ब्रह्मप्रकाश के पथ पर प्रतिवन्ध को दूर करने के नाम मात्र है, क्योंकि आत्मा तो सर्वदा ही सूर्य के समान चमकती रहती है। केवल अज्ञानरूपी वादल ने उसे ढक लिया है। वह हटा कि सूर्य भी प्रकट हुआ। तभी **भिद्यते हृदयग्रन्थिः** आदि अवस्थाएँ आती है। जितने पथ देखते हो वे सभी इस प्रतिवन्ध रूपी मेघ को दूर करने का उपदेश देते हैं। जिसने जिस भाव से आत्मानुभव किया, वह उसी भाव से उपदेश कर गया है, परन्तु सवका उद्देश्य है आत्मज्ञान—आत्मदर्शन। इसमें सव जातियों को, सब प्राणियों को समान अधिकार है। यही सार्वभौम मत है।

शिष्य—महाराज, शास्त्र के इस वचन को जव मैं पढ़ता या सुनता हूँ, तव आत्मतत्त्व के अभी तक प्रत्यक्ष न होने के कारण मन छटपटाने लगता है।

स्वामी जी—इसीको 'व्याकुलता' कहते हैं। यह जितनी वढ़ेगी, प्रतिवन्ध रूपी वादल उतना ही नष्ट होगा, उतना ही श्रद्धाजनित समाधान प्राप्त होगा। शनैः शनैः आत्मा 'करतलामलकवत्' प्रत्यक्ष होगी। अनुभूति ही धर्म का प्राण है। कुछ आचार तथा विधि-निषेधों को सव मान कर चल सकते हैं। कुछ का पालन भी सव कर सकते हैं, परन्तु अनुभूति के लिए कितने लोग व्याकुल होते हैं ? व्याकुलता, ईश्वर-लाभ या आत्मज्ञान के निमित्त उन्मत्त होना ही यथार्थ धर्म-प्रवणता है। भगवान् श्री कृष्ण के लिए गोपियों की जैसी अदम्य उन्मत्तता थी, वैसी ही आत्मदर्शन के लिए होनी चाहिए। गोपियों के मन में भी स्त्री-पुरुष का किंचित् भेद था, परन्तु वास्तविक आत्मज्ञान में वह भेद ज़रा भी नहीं रहता।

वात करते हुए स्वामी जी ने जयदेव लिखित 'गीतगोविन्द' के विषय में कहा—श्री जयदेव संस्कृत भाषा के अन्तिम कवि थे। उन्होंने कई स्थानों में भाव की अपेक्षा श्रुति-मधुर पदविन्यास पर अधिक ध्यान दिया है। देखो, गीतगोविन्द के—

पतति पतत्रे विचलति पत्रे शंकितभवदुपयानम्।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्॥

इन श्लोकों में कवि ने अनुराग तथा व्याकुलता की क्या पराकाष्ठा दिखलायी है! आत्मदर्शन के लिए हृदय में वैसी ही व्याकुलता होनी चाहिए।

फिर वृन्दावन-लीला को छोड़कर यह भी देखो कि कुरुक्षेत्र में श्री कृष्ण कैसे हृदयग्राही हैं—भयानक युद्ध के कोलाहल में भी स्थिर, गम्भीर तथा शान्त। युद्धक्षेत्र में ही अर्जुन को गीता का उपदेश दे रहे हैं। युद्ध के लिए, जो क्षत्रिय का स्वधर्म है, उनको उत्साहित कर रहे हैं।

इस भयंकर युद्ध के प्रवर्तक होकर भी कैसे श्री कृष्ण कर्महीन रहे, उन्होंने अस्त्र धारण नहीं किया। जिधर से देखोगे श्री कृष्ण के चरित्र को सर्वांग सम्पूर्ण पाओगे। ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग इन सबके मानो वे प्रत्यक्ष स्वरूप ही हैं। श्री कृष्ण के इसी भाव की आजकल विशेष चर्चा होनी चाहिए। अब वृन्दावन के वंशीधारी कृष्ण के ध्यान करने से कुछ न बनेगा, इससे जीव का उद्धार नहीं होगा। अब प्रयोजन है गीता के सिंहनादकारी श्री कृष्ण की, धनुषधारी श्री रामचन्द्र की, महावीर की, माँ काली की पूजा की। इसीसे लोग महा उद्यम के साथ कर्म में लगेंगे और शक्तिशाली बनेंगे। मैंने बहुत अच्छी तरह विचार करके देखा है कि वर्तमान काल में जो धर्म की रट लगा रहे हैं, उनमें से बहुत लोग पाशवी दुर्बलता से भरे हुए हैं, विकृतमस्तिष्क हैं अथवा उन्मादग्रस्त। बिना रजोगुण के तेरा अब न इहलोक है और न परलोक। घोर तमोगुण से देश भर गया है। फल भी उसका वैसा हो रहा है—इस जीवन में दासत्व और उसमें नरक।

शिष्य—पाश्चात्यों में जो रजोभाव है उसे देखकर क्या आपको आशा है कि वे भी सात्विक बनेंगे?

स्वामी जी—निश्चय बनेंगे, निःसन्देह बनेंगे। चरम रजोगुण का आश्रय लेनेवाले वे अब भोग की आखिरी सीमा पर पहुँच गये हैं। उनको योग प्राप्त न होगा तो क्या तुम्हारे समान भूखे, उदर के निमित्त मारे मारे फिरनेवालों को होगा? उनके उत्कृष्ट भोगों को देख 'मेघदूत' के **विद्युद्वन्तं ललितवसनाः** इत्यादि चित्र का स्मरण आता है। और तुम्हारे भोग में आता है केवल सीलन की दुर्गन्धवाले मकान में फटी पुरानी गुदड़ी पर सोना और हर साल सुअर के समान अपना वंश बढ़ाना—भूखे भिखमंगों तथा दासों को जन्म देना! इसीसे मैं कहता हूँ कि अब मनुष्यों में रजोगुण उद्दीप्त कराके उनको कर्मशील करना पड़ेगा। कर्म-कर्म, केवल कर्म। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**—उद्धार का अन्य कोई भी पथ नहीं है।

शिष्य—महाराज, क्या हमारे पूर्वज भी कभी रजोगुण सम्पन्न थे?

स्वामी जी—क्यों नहीं? इतिहास तो बतलाता है कि उन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की और वहाँ उपनिवेश भी स्थापित किये। तिब्बत, चीन, सुमात्रा, जापान तक धर्मप्रचारकों को भेजा था। बिना रजोगुण का आश्रय लिये उन्नति का कोई भी उपाय नहीं।

बातचीत में रात ज़्यादा बीत गयी। इतने में कुमारी मूलर आ पहुँचीं। यह एक अंग्रेज महिला थीं, स्वामी जी पर विशेष श्रद्धा रखती थीं। कुछ बातचीत करके कुमारी मूलर ऊपर चली गईं।

स्वामी जी—देखता है, यह कैसी वीर जाति की है? बड़े धनवान की लड़की है, तब भी धर्मलाभ के लिए सब कुछ छोड़कर कहाँ आ पहुँची है!

शिष्य—हाँ महाराज, परन्तु आपका क्रियाकलाप और भी अद्भुत है। कितने ही अंग्रेज़ पुरुष और महिलाएँ आपकी सेवा के लिए सर्वदा उद्यत हैं। आजकल यह बड़ी आश्चर्यजनक बात प्रतीत होती है।

स्वामी जी—(अपने शरीर की ओर संकेत करके) यदि शरीर रहा तो कितने ही और आश्चर्य देखोगे। कुछ उत्साही और अनुरागी युवक मिलने से मैं देश में उथल-पुथल मचा दूँगा। मद्रास में कुछ ऐसे युवक हैं, परन्तु बंगाल से मुझे विशेष आशा है। ऐसे साफ़ दिमागवाले और कहीं नहीं पैदा होते; किन्तु इनकी मांस-पेशियों में शक्ति नहीं है। मस्तिष्क और शरीर की मांस-पेशियों का बल साथ साथ विकसित होना चाहिए। फ़ौलादी शरीर हो और साथ ही कुशाग्र बुद्धि भी हो तो सारा संसार तुम्हारे सामने नतमस्तक हो जायगा।

इतने में समाचार मिला कि स्वामी जी का भोजन तैयार है। स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "मेरा भोजन देखने चलो।" स्वामी जी भोजन करते करते कहने लगे, "बहुत चर्बी और तेल से पका हुआ भोजन अच्छा नहीं। पूरी से रोटी अच्छी होती है। पूरी रोगियों का खाना है। ताजा शाक अधिक मात्रा में खाना चाहिए, और मिठाई कम।" कहते कहते शिष्य से पूछा, "अरे, मैंने कितनी रोटियाँ खा लीं! क्या और भी खानी होंगी?" कितनी रोटियाँ खायीं! उनको यह स्मरण नहीं रहा, और यह भी वह नहीं समझ पा रहे हैं कि भूख है या नहीं। बातों बातों में शरीर-ज्ञान इतना जाता रहा।

कुछ और खाकर स्वामी जी ने अपना भोजन समाप्त किया। शिष्य भी विदा लेकर कलकत्ते को वापस लौटा। गाड़ी न मिलने से पैदल ही चला। चलते चलते विचार करने लगा कि न जाने कल फिर कब तक वह स्वामी जी के दर्शन को आयेगा।

शिष्य—महाराज, क्या हमारे पूर्वज भी कभी रजोगुण सम्पन्न थे ?

स्वामी जी—क्यों नहीं ? इतिहास तो बतलाता है कि उन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की और वहाँ उपनिवेश भी स्थापित किये। तिब्बत, चीन, सुमात्रा, जापान तक धर्मप्रचारकों को भेजा था। बिना रजोगुण का आश्रय लिये उन्नति का कोई भी उपाय नहीं।

बातचीत में रात ज्यादा बीत गयी। इतने में कुमारी मूलर आ पहुँचीं। यह एक अंग्रेज़ महिला थीं, स्वामी जी पर विशेष श्रद्धा रखती थीं। कुछ बातचीत करके कुमारी मूलर ऊपर चली गईं।

स्वामी जी—देखता है, यह कैसी वीर जाति की है ? बड़े धनवान की लड़की है, तब भी धर्मलाभ के लिए सब कुछ छोड़कर कहाँ आ पहुँची है !

शिष्य—हाँ महाराज, परन्तु आपका क्रियाकलाप और भी अद्भुत है। कितने ही अंग्रेज़ पुरुष और महिलाएँ आपकी सेवा के लिए सर्वदा उद्यत हैं। आजकल यह बड़ी आश्चर्यजनक बात प्रतीत होती है।

स्वामी जी—(अपने शरीर की ओर संकेत करके) यदि शरीर रहा तो कितने ही और आश्चर्य देखोगे। कुछ उत्साही और अनुरागी युवक मिलने से मैं देश में उथल-पुथल मचा दूँगा। मद्रास में कुछ ऐसे युवक हैं, परन्तु बंगाल से मुझे विशेष आशा है। ऐसे साफ़ दिमाग़वाले और कहीं नहीं पैदा होते; किन्तु इनकी मांस-पेशियों में शक्ति नहीं है। मस्तिष्क और शरीर की मांस-पेशियों का बल साथ साथ विकसित होना चाहिए। फ़ौलादी शरीर हो और साथ ही कुशाग्र बुद्धि भी हो तो सारा संसार तुम्हारे सामने नतमस्तक हो जायगा।

इतने में समाचार मिला कि स्वामी जी का भोजन तैयार है। स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "मेरा भोजन देखने चलो।" स्वामी जी भोजन करते करते कहने लगे, "बहुत चर्बी और तेल से पका हुआ भोजन अच्छा नहीं। पूरी से रोटी अच्छी होती है। पूरी रोगियों का खाना है। ताज़ा शाक अधिक मात्रा में खाना चाहिए, और मिठाई कम ।" कहते कहते शिष्य से पूछा, "अरे, मैंने कितनी रोटियाँ खा लीं ! क्या और भी खानी होंगी ?" कितनी रोटियाँ खायीं ! उनको यह स्मरण नहीं रहा, और यह भी वह नहीं समझ पा रहे हैं कि भूख है या नहीं। बातों बातों में शरीर-ज्ञान इतना जाता रहा।

कुछ और खाकर स्वामी जी ने अपना भोजन समाप्त किया। शिष्य भी विदा लेकर कलकत्ते को वापस लौटा। गाड़ी न मिलने से पैदल ही चला। चलते चलते विचार करने लगा कि न जाने कल फिर कब तक वह स्वामी जी के दर्शन को आयेगा।

३

[स्थान : काशीपुर, स्व० गोपाललाल शील का उद्यान। वर्ष : १८९७ ई०]

स्वामी जी विलायत से प्रथम बार लौटकर कुछ दिन तक काशीपुर में स्व० गोपाललाल शील के उद्यान में विराजे। शिष्य का उस समय वहाँ प्रतिदिन आना-जाना रहता था। स्वामी जी के दर्शन के निमित्त केवल शिष्य ही नहीं वरन् और बहुत से उत्साही युवकों की वहाँ भीड़ रहती थी। कुमारी मूलर स्वामी जी के साथ आकर पहले वहीं ठहरी थीं। शिष्य के गुरुभाई गुडविन साहब भी इसी उद्यान-वाटिका में स्वामी जी के साथ रहते थे।

उस समय स्वामी जी का यश भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल रहा था। इसी कारण कोई कौतुकाविष्ट होकर, कोई धर्म जिज्ञासा लेकर तो कोई स्वामी जी के ज्ञान की परीक्षा लेने को उनके पास आता था।

शिष्य ने देखा कि प्रश्न करनेवाले लोग स्वामी जी की शास्त्र-व्याख्या को सुनकर मोहित हो जाते थे और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से बड़े बड़े दार्शनिक और विश्वविद्यालयों के प्रसिद्ध पण्डित विस्मित हो जाते थे; मानो स्वामी जी के कण्ठ में स्वयं सरस्वती ही विराजमान हों। इसी उद्यान में रहते समय उनकी अलौकिक योग-दृष्टि का परिचय समय समय पर होता रहता था ?[१]

कलकत्ते के बड़े बाजार में बहुत से पण्डित रहते थे, जिनका प्रतिपालन मारवाड़ियों के अन्न से होता था। इन सब वेदज्ञ एवं दार्शनिक पण्डितों ने भी स्वामी जी की कीर्ति सुनी। इनमें से कुछ प्रसिद्ध पण्डित स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने के निमित्त एक दिन इस बाग़ में आ पहुँचे। शिष्य उस दिन वहाँ उपस्थित था। आये हुए पण्डितों में से प्रत्येक धाराप्रवाह संस्कृत भाषा में वार्तालाप कर सकता था। उन्होंने आते ही मण्डलीवेष्ठित स्वामी जी को नमस्कार कर संस्कृत में उनसे वार्तालाप आरम्भ किया। स्वामी जी ने भी मधुर संस्कृत में उत्तर दिया। उस दिन

---

१. इस बगीचे में रहते समय स्वामी जी ने एक छिन्नमुण्ड प्रेत देखा था। वह मानो करुण स्वर से उस दारुण यंत्रणा से मुक्त होने के लिए प्रार्थना कर रहा था। अनुसंधान से स्वामी जी को मालूम हुआ कि वास्तव में उस बगीचे में किसी आकस्मिक घटना से एक ब्राह्मण की मृत्यु हुई थी। स्वामी जी ने यह घटना बाद में अपने गुरुभाइयों को बतलायी थी।

कौन से विषय पर पण्डितों का क्या वाद-विवाद हुआ था, यह अब शिष्य को स्मरण नहीं, इतना याद है कि लगभग सभी पण्डितों ने एक स्वर से चिल्लाकर संस्कृत में दर्शनशास्त्र के कूट प्रश्न किये और स्वामी जी ने शान्ति तथा गम्भीरता के साथ धीरे धीरे उन सभी विषयों पर अपनी मीमांसा दी। यह भी याद आता है कि स्वामी जी की संस्कृत पण्डितों की संस्कृत से सुनने में अधिक मधुर तथा सरस थी। पण्डितों ने भी बाद में इस बात को स्वीकार किया।

उस दिन संस्कृत भाषा में स्वामी जी का ऐसा धाराप्रवाह वार्तालाप सुनकर उनके सब गुरुभाई भी मुग्ध हो गये थे, क्योंकि वे जानते थे कि छः वर्ष यूरोप और अमेरिका में रहने से स्वामी जी को संस्कृत भाषा में चर्चा करने का कोई अवसर नहीं मिला। शास्त्रदर्शी पण्डितों के साथ उस दिन स्वामी जी का शास्त्रार्थ सुनकर उन्होंने समझा कि स्वामी जी में अद्भुत शक्ति प्रकट हुई है। उस सभा में रामकृष्णानन्द, योगानन्द, निर्मलानन्द, तुरीयानन्द और शिवानन्द स्वामी भी उपस्थित थे।

इस शास्त्रार्थ में स्वामी जी ने सिद्धान्त पक्ष को ग्रहण किया था और पण्डितों ने पूर्व पक्ष को। शिष्य को स्मरण है कि स्वामी जी ने एक स्थान पर 'अस्ति' के बदले 'स्वस्ति' का प्रयोग कर दिया था, इस पर पण्डित लोग हँस पड़े। पर स्वामी जी ने तत्क्षण कहा, "पण्डितानां दासोऽहं क्षन्तव्यमेतत् स्खलनम्" अर्थात् मैं पण्डितों का दास हूँ, व्याकरण की इस त्रुटि को क्षमा कीजिए। स्वामी जी की ऐसी नम्रता से पण्डित लोग मुग्ध हो गये। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् पण्डितों ने सिद्धान्त पक्ष की मीमांसा को ही यथेष्ट कहकर स्वीकार किया और स्वामी जी से प्रीतिपूर्वक विदा लेकर वापस जाने को उद्यत हुए। उपस्थित लोगों में से दो चार लोग पण्डितों के पीछे पीछे गये और उनसे पूछा, "महाराज, आपने स्वामी जी को कैसा समझा?" उनमें से जो एक वृद्ध पण्डित थे उन्होंने उत्तर दिया, "व्याकरण में गम्भीर बोध न होने पर भी स्वामी जी शास्त्रों के गूढ़ार्थद्रष्टा हैं; मीमांसा करने में उनके समान दूसरा कोई नहीं और अपनी प्रतिभा से वाद-खण्डन में उन्होंने अद्भुत पाण्डित्य दिखलाया है।"

स्वामी जी पर उनके गुरुभाइयों का सर्वदा कैसा अद्भुत प्रेम पाया जाता था! जब पण्डितों से स्वामी जी का वाद-विवाद हो रहा था, तब शिष्य ने स्वामी रामकृष्णानन्द जी को एकान्त में बैठे जप करते हुए पाया। पण्डितों के चले जाने पर शिष्य ने इसका कारण पूछने से उत्तर पाया कि स्वामी जी की विजय के लिए वे श्री रामकृष्ण से प्रार्थना कर रहे थे।

पण्डितों के जाने के बाद शिष्य ने स्वामी जी से सुना कि वे पण्डित पूर्व मीमांसा

शास्त्र में निष्णात थे। स्वामी जी ने उत्तर मीमांसा का अवलम्बन कर ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी और पण्डित लोग भी स्वामी जी के सिद्धान्त को स्वीकार करने को वाध्य हुए थे।

व्याकरण की छोटी छोटी त्रुटियों के कारण पण्डितों ने स्वामी जी की जो हँसी की थी, उस पर स्वामी जी ने कहा था कि कई वर्ष संस्कृत भाषा में वार्तालाप न करने से ऐसी भूलें हुई थीं। इसके लिए स्वामी जी ने पण्डितों पर कुछ भी दोष नहीं लगाया। परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि पाश्चात्य देशों में वाद—तर्क—के मूल विषय को छोड़कर भाषा की छोटी मोटी भूलों पर ध्यान देना वड़ी असभ्यता समझी जाती है। सभ्य समाज में मूल विषय का ही ध्यान रखा जाता है—भाषा का नहीं। "परन्तु तेरे देश के लोग छिलके को लेकर ही झगड़ते रहते हैं; सार वस्तु का सन्धान ही नहीं लेते।" इतना कहकर स्वामी जी ने उस दिन शिष्य से संस्कृत में वार्तालाप आरम्भ किया। शिष्य ने भी टूटी-फूटी संस्कृत में ही उत्तर दिया। शिष्य की भाषा ठीक न होने पर भी उत्साहित करने के लिए स्वामी जी ने उसकी प्रशंसा की। तब से शिष्य स्वामी जी के आग्रह पर उनसे वीच वीच में संस्कृत ही में वार्तालाप करता था।

'सभ्यता' किसे कहते हैं?—इसके उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि जो समाज या जो जाति आध्यात्मिकता में जितनी आगे वढ़ी है, वह समाज या वह जाति उतनी ही सभ्य कही जाती है। भाँति भाँति के अस्त्र-शस्त्र तथा शिल्पगृह निर्माण करके इस जीवन के सुख तथा समृद्धि को वढ़ाने मात्र से कोई जाति सभ्य नहीं कहला सकती। आज की पाश्चात्य सभ्यता लोगों में दिन प्रतिदिन अभाव और हाहाकार को ही वढ़ा रही है। भारत की प्राचीन सभ्यता सर्वसाधारण को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग दिखलाकर यद्यपि उनके इस जीवन के अभाव को पूर्ण रूप से नष्ट न कर सकी तो भी उसको वहुत कम करने में निःसन्देह समर्थ हुई थी। इस युग में इन दोनों सभ्यताओं का संयोग कराने के लिए भगवान् श्री रामकृष्ण ने जन्म लिया। आजकल एक ओर जैसे लोग कर्मतत्पर वनेंगे, वैसे ही उनको गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान भी हासिल करना होगा। इसी प्रकार भारतीय और पाश्चात्य सभ्यताओं का मेल होने से संसार में नये युग का उदय होगा। इन वातों को उस दिन स्वामी जी ने विशेष रूप से समझाया। प्रासंगिक रूप से स्वामी जी ने पाश्चात्यों की एक और वात वतलायी। वोले, "वहाँ के लोग हैं कि जो मनुष्य जितना धर्मपरायण होगा, वह वाहरी चालचलन में उतना ही गंभीर वनेगा; मुख से दूसरी वातें निकालेगा भी नहीं। परन्तु एक ओर मेरे मुख से धर्म-व्याख्या सुनकर उस देश के धर्मप्रचारक जैसे विस्मित होते थे, वैसे ही दूसरी

ओर वक्तृता के अन्त में मुझको अपने मित्रों से हास्य-कौतुक करते देखकर कम आश्चर्यचकित नहीं होते थे। कभी कभी उन्होंने मुझसे स्पष्ट ही कहा, "स्वामी जी, धर्मप्रचारक वनकर साधारण जन के समान ऐसा हास्य-कौतुक करना उचित नहीं। आपमें ऐसी चपलता कुछ शोभा नहीं देती।" इसके उत्तर में मैं कहा करता था कि हम आनन्द की सन्तान हैं, हम क्यों उदास और दुःखी वने रहें? इस उत्तर को सुनकर वे इसके मर्म को समझते थे या नहीं, मुझे शंका है।

उस दिन स्वामी जी ने भाव समाधि और निर्विकल्प समाधि के विषय को भी नाना प्रकार से समझाया। उसके पुनः वर्णन करने की यथासंभव चेष्टा की जा रही है।

अनुमान करो कि कोई हनुमान की भक्ति भावना से ईश्वर की साधना कर रहा है और हनुमान का जैसा भगवान् पर भक्ति-भाव था, वैसे ही भक्ति-भाव को उसने ग्रहण किया है। जितना ही यह भाव गाढ़ा होगा, उस साधक की चाल-ढाल, यहाँ तक कि शरीर की गठन भी तद्रूप होती जायगी। 'जात्यन्तर परिणाम' इसी प्रकार होता है। किसी एक भाव को ग्रहण करके साधना करने के साथ ही साधक उसी प्रकार के आकार में वदल जाता है। किसी भाव की चरम अवस्था भाव समाधि कही जाती है। और 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'मन नहीं हूँ', 'बुद्धि भी नहीं हूँ', इस प्रकार से 'नेति-नेति' करते हुए ज्ञानी साधक जव अपनी चिन्मात्र सत्ता में अवस्थान करते हैं, तव उस अवस्था को निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। इस प्रकार के किसी एक भाव को ग्रहण कर उसकी सिद्धि प्राप्त करने में या उसकी चरम अवस्था पर पहुँचने के लिए कितने ही जन्मों की चेष्टा की आवश्यकता होती है। भावराज्य के अधिराज श्री रामकृष्ण ने अठारह भिन्न भिन्न भावों से सिद्धि-लाभ किया था। वे यह भी कहा करते थे कि यदि वे आध्यात्मिक भावोन्मुखी न रहते तो उनका शरीर ही न रहता।

भारत में किस प्रणाली से कार्य करेंगे, इसके सम्वन्ध में स्वामी जी ने कहा कि मद्रास और कलकत्ते में दो केन्द्र वनाकर सव प्रकार के लोककल्याण के लिए वे नये ढंग के साधु संन्यासी वनायेंगे और यह भी कहा कि प्राचीन रीतियों के वृथा खण्डन से समाज तथा देश की उन्नति सम्भव नहीं।

सभी कालों में प्राचीन रीतियों को नया रूप देने से ही उन्नति हुई है। भारत में प्राचीन युग में भी धर्मप्रचारकों ने इसी प्रकार कार्य किया था। केवल बुद्धदेव के धर्म ने ही प्राचीन रीति और नीतियों का विध्वंस किया और भारत से उसके निर्मूल हो जाने का कारण भी यही है।

शिष्य को स्वामी जी की यह वात भी स्मरण है कि यदि किसी एक भी जीव

में ब्रह्म का विकास हो गया तो, सहस्रों मनुष्य उसी ज्योति के मार्ग से आगे बढ़ते हैं। ब्रह्मज्ञ पुरुष ही लोक-गुरु बन सकते हैं; यह बात शास्त्र और युक्ति दोनों से प्रमाणित होती है। स्वार्थयुक्त ब्राह्मणों ने जिस कुलगुरु-प्रथा का प्रचार किया, वह वेद और शास्त्रों के विरुद्ध है। इसीलिए साधना करने पर भी लोग अब सिद्ध या ब्रह्मज्ञ नहीं होते। धर्म की यह सब ग्लानि दूर करने के लिए भगवान् शरीर धारण कर श्री रामकृष्ण रूप में वर्तमान युग में इस संसार में अवतीर्ण हुए थे। उनके प्रदर्शित सार्वभौम मत के प्रचार से ही जीव और जगत् का मंगल होगा। ऐसे सभी धर्मों में समन्वय करनेवाले अद्‌भुत आचार्य ने कई शताब्दियों से भारत में जन्म नहीं लिया था।

इस पर स्वामी जी के एक गुरुभाई ने उनसे पूछा, "महाराज, पाश्चात्य देशों में आपने सब के सामने श्री रामकृष्ण को अवतार कहकर क्यों नहीं प्रचारित किया?"

स्वामी जी—वे दर्शन और विज्ञान शास्त्रों पर बहुत अधिक अभिमान करते हैं। इसी कारण युक्ति, विचार, दर्शन और विज्ञान की सहायता से जब तक उनके ज्ञान का अहंकार न तोड़ा जाय, तब तक किसी विषय की वहाँ प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अपनी तार्किक विचार-पद्धति से पूर्णतः विरत होकर जब वे तत्त्व के निमित्त सचमुच उत्सुक होकर मेरे पास आते थे, तब मैं उनसे श्री रामकृष्ण की बात किया करता था। यदि पहले से ही उनसे अवतारवाद की चर्चा करता तो वे बोल उठते, "तुम नयी बात क्या सिखाते हो—हमारे प्रभु ईसा भी तो हैं।"

तीन चार घण्टे तक ऐसे आनन्द से समय बिताकर उसी दिन अन्य लोगों के साथ शिष्य कलकत्ते लौट आया।

४

[स्थान : श्रीयुत नवगोपाल घोष का भवन, रामकृष्णपुर, हावड़ा।
वर्ष : १८९७ (जनवरी, फ़रवरी)]

श्री रामकृष्ण के प्रेमी भक्त श्री नवगोपाल घोष ने भागीरथी के पश्चिम तट पर हावड़े के अन्तर्गत रामकृष्णपुर में एक नयी हवेली बनवायी। इसके लिए ज़मीन मोल लेते समय इस स्थान का नाम रामकृष्णपुर रखा गया सुनकर वे विशेष आनन्दित हुए थे, क्योंकि इस गाँव की उनके इष्टदेव के साथ एकता थी। मकान

वन जाने के थोड़े ही दिन पश्चात् स्वामी जी प्रथम वार विलायत से कलकत्ते लौटकर आये थे। घोप जी और उनकी स्त्री की वड़ी इच्छा थी कि अपने मकान में स्वामी जी से श्री रामकृष्ण की मूर्ति की स्थापना करायें। कुछ दिन पहले, घोप जी ने मठ में जाकर स्वामी जी से अपनी इच्छा प्रकट की थी और स्वामी जी ने भी स्वीकार कर लिया था। इसी कारण आज नवगोपाल वावू के गृह में उत्सव है। मठ के संन्यासी और श्री रामकृष्ण के सब गृहस्थ भक्त आज सादर निमन्त्रित हुए हैं। मकान भी आज ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित है। फाटक पर सामने पूर्ण घट रक्खा गया है, कदली स्तम्भ रोपे गये हैं, देवदार के पत्तों के तोरण वनाये गये हैं और आम के पत्तों तथा पुष्पमाला की वन्दनवार वाँधी गयी है। रामकृष्णपुर ग्राम आज 'जय रामकृष्ण' की ध्वनि से गूँज रहा है।

मठ से संन्यासी और वालक ब्रह्मचारीगण स्वामी जी को साथ लेकर तीन नावें किराये पर लेकर रामकृष्णपुर के घाट पर उपस्थित हुए। स्वामी जी के शरीर पर एक गेरुआ वस्त्र था, सिर पर पगड़ी थी और पाँव नंगे थे। रामकृष्णपुर घाट से जिस मार्ग से होकर स्वामी जी नवगोपाल वावू के घर जाने वाले थे, उसके दोनों ओर हजारों लोग दर्शन के निमित्त खड़े हो गये। नाव से घाट पर उतरते ही स्वामी जी एक भजन गाने लगे जिसका आशय यह था—"वह कौन है जो दरिद्र ब्राह्मणी की गोद में चारों ओर उजाला करके सो रहा है? वह दिगम्वर कौन है, जिसने झोपड़ी में जन्म लिया है।" इत्यादि। इस प्रकार गान करते और स्वयं मृदंग वजाते हुए आगे वढने लगे। इसी अवसर पर दो तीन और भी मृदंग वजने लगे। सव भक्तजन समवेत स्वर से भजन गाते हुए उनके पीछे पीछे चलने लगे। उनके उद्दाम नृत्य और मृदंग की ध्वनि से पथ और घाट सव गूँज उठे। जाते समय यह मण्डली कुछ देर डाक्टर रामलाल वावू के मकान के सामने खड़ी हुई। डाक्टर वावू भी जल्दी से हड़वड़ाकर वाहर निकल आये और मण्डली के साथ चलने लगे। सव लोगों का यह अनुमान था कि स्वामी जी वड़ी शान तथा सजवज से आयेंगे, परन्तु मठ के अन्य साधुओं के समान वस्त्र धारण किये हुए और नंगे पैर मृदंग वजाते हुए उनको जाते देखकर वहुत से लोग उनको पहचान ही न सके। औरों से पूछकर स्वामी जी का परिचय पाकर वे कहने लगे, "यही क्या विश्वविजयी स्वामी विवेकानन्द हैं?" स्वामी जी की इस मानवदुर्लभ नम्रता को देखकर सव एक स्वर से प्रशंसा करने और 'जय रामकृष्ण' की ध्वनि से मार्ग को गुँजाने लगे।

गृहश्रेष्ठ नवगोपाल वावू का मन आनन्द से पूर्ण हो गया है और वे श्री रामकृष्ण तथा उनके पार्षदों की सेवा के लिए विपुल आयोजन करते हुए चारों ओर

दौड़-धूप कर रहे हैं। कभी कभी प्रेमानन्द में मग्न होकर 'जयराम जयराम' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं। मण्डली के उनके द्वार पर पहुँचते ही, भीतर से शंखध्वनि होने लगी तथा घड़ियाल बजने लगे। स्वामी जी ने मृदंग उतारकर बैठक में थोड़ा विश्राम किया। तत्पश्चात् ठाकुर-घर देखने के लिए ऊपर दुतल्ले पर गये। ठाकुर-घर श्वेतसंगमर्मर से जोड़ा गया था। बीच में सिंहासन के ऊपर श्री रामकृष्ण की पोरसिलेन (चीनी मिट्टी) की बनी हुई मूर्ति विराजमान थी। हिन्दुओं में देव-देवी के पूजन के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है, उनके संग्रह में कोई भी त्रुटि नहीं थी। स्वामी जी यह सब देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

नवगोपाल बाबू की स्त्री ने अन्य कुलवधुओं के साथ स्वामी जी को साष्टांग प्रणाम किया और उन पर पंखा झलने लगीं। स्वामी जी से पूजा सामग्री की प्रशंसा सुनकर गृहस्वामिनी उनसे बोली, "हमारी क्या शक्ति है कि श्री गुरुदेव की सेवा का अधिकार हमको प्राप्त हो? छोटा घर और थोड़ी सी आय है। आप कृपा करके आज श्री गुरुदेव की प्रतिष्ठा कर हमको कृतार्थ कीजिए।"

स्वामी जी ने इसके उत्तर में व्यंग्य करते हुए कहा, "तुम्हारे गुरुदेव की चौदह पीढ़ियाँ तो कभी ऐसे श्वेत पत्थर के मन्दिर में नहीं बसीं! उन्होंने तो गाँव की फूस की झोपड़ी में जन्म लिया था और जैसे तैसे अपने दिन बिता गये। ऐसी उत्तम सेवा से प्रसन्न होकर यदि यहाँ न बसें तो फिर कहाँ बसेंगे?" स्वामी जी की बात पर सब हँसने लगे। अब विभूतिभूषित स्वामी जी साक्षात् महादेव के समान पूजक के आसन पर बैठकर श्री रामकृष्ण का आवाहन करने लगे।

स्वामी प्रकाशानन्द जी स्वामी जी के निकट बैठकर मन्त्रादि उच्चारण करने लगे। क्रमशः पूजा सर्वांग सम्पूर्ण हुई और आरती का शंख, घंटा बज उठा। स्वामी प्रकाशानन्द जी ने ही आरती की।

आरती होने पर स्वामी जी ने उस पूजा-स्थान में बैठकर ही श्री रामकृष्ण-देव के एक प्रणाम-मन्त्र की मौखिक रचना की :

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः॥

सब लोगों ने इस श्लोक को पढ़कर प्रणाम किया। फिर शिष्य ने श्री रामकृष्ण का एक स्तोत्र पाठ किया। इस प्रकार पूजा समाप्त हुई। इसके पश्चात् नीचे एकत्र भक्त-मंडली ने कुछ जलपान करके कीर्तन आरम्भ कर दिया। स्वामी जी ऊपर ही ठहरे रहे। घर की स्त्रियाँ स्वामी जी को प्रणाम करके धर्मविषयों पर उनसे नाना प्रश्न करने और उनका आशीर्वाद पाने लगीं।

शिष्य इस परिवार की रामकृष्णगतप्राणता देखकर विस्मित हो खड़ा रहा और इनके सत्संग से अपना मनुष्य जन्म सफल मानने लगा। इसके बाद भक्तों ने प्रसाद पाकर हाथ-मुँह धोये और नीचे आकर थोड़ी देर के लिए वे विश्राम करने लगे। सायंकाल वे छोटे छोटे दलों में विभक्त होकर अपने अपने घर लौटे। शिष्य भी स्वामी जी के साथ गाड़ी में रामकृष्णपुर के घाट तक गया और वहाँ से नाव में बैठकर बहुत आनन्द से नाना प्रकार का वार्तालाप करते हुए बाग़बाज़ार की ओर चल पड़ा।

५

[स्थान : दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर और आलमबाज़ार मठ। वर्ष : १८९७ (मार्च)]

जब स्वामी जी प्रथम बार इंग्लैण्ड से लौटे, तब रामकृष्ण मठ आलमबाज़ार में था। जिस भवन में मठ था, उसे लोग 'भुतहा मकान' कहते थे—परन्तु वहाँ संन्यासियों के संसर्ग से यह भुतहा मकान रामकृष्ण तीर्थ में परिणत हो गया था। वहाँ के साधन-भजन, जप-तप, शास्त्र-प्रसंग और नाम-कीर्तन का क्या ठिकाना था! कलकत्ते में राजाओं के समान सम्मान प्राप्त होने पर भी स्वामी जी उस टूटे फूटे मठ में ही रहने लगे। कलकत्ता-निवासियों ने श्रद्धान्वित होकर कलकत्ते की उत्तर दिशा में काशीपुर में गोपाललाल शील के बाग़ में एक स्थान उनके लिए एक मास के लिए निर्धारित किया था। वहाँ भी स्वामी जी कभी कभी रहकर दर्शनोत्सुक लोगों से धर्म-चर्चा करके उनके मन की इच्छा पूर्ण करने लगे।

श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव अब निकट है। इस वर्ष रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर काली मन्दिर में उत्सव के लिए काफ़ी ज़ोरों से तैयारी हुई है। प्रत्येक धर्मपिपासु व्यक्ति के आनन्द और उत्साह की कोई सीमा नहीं, रामकृष्ण के सेवकों का तो कहना ही क्या है! इसका विशेष कारण यह है कि विश्वविजयी स्वामी जी श्री रामकृष्ण की भविष्य वाणी को सफल करके इस वर्ष विदेश से लौट आये हैं। उनके सभी गुरुभाई आज उनसे मिलकर श्री रामकृष्ण के सत्संग का आनन्द अनुभव कर रहे हैं। काली मन्दिर के दक्षिण की विस्तृत रंधनशाला में भोगादि की व्यवस्था हो रही है। स्वामी जी कुछ गुरुभाइयों को अपने साथ लेकर ९–१० बजे के लगभग वहाँ आ पहुँचे। उनके पाँव नंगे थे और सिर पर गेरुए रंग की पगड़ी थी। उनकी

आनन्दमूर्ति का दर्शन कर चरण-कमलों का स्पर्श करने और उनके श्रीमुख से ज्वलंत धर्मवाणी सुनकर कृतार्थ होने के लिए लोग चारों ओर से बड़ी भीड़ में आने लगे। इसी कारण आज स्वामी जी के विश्राम के लिए तनिक भी अवसर नहीं। माँ काली के मन्दिर के सामने हजारों लोग एकत्र हैं। स्वामी जी ने जगन्माता को साष्टांग प्रणाम किया और उनके साथ ही साथ सहस्रों लोगों ने भी उसी तरह प्रणाम किया। तत्पश्चात् श्री राधाकान्त जी की मूर्ति को प्रणाम करके श्री रामकृष्ण-के वासगृह में पधारे। यहाँ ऐसी भीड़ हुई कि तिल भर भी स्थान शेष न रहा। काली मन्दिर की चारों दिशाएँ 'जय रामकृष्ण' ध्वनि से भर गयीं। होरमिलर (Hoarmiller) कम्पनी का जहाज़ हज़ारों दर्शकों को आज अपनी गोद में बिठाकर बराबर कलकत्ते से यातायात कर रहा है। नौबत आदि के मधुर स्वर पर सुरधुनी गंगा नृत्य कर रही है; मानो उत्साह, आकांक्षा, धर्मपिपासा और अनुराग साक्षात् देह धारणकर श्री रामकृष्ण के पार्षदों के रूप में चारों ओर विराजमान हैं। इस वर्ष के उत्सव का अनुमान ही किया जा सकता है। भाषा में इतनी शक्ति कहाँ कि उसका वर्णन कर सके।

स्वामी जी के साथ आयी हुई दो अंग्रेज़ महिलाएँ उत्सव में उपस्थित हैं। शिष्य उनसे अभी तक परिचित न था। स्वामी जी उनको साथ लेकर पवित्र पंचवटी और बेलतल्ला दिखला रहे थे। शिष्य का स्वामी जी से विशेष परिचय न होने पर भी उसने उनके पीछे पीछे जाकर उत्सव विषयक स्वरचित एक संस्कृत स्तोत्र उनके हाथ में दिया। स्वामी जी उसे पढ़ते हुए पंचवटी की ओर चले। चलते चलते शिष्य की ओर देखकर बोले, "अच्छा लिखा है, तुम और भी लिखना।"

पंचवटी की एक ओर श्री रामकृष्ण के गृहस्थ भक्तगण एकत्र हैं। गिरीश-चन्द्र घोष पंचवटी के उत्तर में गंगा की ओर मुँह किये बैठे हैं और उनको घेरे बहुत से भक्त श्री रामकृष्ण के गुणों के व्याख्यान और कथा प्रसंग में मग्न हुए बैठे हैं। इसी अवसर पर स्वामी जी बहुत से लोगों के साथ गिरीशचन्द्र जी के पास उपस्थित हुए और "अरे! घोष जी यहाँ हैं!" यह कहकर उनको प्रणाम किया। गिरीश बाबू को पिछली बातों का स्मरण दिलाकर स्वामी जी बोले, "घोष जी, वह भी एक समय था और यह भी एक समय है।" गिरीश बाबू ने भी प्रतिनमस्कार किया। गिरीश बाबू स्वामी जी से सहमत होकर बोले, "इसमें क्या संदेह! किन्तु अभी तक मन चाहता है कि और भी देखूँ।" दोनों में कुछ ऐसा ही वार्तालाप हुआ। उसका गूढ़ अर्थ ग्रहण करने में और कोई समर्थ न हुआ। कुछ देर वार्तालाप कर स्वामी जी पंचवटी के उत्तर-पूर्व जो बेल का वृक्ष था, उसकी ओर चले गये। स्वामी जी के चले जाने पर गिरीश बाबू ने उपस्थित भक्त मण्डली को सम्बोधन करके कहा,

"एक दिन हरमोहन मित्र ने संवाद-पत्र में पढ़कर मुझसे कहा था कि अमेरिका में स्वामी जी के विषय में निन्दा प्रकाशित हुई है। मैंने तव उनसे कहा था कि यदि मैं अपनी आँखों से ही नरेन्द्र को कोई वुरा काम करते देखूँ तो यही समझूँगा कि यह मेरी आँखों का विकार है, मैं उन आँखों को निकाल फेंकूँगा। वे सव (नरेन्द्रादि) सूर्योदय से पहले निकाले हुए मक्खन के सदृश हैं; क्या संसार रूपी पानी में वे कभी घुल सकते हैं? जो उनमें दोष निकालेगा वह नरक का भागी होगा।" यह वार्तालाप हो ही रहा था कि इतने में स्वामी निरंजनानन्द गिरीश वावू के पास आये और एक नारियल का हुक्का पीते पीते कोलम्वो से कलकत्ते तक लौटने की घटना—किस प्रकार विभिन्न स्थानों में लोगों ने स्वामी जी का आदर और सत्कार किया और स्वामी जी ने अपने व्याख्यानों में उनको कैसे अनमोल उपदेश दिये—आदि का वर्णन करने लगे। गिरीश वावू इन वातों को सुन आश्चर्यचकित हो वैठे रहे।

उस दिन दक्षिणेश्वर के देवालय में एक प्रकार का दिव्य भाव प्रवाहित हो रहा था। अव यह विराट् जनसंघ स्वामी जी के व्याख्यान को सुनने के लिए उद्ग्रीव होकर खड़ा हो गया। परन्तु अनेक चेष्टा करने पर भी स्वामी जी लोगों के कोलाहल की अपेक्षा ऊँचे स्वर से भाषण न दे सके। लाचार होकर उन्होंने कोशिश छोड़ दी और दोनों अंग्रेज महिलाओं को साथ लेकर श्री रामकृष्ण के साधना-स्थान दिखाने और उनके विशिष्ट भक्तों तथा अंतरंगों से उनका परिचय कराने लगे। धर्मशिक्षा के निमित्त ये दो अंग्रेज स्त्रियाँ वहुत दूर से स्वामी जी के साथ आयी हैं, यह जानकर किसी किसी को वहुत आश्चर्य हुआ और वे आपस में स्वामी जी की अद्भुत शक्ति की वातें करने लगे।

तीसरे पहर तीन वजे स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "एक गाड़ी लाओ, मठ को जाना है।" शिष्य आलमवाज़ार तक के लिए दो आने किराये पर एक गाड़ी ले आया। स्वामी जी उसमें वैठे और अपने दायें वायें स्वामी निरंजनानन्द और शिष्य को ले वड़े आनन्द से मठ की ओर अग्रसर हुए। जाते जाते शिष्य से कहने लगे, "जिन कल्पित भावों को अपने जीवन या कार्य में न उतारा हो, उनसे क्या होगा? इन सव उत्सवों की जरूरत है। इन्हीसे तो जनसमुदाय में ये सव भाव धीरे-धीरे फैलेंगे। हिन्दुओं के वारह महीनों में तेरह पर्व होते हैं। उनका उद्देश्य यही है कि धर्म में जितने ऊँचे भाव हैं उनको सर्वसाधारण में फैलाया जाय। परन्तु इनमें एक दोष भी है। साधारण लोग इनका यथार्थ भाव न समझकर उत्सवों में ही मग्न हो जाते हैं और उनके समाप्त हो जाने पर ज्यों के त्यों वने रहते हैं। इस कारण ये उत्सव धर्म के वाहरी आवरण मात्र हैं। धर्म तथा आत्मज्ञान को निस्सन्देह ये ढाँके रहते हैं।

"परन्तु जो लोग धर्म क्या है, आत्मा क्या है, यह नहीं जानते, वे भी उत्सवों से प्राप्त आनन्द के ज़रिये धीरे धीरे इन विषयों के जानने की चेष्टा करने लगते हैं। आज ही जो श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ और इसमें जो लोग आये, उनके हृदय में श्री गुरुदेव के विषय में जानने की—वे कौन थे जिनके नाम पर इतने लोग एकत्र हुए और उन्हींके नाम पर क्यों वे आये—इच्छा अवश्य उत्पन्न होगी। और जिनके मन में यह भाव भी उत्पन्न नहीं हुआ होगा वे कम से कम वर्ष में एक बार कीर्तन सुनने तथा प्रसाद पाने के निमित्त तो आयेंगे ही और ऊपर से श्री गुरुदेव के भक्तों के दर्शन लाभ कर उनका उपकार ही होगा, न कि अपकार।"

शिष्य—यदि कोई इस उत्सव और भजन-कीर्तन को ही धर्म का सार समझ लें तो क्या वे भी धर्ममार्ग में आगे बढ़ सकेंगे? हमारे देश में जैसे षष्ठी पूजा, मंगल-चण्डी पूजा आदि नित्य-नैमित्तिक हो गयी हैं, वैसे ही ये भी हो जायँगे। लोग मृत्यु पर्यन्त ऐसी पूजा करते रहते हैं, परन्तु मैंने ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं देखा जो ऐसा पूजन करने से ब्रह्मज्ञ हो गया हो।

स्वामी जी—क्यों? इस भारत में जितने धर्मवीरों ने जन्म लिया, वे सब इन्हीं पूजाओं का अवलम्बन कर ऊँची अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इन पूजाओं का आश्रय लेकर साधना करते हुए जब आत्मदर्शन होता है, तब इनसे मन बँधा नहीं रहता; फिर लोकसंग्रह के लिए अवतारी महापुरुष भी इन सब को मानते हैं।

शिष्य—जी, लोगों को दिखाने के लिए ऐसा मान सकते हैं, किन्तु जब आत्मज्ञ पुरुषों को यह संसार ही इन्द्रजालवत मिथ्या प्रतीत होता है, तब क्या वे इन सब बाहरी लौकिक व्यवहारों को सच्चे भाव से मान सकते हैं?

स्वामी जी—क्यों नहीं? हमारा सत्य समझना भी तो देश काल पात्र सापेक्ष होता है। इसीलिए अधिकारी से इन सब व्यवहारों का प्रयोजन है। श्री ठाकुर जैसा कहा करते थे, "माता किसी सन्तान को पुलाव और कलिया पकाकर देती है तो किसी को साबूदाना।" ठीक उसी तरह।

अब शिष्य समझ पाया और शांत हो गया। देखते देखते गाड़ी भी आलम-बाजार के मठ में आ पहुँची। शिष्य गाड़ी का किराया देकर स्वामी जी के साथ मठ में गया और स्वामी जी के पीने के लिए जल ले आया। स्वामी जी ने जल पीकर अपना कुर्ता उतार डाला और जमीन पर जो दरी बिछी थी उसी पर अर्द्ध शयन करते हुए विश्राम करने लगे। स्वामी निरंजनानन्द जो पास ही विराजमान थे, बोले, "उत्सव में ऐसी भीड़ इसके पहले कभी नहीं हुई थी, मानो सारा कलकत्ता टूट पड़ा हो।"

स्वामी जी—क्यों न ऐसा होगा, आगे और भी कितना कुछ होगा।

शिष्य—प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय में यह देखा जाता है कि किसी न किसी प्रकार का बाहरी उत्सव और आमोद मनाया जाता है, परन्तु इस विषय में कोई किसी से मेल नहीं रखता! ऐसे उदार मोहम्मदीय धर्म में भी शीया-सुन्नियों में दंगा-फ़साद होता है। मैंने स्वयं ढाका शहर में देखा है।

स्वामी जी—सम्प्रदाय होने पर थोड़ा-बहुत ऐसा होगा ही, परन्तु क्या तू यहाँ का भाव जानता है? यहाँ पूर्ण असाम्प्रदयिकता है। यही दिखलाने के निमित्त हमारे गुरुदेव ने जन्म लिया था। वे सबको मानते थे, परन्तु यह भी कहते थे कि ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से यह सब मिथ्या माया ही है।

शिष्य—महाराज आपकी बात समझ में नहीं आती। मेरे मन में कभी कभी ऐसा अनुमान होता है कि आप भी ऐसे उत्सवों का प्रचार करके श्री रामकृष्ण के नाम से एक नये सम्प्रदाय को जन्म दे रहे हैं। मैंने पूज्यपाद नाग महाशय से सुना है कि श्री गुरुदेव किसी भी सम्प्रदाय में नहीं थे। शाक्त, वैष्णव, ब्राह्मसमाजी, मुसलमान, ईसाई इन सभी धर्मों का वे बहुत मान करते थे।

स्वामी जी—तूने कैसे समझा कि हम सब मतों का समान आदर नहीं करते?

यह कहकर स्वामी जी हँसकर स्वामी निरंजनानन्द से बोले, "अरे! यह गँवार कहता क्या है?"

शिष्य—कृपा करके यह बात मुझे समझा दीजिए।

स्वामी जी—तूने तो मेरे व्याख्यान पढ़े हैं। क्या कहीं भी मैंने श्री रामकृष्ण का नाम लिया है? मैंने तो जगत् में केवल उपनिषदों के धर्म का ही प्रचार किया है।

शिष्य—महाराज, यह तो ठीक है। परन्तु आपसे परिचय होने पर मैं देखता हूँ कि आप श्री रामकृष्ण में लीन हैं। यदि आपने श्री गुरुदेव को भगवान् जाना है तो क्यों नहीं लोगों से आप यह स्पष्ट कह देते?

स्वामी जी—मैंने जो अनुभव किया है वही बतलाया है। यदि तूने वेदान्त के अद्वैत मत को ही ठीक माना है तो क्यों नहीं लोगों को भी यह समझा देता?

शिष्य—पहले मैं स्वयं अनुभव करूँगा, तभी तो समझाऊँगा। मैंने अभी तो केवल इस मत को पढ़ा ही है।

स्वामी जी—तब पहले तू इसकी अनुभूति कर ले; फिर लोगों को समझा सकेगा। वर्तमान में तो प्रत्येक मनुष्य एक एक मत पर विश्वास करके चल रहा है। इसमें तू कुछ कह ही नहीं सकता, क्योंकि तू भी तो अभी एक मत पर ही विश्वास करके चल रहा है।

शिष्य—हाँ महाराज, यह सत्य है कि मैं भी एक मत पर विश्वास करके चल रहा हूँ, किन्तु मैं इसका प्रमाण शास्त्र से देता हूँ। मैं शास्त्र के विरोधी मत को नहीं मानता।

स्वामी जी—शास्त्र से तेरा क्या अर्थ है? यदि उपनिषदों को प्रमाण माना जाय तो क्यों बाइबिल, जेन्दावेस्ता न प्रमाण माने जायँ?

शिष्य—इन पुस्तकों को प्रमाण स्वीकार करने पर भी यह तो कहा ही जायगा कि ये तो वेद के समान प्राचीन ग्रन्थ नहीं हैं। और वेद में जैसा आत्म-तत्त्व का समाधान है, वैसा और किसीमें है भी नहीं।

स्वामी जी—अच्छा, तेरी यह बात मैंने स्वीकार की, परन्तु वेद के अतिरिक्त और कहीं भी सत्य नहीं है, यह कहने का तेरा क्या अधिकार है?

शिष्य—जी महाराज, वेद के अतिरिक्त और सब धर्म ग्रन्थों में भी सत्य हो सकता है, इसके विरुद्ध मैं कुछ नहीं कहता, किन्तु मैं तो उपनिषद् के मत को ही मानूंगा। इसीमें मेरा परम विश्वास है।

स्वामी जी—अवश्य मानो; परन्तु यदि किसीका अन्य किसी मत पर 'परम' विश्वास हो तो, उसको उसी विश्वास पर चलने दो। अन्त में देखोगे तुम और वह एक ही स्थान पर पहुँचे हो। महिम्न स्तोत्र में क्या तूने नहीं पढ़ा, त्वमसि **पयसामर्णव इव?**
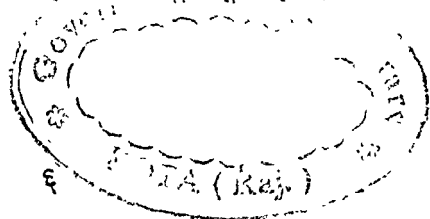
[स्थान : आलमबाजार मठ। वर्ष : १८९७ ई० (मई)]

स्वामी जी दार्जिलिंग से कलकत्ते लौट आये हैं। आलमबाजार मठ में ही ठहरे हुए हैं। गंगा के किनारे किसी स्थान पर मठ को स्थानान्तरित करने का प्रबन्ध हो रहा है। आजकल उनके पास शिष्य का प्रतिदिन आना जाना रहता है, और कभी कभी रात्रि में भी वह वहीं रह जाता है। जीवन के प्रथम पथप्रदर्शक श्री नाग महाशय ने शिष्य को मंत्र दीक्षा नहीं दी थी। दीक्षा के विषय में वार्तालाप होते ही वे स्वामी जी का नाम लेकर कहते थे, "वे (स्वामी जी) ही जगत् के गुरु होने के योग्य हैं।" इसी कारण, स्वामी जी से ही दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प कर शिष्य ने दार्जिलिंग को एक पत्र उनके पास भेजा था। उत्तर में स्वामी जी ने लिखा था, "यदि श्री नाग महाशय को कोई आपत्ति न हो तो मैं बड़े आनन्द से तुमको दीक्षा दूंगा।" यह पत्र शिष्य के पास अभी तक है।

आज वैशाख १३०३ (बंगला सन्) की उन्नीसवीं तिथि है। स्वामी जी ने शिष्य को आज दीक्षा देना स्वीकार किया है। आज शिष्य के जीवन में सभी दिनों

की अपेक्षा एक विशेष दिन है। शिष्य प्रातःकाल ही गंगास्नान कर कुछ लीची-तथा अन्यान्य सामग्री मोल लेकर लगभग ८ वजे आलमवाज़ार मठ में उपस्थित हुआ। शिष्य को देखकर स्वामी जी ने हँसकर कहा, "आज तुम्हारा वलिदान देना होगा, क्यों ?"

स्वामी जी शिष्य से यह कहकर फिर औरों के साथ अमेरिका के सम्वन्ध में वार्तालाप करने लगे। आध्यात्मिक जीवन के संगठन में किस प्रकार एकनिष्ठ होना पड़ता है, गुरु पर किस प्रकार अटल विश्वास एवं दृढ़ भक्ति भाव होना चाहिए, गुरु वाक्यों पर किस प्रकार निर्भर रहना चाहिए और गुरु के निमित्त किस प्रकार अपने प्राण तक देने को भी प्रस्तुत रहना चाहिए—आदि आदि वातों की भी चर्चा होने लगी। तत्पश्चात् वे शिष्य के हृदय की परीक्षा लेने के निमित्त कुछ प्रश्न करने लगे, "मैं जव भी जिस काम की आज्ञा दूँगा, क्या तू तुरन्त उस आज्ञा का पालन करने की यथाशक्ति चेष्टा करेगा? तेरा मंगल समझकर यदि मैं तुझे गंगा में डूवकर मर जाने की या छत से कूद पड़ने की आज्ञा दूँ तो क्या तू विना विचारे इसका पालन करेगा? अव भी तू विचार कर ले। विना विचारे गुरु करने को तैयार न हो।" शिष्य के मन में कैसा विश्वास है, यही जानने के लिए वे कुछ ऐसे प्रश्न करने लगे। शिष्य भी सिर झुकाये "करूँगा" कहकर प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने लगा।

स्वामी जी कहने लगे—"वही सच्चा गुरु है, जो इस मायारूपी संसार के पार ले जाता है, जो कृपा करके सव मानसिक आधि-व्याधि विनष्ट करता है। पूर्वकाल मे शिष्यगण समित्पाणि होकर गुरु के आश्रम में जाया करते थे। गुरु उनको अधिकारी समझने पर दीक्षा देकर वेद पढ़ाते थे और तन मन वाक्य को शासित करने के व्रत के चिह्नस्वरूप त्रिरावृत्त मुंज-मेखला उसकी कमर में वाँध देते थे। शिष्य अपनी कौपीनों को उससे तानकर वाँवते थे। उस मुंज-मेखला के स्थान पर अव यज्ञसूत्र या जनेऊ पहनने की रीति निकली है।"

शिष्य—तव क्या सूत का उपवीत धारण करना वैदिक प्रथा नहीं है?

स्वामी जी—वेद में कहीं सूत्र उपवीत का प्रसंग नहीं है। स्मार्त पण्डित रघुनन्दन ने भी लिखा है—**अस्मिन्नेव समये यज्ञसूत्रं परिधापयेत्।** ऐसे उपवीत का प्रसंग गोभिल के गृह्यसूत्र में भी नहीं है। गुरु के पास होनेवाले इस वैदिक संस्कार को ही शास्त्रों में उपनयन कहा गया है; परन्तु आजकल देश की कैसी दुरवस्था हो गयी है! शास्त्रपथ को छोड़कर केवल कुछ देशाचार, लोकाचार तथा स्त्री-आचार से सारा देश भरा हुआ है। इसी कारण मैं कहता हूँ कि जैसा प्राचीन काल में था, वैसा ही कार्य शास्त्र के अनुसार करते जाओ। स्वयं श्रद्धावान् होकर अपने

देश में भी श्रद्धा लाओ। अपने हृदय में नचिकेता के समान श्रद्धा लाओ। नचिकेता के समान यमलोक में चले जाओ। आत्म-तत्त्व जानने के लिए, आत्मा के उद्धार के लिए, इस जन्म-मृत्यु की समस्या की यथार्थ मीमांसा के लिए यदि यम के द्वार पर भी जाकर सत्य का लाभ कर सको तो निर्भय हृदय से वहाँ जाना उचित है। भय ही मृत्यु है। भय से पार हो जाना चाहिए। आज से ही भयशून्य हो जाओ। अपने मोक्ष तथा परहित के निमित्त आत्मोत्सर्ग करने के लिए अग्रसर हो जाओ। थोड़ा सा हाड़-मांस का बोझ लिये फिरने से क्या होगा? ईश्वर के निमित्त सर्वस्व त्यागरूप मन्त्र में दीक्षा ग्रहण कर दधीचि के समान औरों के लिए अपना हाड़-मांस दान कर दो। शास्त्र में लिखा है कि जो वेद-वेदान्त का अध्ययन कर चुके हैं; जो ब्रह्मज्ञ हैं, जो अन्य को भय के पार ले जाने में समर्थ हैं, वे ही यथार्थ गुरु हैं। उनके दर्शन पाते ही उनसे दीक्षित होना उचित है; **नात्र कार्या विचारणा।** आजकल वह रीति कहाँ पहुँची है? देखो तो—**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।**

९ बजे हैं। स्वामी जी आज गंगा-स्नान करने नहीं गये, मठ में ही उन्होंने स्नान किया। स्नान के बाद एक नया गेरुआ वस्त्र पहन कर धीरे से पूजा-घर में प्रवेश करके आसन पर बैठ गये। शिष्य ने वहाँ प्रवेश नहीं किया, वह बाहर ही प्रतीक्षा करने लगा, सोचा 'स्वामी जी जब बुलायेंगे तभी भीतर जाऊँगा।' अब स्वामी जी ध्यानस्थ हुए—मुक्त-पद्मासन, ईषन्मुद्रित नयन से ऐसा अनुमान होता था कि तन-मन-प्राण सब स्पन्दनहीन हो गया है। ध्यान के अन्त में स्वामी जी ने "वत्स, इधर आओ" कहकर बुलाया। शिष्य स्वामी जी के स्नेहयुक्त आह्वान से मुग्ध होकर यन्त्रवत् पूजा-घर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ प्रवेश करते ही स्वामी जी ने शिष्य को आदेश दिया, "द्वार बन्द करो।" द्वार के बन्द होने पर स्वामी जी ने कहा, "मेरी बायीं ओर स्थिर होकर बैठो।" स्वामी जी के आदेश को शिरोधार्य कर शिष्य आसन पर बैठा। उस समय एक अनिर्वचनीय, अपूर्व भाव से उसका हृदय थर थर काँप रहा था। इसके अनन्तर स्वामी जी ने अपने हस्त-कमल को शिष्य के मस्तक पर रखकर उससे दो चार गुह्य बातें पूछीं। उनके यथासाध्य उत्तर पाने पर स्वामी जी ने उसके कान में महाबीज मन्त्र तीन बार उच्चारण किया और शिष्य से तीन बार उच्चारण करवाया। उसके बाद साधना के विषय में कुछ उपदेश प्रदान करके निश्चल होकर अनिमेष नेत्रों से शिष्य के नेत्रों की ओर कुछ देर तक देखते रहे। अब शिष्य का मन स्तब्ध और एकाग्र हो जाने से वह एक अनिर्वचनीय भाव से निश्चल होकर बैठा रहा। कितनी देर तक इस अवस्था में रहा, इसका कुछ ध्यान ही नहीं रहा। इसके बाद स्वामी जी बोले, "गुरुदक्षिणा लाओ।" शिष्य ने कहा, "क्या लाऊँ?" यह सुनकर स्वामी जी ने आज्ञा दी, "भण्डार से कुछ फल

ले आओ।" शिष्य भागता हुआ भण्डार में गया और दस-बारह लीची ले आया। स्वामी जी अपने हाथ में लीची लेकर एक एक करके सब खा गये और बोले— "अच्छा, तेरी गुरुदक्षिणा हो गयी।" जिस समय पूजागृह में स्वामी जी से शिष्य दीक्षित हो रहा था, उसी समय मठ का एक और ब्रह्मचारी दीक्षित होने के लिए कृतसंकल्प हो द्वार के बाहर खड़ा था। स्वामी शुद्धानन्द ने उस समय तक ब्रह्मचारी अवस्था में मठ में रहने पर भी यथाविधि दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। आज शिष्य को इस प्रकार दीक्षित होते देख उन्होंने भी बड़े उत्साह से दीक्षा लेने का निश्चय किया। पूजा-घर से दीक्षित होकर शिष्य के निकलते ही वे वहाँ जा पहुँचे और स्वामी जी से अपना अभिप्राय प्रकट किया। स्वामी जी भी शुद्धानन्द जी के विशेष आग्रह से सहमत हो गये और पुनः पूजा करने के लिए आसन ग्रहण किया।

शुद्धानन्द जी को दीक्षा देने के कुछ समय बाद स्वामी जी पूजा-घर से बाहर निकल आये। कुछ देर बाद उन्होंने भोजन किया और फिर विश्राम करने लगे। शिष्य ने भी शुद्धानन्द जी के साथ स्वामी जी के पात्रावशेष को बड़े प्रेम से ग्रहण किया और उनके पायताने बैठकर धीरे धीरे उनकी चरणसेवा करने लगा। कुछ देर विश्राम के बाद स्वामी जी ऊपर की बैठक में जाकर बैठे। शिष्य ने भी उस समय सुअवसर पाकर उनसे प्रश्न किया—"महाराज, पाप और पुण्य का भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ?"

स्वामी जी—बहुत्व के भाव से यह सब आ पहुँचा है। मनुष्य एकत्व की ओर जितना बढ़ता जाता है, उतना ही उसका 'हम-तुम' भाव कम होता जाता है, जिससे सारा धर्माधर्म जैसा द्वन्द्वभाव उत्पन्न हुआ है। 'हमसे यह पृथक् है', ऐसा भाव मन में उत्पन्न होने से ही अन्य द्वन्द्व भावों का विकास होता है, किन्तु सम्पूर्ण एकत्व अनुभव होने पर मनुष्य का शोक या मोह नहीं रह जाता—**तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।** सब प्रकार की दुर्बलता को ही पाप कहते हैं। इससे हिंसा तथा द्वेष आदि का जन्म होता है। इसलिए दुर्बलता का दूसरा नाम पाप है। हृदय में आत्मा सर्वदा प्रकाशमान है, परन्तु उधर कोई ध्यान नहीं देता। केवल इस जड़ शरीर, 'हड्डी तथा मांस के एक अद्भुत पिंजरे पर ही ध्यान रखकर लोग 'मैं', 'मैं' करते हैं। यही सब प्रकार की दुर्बलता का मूल है। इस अभ्यास से ही जगत् में व्यावहारिक भाव निकले हैं; परमार्थ भाव तो इस द्वन्द्व भाव के परे है।

शिष्य—तो क्या इस व्यावहारिक सत्ता में कुछ भी सत्य नहीं है?

स्वामी जी—जब तक 'मैं शरीर हूँ' यह ज्ञान है, तब तक यह सत्य है। किन्तु जब 'मैं आत्मा हूँ' यह अनुभव हो जाता है, तब यह सब व्यावहारिक सत्ता मिथ्या प्रतीत होती है। लोग जिसे पाप कहते हैं, वह दुर्बलता का फल है। इस शरीर को

'मैं' जानना—यह अहं भाव—दुर्बलता का रूपान्तर है। जब 'मैं आत्मा हूँ' इसी भाव पर मन स्थिर होगा, तब तुम पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म के पार पहुँच जाओगे। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'मैं' के नाश में ही दुःख का अन्त है।

शिष्य—यह 'अहं' तो मरने पर भी नहीं मरता। इसको मारना बड़ा कठिन है।

स्वामी जी—हाँ, एक प्रकार से यह कठिन भी है, परन्तु दूसरे प्रकार से बड़ा सरल भी है। 'मैं' नामक वस्तु कहाँ है, क्या मुझे समझा सकता है? जो स्वयं है ही नहीं, उसका मरना और जीना कैसा? अहंरूप जो एक मिथ्या भाव है, उसीसे मनुष्य सम्मोहित है, बस। इस पिशाच से मुक्ति प्राप्त होने पर यह स्वप्न दूर हो जाता है और दीख पड़ता है कि एक आत्मा ही ब्रह्म से लेकर तिनका तक सब में विराजमान है। इसीको जानना होगा, प्रत्यक्ष करना पड़ेगा। जो भी साधन-भजन हैं, वे सब इस आवरण को दूर करने के निमित्त हैं। इसके हटने से ही विदित होगा कि चित् सूर्य अपनी प्रभा से स्वयं चमक रहा है; क्योंकि आत्मा ही एकमात्र स्वयंज्योति—स्वयंवेद्य है, वह क्या दूसरे की सहायता से जानी जा सकती है? इसी कारण श्रुति कहती है, **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**। तू जो कुछ जानता है, वह मन की सहायता से, किन्तु मन तो जड़ है। उसके पीछे शुद्ध आत्मा रहने के कारण ही मन का कार्य होता है। तब मन के द्वारा उस आत्मा को कैसे जानोगे? जान इतना सकते हो कि मन या बुद्धि कोई भी शुद्धात्मा के पास नहीं पहुँच सकती। ज्ञान की दौड़ यहीं तक है। परन्तु आगे जब मन विकल्परहित या वृत्तिहीन होता है, तभी मन का लोप होता है और तभी आत्मा प्रत्यक्ष होती है। इस अवस्था का वर्णन भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने 'अपरोक्षानुभूति' कहकर किया है।

शिष्य—किन्तु महाराज, मन ही तो 'अहं' है। मन का यदि लोप हुआ तो 'मैं' कहाँ रहा?

स्वामी जी—वह जो अवस्था है, यथार्थ में वही 'अहं' का स्वरूप है। उस समय का जो 'अहं' रहेगा, वह सर्वभूतस्थ, सर्वगत सर्वान्तरात्मा होता है। घटाकाश टूटकर महाकाश का प्रकाश होता है—घट टूटने पर क्या उसके अन्दर के आकाश का विनाश हो जाता है? इसी प्रकार यह छोटा 'अहं' जिसे तू शरीर में बन्द समझता था, फैलकर सर्वगत 'अहं' या आत्मरूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। अतएव मैं कहता हूँ कि मन मरा या रहा, इससे यथार्थ अहं या आत्मा का क्या? यह बात समय आने पर तुझे प्रत्यक्ष होगी—**कालेनात्मनि विन्दति**। श्रवण और मनन करते करते इस बात की अनुभूति होगी और तब तू मन के अतीत चला जायगा, तब ऐसे प्रश्न करने का अवसर भी न रहेगा।

शिष्य यह सुन स्थिर होकर बैठा रहा। स्वामी जी ने फिर कहा—"इसी सहज विषय को समझाने के लिए न जाने कितने शास्त्र लिखे गये हैं; तिस पर भी लोग इसको नहीं समझ सकते। आपातमधुर चाँदी के चमकते रुपये और स्त्रियों के क्षणभंगुर सौन्दर्य से मोहित होकर इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को कैसे खो रहे हैं! महामाया का कैसा आश्चर्यजनक प्रभाव है! माँ! माँ!!"

७

[स्थान : कलकत्ता। वर्ष : १८९७ ई०]

स्वामी जी अमेरिका से लौटकर कुछ दिनों से कलकत्ते में बलराम बसु जी की बाग़बाज़ारवाली उद्यानवाटिका में ही ठहरे हुए हैं। कभी कभी परिचित व्यक्तियों से मिलने उनके स्थान पर भी जाते हैं। आज प्रातःकाल शिष्य जब स्वामी जी के पास आया तो उसने उनको बाहर जाने के लिए तैयार पाया। स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "मेरे साथ चल।" यह कहते कहते स्वामी जी सीढ़ियों से नीचे उतरने लगे। शिष्य भी पीछे पीछे चला। स्वामी जी शिष्य के साथ एक किराये की गाड़ी में सवार हुए। गाड़ी दक्षिण की ओर चली।

शिष्य—महाराज, कहाँ चल रहे हैं?

स्वामी जी—चलो न, अभी मालूम हो जायगा।

स्वामी जी कहाँ जा रहे हैं, इस विषय में उन्होंने शिष्य से कुछ भी नहीं कहा। गाड़ी के बिडन स्ट्रीट में पहुँचने पर वे कथा-प्रसंग में कहने लगे, "तुम्हारे देश में स्त्रियों के पठन-पाठन के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। तुम स्वयं पठन-पाठन करके योग्य बन रहे हो, किन्तु जो तुम्हारे सुख-दुःख की भागी हैं—प्रत्येक समय में प्राण देकर सेवा करती हैं—उनकी शिक्षा के लिए, उनके उत्थान के लिए तुम क्या कर रहे हो?"

शिष्य—क्यों महाराज, आजकल तो स्त्रियों के लिए कितनी ही पाठशालाएँ तथा उच्चविद्यालय बन गये हैं, कितनी ही स्त्रियाँ एम० ए०, बी० ए० परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो रही हैं।

स्वामी जी—यह तो विलायती ढंग पर हो रहा है। तुम्हारे धर्मशास्त्र और देश की परिपाटी के अनुसार क्या कहीं भी कोई पाठशाला है? स्त्रियों की बात तो जाने दो; इस देश के पुरुषों में भी शिक्षा का विस्तार अधिक नहीं है। इसी कारण

सरकारी आँकड़ों में जब देखा जाता है कि भारतवर्ष में प्रतिशत केवल दस-बारह लोग ही शिक्षित हैं तो अनुमान होता है कि स्त्रियों में प्रतिशत एक भी शिक्षिता न होगी। यदि ऐसा न होता, तो देश की ऐसी दुर्दशा क्यों होती? शिक्षा का विस्तार तथा ज्ञान का उन्मेष हुए बिना देश की उन्नति कैसे होगी? तुममें से जो शिक्षित हैं और जिन पर देश की भावी आशा निर्भर है, उनमें भी इस विषय की कोई चेष्टा या उद्यम नहीं पाया जाता। स्मरण रहे कि सर्वसाधारण में और स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुए बिना उन्नति का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कुछ ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ बनाने की मेरी इच्छा है। ब्रह्मचारी समय पर संन्यास लेकर प्रांत प्रांत में, गाँव गाँव में जायँगे और जनसमुदाय में शिक्षा का प्रसार करने का प्रबंध करेंगे और ब्रह्मचारिणियाँ स्त्रियों में विद्या का प्रसार करेंगी। परन्तु यह सब काम अपने देश के ढंग पर होना चाहिए। पुरुषों के लिए जैसे शिक्षा-केन्द्र बनाने होंगे, वैसे ही स्त्रियों के निमित्त भी स्थापित करने होंगे। शिक्षित और सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियाँ इन केन्द्रों में कुमारियों को शिक्षा दिया करेंगी। पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी के सारे नियम आदि वर्तमान विज्ञान की सहायता से सिखाने होंगे तथा आदर्श चरित्र गठन करने के लिए उपयुक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी। कुमारियों को धर्मपरायण और नीतिपरायण बनाना पड़ेगा; जिससे वे भविष्य में अच्छी गृहिणियाँ हों, वही करना होगा। इन कन्याओं से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेगी। जिनकी माताएँ शिक्षित और नीतिपरायण हैं, उनके ही घर में बड़े लोग जन्म लेते हैं। वर्तमान समय में तो स्त्रियों को काम करने का यन्त्र सा बना रखा है। राम! राम!! तुम्हारी शिक्षा का क्या यही फल है? वर्तमान दशा से स्त्रियों का प्रथम उद्धार करना होगा। सर्वसाधारण को जगाना होगा; तभी तो भारत का कल्याण होगा।

अब गाड़ी को कॉर्नवालिस स्ट्रीट के ब्राह्मसमाज मन्दिर से आगे बढ़ते देखकर स्वामी जी ने गाड़ीवाले से कहा, "चोरबाग़ान के रास्ते को ले चलो।" गाड़ी जब उस रास्ते पर मुड़ी तब स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "महाकाली पाठशाला की संस्थापिका तपस्विनी माता जी ने अपनी पाठशाला देखने के लिए निमन्त्रित किया है।" यह पाठशाला उस समय चोरबाग़ान में राजेन्द्रनाथ मल्लिक के मकान के पूर्व की ओर किराये के मकान में थी। गाड़ी ठहरने पर दो चार भद्रपुरुषों ने स्वामी जी को प्रणाम किया और उन्हें कोठे पर लिवा ले गये। तपस्विनी माता जी ने भी खड़े होकर स्वामी जी की अभ्यर्थना की। थोड़ी देर बाद ही तपस्विनी माता जी स्वामी जी को पाठशाला की एक श्रेणी में ले गयीं। कुमारियों ने भी खड़े होकर स्वामी जी की अभ्यर्थना की और माता जी के आदेश से शिव जी के ध्यान स्तोत्र

की, सस्वर आवृत्ति करनी आरंभ की। फिर, किस प्रणाली से पाठशाला में पूजन की शिक्षा दी जाती है, वह भी माता जी के आदेश से कुमारियाँ दिखलाने लगीं। स्वामी जी हर्षित नेत्रों से यह सब देखकर एक दूसरी श्रेणी की छात्राओं को देखने के लिए गये। वृद्धा माता जी ने अपने को असमर्थ जान पाठशाला के दो तीन शिक्षकों को बुलाकर स्वामी जी को सब श्रेणियाँ भली प्रकार दिखलाने के लिए कहा। सब श्रेणियों को देखकर स्वामी जी जब पुनः माता जी के पास लौट आये, तब उन्होंने एक छात्रा को बुलाकर रघुवंश के तृतीय सर्ग के प्रथम श्लोक की व्याख्या करने को कहा। उस कुमारी ने उसकी व्याख्या संस्कृत में ही करके स्वामी जी को सुनायी। स्वामी जी ने सुनकर सन्तोष प्रकट किया और स्त्री-शिक्षा के प्रसार में उनके अध्यवसाय और यत्न की ऐसी सफलता देख माता जी की बहुत प्रशंसा की। इस पर माता जी ने विनय से कहा, "मैं छात्राओं की सेवा उन्हें देवी भगवती समझकर कर रही हूँ। मुझे विद्यालय स्थापित करके यश लाभ करने की कोई आकांक्षा नहीं।"

विद्यालय के सम्बन्ध में वार्तालाप करके स्वामी जी ने जब विदा लेनी चाही, तब माता जी ने स्वामी जी से विजिटर्स बुक (स्कूल के विषय में अपना मत लिखने के लिए निर्दिष्ट पुस्तक) में अपना मत प्रकट करने के लिए कहा। स्वामी जी ने उस पुस्तक में अपना मत विशद रूप से लिख दिया। लिखित विषय की अन्तिम पंक्ति शिष्य को अभी तक स्मरण है। वह यह थी—The movement is in the right direction. (कार्य सही मार्ग पर हो रहा है।)

इसके बाद माता जी को नमस्कार कर स्वामी जी फिर गाड़ी में सवार हुए और शिष्य से स्त्री-शिक्षा पर वार्तालाप करते हुए बागबाजार की ओर चले। वार्तालाप का कुछ विवरण निम्नलिखित है।

स्वामी जी—देखो, कहाँ इनकी जन्मभूमि! सर्वस्व त्याग किया है। तथापि यहाँ लोगों के मंगल के लिए कैसा प्रयत्न कर रही हैं! स्त्री के अतिरिक्त और कौन छात्राओं को ऐसा निपुण कर सकता है? सभी प्रबन्ध अच्छा पाया, परन्तु गृहस्थ पुरुष शिक्षकों का वहाँ होना मुझे उचित नहीं जान पड़ा। शिक्षित विधवा या ब्रह्मचारिणियों को ही पाठशाला का कुल भार सौंपना चाहिए। इस देश की नारी-शिक्षण-संस्थाओं में पुरुषों का संसर्ग बिल्कुल ही अच्छा नहीं।

शिष्य—किन्तु महाराज, इस देश में गार्गी, खना, लीलावती के समान गुणवती शिक्षिता स्त्रियाँ अब पायी कहाँ जाती हैं?

स्वामी जी—क्या ऐसी स्त्रियाँ इस देश में नहीं हैं? अरे, यह देश वही है जहाँ सीता और सावित्री का जन्म हुआ था। पुण्यक्षेत्र भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि और भक्ति पायी जाती है, पृथ्वी पर

और कहीं ऐसा नहीं है। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को देखने पर कुछ समय तक यही नहीं ठीक हो पाता था कि वे स्त्रियाँ हैं; देखने में ठीक पुरुषों के समान थीं। ट्रामगाड़ी चलाती हैं, दफ़्तर जाती हैं, स्कूल जाती हैं, प्रोफ़ेसरी करती हैं! एक मात्र भारत ही में स्त्रियों में लज्जा, विनय इत्यादि देखकर नेत्रों को शान्ति मिलती है। ऐसे योग्य आधार के प्रस्तुत होने पर भी तुम उनकी उन्नति न कर सके! इनको ज्ञानरूपी ज्योति दिखाने का कोई प्रवन्ध नहीं किया गया! उचित रीति से शिक्षा पाने पर ये आदर्श स्त्रियाँ वन सकती हैं।

शिष्य—महाराज, माता जी जिस प्रकार कुमारियों को शिक्षा दे रही हैं, क्या इससे ऐसा फल मिलेगा? वे कुमारियाँ वड़ी होने पर विवाह करेंगी और थोड़े ही समय में अन्य स्त्रियों के समान हो जायँगी? मेरा तो विचार है कि यदि उनसे ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाय, तो वे समाज और देश की उन्नति के लिए जीवन उत्सर्ग करने और शास्त्रोक्त उच्च आदर्श लाभ करने में समर्थ होंगी।

स्वामी जी—धीरे धीरे सव हो जायगा। यहाँ अभी तक ऐसे शिक्षित पुरुषों ने जन्म नहीं लिया है, जो समाज-शासन की परवाह न कर अपनी कन्याओं को अविवाहित रख सकें। देखो, आजकल कन्याएँ १२-१३ वर्ष की होते ही समाज के भय से विवाह में दे दी जाती हैं। अभी उस दिन की वात है, सम्मति विधेयक (Consent Bill) के आने पर समाज के नेताओं ने लाखों मनुष्यों को एकत्र कर चिल्लाना शुरू कर दिया कि हम यह क़ानून नहीं चाहते! अन्य देशों में इस प्रकार की सभा इकट्ठी करके विरोध प्रदर्शन करने की कौन कहे, ऐसे क़ानून के वनने की वात सुनकर ही लोग लज्जा से अपने घरों में छिप जाते हैं और सोचते हैं कि क्या अभी तक हमारे समाज में इस प्रकार का कलंक मौजूद है?

शिष्य—परन्तु महाराज, क्या संहिताकारों ने विना विचारे ही वाल विवाह का अनुमोदन किया था? निश्चय ही इसमें कुछ गूढ़ रहस्य है।

स्वामी जी—क्या रहस्य मालूम पड़ता है?

शिष्य—देखिए न, छोटी अवस्था में कन्याओं का विवाह कर देने से वे ससुराल में जाकर लड़कपन से ही कुल-धर्म को सीख जायँगी और गृहकार्य में निपुण वन सकेंगी। इसके अतिरिक्त पिता के गृह में वयस्क कन्या के स्वेच्छाचारिणी होने की आशंका है; वाल्य काल में विवाह होने में स्वतन्त्र हो जाने का कोई भी भय नहीं रहता और लज्जा, नम्रता, धीरज तथा श्रमशीलता आदि नारी सुलभ गुणों का विकास होता जाता है।

स्वामी जी—दूसरे पक्ष में यह भी तो कहा जा सकता है कि वाल विवाह होने से वहुत स्त्रियाँ अल्पायु में ही सन्तान प्रसव करके मर जाती हैं। उनकी सन्तान

क्षीणजीवी होकर देश में भिक्षुओं की संख्या की वृद्धि करती हैं, क्योंकि माता-पिता का शरीर सम्पूर्ण रूप से सवल न होने से सवल और नीरोग सन्तान कैसे उत्पन्न हो सकती है? पठन-पाठन कराके अधिक उम्र होने पर कुमारियों का विवाह करने से उनकी जो सन्तान होगी, उसके द्वारा देश का कल्याण होगा। तुम्हारे यहाँ घर घर में जो इतनी विधवाएँ हैं, इसका कारण वाल विवाह ही तो है। वाल विवाह कम होने से विधवाओं की संख्या भी कम हो जायगी।

शिष्य—किन्तु महाराज, मेरा यह अनुमान है कि अधिक उम्र में विवाह होने से कुमारियाँ गृहकार्य में उतना ध्यान नहीं देतीं। सुना है कि कलकत्ते के अनेक गृहों में सास भोजन पकाती हैं और शिक्षित वहुएँ शृंगार करके वैठी रहती हैं। हमारे पूर्व वंग में ऐसा कभी नहीं होने पाता।

स्वामी जी—वुरा भला सभी देशों में है। मेरा मत यह है कि सव देशों में समाज अपने आप वनता है। इसी कारण वाल विवाह उठा देना या विधवा-विवाह आदि विषयों में सिर पटकना व्यर्थ है। हमारा यह कर्तव्य है कि समाज के स्त्री-पुरुषों को शिक्षा दें। इससे फल यह होगा कि वे स्वयं भले-वुरे को समझेंगे और वुरे को स्वयं ही छोड़ देंगे। तव किसीको इन विषयों पर समाज का खण्डन या मण्डन करना न पड़ेगा।

शिष्य—आजकल स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है?

स्वामी जी—धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, भोजन वनाना, सीना, शरीर-पालन आदि सव विषयों की मोटी मोटी वातें सिखलाना उचित है। नाटक और उपन्यास तो उनके पास तक नहीं पहुँचने चाहिए। महाकाली पाठशाला अनेक विषयों में ठीक पथ पर चल रही है, किन्तु केवल पूजा-पद्धति सिखलाने से ही काम न वनेगा। सव विषयों में उनकी आँखें खोल देना उचित है। छात्राओं के सामने आदर्श नारी-चरित्र सर्वदा रखकर त्यागरूप व्रत में उनका अनुराग उत्पन्न कराना चाहिए। सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खना, मीरावाई आदि के जीवन-चरित्र कुमारियों को समझा कर उनको अपना जीवन वैसा वनाने का उपदेश देना होगा।

गाड़ी अव वाग़वाज़ार में स्व० वलराम वसु के घर पर पहुँची। स्वामी जी गाड़ी से उतरकर ऊपर चले गये और वहाँ उपस्थित दर्शनाभिलाषियों से महाकाली पाठशाला का विस्तार सहित वृत्तान्त कहने लगे।

आगे, सद्यःस्थापित 'रामकृष्ण मिशन' के सदस्यों के लिए क्या क्या कार्य कर्तव्य हैं, आदि विषयों की चर्चा करने के साथ ही साथ वे 'विद्यादान' तथा 'ज्ञान-दान' के श्रेष्ठत्व का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करने लगे। शिष्य को लक्ष्य करके

बोले, "शिक्षा दो, शिक्षा दो—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**" शिक्षादान के विरोधी मतावलम्बियों पर व्यंग करके बोले, 'सावधान, प्रह्लाद के समान न बन जाना।' शिष्य के इसका अर्थ पूछने पर स्वामी जी ने कहा, "क्या तूने सुना नहीं कि 'क' अक्षर को देखते ही प्रह्लाद की आँखों में आँसू भर आये थे, फिर उनसे पठन-पाठन क्या हो सकता था! यह निश्चित है कि प्रह्लाद की आँखों में आँसू भर आये थे प्रेम के; और मूर्ख की आँखों में आँसू आते हैं डर के। भक्तों में भी इस प्रकार के अनेक हैं।" इस बात को सुनकर सब लोग हँसने लगे। स्वामी योगानन्द ने यह सुनकर कहा, "तुम्हारे मन में जब कोई बात आती है, तो उसकी कपाल-क्रिया किये बिना तुमको शान्ति कहाँ! अब तो जो तुम्हारी इच्छा है वही होकर रहेगा।"

८

[स्थान : कलकत्ता। वर्ष : १८९७ ई०]

कुछ दिनों से स्वामी जी बाग़बाज़ार में स्व० बलराम बसु जी के भवन में ठहरे हैं। क्या प्रातः, क्या मध्याह्न, क्या सायंकाल उनको विश्राम करने को तनिक भी अवसर नहीं मिलता; क्योंकि स्वामी जी कहीं भी क्यों न रहें, अनेक उत्साही युवक (कॉलेज के छात्र) उनके दर्शनों को आ ही जाते हैं। स्वामी जी सादर सबको धर्म या दर्शन के कठिन तत्त्वों को सुगमता से समझाते हैं। स्वामी जी की प्रतिभा से मानो अभिभूत होकर वे निर्वाक् बैठे रहते हैं।

आज सूर्यग्रहण है। पूर्णग्रासी ग्रहण है। ग्रहण देखने के निमित्त ज्योतिषीगण भिन्न भिन्न स्थानों को गये हैं। धर्मपिपासु नर-नारी दूर दूर से गंगा-स्नान करने आये हैं और बड़ी उत्सुकता से ग्रहण पड़ने के समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। परन्तु स्वामी जी को ग्रहण के सम्बन्ध में कोई विशेष उत्साह नहीं। स्वामी जी का आदेश है कि शिष्य अपने हाथ से भोजन पकाकर स्वामी जी को खिलाये। शाक तरकारी और रसोई पकाने के सब उपयोगी पदार्थ इकट्ठा कर प्रातःकाल ८ बजे शिष्य बलराम बसु जी के घर पर पहुँचा। उसको देखकर स्वामी जी ने कहा, "तुम्हारे देश में जिस प्रकार भोजन पकाया जाता है, उसी प्रकार बनाओ और ग्रहण पड़ने से पूर्व ही भोजन हो जाना चाहिए।"

बलराम बाबू के परिवार में से कोई भी कलकत्ते में नहीं, इस कारण सारा घर खाली है। शिष्य ने भीतर के रसोईघर में जाकर रसोई पकाना आरम्भ

किया। श्री रामकृष्णगतप्राणा योगीन माता पास ही उपस्थित रहकर रसोई के निमित्त सब चीजों का आयोजन करती हुई बीच बीच में पकाने का ढंग बतलाकर उसकी सहायता करने लगीं। स्वामी जी भी आते जाते रसोई देखकर शिष्य को उत्साहित करने लगे और कभी "मछली का 'झोल' (शोरबा) ठीक तुम्हारे पूर्व बंग के ढंग का पके", कहकर हँसी करने लगे।

जब भात, मूँग की दाल, झोल, खटाई, सुक्तुनी आदि सब पदार्थ पक चुके, तब स्वामी जी स्नान कर आ पहुँचे और स्वयं ही पत्तल बिछाकर खाने बैठ गये। "अभी सब रसोई नहीं बनी है," कहने पर भी कुछ नहीं सुना, बड़े हठी बच्चे के समान बोले, "बड़ी भूख लगी है, अब ठहरा नहीं जाता, भूख के मारे अँतड़ी जल रही है।" लाचार होकर शिष्य ने सुक्तुनी और भात परोस दिया। स्वामी जी ने भी तुरन्त भोजन करना आरम्भ कर दिया। तत्पश्चात् शिष्य ने कटोरियों में अन्यान्य शाकों को परोसकर सामने रख दिया। फिर योगानन्द तथा प्रेमानन्द प्रमुख अन्य सब संन्यासियों को अन्न तथा शाकादि परोसने लगे। शिष्य रसोई पकाने में निपुण नहीं था, किन्तु आज स्वामी जी ने उसकी रसोई की भूरि भूरि प्रशंसा की। कलकत्तावाले 'पूर्व बंग की सुक्तुनी' के नाम से ही बड़ी हँसी करते हैं, किन्तु स्वामी जी यह भोजन कर बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, "ऐसा अच्छा मैंने कभी नहीं खाया। यह 'झोल' जैसा चटपटा बना है, ऐसी और कोई तरकारी नहीं बनी।" खटाई चखकर बोले, "यह बिल्कुल बर्दवानवालों के ढंग की बनी है।" अन्त में सन्देश (मिठाई) तथा दही से स्वामी जी ने भोजन समाप्त किया और आचमन करके घर के भीतर खटिया पर जा बैठे। शिष्य स्वामी जी के सामनेवाले दालान में प्रसाद पाने के लिए बैठ गया। स्वामी जी ने बातचीत करते करते उससे कहा, "जो अच्छी रसोई नहीं पका सकता, वह साधु भी नहीं बन सकता। यदि मन शुद्ध न हो तो किसी से अच्छी स्वादिष्ट रसोई नहीं पकती।"

थोड़ी देर बाद चारों ओर शंख-ध्वनि होने लगी, घंटा बजने लगा और स्त्री-कंठ की 'उलु' ध्वनि सुनायी दी। स्वामी जी ने कहा "अरे, ग्रहण पड़ गया, मैं सो जाऊँ, तू चरण सेवा कर।" यह कहकर वे कुछ आलस्य और तन्द्रा का अनुभव करने लगे। शिष्य भी उनकी पदसेवा करते करते विचार करने लगा, "ऐसे पुण्य समय में गुरुपद सेवा ही मेरा जप, तप और गंगा-स्नान है।" ऐसा विचार कर वह शान्त मन से स्वामी जी की सेवा करने लगा। ग्रहण के समय सूर्य के छिप जाने से चारों दिशाओं में सायंकाल के समान अँधेरा छा गया।

जब ग्रहण मुक्त होने में १५-२० मिनट रह गये, तब स्वामी जी सोकर उठे और मुँह हाथ धोकर हँसकर शिष्य से कहने लगे, "लोग कहते हैं कि ग्रहण के समय

जो कोई कुछ करता है, उससे करोड़ गुना अधिक फल प्राप्त होता है। इसलिए मैंने यह सोचा था कि महामाया ने तो इस शरीर को अच्छी नींद दी ही नहीं; यदि इस समय कुछ देर सो जाऊँ तो आगे अच्छी नींद मिलेगी, परन्तु ऐसा नहीं हो सका। मुश्किल से १५ मिनट ही सोया हूँगा।"

इसके वाद स्वामी जी के पास सबके आ वैठने पर, स्वामी जी ने शिष्य को उपनिषद् के संबंध में कुछ वोलने का आदेश किया। इससे पहले शिष्य ने स्वामी जी के सामने कभी भाषण नहीं दिया था। उसका हृदय काँपने लगा, परन्तु स्वामी जी छोड़नेवाले कब थे। लाचारी से शिष्य खड़ा होकर **परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः** मन्त्र पर व्याख्यान देने लगा। इसके बाद गुरु-भक्ति और त्याग की महिमा पर और अन्त में ब्रह्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, यह सिद्धान्त बतलाकर वैठ गया। स्वामी जी ने शिष्य का उत्साह वढ़ाने के लिए बार वार करतलध्वनि कर कहा, "वाह! वहुत अच्छा!!"

तत्पश्चात् स्वामी जी ने शुद्धानन्द, प्रकाशानन्द आदि स्वामियों को कुछ वोलने का आदेश दिया। स्वामी शुद्धानन्द ने ओजस्विनी भाषा में ध्यान सम्वन्धी एक छोटा सा व्याख्यान दिया। उसके वाद स्वामी प्रकाशानन्द आदि के उसी प्रकार व्याख्यान दे चुकने पर स्वामी जी वहाँ से वाहर बैठक में आ गये। तब संध्या होने में कोई घण्टा भर था। वहाँ सबके पहुँचने पर स्वामी जी ने कहा, "जिसको जो कुछ पूछना हो, पूछो।"

शुद्धानन्द स्वामी ने पूछा, "महाराज, ध्यान का स्वरूप क्या है?"

स्वामी जी—किसी विषय पर मन को एकाग्र करने का ही नाम ध्यान है। किसी एक विषय पर भी मन की एकाग्रता हो जाने से वह एकाग्रता जिस विषय पर चाहो उस पर लगा सकते हो।

शिष्य—शास्त्र में विषय और निर्विषय भेद से दो प्रकार के ध्यान पाये जाते हैं। इनका क्या अर्थ है और उनमें कौन श्रेष्ठ है?

स्वामी जी—पहले किसी एक विषय का आश्रय कर ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। किसी समय मैं एक छोटे से काले विंदु पर मन को एकाग्र किया करता था। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास के वाद वह विंदु मुझे दीखना वन्द हो गया था। वह मेरे सामने है या नहीं यह भी ध्यान नहीं रहता था। निवात समुद्र के समान मन का सम्पूर्ण निरोध हो जाता था। ऐसी अवस्था में मुझे अतीन्द्रिय सत्य की परछाइँ कुछ कुछ दिखायी देती थी। इसलिए मेरा विचार है कि किसी सामान्य वाहरी विपय का भी आश्रय लेकर ध्यान करने का अभ्यास करने से मन की एकाग्रता होती है। जिसमें जिसका मन लगता है, उसीके ध्यान का अभ्यास करने से मन

शीघ्र एकाग्र हो जाता है। इसीलिए हमारे देश में इतने देव-देवी मूर्तियों के पूजने की व्यवस्था है। देव-देवी पूजा से ही शिल्प की उन्नति हुई है। परन्तु इस वात को अभी छोड़ दो। अव वात यह है कि ध्यान का वाहरी अवलम्बन सवका एक नहीं हो सकता। जो जिस विपय के आश्रय से ध्यान-सिद्ध हो गया है, वह उस अवलम्बन का ही वर्णन और प्रचार कर गया है । कालान्तर में वे मन के स्थिर करने के लिए हैं, इस वात के भूलने पर लोगों ने इस वाहरी अवलम्बन को ही श्रेप्ठ समझ लिया। उपाय में ही लोग लगे रह गये; उद्देश्य पर लक्ष्य कम हो गया। मन को वृत्तिहीन करना ही उद्देश्य है; किन्तु यह किसी विपय में तन्मय हुए विना असम्भव है।

शिप्य—मनोवृत्ति विपयाकार होने से उसमें ब्रह्म की धारणा कैसे हो सकती है?

स्वामी जी—वृत्ति पहले विपयाकार होती है, यह ठीक है; किन्तु तत्पश्चात् उस विपय का कोई ज्ञान नहीं रहता, तव शुद्ध 'अस्ति' मात्र का ही वोध रहता है।

शिप्य—महाराज, मन की एकाग्रता को प्राप्त करने पर भी कामनाओं और वासनाओं का उदय क्यों होता है?

स्वामी जी—पूर्व संस्कार से! बुद्धदेव जव समाधि अवस्था प्राप्त करने को ही थे, उसी समय 'मार' उनके सामने आया। 'मार' स्वयं कुछ भी नहीं था, वह मन के पूर्वसंस्कार का ही छायारूप कोई प्रकाश था।

शिप्य—सिद्धि लाभ होने के पहले नाना विभीपिकाएँ देखने की वातें जो सुनने में आती हैं, क्या वे सव मन की ही कल्पनाएँ हैं?

स्वामी जी—और नहीं तो क्या? यह निश्चित है कि उस अवस्था में साधक समझ नहीं पाता कि यह सव उसके मन का ही वाहरी प्रकाश है; परन्तु वास्तव में वाहर कुछ भी नहीं है। यह जगत् जो देखते हो वास्तव में नहीं है; सभी मन की कल्पनाएँ हैं। मन के वृत्तिशून्य होने पर उसमें ब्रह्माभास होता है। **यं यं लोकं मनसा संविभाति**, उन उन लोकों के दर्शन होते हैं। जो संकल्प किया जाता है, वही सिद्ध होता है। ऐसी सत्यसंकल्प की अवस्था का लाभ करके भी जो जागरूक रह सकता है और किसी भी प्रकार की वासनाओं का दास नहीं होता, वही ब्रह्मलाभ करता है; और जो ऐसी अवस्था लाभ करने पर विचलित हो जाता है, वह नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करके परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

इन वातों को कहते कहते स्वामी जी वारम्वार 'शिव' नाम का उच्चारण करने लगे। अन्त में फिर वोले, "विना त्याग के इस गम्भीर जीवन समस्या का गूढ़ अर्थ निकालना और किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं है। 'त्याग'—'त्याग',

यही तुम्हारे जीवन का मूल मन्त्र होना चाहिए—सर्व वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।"

९

[स्थान : कलकत्ता। वर्ष : १८९७ ई०]

स्वामी जी कुछ दिनों से बाग़बाज़ार में स्व० बलराम वसु के भवन में अवस्थान कर रहे हैं। स्वामी जी ने श्री रामकृष्ण के सब गृहस्थ भक्तों को यहाँ एकत्र होने के लिए समाचार भेजा था। इसीसे दिन के तीन बजे श्री रामकृष्ण के भक्त जन एकत्र हुए हैं। स्वामी योगानन्द भी वहाँ उपस्थित हैं। स्वामी जी ने एक समिति संगठित करने के उद्देश्य से सबको निमन्त्रित किया है। सब महानुभावों के बैठ जाने पर स्वामी जी ने कहा, "अनेक देशों में भ्रमण करने पर मैंने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि बिना संघ के कोई भी बड़ा कार्य सिद्ध नहीं होता। परन्तु हमारे देश में इसका निर्माण यदि शुरू से ही जनतांत्रिक ढंग से (मतदान द्वारा) किया जाय तो मुझे ऐसा नहीं लगता है कि वह अधिक कार्य करेगा। पाश्चात्य देशों के लिए यह नियम अच्छा है, क्योंकि वहाँ सब नर-नारी अधिक शिक्षित हैं और हमारे समान द्वेषपरायण नहीं हैं। वे गुण का सम्मान करना जानते हैं। वहाँ मैं मात्र एक साधारण जन था, परन्तु उन्होंने मेरा कितना सत्कार किया। इस देश में शिक्षा-विस्तार के साथ जब साधारण लोग और भी सहृदय बनेंगे और मतों की संकीर्ण सीमा से हटकर उदारता से विचार करेंगे, तब जनतांत्रिक ढंग से काम चलाया जा सकता है। इन सब बातों का विचार करके मैं देखता हूँ कि हमारे इस संघ के लिए एक प्रधान संचालक (dictator) होना आवश्यक है, सब लोग उसीके आदेश को मानेंगे। कालान्तर में आम मतदान के सिद्धान्त पर कार्य करना होगा।"

"यह संघ उन श्री रामकृष्ण के नाम पर स्थापित होगा जिनके नाम पर हम संन्यासी हुए और आप सब महानुभाव जिनको अपना जीवन-आदर्श मान संसार आश्रमरूप कार्यक्षेत्र में स्थित हैं; ऊपर से जिनके देहावसान के बाद २० वर्ष ही में प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत् में उनके पवित्र नाम और अद्भुत जीवनी का आश्चर्य-जनक प्रसार हुआ है। हम सब प्रभु के दास हैं, आप लोग इस कार्य में सहायता दीजिए।"

श्रीयुत गिरीशचन्द्र तथा अन्य समस्त गृहस्थों के इस प्रस्ताव पर सहमत होने

पर रामकृष्ण संघ की भावी कार्यप्रणाली पर विचार-विमर्श होने लगा। संघ का नाम 'रामकृष्ण संघ' अथवा 'रामकृष्ण मिशन' रखा गया। उसके उद्देश्य आदि नीचे उद्धृत किये जाते हैं:

उद्देश्य—मनुष्यों के हितार्थ श्री रामकृष्ण ने जिन तत्त्वों की व्याख्या की और स्वयं अपने जीवन में प्रत्यक्ष किया है, उन सब का प्रचार तथा मनुष्यों की दैहिक, मानसिक और पारमार्थिक उन्नति के निमित्त वे सब तत्त्व जिस प्रकार से प्रयुक्त हो सकें, उसमें सहायता करना ही इस संघ (मिशन) का उद्देश्य है।

व्रत—जगत् के सब धर्ममतों को एक अक्षय सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र जानकर, समस्त धर्मावलम्बियों में मैत्री स्थापित करने के लिए श्री रामकृष्ण ने जिस कार्य की उद्भावना की थी, उसीका परिचालन इस संघ का व्रत है।

कार्यप्रणाली—मनुष्यों की सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति हेतु विद्यादान करने के लिए उपयुक्त लोगों को शिक्षित करना। शिल्पियों तथा श्रमजीवियों का उत्साह बढ़ाना और वेदान्त तथा अन्यान्य धर्मभावों का, जैसी कि उनकी रामकृष्ण-जीवन में व्याख्या हुई थी, मनुष्य समाज में प्रचार करना।

भारत में कार्य—भारत के नगर नगर में आचार्य-व्रत ग्रहण के अभिलाषी गृहस्थ या संन्यासियों की शिक्षा के निमित्त आश्रम स्थापित करना और उन उपायों का अवलम्बन करना जिनसे वे दूर दूर जाकर जन साधारण को शिक्षा दे सकें।

विदेशों में कार्य-विभाग—भारत से बाहर अन्य देशों में व्रतधारियों को भेजना और उन देशों में स्थापित सब आश्रमों की भारत के आश्रमों से घनिष्ठता और सहानुभूति बढ़ाना तथा नये नये आश्रमों की स्थापना करना।

स्वामी जी स्वयं ही उस समिति के कार्याध्यक्ष बने। स्वामी ब्रह्मानन्द कलकत्ता केन्द्र के अध्यक्ष और स्वामी योगानन्द सहकारी बने। एटर्नी बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र इसके मंत्री, डाक्टर शशिभूषण घोष और शरच्चन्द्र सरकार सहायक मंत्री और शिष्य शास्त्रपाठक निर्वाचित हुए। स्व० बलराम वसु के मकान पर प्रत्येक रविवार को चार बजे के उपरान्त समिति की बैठक हुआ करेगी, यह नियम भी बना। इस सभा के पश्चात् तीन वर्ष तक 'रामकृष्ण मिशन' समिति का अधिवेशन प्रति रविवार को बलराम वसु के मकान पर हुआ। स्वामी जी जब तक फिर विदेश नहीं गये, तब तक सुविधानुसार समिति की बैठकों में उपस्थित होकर कभी उपदेश आदि देकर या कभी अपने सुन्दर कंठ से गान सुनाकर सबको मोहित करते थे।

आज सभा की समाप्ति पर सदस्यों के चले जाने के पश्चात् योगानन्द स्वामी को लक्ष्य करके स्वामी जी कहने लगे, "इस प्रकार कार्य तो आरम्भ किया गया,

अब देखना चाहिए कि श्री गुरुदेव की इच्छा से कहाँ तक इसका निर्वाह होता है।"

स्वामी योगानन्द—तुम्हारा यह सब कार्य विदेशी ढंग पर हो रहा है। श्री रामकृष्ण का उपदेश क्या ऐसा ही था?

स्वामी जी—तुमने कैसे जाना कि यह सब श्री रामकृष्ण के भावानुसार नहीं है? तुम क्या अनन्त भावमय गुरुदेव को अपनी संकीर्ण परिधि में आबद्ध करना चाहते हो? मैं इस सीमा को तोड़कर उनके भाव जगत् भर में फैलाऊँगा। श्री रामकृष्ण ने अपने पूजा-पाठ का प्रचार करने का उपदेश मुझे कभी नहीं दिया। वे साधन-भजन, ध्यान-धारणा तथा अन्य ऊँचे धर्मभावों के सम्बन्ध में जो सब उपदेश दे गये हैं, उन्हें पहले अपने में अनुभव कर फिर सर्वसाधारण को उन्हें सिखलाना होगा। मत अनन्त हैं; पथ भी अनन्त हैं। सम्प्रदायों से भरे हुए जगत् में और एक नवीन सम्प्रदाय पैदा कर देने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ। प्रभु के चरणों में आश्रय पाकर हम कृतार्थ हुए हैं। त्रिजगत् के लोगों को उनकी भाव राशि देने के निमित्त ही हमारा जन्म हुआ है।

स्वामी योगानन्द के प्रतिवाद न करने पर स्वामी जी फिर कहने लगे, "प्रभु की कृपा का परिचय इस जीवन में बहुत पाया। वे ही तो पीछे खड़े होकर इन सब कार्यों को करा रहे हैं। जब भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा रहता था, जब कौपीन बांधने को वस्त्र तक न था, जब कौड़ीहीन होकर भी पृथ्वी का भ्रमण करने को कृतसंकल्प था, तब श्री गुरुदेव की कृपा से सदा मैंने सहायता पायी। फिर जब इसी विवेकानन्द के दर्शन करने के निमित्त शिकागो के रास्तों पर भीड़ में धक्कम-धक्का हुआ था; जिस सम्मान का शतांश भी प्राप्त करने पर साधारण मनुष्य उन्मत्त हो जाते हैं, श्री गुरुदेव की कृपा से उस सम्मान को भी सहज में पचा गया। प्रभु की इच्छा से सर्वत्र विजय है। अब इस देश में कुछ कार्य कर जाऊँगा। तुम सन्देह छोड़कर मेरे कार्य में सहायता करो, देखोगे उनकी इच्छा से सब पूर्ण हो जायगा।"

स्वामी योगानन्द—तुम जैसा आदेश दोगे, हम वैसा ही करेंगे। हम तो सदा से तुम्हारे आज्ञाकारी हैं। मैं तो कभी कभी स्पष्ट ही देखता हूँ कि श्री गुरुदेव स्वयं तुमसे यह सब कार्य करा रहे हैं। पर बीच बीच में मन में न जाने क्यों ऐसा सन्देह आ जाता है। मैंने श्री गुरुदेव के कार्य करने की रीति कुछ और ही प्रकार की देखी थी, इसीलिए सन्देह होता है कि कहीं हम उनकी शिक्षा छोड़कर दूसरे पथ पर तो नहीं चल रहे हैं? इसी कारण तुमसे ऐसा कहता हूँ और सावधान कर देता हूँ।

स्वामी जी—जानते हो, साधारण भक्तों ने श्री गुरुदेव को जितना समझा है, वास्तव में हमारे प्रभु उतने ही नहीं हैं। वे तो अनन्त भावमय हैं। भले ही ब्रह्मज्ञान की मर्यादा हो, पर प्रभु के अगम्य भावों की कोई भी मर्यादा नहीं।

उनके कृपा-कटाक्ष से एक क्यों, लाखों विवेकानन्द अभी उत्पन्न हो सकते हैं। पर ऐसा न करके वे अपनी ही इच्छा से मेरे द्वारा अर्थात् मुझे यन्त्रवत वनाकर, यहाँ सव कार्य करा रहे हैं। तुम्हीं कहो, इसमें मेरा क्या हाथ है ?

यह कहकर स्वामी जी दूसरे किसी कार्य के लिए कहीं चले गये। स्वामी योगानन्द शिष्य से कहने लगे, "वाह ! नरेन्द्र का कैसा विश्वास है ! इस विपय पर भी क्या तूने ध्यान दिया ? कहता है, श्री गुरुदेव की कृपा-कटाक्ष से लाखों विवेकानन्द वन सकते हैं ! घन्य है उनकी गुरु-भक्ति ! यदि ऐसी भक्ति का शतांश भी हम प्राप्त कर सकते तो कृतार्थ हो जाते।"

शिष्य—महाराज, श्री रामकृष्ण स्वामी जी के विषय में क्या कहा करते थे ?

योगानन्द—वे कहा करते थे, "इस युग में ऐसा आधार जगत् में और कभी नहीं आया।" कभी कहते थे, "नरेन्द्र पुरुप है और मैं प्रकृति हूँ, नरेन्द्र मेरी ससुराल है।" कभी कहा करते थे, "अखण्ड की कोटि का है", कभी कहते थे, "अखण्ड के घर में जहाँ देव-देवियाँ भी सव अपना प्रकाश ब्रह्म से स्वतन्त्र रखने में असमर्थ होकर उनमें लीन हो गये हैं, वहाँ मैंने केवल सात ऋपियों को अपना प्रकाश स्वतन्त्र रखकर ध्यान में निमग्न रहते देखा था, नरेन्द्र उन्हींमें से एक का अंशावतार है।" कभी कहा करते थे, "जगत् पालक नारायण ने नर और नारायण नामक जिन दो ऋपियों की मूर्ति धारण कर जगत् के कल्याण के लिए तपस्या की थी, नरेन्द्र उसी नर ऋपि का अवतार है।" कभी कहते थे, "शुकदेव के समान इसको भी माया ने स्पर्श नहीं किया है।"

शिष्य—क्या वे सव वातें सत्य हैं या श्री रामकृष्ण भावावस्था में समय समय पर एक एक प्रकार का उनको वतलाया करते थे ?

योगानन्द—उनकी सव वातें सत्य हैं। उनके श्रीमुख से भूल से भी मिथ्या वात नहीं निकली।

शिष्य—तव फिर क्यों कभी कुछ और कभी कुछ कहा करते थे।

योगानन्द—तुमने समझा नहीं। वे नरेन्द्र को सवका समष्टि प्रकाश कहा करते थे। क्या तुझे नहीं दीख पड़ता कि नरेन्द्र में ऋपि का वेद-ज्ञान, शंकर का त्याग, वुद्ध का हृदय, शुकदेव का मायारहित भाव और ब्रह्मज्ञान का पूर्ण विकास एक ही साथ वर्तमान हैं ? इसी से वीच वीच में श्री रामकृष्ण नरेन्द्र के विपय में ऐसी नाना प्रकार की वातें कहा करते थे। जो वे कहते थे वे सव सत्य हैं।

शिष्य सुनकर निर्वाक् हो गया। इतने में स्वामी जी लौटे और शिष्य से पूछा, "क्या तेरे देश में सव लोग श्री रामकृष्ण के नाम से अच्छी तरह परिचित हैं ?"

शिष्य—मेरे देश से तो केवल नाग महाशय ही श्री रामकृष्ण के पास आये

थे। उनसे समाचार पाकर अनेक लोग श्री रामकृष्ण के विषय में जानने को उत्सुक हुए हैं; परन्तु वहाँ के लोग श्री रामकृष्ण को ईश्वरावतार अभी तक नहीं समझ सके हैं। कोई कोई तो यह बात सुनकर भी विश्वास नहीं करते।

स्वामी जी—इस बात पर विश्वास करना क्या तूने ऐसा सुगम समझ रखा है? हमने उनको सब प्रकार से जाँचा, उनके मुँह से यह बात बारम्बार सुनी, चौबीस घण्टे उनके साथ रहे, तब भी बीच बीच में हमको सन्देह होता है तो फिर औरों को क्या कहें?

शिष्य—महाराज, श्री रामकृष्ण पूर्ण ब्रह्म भगवान् थे, क्या यह बात उन्होंने कभी अपने मुँह से कही थी?

स्वामी जी—कितनी ही बार कही थी। हम सब लोगों से कही थी। जब वे काशीपुर के बाग़ में थे और उनका शरीर बिल्कुल छूटने ही वाला था, तब मैंने उनकी शय्या के निकट बैठकर एक दिन मन में सोचा कि यदि वे अब कह सकें कि मैं भगवान् हूँ, तब मेरा विश्वास होगा कि वे सचमुच ही भगवान् हैं। चोला छूटने के दो दिन बाक़ी थे। उक्त बात को सोचते ही श्री गुरुदेव ने एकाएक मेरी ओर देखकर कहा, "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही अब इस शरीर में रामकृष्ण है—केवल तेरे वेदान्त के मत से नहीं।" मैं तो सुनकर भौचक्का हो गया। प्रभु के श्रीमुख से बारम्बार सुनने पर भी हमें ही अभी तक पूर्ण विश्वास नहीं हुआ—सन्देह और निराशा में मन कभी कभी आन्दोलित हो जाता है—तो औरों की बात ही क्या? अपने ही समान देहधारी एक मनुष्य को ईश्वर कहकर निर्दिष्ट करना और उस पर विश्वास रखना बड़ा ही कठिन है। सिद्ध पुरुष या ब्रह्मज्ञ तक अनुमान करना सम्भव है। उनको चाहे जो कुछ कहो, चाहे जो कुछ समझो, महापुरुष मानो या ब्रह्मज्ञ—इसमें क्या धरा है? परन्तु श्री गुरुदेव जैसे पुरुषोत्तम ने इससे पहले जगत् में और कभी जन्म नहीं लिया। संसार के घोर अन्धकार में अब यही महापुरुष ज्योतिस्तम्भस्वरूप हैं। इनकी ही ज्योति से मनुष्य संसार समुद्र के पार चले जायँगे।

शिष्य—मैं समझता हूँ जब तक कुछ देख-सुन न लें, तब तक यथार्थ विश्वास नहीं होता। सुना है, मथुर बाबू ने श्री रामकृष्ण के विषय में कितनी ही अद्भुत घटनाएँ प्रत्यक्ष की थीं और उन्हींसे उनका विश्वास उन पर जमा था।

स्वामी जी—जिसे विश्वास नहीं है, उसके देखने पर भी कुछ नहीं होता। देखने पर सोचता है कि यह कहीं अपने मस्तिष्क का विकार या स्वप्नादि तो नहीं है? दुर्योधन ने भी विश्वरूप देखा था, अर्जुन ने भी देखा था। अर्जुन को विश्वास हुआ, किन्तु दुर्योधन ने उसे जादू समझा! यदि वे ही न समझायें तो और किसी प्रकार

से समझने का उपाय नहीं है। किसी किसीको विना कुछ देखे सुने ही पूर्ण विश्वास हो जाता है और किसीको वारह वर्ष तक प्रत्यक्ष सामने रहकर नाना प्रकार की विभूतियाँ देखकर भी सन्देह में पड़ा रहना होता है। सारांश यह है कि उनकी कृपा चाहिए, परन्तु लगे रहने से ही उनकी कृपा होगी।

शिष्य—महाराज, कृपा का क्या कोई नियम है?

स्वामी जी—है भी और नहीं भी।

शिष्य—यह कैसे?

स्वामी जी—जो तन, मन, वचन से सर्वदा पवित्र रहते हैं, जिनका अनुराग प्रवल है, जो सत्-असत् का विचार करनेवाले हैं और ध्यान तथा धारणा में संलग्न रहते है, उन्हीं पर भगवान् की कृपा होती है। परन्तु भगवान् प्रकृति के सव निसर्ग नियमों के परे हैं अर्थात् किसी नियम के वश में नहीं है। श्री गुरुदेव जैसा कहा करते थे, 'उनका स्वभाव वच्चों के समान है।' इस कारण यह देखने में आता है कि किसी किसी ने करोड़ों जन्मों से उन्हें पुकारा, किन्तु उनसे कोई उत्तर न पा सका। फिर जिसको हम पापी, तापी और नास्तिक समझते हैं, उसमें एकाएक चैतन्य का प्रकाश हो गया। उसके न माँगने पर भी भगवान् ने उस पर कृपा कर दी। तुम यह कह सकते हो कि उसके पूर्व जन्म का संस्कार था, परन्तु इस रहस्य को समझना वड़ा कठिन है। श्री गुरुदेव कभी ऐसा भी कहते थे, "पूरी तरह उनके ही सहारे रहो, आँधी के जूठे पत्तल वन जाओ।" कभी कहते थे, "कृपा रूपी हवा तो चल ही रही है, तुम अपनी पाल उठा दो।"

शिष्य—महाराज, यह तो वड़ी कठिन वात है। कोई युक्ति ही यहाँ नहीं ठहर सकती।

स्वामी जी—तर्क-विचार की दौड़ तो माया से अधिकृत इसी जगत् में है, देश, काल, निमित्त की सीमा के अन्तर्गत है; और वे इन सवसे अतीत हैं। उनके नियम भी हैं, और वे नियम के वाहर भी हैं। प्रकृति के जो कुछ नियम हैं, उनको उन्होंने ही वनाया या यों कहें कि वे ही स्वयं ये नियम वने और इन सवके परे भी रहे। जिन्होंने उनकी कृपा प्राप्त की, वे उसी क्षण सव नियमों के परे पहुँच जाते हैं। इसीलिए कृपा का कोई विशेष नियम नहीं है। कृपा है उनकी मौज। यह सारा जगत्सर्जन ही उनकी मौज है—**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**। जो इस जगत् को अपनी इच्छा मात्र से तोड़ और वना सकता है, वह क्या अपनी कृपा से किसी महापापी को मुक्ति नहीं दे सकता? तव जो किसी किसीसे कुछ साधन-भजन करा लेते हैं और किसीसे नहीं कराते, यह भी उन्हींकी लीला है, उनकी मौज है।

शिष्य—महाराज, यह वात ठीक समझ में नहीं आयी।

स्वामी जी—और अधिक समझकर क्या होगा? जहाँ तक हो उनसे ही मन लगाये रखो। इसीसे इस जगत् की माया स्वयं छूट जायगी; परन्तु लगा रहना पड़ेगा। कामिनी और कांचन से मन को पृथक् रखना पड़ेगा। सर्वदा सत् और असत् का विचार करना होगा। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसे विदेह भाव से अवस्थान करना पड़ेगा। मैं सर्वव्यापी आत्मा ही हूँ, इसीकी अनुभूति होनी चाहिए। इसी प्रकार लगे रहने का ही नाम पुरुषकार है। इस पुरुषकार की सहायता से ही उन पर निर्भरता आती है, और इसे ही परम पुरुषार्थ कहते हैं।

स्वामी जी फिर कहने लगे, "यदि तुम पर उनकी कृपा न होती तो तुम यहाँ क्यों आते? श्री गुरुदेव कहा करते थे, 'जिन पर भगवान् की कृपा हुई है, उनको यहाँ अवश्य ही आना होगा। वे कहीं भी क्यों न रहें, कुछ भी क्यों न करें, यहाँ की बातों से और यहाँ के भावों से उन्हें अवश्य अभिभूत होना होगा।' अपने को ही देखो न, जो नाग महाशय भगवान् की कृपा से सिद्ध हुए थे और उनकी कृपा को ठीक ठीक समझते थे, उनका सत्संग भी क्या बिना ईश्वर की कृपा के कभी हो सकता है? **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।** जन्म-जन्मान्तर की सुकृति से ही महापुरुषों के दर्शन होते हैं। शास्त्र में उत्तमा भक्ति के जो लक्षण दिये हैं, वे सभी नाग महाशय में प्रकट हुए थे। लोग जो **तृणादपि सुनीचेन** कहते हैं, वह एकमात्र नाग महाशय में ही मैंने देखा है। तुम्हारा पूर्व बंग धन्य है! नाग महाशय के चरण-रेणु से वह पवित्र हो गया है।"

बातचीत करते हुए स्वामी जी महाकवि गिरीशचन्द्र घोष के भवन की ओर घूमते हुए निकले। स्वामी योगानन्द और शिष्य भी साथ चले। गिरीश बाबू के भवन में उपस्थित होकर स्वामी जी ने आसन ग्रहण किया और कहा, "जी० सी० (गिरीशचन्द्र को स्वामी जी जी०सी० कहकर पुकारा करते थे), आज-कल मन में केवल यही हो रहा है कि यह करूँ, वह करूँ, उनके वचनों को संसार में फैला दूँ इत्यादि। फिर यह भी शंका होती है कि इससे भारत में कहीं एक नया सम्प्रदाय खड़ा न हो जाय। इसलिए बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। कभी ऐसा भी विचार हो आता है कि यदि कोई सम्प्रदाय बन जाय तो बन जाने दो। फिर सोचता हूँ कि नहीं, उन्होंने तो किसीके भाव को कभी ठेस नहीं पहुँचायी। समदर्शन ही उनका भाव था। ऐसा विचार कर अपनी इच्छा को समय समय पर दबा कर चलता हूँ। इस बारे में तुम क्या कहते हो?"

गिरीश बाबू—मेरा विचार और क्या हो सकता है। तुम तो उनके हाथ के यन्त्र हो, जो करायेंगे वही करना होगा। अधिक मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो देखता हूँ कि प्रभु की शक्ति ही तुमसे कार्य करा रही है। मुझे यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

स्वामी जी—और मैं देखता हूँ कि हम अपने इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं। परन्तु आपद, विपद में, अभाव-दारिद्रय में भी वे प्रत्यक्ष होकर ठीक मार्ग पर मुझे चलाते हैं, यह भी मैंने देखा है। परन्तु प्रभु की शक्ति पूरी तरह नहीं समझ सका।

गिरीश बाबू—उन्होंने तुम्हारे विषय में कहा था कि सब समझ जाने से तो सब शून्य हो जायगा; फिर कौन करेगा और किससे करायेगा ?

ऐसे वार्तालाप के पश्चात् अमेरिका के प्रसंग पर बातें होने लगीं। गिरीश बाबू ने स्वामी जी का ध्यान प्रस्तुत प्रसंग से हटा लेने के लिए ही जानबूझ कर यह प्रसंग छेड़ा, यही मेरा अनुमान है। ऐसा करने का कारण पूछने पर गिरीश बाबू ने दूसरे मौक़े पर मुझसे कहा था, "गुरुदेव के श्रीमुख से सुना था कि इस प्रकार के विषय का वार्तालाप करते करते यदि स्वामी जी को संसार-वैराग्य या ईश्वरोद्दीपन होकर अपने स्वरूप का एक बार दर्शन हो जाय (अर्थात् वे अपने स्वरूप को पहचान जायँ), तो एक क्षण भी उसका शरीर नहीं रहेगा।" इसीलिए मैंने देखा कि स्वामी जी के संन्यासी गुरुभाइयों ने जब जब उनको चौबीसों घण्टे श्री गुरुदेव की बातें करते हुए पाया, तब तब अन्यान्य प्रसंगों में उनका मन लगा दिया। अब अमेरिका के प्रसंग में स्वामी जी तल्लीन हो गये। वहाँ की समृद्धि तथा स्त्री-पुरुषों का गुणावगुण और उनके भोग-विलास इत्यादि की नाना कथाओं का वर्णन करने लगे।

१०

[स्थान : कलकत्ता। वर्ष : १८९७ ई०]

आज दस दिन से शिष्य स्वामी जी से ऋग्वेद का सायण भाष्य पढ़ रहा है। स्वामी जी बाग़बाज़ार में स्व० बलराम वसु के भवन में ही ठहरे हुए हैं। किसी धनी के घर से मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद ग्रन्थ के सब भाग लाये गये हैं। प्रथम तो ग्रन्थ नया, तिस पर वैदिक भाषा कठिन होने के कारण शिष्य पढ़ते पढ़ते अनेक स्थानों पर अटक जाता है। यह देखकर स्वामी जी उसको स्नेह से गँवार कहकर कभी कभी उसकी हँसी उड़ाते हैं और उन स्थानों का उच्चारण तथा पाठ बतला देते हैं। वेद का अनादित्व प्रमाणित करने के निमित्त सायणाचार्य ने जो अद्भुत युक्ति-कौशल प्रकट किया है उसकी व्याख्या करते समय स्वामी जी ने

भाष्यकार की बहुत प्रशंसा की और कहीं कहीं प्रमाण देकर उन पदों के गूढ़ार्थ पर अपना भिन्न मत प्रकट कर सायण पर सहज कटाक्ष भी किया।

इसी प्रकार कुछ देर तक पठन-पाठन होने पर स्वामी जी ने मैक्समूलर के सम्वन्ध में कहा, "मुझे कभी कभी ऐसा अनुमान होता है कि सायणाचार्य ने अपने भाष्य का अपने ही आप उद्धार करने के निमित्त मैक्समूलर के रूप में पुनः जन्म लिया है। ऐसा सिद्धान्त मेरा बहुत दिनों से था; पर मैक्समूलर को देखकर वह और भी दृढ़ हो गया है। ऐसा परिश्रमी और ऐसा वेद-वेदान्त सिद्ध पण्डित हमारे देश में भी नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त श्री रामकृष्ण पर भी उनकी कैसी गम्भीर भक्ति है! क्या तू समझ सकता है? उनके अवतारत्व पर भी उन्हें विश्वास है। मैं उनके ही भवन में अतिथि रहा था—कैसी देखभाल और सत्कार किया! दोनों वृद्ध पति-पत्नी को देखकर ऐसा अनुमान होता था कि मानो वशिष्ठ देव और देवी अरुन्धती संसार में वास कर रहे हैं। मुझे विदा करते समय वृद्ध की आँखों से आँसू टपकने लगे थे।"

शिष्य—अच्छा महाराज, यदि सायण ही मैक्समूलर हुए हैं तो पवित्र भूमि भारत को छोड़कर उन्होंने म्लेच्छ वनकर क्यों जन्म लिया?

स्वामी जी—'हम आर्य हैं', 'वे म्लेच्छ हैं' आदि विचार अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। जो वेद के भाष्यकार हैं, जो ज्ञान की तेजस्वी मूर्ति हैं, उनके लिए वर्णाश्रम या जातिविभाग कैसा? उनके सामने यह सब अर्थहीन है। जीव के उपकारार्थ वे जहाँ चाहें, जन्म ले सकते हैं। विशेषकर जिस देश में विद्या और धन दोनों हैं, वहाँ यदि वे जन्म न लेते, तो ऐसा वड़ा ग्रन्थ छापने का खर्च कहाँ से आता? क्या तुमने नहीं सुना कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस ऋग्वेद के छपवाने के लिए नौ लाख रुपये नक़द दिये थे, परन्तु उससे भी काम पूरा नहीं हुआ। यहाँ के (भारत के) सैकड़ों वैदिक पण्डितों को मासिक वेतन देकर इस कार्य में नियुक्त किया गया था। विद्या और ज्ञान के निमित्त इतना व्यय और ऐसी प्रवल ज्ञान-तृष्णा वर्तमान समय में क्या किसीने इस देश में देखी है? मैक्समूलर ने स्वयं ही भूमिका में लिखा है कि उन्हें २५ वर्ष तो केवल इसे लिखने में ही लगे और फिर छपवाने में २० वर्ष और लगे। ४५ वर्ष तक एक ही पुस्तक में लगे रहना क्या साधारण मनुष्य का कार्य है? इसीसे समझ लो कि मैं क्यों उनको स्वयं सायण कहता हूँ।

मैक्समूलर के विषय में ऐसा वार्तालाप होने के पश्चात् फिर ग्रन्थपाठ होने लगा। वेद का आश्रय लेकर ही सृष्टि का विकास हुआ है, यह जो सायण का मत है, स्वामी जी ने नाना प्रकार से इसका समर्थन किया और कहा, "वेद का अर्थ अनादि सत्यों का समूह है। वेदज्ञ ऋषियों ने इन सत्यों को प्रत्यक्ष किया था।

विना अतीन्द्रिय दृष्टि के साधारण दृष्टि से ये सत्य प्रत्यक्ष नहीं होते। इसीसे वेद में ऋषि का अर्थ मन्त्रार्थदर्शी है, जनेऊधारी ब्राह्मण नहीं? ब्राह्मणादि जाति-विभाग वेदों के वाद हुआ। वेद शब्दात्मक अर्थात् भावात्मक हैं, या यों कहो, अनन्त भावराशि की समष्टि मात्र हैं। 'शब्द' पद का वैदिक प्राचीन अर्थ सूक्ष्म-भाव है, जो आगे व्यापक स्थूल रूप में अपने को व्यक्त करता है। अतः प्रलयकाल में भावी सृष्टि का सूक्ष्म वीज-समूह वेद में ही सम्पुटित रहता है। इसीसे पुराण में पहले पहल मीनावतार में वेद का उद्धार दिखायी देता है। प्रथमावतार में ही वेद का उद्धार हुआ। फिर उसी वेद से क्रमशः सृष्टि का विकास होने लगा। अर्थात् वेदनिहित शब्दों का आश्रय लेकर विश्व के सव स्थूल पदार्थ एक एक करके वनने लगे, क्योंकि शब्द या भाव सव स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म रूप हैं। पूर्व कल्पों में भी इसी प्रकार सृष्टि हुई थी, यह वात वैदिक सन्ध्या के मन्त्र में ही है, **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् पृथिवीं दिवञ्चान्तरीक्षमथो स्वः**। समझे?"

शिष्य—परन्तु महाराज, यदि कोई वस्तु ही न हो, तो शब्द किसके लिए प्रयुक्त होगा? और पदार्थों के नाम भी कैसे वनेंगे?

स्वामी जी—ऊपर से देखने पर ऐसा ही लगता है। परन्तु देखो यह जो घट है, इसके टूट जाने पर क्या घटत्व का भी नाश हो जायगा? कारण, यह घट तो स्थूल है, पर घटत्व घट की सूक्ष्म या शब्दावस्था है। इसी प्रकार सव पदार्थों की शब्दावस्था ही उनकी सूक्ष्मावस्था है और जिन वस्तुओं को हम देखते हैं, स्पर्श करते हैं, वे ऐसी शब्दावस्था में अवस्थित पदार्थों के स्थूल विकास मात्र हैं, जैसे कार्य और उसका कारण। जगत् के नाश होने पर भी जगत् बोधात्मक शब्द अर्थात् सव स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म स्वरूप, ब्रह्म में कारण रूप से वर्तमान रहते हैं। जगत् के विकास के पूर्व इन पदार्थों की सूक्ष्मस्वरूप समष्टि उद्वेलित होने लगती है और उसीका प्रकृतिस्वरूप शब्द-गर्भात्मक अनादि नाद ओंकार अपने आप ही उठता रहता है। उसके वाद उसी कारणरूप समष्टि से पदार्थविशेषों की प्रथम सूक्ष्म प्रतिकृति अर्थात् शाब्दिक रूप और तत्पश्चात् उनका स्थूल रूप प्रकट होता है। यह शब्द ही वेद है। यही सायण का अभिप्राय है, समझे?

शिष्य—महाराज, ठीक समझ में नहीं आया।

स्वामी जी—यहाँ तक तो समझ गये कि जगत् में जितने घट हैं उन सवके नष्ट होने पर भी 'घट' शब्द रह सकता है। फिर जगत् का नाश हो जाने पर अर्थात् जिन वस्तुओं की समष्टि को जगत् कहते हैं, उनके नाश होने पर भी उन पदार्थों के वोध करानेवाले शब्द क्यों नहीं रह सकते हैं? और उनसे सृष्टि फिर क्यों नहीं प्रकट हो सकती?

शिष्य—परन्तु महाराज, 'घट घट' चिल्लाने से तो घट नहीं बनता है।

स्वामी जी—तेरे या मेरे इस प्रकार चिल्लाने से नहीं बनते, किन्तु सिद्धसंकल्प ब्रह्म में घट की स्मृति होते ही घट का प्रकाश हो जाता है। जब साधारण साधकों की इच्छा से अघटन घटित हो जाता है, तब सिद्धसंकल्प ब्रह्म का तो कहना ही क्या! सृष्टि से पूर्व ब्रह्म प्रथम शब्दात्मक बनते है, फिर ओंकारात्मक या नादात्मक और तत्पश्चात् पूर्व कल्पों के विशेष विशेष शब्द जैसे भूः, भुवः, स्वः अथवा गो, मानव, घट, पट इत्यादि का प्रकाश उसी ओंकार से होता है। सिद्धसंकल्प ब्रह्म में क्रमशः एक एक शब्द के होते ही उसी क्षण उन उन पदार्थों का भी प्रकाश हो जाता है और इस प्रकार इस विचित्र जगत् का विकास हो जाता है। अब तो समझे न कि कैसे शब्द ही सृष्टि का मूल है?

शिष्य—हाँ महाराज, समझ में तो आया, किन्तु ठीक धारणा नही होती।

स्वामी जी—अरे बेटे! प्रत्यक्ष रूप से अनुभूति होना क्या ऐसा सुगम समझा है? ब्रह्मावगाही मन एक एक करके ऐसी अवस्थाओं में से गुज़रता है और अन्त में निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होता है। समाधि की उन्मुख अवस्था में अनुभव होता है कि जगत् शब्दमय है, फिर वह शब्द गम्भीर ओंकार ध्वनि में लीन हो जाता है। तत्पश्चात् वह भी सुनायी नहीं पड़ता। वह है भी या नहीं, इस पर सन्देह होने लगता है। इसीको अनादि नाद कहते हैं। इस अवस्था से आगे ही मन प्रत्यक् ब्रह्म में लीन हो जाता है। बस, सब निर्वाक्, स्थिर!

स्वामी जी की बातों से शिष्य को स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि स्वामी जी स्वयं इन अवस्थाओं में से होकर समाधि-भूमि में अनेक बार गमनागमन कर चुके हैं। यदि ऐसा न होता तो ऐसे विशद रूप से वे इन सब बातों को समझा कैसे रहे हैं? शिष्य ने निर्वाक् होकर सुना और सोचने लगा कि इन अवस्थाओं को स्वयं प्रत्यक्ष न करने से कोई दूसरों को ऐसी सुगमता से इन बातों को समझा नहीं सकता।

स्वामी जी ने फिर कहा, "अवतारतुल्य महापुरुष लोग समाधि अवस्था से जब 'मैं' और 'मेरा' के राज्य में लौट आते हैं, तब वे प्रथम ही अव्यक्त नाद का अनुभव करते हैं। फिर नाद के स्पष्ट होने पर ओंकार का अनुभव करते हैं। ओंकार के पश्चात् शब्दमय जगत् का अनुभव कर अन्त में स्थूल पंचभौतिक जगत् को प्रत्यक्ष देखते हैं। किन्तु साधारण साधक लोग अनेक कष्ट सहकर यदि किसी प्रकार नाद के परे पहुँचकर ब्रह्म की साक्षात् उपलब्धि करें भी, तो फिर जिस अवस्था में स्थूल जगत् का अनुभव होता है, वहाँ वे उतर नहीं सकते—ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं—**क्षीरे नीरवत्**, दूध में जल के समान।"

यह वार्तालाप हो ही रहा था कि इसी समय महाकवि गिरीशचन्द्र घोष वहाँ आ पहुँचे। स्वामी जी उनका अभिवादन कर तथा कुशल-प्रश्नादि पूछकर पुनः शिष्य को पढ़ाने लगे। गिरीशबाबू भी एकाग्रचित्त हो उसे सुनने लगे और स्वामी जी की इस प्रकार अपूर्व विशद वेदव्याख्या सुन मुग्ध होकर बैठे रहे।

पूर्व प्रसंग को लेकर स्वामी जी फिर कहने लगे, "वैदिक और लौकिक भेद से शब्द दो अंशों में विभक्त हैं। 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में इसका विचार मैंने देखा है। इन विचारों से गम्भीर ध्यान का परिचय मिलता है, किन्तु पारिभाषिक शब्दों के मारे सिर में चक्कर आ जाता है।"

अब गिरीश बाबू की ओर मुँह करके स्वामी जी बोले, "जी० सी०, तुमने यह सब तो पढ़ा नहीं; केवल कृष्ण और विष्णु का नाम लेकर ही आयु बितायी है न?"

गिरीश बाबू—और क्या पढ़ूँ भाई? इतना अवसर भी नहीं और बुद्धि भी नहीं कि वह सब समझ सकूँ। परन्तु श्री गुरुदेव की कृपा से उन सब वेद-वेदान्तों को नमस्कार करके इस जन्म में ही पार उतर जाऊँगा। वे तुमसे अनेक कार्य करायेंगे, इसीलिए यह सब पढ़ा रहे हैं, मेरा उनसे कोई प्रयोजन नहीं है।

इतना कहकर गिरीश बाबू ने उस बृहत् ऋग्वेद ग्रन्थ को बारम्बार प्रणाम किया और कहा, "जय वेदरूपी रामकृष्ण जी की जय!"

पाठकों से हम अन्यत्र कह चुके हैं कि स्वामी जी जब जिस विषय का उपदेश करते थे, तब सुननेवालों के मन में वह विषय ऐसी गम्भीरता से अंकित हो जाता था कि उस समय वे उस विषय को ही सबसे श्रेष्ठ समझने लगते थे। जब ब्रह्मज्ञान के विषय में चर्चा करते थे, तब सुननेवाले उसे प्राप्त करना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझ लेते थे। फिर जब भक्ति या कर्म या जातीय उन्नति आदि अन्यान्य विषयों का प्रसंग चलाते थे, तब श्रोता लोग उन विषयों को ही अपने मन में सबसे ऊँचा स्थान दिया करते थे और उन्हींका अनुष्ठान करने को उत्कंठित हो जाया करते थे। उस समय स्वामी जी ने वेद का प्रसंग छेड़कर शिष्य आदि को वेदोक्त ज्ञान की महिमा से इतना मोहित कर दिया कि अब उनकी (शिष्य आदि की) नज़र में इससे और कोई वस्तु अधिक श्रेष्ठ नहीं लगती है। गिरीश बाबू ने इस बात को ताड़ लिया। स्वामी जी के महान् उदार भाव तथा शिक्षा देने की ऐसी सुन्दर रीति को वे पहले से ही जानते थे। गिरीश बाबू ने मन ही मन एक नयी युक्ति सोच निकाली जिससे स्वामी जी अपने शिष्य को ज्ञान, भक्ति और कर्म का समान महत्त्व समझा दें।

स्वामी जी अन्यमनस्क होकर और ही कुछ विचार कर रहे थे। इसी समय गिरीश बाबू ने कहा, "हाँ जी नरेन्द्र, तुम्हें एक बात सुनाऊँ? वेद-वेदान्त तो

तुमने इतना पढ़ लिया, परन्तु देश में जो घोर हाहाकार , अन्नाभाव, व्यभिचार, भ्रूणहत्या तथा अन्य महापातकादि आँखों के सामने रात-दिन हो रहे हैं, उन्हें दूर करने का भी कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में बतलाया गया है? आज तीन दिन से अमुक घर की गृहिणी का, जिसके घर में पहले प्रति दिन ५० पत्तलें पड़ती थीं, चूल्हा नहीं जला है। अमुक घर की कुल-वधुओं को गुण्डों ने अत्याचार करके मार डाला, कहीं भ्रूणहत्या हुई, कहीं विधवाओं को छल-कपट करके लूट लिया गया है—इन सब अत्याचारों को रोकने का कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में है ?" इस प्रकार जब गिरीश बाबू समाज के भीषण चित्रों को एक के बाद एक सामने लाने लगे तो स्वामी जी निस्तब्ध होकर बैठ गये। जगत् के दुःख और कष्ट को सोचते सोचते स्वामी जी की आँखों से आँसू टपकने लगे और इसके बाद वे उठकर बाहर चले गये, मानो वे हमसे अपने मन की अवस्था छिपाना चाहते हों।

इस अवसर पर गिरीश बाबू ने शिष्य को लक्ष्य करके कहा, "देखो, स्वामी जी कैसे उदार हृदय हैं। मै तुम्हारे स्वामी जी का केवल इसी कारण आदर नहीं करता कि वे वेद-वेदान्त के एक बड़े पण्डित हैं; वरन् श्रद्धा करता हूँ उनकी महाप्राणता के लिए। देखो न, जीवों के दुःख से वे कैसे रो पड़े और रोते रोते बाहर चले गये ! मनुष्यों के दुःख और कष्ट की बातें सुनकर उनका हृदय दया से पूर्ण हो गया और वेद-वेदान्त न जाने कहाँ भाग गये ! "

शिष्य—महाशय, हम कितने प्रेम से वेद पढ़ रहे थे ! आपने मायाधीन जगत् की क्या ऐसी-वैसी बातों को सुनाकर स्वामी जी का मन दुखा दिया।

गिरीश बाबू—क्या जगत् में ऐसे दुःख और कष्ट रहते हुए भी स्वामी जी उधर न देखकर एकान्त में केवल वेद ही पढ़ते रहेंगे ! उठाकर रख दो अपने वेद-वेदान्त को।

शिष्य—आप स्वयं हृदयवान हैं, इसीसे केवल हृदय की भाषा सुनने में आप की प्रीति है, परन्तु इन सब शास्त्रों में , जिनके अध्ययन से लोग जगत् को भूल जाते हैं, आपकी प्रीति नहीं है। अन्यथा आपने ऐसा रसभंग न किया होता।

गिरीश बाबू—अच्छा, ज्ञान और प्रेम में भेद कहाँ है, यह मुझे समझा तो दो। देखो तुम्हारे गुरु (स्वामी जी) जैसे पण्डित हैं, वैसे ही प्रेमी भी हैं। तुम्हारा वेद भी तो कहता है कि 'सत्-चित्-आनन्द' ये तीनों एक ही वस्तु हैं। देखो, स्वामी जी अभी कितना पाण्डित्य दिखा रहे थे, परन्तु जगत् के दुःख की बात सुनते ही और उन क्लेशों का स्मरण आते ही वे जीवों के दुःख में रोने लगे। यदि वेद-वेदान्त में ज्ञान और प्रेम में भेद दिखलाया गया है, तो मैं ऐसे शास्त्रों को दूर से ही दण्डवत करता हूँ।

शिष्य निर्वाक् होकर सोचने लगा, 'बिल्कुल ठीक, गिरीश बाबू के सब सिद्धान्त यथार्थ में वेदों के अनुकूल ही हैं।'

इतने में स्वामी जी वापस आये और शिष्य को सम्बोधित करके उन्होंने कहा, "कहो, क्या बातचीत हो रही थी?" शिष्य ने उत्तर दिया, "वेदों का ही प्रसंग चल रहा था। गिरीश बाबू ने इन ग्रन्थों को नहीं पढ़ा है, परन्तु इनके सिद्धान्तों का ठीक ठीक अनुभव कर लिया है। यह बड़े ही विस्मय की बात है!"

स्वामी जी—गुरुभक्ति से सब सिद्धान्त प्रत्यक्ष हो जाते हैं। फिर पढ़ने या सुनने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु ऐसी भक्ति और विश्वास जगत् में दुर्लभ हैं। जिनको गिरीश बाबू के समान भक्ति और विश्वास मिले हैं, उन्हें शास्त्रों को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं; परन्तु गिरीश बाबू का अनुकरण करना औरों के लिए हानिकारक है। उनकी बातों को मानो, पर उनके आचरण देखकर कोई कार्य न करो।

शिष्य—जी महाराज।

स्वामी जी—केवल 'जी' कहने से काम नहीं चलता। मैं जो कहता हूँ उसको ठीक ठीक समझ लो; मूर्ख के समान सब बातों पर 'जी' न कहा करो। मेरे कहने पर भी किसी बात का विश्वास न किया करो। जब ठीक समझ जाओ, तभी उसको ग्रहण करो। श्री गुरुदेव ने अपनी सब बातों को समझकर ग्रहण करने को मुझसे कहा था। सद्युक्ति, तर्क और शास्त्र जो कहते हैं, उन सबको सदा अपने पास रखो। सद्विचार से बुद्धि निर्मल होती है और फिर उसी बुद्धि में ब्रह्म का प्रकाश होता है। समझे न?

शिष्य—जी हाँ; परन्तु भिन्न भिन्न लोगों की भिन्न भिन्न बातों से मस्तिष्क ठीक नहीं रहता। गिरीश बाबू ने कहा, 'क्या होगा यह सब वेद-वेदान्त को पढ़कर?' फिर आप कहते हैं, 'विचार करो।' अब मुझे क्या करना चाहिए?

स्वामी जी—हमारी और उनकी दोनों की बातें सत्य हैं; परन्तु दोनों की उक्ति दो भिन्न दृष्टिकोणों से आयी हैं—बस। एक अवस्था ऐसी है, जहाँ युक्ति या तर्क का अन्त हो जाता है—**मूकास्वादनवत्** और एक अवस्था है, जहाँ वेदादि शास्त्रों की आलोचना या पठन-पाठन करते करते सत्य वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तुम्हें इन सबको पढ़ना होगा, तभी तुमको यह बात प्रत्यक्ष होगी।

निर्बोध शिष्य ने स्वामी जी के ऐसे आदेश को सुनकर और यह समझकर कि गिरीश बाबू परास्त हुए, उनकी ओर देखकर कहा, "महाशय, सुना आपने! स्वामी जी ने मुझे वेद-वेदान्त के पठन-पाठन और विचार करने का ही आदेश दिया है।"

गिरीश वाबू—तुम ऐसा ही करते जाओ। स्वामी जी के आशीर्वाद से तुम्हारा सब काम इसीसे ठीक होगा।

इसी समय स्वामी सदानन्द वहाँ आ पहुँचे। उनको देखते ही स्वामी जी ने कहा, "अरे, जी० सी० से देश की दुर्दशाओं को सुनकर मेरे प्राण वड़े व्याकुल हो रहे हैं। देश के लिए क्या तुम कुछ कर सकते हो?"

सदानन्द—महाराज, आदेश कीजिए, दास प्रस्तुत है।

स्वामी जी—पहले एक छोटा सा सेवाश्रम स्थापित करो, जहाँ से सब दीन-दुखियों को सहायता मिला करे और जहाँ पर रोगियों तथा असहाय लोगों की विना जाति-भेद के सेवा हुआ करे। समझे?

सदानन्द—जो महाराज की आज्ञा।

स्वामी जी—जीव-सेवा से वढ़कर और कोई दूसरा धर्म नहीं है। सेवा-धर्म का यथार्थ अनुष्ठान करने से संसार का वन्धन सुगमता से छिन्न हो जाता है—**मुक्तिः करफलायते।**

अव गिरीश वावू से स्वामी जी कहने लगे, "देखो गिरीश वावू, लगता है कि यदि जगत् के दुःख दूर करने के लिए मुझे सहस्रों वार जन्म लेना पड़े, तो भी मैं तैयार हूँ। इससे यदि किसी का तनिक भी दुःख दूर हो, तो वह मैं करूँगा। और ऐसा भी मन में आता है कि केवल अपनी ही मुक्ति से क्या होगा। सवको साथ लेकर उस मार्ग पर जाना होगा। क्या तुम कह सकते हो कि ऐसे भाव मन में क्यों उठते हैं?"

गिरीश वावू—यदि ऐसा न होता तो श्री गुरुदेव तुम्हींको सवसे ऊँचा आधार क्यों कहते?

यह कहकर गिरीश वावू अन्य किसी कार्य के लिए चले गये।

११

[स्थान : आलमवाजार मठ। वर्ष : १८९७ ई०]

हम पहले कह चुके हैं कि जव स्वामी जी प्रथम वार विदेश से कलकत्ते लौटे थे, तव उनके पास वहुत से उत्साही युवकों का आना जाना लगा रहता था। इस समय स्वामी जी वहुधा अविवाहित युवकों को ब्रह्मचर्य और त्याग का उपदेश दिया करते थे एवं संन्यास ग्रहण अर्थात् अपना मोक्ष तथा जगत् के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग

करने को बहुधा उत्साहित किया करते थे। हमने अक्सर उनको कहते सुना कि संन्यास ग्रहण किये विना किसीको यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। केवल यही नहीं, विना संन्यास ग्रहण किये बहुजनहिताय तथा बहुजनसुखाय किसी कार्य का अनुष्ठान या उसमें सिद्धिलाभ नहीं हो सकता। स्वामी जी उत्साही युवकों के सामने सदैव त्याग के उच्च आदर्श रखते थे। किसीके संन्यास लेने की इच्छा प्रकट करने पर उसको बहुत उत्साहित करते थे और उस पर कृपा भी करते थे। कई एक भाग्यवान युवकों ने उनके उत्साहपूर्ण वचनों से प्रेरित होकर उस समय गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया और उनसे संन्यास की दीक्षा ली। इनमें से जिन चार को स्वामी जी ने पहले संन्यास दिया था, उनके संन्यास व्रत ग्रहण करने के दिन शिष्य आलमबाज़ार मठ में उपस्थित था। वह दिन शिष्य को अभी तक स्मरण है।

श्री रामकृष्ण संघ में आजकल जो लोग स्वामी नित्यानन्द, विरजानन्द, प्रकाशानन्द और निर्भयानन्द नामों से सुपरिचित हैं, उन्होंने ही उस दिन संन्यास ग्रहण किया था। मठ के संन्यासियों से शिष्य ने बहुधा सुना है कि स्वामी जी के गुरुभाइयों ने उनसे बहुत अनुरोध किया कि इनमें से एक को संन्यास दीक्षा न दी जाय। इसके प्रत्युत्तर में स्वामी जी ने कहा था, "यदि हम पापी, तापी, दीन-दुःखी और पतितों के उद्धारसाधन से पथभ्रष्ट हो जायँ, तो फिर इनको कौन देखेगा? तुम इस विषय में किसी प्रकार की बाधा न डालो।" स्वामी जी की बलवती इच्छा ही पूर्ण हुई। अनाथशरण स्वामी जी अपने कृपा गुण से उनको संन्यास देने में कृतसंकल्प हुए।

शिष्य पिछले दो दिन से मठ में ही रहता है। स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "तुम तो पुरोहित ब्राह्मणों में से हो। कल तुम्हीं इनका श्राद्धादि करा देना और अगले दिन मैं इनको संन्यासाश्रम में दीक्षित करूँगा। आज पोथी-पाथी पढ़कर सब देख-दाख लो।" शिष्य ने स्वामी जी की आज्ञा शिरोधार्य की।

संन्यास व्रत धारण करने का निश्चय कर उन चार ब्रह्मचारियों ने एक दिन पहले अपना सिर मुण्डन कराया और गंगा-स्नान कर शुभ्र वस्त्र धारण कर स्वामी जी के चरण-कमलों की वन्दना की और स्वामी जी के स्नेहाशीर्वाद को प्राप्त करके श्राद्धक्रिया के निमित्त तैयार हुए।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जो शास्त्रानुसार संन्यास ग्रहण करते हैं, उनको इस समय अपनी श्राद्धक्रिया स्वयं ही कर लेनी पड़ती है, क्योंकि संन्यास लेने से उनका फिर लौकिक या वैदिक किसी विषय में कोई अधिकार नहीं रह जाता। पुत्र-पौत्रादिकृत श्राद्ध या पिण्डदानादि क्रिया का फल उनको स्पर्श नहीं करता। इसलिए संन्यास लेने के पहले अपनी श्राद्धक्रिया अपने को ही

करनी पड़ती है। अपने पैरों पर अपना पिण्ड धरकर संसार के, यहाँ तक कि अपने शरीर के पूर्व सम्बन्धों को भी संकल्प द्वारा मिटा देना पड़ता है। इस क्रिया को संन्यास ग्रहण की अधिवास क्रिया कह सकते हैं। शिष्य ने देखा है कि इन वैदिक कर्म-काण्डों पर स्वामी जी का पूर्ण विश्वास था। वे उन कर्म-काण्डों का शास्त्रानुसार ठीक ठीक अनुष्ठान न होने पर बड़े नाराज़ होते थे। आजकल बहुत से लोगों का यह विचार है कि गेरुए वस्त्र धारण करने ही से संन्यास दीक्षा हो जाती है, परन्तु स्वामी जी का ऐसा विचार कभी नहीं था। बहुत प्राचीन काल से प्रचलित ब्रह्म-विद्या साधना के लिए उपयोगी संन्यास व्रत ग्रहण करने के पहले अनुष्ठेय, गुरु-परम्परागत नैष्ठिक संस्कारों का वे ब्रह्मचारियों से ठीक ठीक साधन कराते थे। हमने यह भी सुना है कि परमहंस देव के अन्तर्धान होने पर स्वामी जी ने उपनिषदादि शास्त्रों में वर्णित संन्यास लेने की पद्धतियों को मँगवाकर उनके अनुसार श्री गुरुदेव के चित्र को सम्मुख रखकर अपने गुरुभाइयों के साथ वैदिक मत से संन्यास ग्रहण किया था।

आलमबाज़ार मठ के दुमंजिले पर जल रखने के स्थान में श्राद्ध-क्रिया के लिए उपयोगी सब सामग्री एकत्र की गयी थी। स्वामी नित्यानन्द जी ने पितर की श्राद्ध-क्रिया अनेक बार की थीं, इस कारण आवश्यक चीज़ों के एकत्र करने में कोई त्रुटि नहीं हुई। स्वामी जी के आदेश से शिष्य स्नान करके पुरोहित कार्य करने को तत्पर हुआ। मन्त्रादि का ठीक ठीक उच्चारण तथा पाठ होने लगा। स्वामी जी बीच बीच में देख जाते थे। श्राद्ध-क्रिया के अन्त में जब चारों ब्रह्मचारियों ने अपने अपने पिण्डों को अपने अपने पाँवों पर रखा, तब सांसारिक दृष्टि से वे मृतवत प्रतीत हुए। यह देख शिष्य का हृदय बड़ा व्याकुल हुआ और संन्यासाश्रम की कठोरता का स्मरण कर उसका हृदय काँप उठा। पिण्डों को उठाकर जब वे गंगा जी को चले गये, तब स्वामी जी शिष्य को व्याकुल देखकर बोले, "यह सब देखकर तेरे मन में भय उपजा है न?" शिष्य के सिर झुका लेने पर स्वामी जी बोले, "आज से इन सब की सांसारिक दृष्टि से मृत्यु हो गयी। कल से इनकी नवीन देह, नवीन चिन्ता, नवीन वस्त्रादि होंगे। ये ब्रह्मवीर्य से दीप्त होकर प्रज्वलित अग्नि के समान अवस्थान करेंगे—**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः** (न कर्म से, न सन्तान से और न धन से, वरन् कुछ लोगों ने मात्र त्याग से अमृतत्व प्राप्त किया है)।"

स्वामी जी की बातों को सुनकर शिष्य निर्वाक् खड़ा रहा। संन्यास की कठोरता का स्मरण कर उसकी बुद्धि स्तम्भित हो गयी। शास्त्र ज्ञान का अहंकार दूर हुआ। वह सोचने लगा कि कहने और करने में बड़ा अन्तर है।

इतने में वे चारों ब्रह्मचारी, जो श्राद्ध-क्रिया कर चुके थे, गंगा जी में पिण्डादि डालकर लौट आये और उन्होंने स्वामी जी के चरण-कमलों की वन्दना की। स्वामी जी आशीर्वाद देते हुए बोले, "तुम मनुष्य-जीवन के सर्वश्रेष्ठ व्रत को ग्रहण करने के लिए उत्साहित हुए हो। धन्य है तुम्हारा वंश, और धन्य है तुम्हारी गर्भ-धारिणी माता—**कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।**"

उस दिन रात्रि को भोजन करने के पश्चात् स्वामी जी केवल संन्यास-धर्म के विषय पर ही वार्तालाप करते रहे। संन्यास लेने के अभिलाषी ब्रह्मचारियों की ओर देखकर उन्होंने कहा, "**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**, यही संन्यास का यथार्थ उद्देश्य है। इस बात की वेद-वेदान्त घोषणा कर रहे हैं कि संन्यास ग्रहण न करने से कोई कभी ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि इस संसार का भोग करना है और साथ ही ब्रह्मज्ञ भी बनना है, उनकी बात कभी न मानो। प्रच्छन्न भोगियों के ऐसे भ्रमात्मक वाक्य होते हैं। जिनके मन में संसार भोग करने की तनिक भी इच्छा है या लेशमात्र भी कामना है, वे ही इस कठिन पथ से डरते हैं, इसलिए अपने मन को सान्त्वना देने के लिए कहते फिरते हैं कि इन दोनों पथों पर एक साथ चलना होगा। ये सब उन्मत्तों के प्रलाप हैं—अशास्त्रीय एवं अवैदिक मत हैं। बिना त्याग के मुक्ति नहीं। बिना त्याग के पराभक्ति नहीं। त्याग—त्याग—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।** गीता भी कहती है—**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः**, अर्थात् ज्ञानी जानते हैं कि कामनाओं के लिए किये गये कर्म का त्याग संन्यास है। सांसारिक झगड़ों को बिना त्यागे किसीकी मुक्ति नहीं। जो गृहस्था-श्रम में बँधे रहते हैं, वे स्वयं यह सिद्ध करते हैं कि वे किसी न किसी प्रकार की कामना के दास बनकर ही संसार में फँसे हुए हैं। यदि ऐसा न होगा तो फिर संसार में रहेंगे ही क्यों? कोई कामिनी के दास हैं, कोई अर्थ के, कोई मान, यश, विद्या अथवा पाण्डित्य के। इस दासत्व को छोड़कर बाहर निकलने से ही वे मुक्ति के पथ पर चल सकते हैं। लोग कितना ही क्यों न कहें, पर मैं भली भाँति समझ गया हूँ कि जब तक मनुष्य इन सबको त्यागकर संन्यास ग्रहण नहीं करता, तब तक किसी भी प्रकार उसके लिए ब्रह्मज्ञान असम्भव है।"

शिष्य—महाराज, क्या संन्यास ग्रहण करने से ही सिद्धिलाभ होता है?

स्वामी जी—सिद्धि-लाभ होता है या नहीं, यह बाद की बात है। जब तक तुम भीषण संसार की सीमा से बाहर नही आते, जब तक वासना के दासत्व को नहीं छोड़ सकते, तब तक भक्ति या मुक्ति की प्राप्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। ब्रह्मज्ञ के लिए ऋद्धि-सिद्धि बड़ी तुच्छ बात है।

शिष्य—महाराज, क्या संन्यास में कुछ कालाकाल या प्रकार भेद भी है?

स्वामी जी—संन्यास धर्म की साधना में किसी प्रकार कालाकाल नहीं है। श्रुति कहती है, **यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**। जब वैराग्य का उदय हो तभी प्रव्रज्या करना उचित है। 'योगवाशिष्ठ' में भी है—

युवैव धर्मशीलः स्यात् अनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥

—'जीवन की अनित्यता के कारण युवाकाल में ही धर्मशील बनना चाहिए। कौन जानता है कब किसका शरीर छूट जायगा ?' शास्त्रों में चार प्रकार के संन्यास का विधान पाया जाता है : १. विद्वत् संन्यास २. विविदिषा संन्यास ३. मर्कट संन्यास और ४. आतुर संन्यास। अचानक यथार्थ वैराग्य के उत्पन्न होते ही संन्यास लेकर चले जाना (यह पूर्व जन्म के संस्कार से ही होता है), विद्वत् संन्यास कहा जाता है। आत्म-तत्त्व जानने की प्रबल इच्छा से शास्त्र पाठ या साधनादि द्वारा अपना स्वरूप जानने को किसी ब्रह्मज्ञ पुरुष से संन्यास लेकर स्वाध्याय और साधन-भजन करने लगना, इसको विविदिषा संन्यास कहते हैं। संसार के कष्ट, स्वजन-वियोग अथवा अन्य किसी कारण से भी कोई कोई संन्यास ले लेते हैं, परन्तु यह वैराग्य दृढ़ नहीं होता, इसका नाम मर्कट संन्यास है। जैसे श्री रामकृष्ण इसके विषय में कहा करते थे, 'वैराग्य हुआ—कहीं दूर देश में जाकर फिर कोई नौकरी कर ली, फिर इच्छा होने पर स्त्री को बुला लिया या दूसरा विवाह कर लिया !' इनके अतिरिक्त चौथे प्रकार का आतुर संन्यास भी होता है—मान लो किसी की मुमुर्षु अवस्था है, रोगशय्या पर पड़ा है, बचने की कोई आशा नहीं; ऐसे मनुष्य के लिए आतुर संन्यास की विधि है। यदि वह मर जाय तो पवित्र संन्यास व्रत ग्रहण करके मरेगा; दूसरे जन्म में इस पुण्य के कारण अच्छा जन्म प्राप्त होगा और यदि बच जाय तो फिर संसार में न जाकर ब्रह्मज्ञान के लिए संन्यासी बनकर दिन व्यतीत करेगा। स्वामी शिवानन्द जी ने तुम्हारे चाचा को इस आतुर संन्यास की दिक्षा दी थी। तुम्हारे चाचा मर गये, परन्तु इस प्रकार से संन्यास लेने के कारण उनको उच्च जन्म मिलेगा। संन्यास के अतिरिक्त आत्मज्ञान लाभ करने का दूसरा उपाय नहीं है।

शिष्य—महाराज, गृहस्थों के लिए फिर क्या उपाय है ?

स्वामी जी—सुकृति से किसी न किसी जन्म में उन्हें वैराग्य अवश्य होगा। वैराग्य के आते ही कार्य बन जाता है अर्थात् जन्म-मरण की समस्या के पार पहुँचने में देर नहीं होती। परन्तु सब नियमों के दो-एक व्यतिक्रम भी रहते हैं।

गृहस्थ धर्म ठीक ठीक पालन करते हुए भी दो-एक पुरुषों को मुक्त होते देखा गया है; ऐसे हमारे यहाँ नाग महाशय हैं ।

शिष्य—महाराज, उपनिषदादि ग्रन्थों में भी वैराग्य और संन्यास सम्बन्धी विशद उपदेश नहीं पाया जाता ।

स्वामी जी—पागल के समान क्या बकता है? वैराग्य ही तो उपनिषद् का प्राण है। विचारजनित प्रज्ञा को प्राप्त करना ही उपनिषद् ज्ञान का चरम लक्ष्य है। परन्तु मेरा विश्वास यह है कि भगवान् बुद्धदेव के समय से ही भारत में इस त्याग-व्रत का विशेष प्रचार हुआ और वैराग्य तथा संसार-वितृष्णा ही धर्म का चरम लक्ष्य माना गया। बौद्ध धर्म के इस त्याग तथा वैराग्य को हिन्दू धर्म ने अपने में लय कर लिया है। भगवान् बुद्ध के समान त्यागी महापुरुष पृथ्वी पर और कोई नहीं जन्मा।

शिष्य—तो क्या महाराज, बुद्धदेव के जन्म के पहले इस देश में त्याग और वैराग्य कम था और क्या उस समय संन्यासी नहीं होते थे ?

स्वामी जी—यह कौन कहता है ? संन्यासाश्रम था, परन्तु जनसाधारण को विदित नहीं था कि यही जीवन का चरम लक्ष्य है। वैराग्य पर उनकी दृढ़ता नहीं थी, विवेक पर निष्ठा नहीं थी। इसी कारण बुद्धदेव को योगियों और साधुओं के पास जाने पर भी जब कहीं शान्ति नहीं मिली तब **इहासने शुष्यतु मे शरीरम्** कहकर आत्मज्ञान लाभ करने के लिए वे स्वयं ही बैठ गये और प्रबुद्ध होकर उठे। भारत में संन्यासियों के जो मठ आदि देखते हो, वे सब बौद्ध धर्म के अधिकार में थे। अब हिन्दुओं ने उनको अपने रंग में रँगकर अपना कर लिया है। भगवान् बुद्धदेव से ही यथार्थ संन्यासाश्रम का सूत्रपात हुआ। वे ही संन्यासाश्रम के मृत ढाँचे में प्राणों का संचार कर गये।

इस पर स्वामी जी के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णनन्द जी ने कहा, "बुद्धदेव से पहले भी भारत में चारो आश्रमों के प्रचलित होने का प्रमाण संहिता-पुराणादि देते हैं।" उत्तर में स्वामी जी ने कहा, "मन्वादि संहिता, बहुत से पुराण और महाभारत के भी बहुत से अंश अभी उसी दिन के है। भगवान् बुद्ध इनसे बहुत पहले हुए हैं।"

रामकृष्णानन्द—यदि ऐसा ही होता तो बौद्ध धर्म की समालोचना वेद, उपनिषद्, संहिता और पुराणों में अवश्य होती। जब इन ग्रन्थों में बौद्ध धर्म की आलोचना नहीं पायी जाती, तब आप कैसे कहते हैं कि बुद्धदेव इन सभी के पहले थे? दो-चार प्राचीन पुराणादि में बौद्ध मत का वर्णन आंशिक रूप में है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दुओं के संहिता और पुराणादि सभी उस दिन के शास्त्र हैं।

स्वामी जी—इतिहास पढ़ो तो देखोगे कि हिन्दू धर्म बुद्धदेव के सब भावों को पचाकर इतना बड़ा हो गया है।[1]

रामकृष्णानन्द—मेरा अनुमान है कि बुद्धदेव त्याग-वैराग्य को अपने जीवन में ठीक ठीक अनुष्ठान करके हिन्दू धर्म के भावों को केवल सजीव कर गये हैं।

स्वामी जी—परन्तु यह कथन प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धदेव से पहले का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। इतिहास का ही प्रमाण मानने से यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि प्राचीन काल के घोर अन्धकार में एकमात्र भगवान् बुद्धदेव ही ज्ञानालोक से प्रदीप्त होकर अवस्थान कर रहे हैं।

अब फिर संन्यास धर्म सम्बन्धी प्रसंग चलने लगा। स्वामी जी ने कहा, "संन्यास की उत्पत्ति कहीं से ही क्यों न हो, इस त्याग-व्रत के आश्रम से ब्रह्मज्ञ होना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। इस संन्यास ग्रहण में ही परम पुरुषार्थ है। वैराग्य उत्पन्न होने पर जिनका संसार से अनुराग हट गया है, वे ही धन्य हैं।"

शिष्य—महाराज, आजकल लोग कहते हैं कि त्यागी संन्यासियों की संख्या बढ़ जाने से देश की व्यावहारिक उन्नति रुक गयी है। साधुओं को गृहस्थों का मुखापेक्षी और बेकार होकर चारों ओर फिरते देखकर वे लोग कहते हैं, 'वे (संन्यासी) समाज और स्वदेश की उन्नति में किसी प्रकार सहायक नहीं होते।'

स्वामी जी—मुझे यह तो पहले समझा दो कि लौकिक या व्यावहारिक उन्नति का अर्थ क्या है।

शिष्य—पाश्चात्य देशों में जिस प्रकार विद्या की सहायता से देश में अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध करते हैं, विज्ञान की सहायता से वाणिज्य, शिल्प, पहनावा, रेल, टेलीग्रॉफ़ (तार) इत्यादि नाना विषयों की उन्नति कर रहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी करना।

स्वामी जी—क्या ये सब बातें मनुष्य में रजोगुण के अभ्युदय हुए बिना ही होती हैं? सारे भारत में फिरकर देखा, पर कहीं भी रजोगुण का विकास नहीं पाया, केवल तमोगुण! घोर तमोगुण से सर्वसाधारण लोग भरे हुए हैं। संन्यासियों में ही रजोगुण एवं सतोगुण देखा है। वे ही भारत के मेरुदण्ड हैं। सच्चे संन्यासी ही गृहस्थों के उपदेशक हैं। उन्हींसे उपदेश और ज्ञानालोक प्राप्त कर प्राचीन

---

१. स्वामी जी का यह विचार आधुनिक ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित था। उस समय इन नवीन प्रयत्नों और शोधों को वे प्रोत्साहित करते थे। परन्तु बाद में इन विद्वानों से उनका मतभेद हुआ और उन्होंने बुद्धदेव के पूर्व धर्म के इन स्रोतों को माना है।

काल में गृहस्थ लोग जीवन संग्राम में सफल हुए थे। संन्यासियों को अनमोल उपदेश के वदले गृहस्थ अन्न-वस्त्र देते रहे हैं। यदि ऐसा आदान-प्रदान न होता तो इतने दिनों में भारतवासियों का भी अमेरिका के आदिवासियों के समान लोप हो जाता। संन्यासियों को मुट्ठी भर अन्न देने के कारण ही गृहस्थ लोग अभी तक उन्नति के मार्ग पर चले जा रहे हैं। संन्यासी लोग कर्महीन नहीं हैं, वरन् वे ही कर्म के स्रोत हैं। उनके जीवन या कार्य में ऊँचे आदर्शों को परिणत होते देख और उनसे उच्च भावों को ग्रहण कर गृहस्थ लोग इस संसार के जीवन-संग्राम में समर्थ हुए तथा हो रहे हैं। पवित्र संन्यासियों को देखकर गृहस्थ भी उन पवित्र भावों को अपने जीवन में परिणत करते हैं और ठीक ठीक कर्म करने को तत्पर होते हैं। संन्यासी अपने जीवन में ईश्वर तथा जगत् के कल्याण के निमित्त सर्वत्याग रूप तत्त्व को प्रतिफलित करके गृहस्थों को सव विषयों में उत्साहित करते हैं और इसके वदले वे उनसे मुट्ठी भर अन्न लेते हैं। फिर उसी अन्न को उपजाने की प्रवृत्ति और शक्ति भी देश के लोगों में सर्वत्यागी संन्यासियों के स्नेहाशीर्वाद से ही वढ़ रही है। विना विचारे ही लोग संन्यास-प्रथा की निन्दा करते हैं। अन्य देशों में चाहे जो कुछ क्यों न हो, पर यहाँ तो संन्यासियों के पतवार पकड़े रहने के कारण ही संसार-सागर में गृहस्थों की नौका नहीं डूवने पाती।

शिष्य—महाराज, लोक कल्याण में तत्पर यथार्थ संन्यासी मिलता कहाँ है?

स्वामी जी—यदि हज़ार वर्ष में भी श्री गुरुदेव के समान कोई संन्यासी महापुरुप जन्म ले लेते हैं तो सव कमी पूरी हो जाती है। वे जिन उच्च आदर्श और भावों को छोड़ जाते हैं, उनके जन्म से सहस्र वर्षो तक लोग उनको ही ग्रहण करते रहेंगे। देश में इस संन्यास प्रथा के होने के कारण ही यहाँ उनके समान महापुरुष जन्म ग्रहण करते हैं। दोप सभी आश्रमों में हैं, पर किसीमें कम और किसी में अधिक। दोप रहने पर भी इस आश्रम को अन्य आश्रमों का शीर्षस्थान प्राप्त हुआ है, इसका कारण क्या है? सच्चे संन्यासी तो अपनी मुक्ति की भी उपेक्षा करते हैं—जगत् के मंगल के लिए ही उनका जन्म होता है। यदि ऐसे संन्यासाश्रम के भी तुम कृतज्ञ न हो तो तुम्हें धिक्कार, कोटि कोटि धिक्कार है।

इन वातों को कहते ही स्वामी जी का मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा। संन्यास आश्रम के गौरव प्रसंग से स्वामी जी मानो मूर्तिमान संन्यास रूप में शिष्य के सम्मुख प्रतिभासित होने लगे। इस आश्रम के गौरव को मन ही मन अनुभव कर मानो अन्तर्मुखी होकर वे अपने आप ही मधुर स्वर से आवृत्ति करने लगे—

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तः भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
अशोकमन्तःकरणे चरन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥

फिर कहने लगे, "**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** ही संन्यासियों का जन्म होता है। संन्यास ग्रहण करके जो इस ऊँचे लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है, उसका तो जीवन ही व्यर्थ है—**वृथैव तस्य जीवनम्।** जगत् में संन्यासी क्यों जन्म लेते हैं? औरों के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग करने, जीव के आकाशभेदी क्रन्दन को दूर करने, विधवा के आँसू पोंछने, पुत्र-वियोग से पीड़ित अवलाओं के मन को शान्ति देने, सर्वसाधारण को जीवन-संग्राम में समक्ष करने, शास्त्र के उपदेशों को फैलाकर सबका ऐहिक और पारमार्थिक मंगल करने और ज्ञानालोक से सबके भीतर जो ब्रह्मसिंह सुप्त है, उसे जाग्रत करने।"

फिर अपने संन्यासी भाइयों को लक्ष्य करके कहने लगे, "**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** हम लोगों का जन्म हुआ है। बैठे बैठे क्या कर रहे हो? उठो, जागो, स्वयं जगकर औरों को जगाओ। अपने नर-जन्म को सफल करो, **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त वरान्निबोधत** (उठो जागो, और तब तक रुको नहीं, जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाय)।"

१२

[स्थान : स्व० बलराम वसु का भवन, कलकत्ता।
वर्ष : १८९८ ई०]

स्वामी जी आज दो दिन से बागबाज़ार में स्व० बलराम वसु के भवन में ठहरे हुए हैं। अतः शिष्य को विशेष सुभीता होने से वह प्रतिदिन वहाँ आता-जाता रहता है। आज सायंकाल से कुछ पहले स्वामी जी छत पर टहल रहे हैं। उनके साथ शिष्य और अन्य चार पाँच लोग भी हैं। आज बड़ी गरमी है; स्वामी जी के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं है। मन्द मन्द दक्षिणी पवन चल रहा है। टहलते टहलते स्वामी जी ने गुरु गोविंदसिंह का प्रसंग आरम्भ किया और ओजस्विनी भाषा में कुछ कुछ वर्णन करते हुए बतलाने लगे कि किस प्रकार उनके त्याग, तपस्या, तितिक्षा और प्राण-नाशक परिश्रम के फल से ही सिक्खों का पुनरुत्थान हुआ था, उन्होंने किस प्रकार मुसलमान धर्म में दीक्षित लोगों को भी दीक्षा दी और हिन्दू बनाकर सिक्ख जाति में मिला लिया तथा किस प्रकार उन्होंने नर्मदा के तट पर

अपनी मानव-लीला समाप्त की। गुरु गोविंद सिंह द्वारा दीक्षित जनों में उस समय कैसी एक महान् शक्ति का संचार होता था, उसका उल्लेख कर स्वामी जी ने सिक्खों में प्रचलित एक दोहा सुनाया—

सवा लाख से एक लड़ाऊँ।
तो गोविन्द सिंह नाम कहाऊँ॥

अर्थात् गुरु गोविंदसिंह से नाम (दीक्षा) सुनकर प्रत्येक मनुष्य में सवा लाख मनुष्य से अधिक शक्ति संचारित होती थी। उनसे दीक्षा ग्रहण करने पर उनकी शक्ति से यथार्थ धर्मप्राणता उपस्थित होती थी और प्रत्येक शिष्य का हृदय ऐसे वीर भाव से पूरित हो जाता था कि वह उस समय सवा लाख विधर्मियों को पराजित कर सकता था। धर्म की महिमा बखाननेवाली बातों को कहते कहते उनके उत्साहपूर्ण नेत्रों से मानो तेज निकल रहा था। श्रोतागण निस्तब्ध होकर स्वामी जी के मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे। स्वामी जी में कैसा अद्भुत उत्साह और शक्ति थी। जब जिस प्रसंग को लेते थे, तब उसीमें ऐसे तन्मय हो जाते थे मानो उन्होंने उसी विषय को अन्य सब विषयों से बड़ा ठहरा लिया और उसे लाभ करना ही मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

कुछ देर बाद शिष्य ने कहा, "महाराज, गुरु गोविंदसिंह ने हिंदू और मुसलमान दोनों को अपने धर्म में दीक्षित करके एक ही उद्देश्य पर चलाया था, यह बड़ी अद्भुत घटना है। भारत के इतिहास में ऐसा दूसरा दृष्टान्त नहीं पाया जाता।"

स्वामी जी—जब तक लोग अपने में एक ही प्रकार के ध्येय का अनुभव नहीं करेंगे, तब तक कभी एक सूत्र से आबद्ध नहीं हो सकते। जब तक उनका ध्येय एक न हो, तब तक सभा, समिति और वक्तृता से साधारण लोगों को एक नहीं किया जा सकता। गुरु गोविंदसिंह ने उस समय क्या हिंदू, क्या मुसलमान सभी को समझा दिया था कि वे सब लोग कैसे घोर अत्याचार तथा अविचार के राज्य में बस रहे हैं। गुरु गोविंदसिंह ने किसी प्रकार के नये ध्येय की सृष्टि स्वयं नहीं की। केवल सर्वसाधारण जनता का ध्यान इसकी ओर आकर्षित कर दिया था। इसीलिए हिन्दू-मुसलमान सब उनको मानते हैं। वे शक्ति के साधक थे। भारत के इतिहास में उनके समान विरला ही दृष्टान्त मिलेगा।

इसके बाद रात्रि के अधिक होने पर स्वामी जी सबके साथ नीचे की बैठक में उतर आये। उनके आसन ग्रहण करने पर सब उन्हें फिर घेर कर बैठ गये। अब सिद्धाई का प्रसंग आरम्भ हुआ। स्वामी जी बोले, "सिद्धाई या विभूति मन के थोड़े ही संयम से प्राप्त हो जाती है।" शिष्य को लक्ष्य करके बोले, "क्या तू औरों

के मन की वात जानने की विद्या सीखेगा ? चार ही पाँच दिन में तुझे यह सिखला सकता हूँ।"

शिष्य—इससे क्या उपकार होगा ?

स्वामी जी—क्यों ? औरों के मन की बात जान सकेगा।

शिष्य—क्या इससे ब्रह्मविद्या लाभ करने में कोई सहायता मिलेगी ?

स्वामी जी—कुछ भी नहीं।

शिष्य—तव वह विद्या सीखने से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु आपने सिद्धाई के विपय में जो कुछ प्रत्यक्ष किया है या देखा है, उसको सुनने की इच्छा है।

स्वामी जी—एक वार मैं हिमालय में भ्रमण करते समय किसी पहाड़ी गाँव में एक रात्रि के लिए ठहर गया था। सायंकाल होने पर गाँव में ढोल का शब्द सुना तो घरवाले से पूछने पर मालूम हुआ कि गाँव के किसी मनुष्य पर 'देवता चढ़ा' है। घरवाले के आग्रह से और अपना कौतुक निवारण करने के लिए मैं देखने गया। जाकर देखा कि वड़ी भीड़ लगी है। उसने लम्वे घुँघराले वालवाले एक पहाड़ी को दिखाकर कहा कि इसी पर देवता चढ़ा है। मैंने देखा कि उसके पास ही एक कुल्हाड़ी को आग में लाल कर रहे थे। फिर देखा कि उस लाल कुल्हाड़ी से उस देवताविष्ट मनुष्य के शरीर को स्थान स्थान पर जला रहे हैं तथा वालों पर भी उसे छुआ रहे है। परन्तु आश्चर्य यह था कि न तो उसका कोई अंग या वाल जलता था, न उसके चेहरे से कोई कष्ट का चिह्न प्रकट होता था। मैं तो देखते ही निर्वाक् रह गया। इसी समय गाँव के मुखिया ने मेरे पास आकर हाथ जोड़कर कहा, "महाराज, आप कृपया इसका भूत उतार दीजिए।" मैं तो यह बात सुनकर घवड़ा गया। पर क्या करता, सवके कहने पर मुझे उस देवताविष्ट मनुष्य के पास जाना पड़ा। परन्तु जाकर उस कुल्हाड़ी की परीक्षा करने की इच्छा हुई। उसमें हाथ लगाते ही मेरा हाथ झुलस गया। तव तो कुल्हाड़ी तनिक काली भी पड़ गयी थी तो भी मारे जलन के मैं वेचैन हो गया। जो कुछ मेरी तर्कयुक्ति थी, वह सव लोप हो गयी। क्या करता, जलन के मारे व्याकुल होकर भी उस मनुष्य के सिर पर अपना हाथ रखकर कुछ देर जप किया। परन्तु आश्चर्य यह कि ऐसा करने से १०-१२ मिनट में ही वह अच्छा हो गया। तव गाँववालों की मेरे प्रति भक्ति का क्या ठिकाना! वे तो मुझे भगवान् ही समझने लगे! परन्तु मैं इस घटना को कुछ भी नहीं समझ सका। वाद में भी कुछ नहीं जान सका। अन्त में मैं और कुछ न कहकर घरवाले के साथ झोपड़ी में लौट आया। तव रात के कोई वारह वजे होंगे। आते ही लेट गया,

परन्तु जलन के मारे और इस घटना का कोई भेद न निकाल सकने के कारण नींद नहीं आई। जलती हुई कुल्हाड़ी से मनुष्य का शरीर दग्ध नहीं हुआ यह सोचकर चिंता करने लगा, 'There are more things in heaven and earth than dreamt of in your philosophy'—'पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनका सन्धान दर्शनशास्त्रों ने स्वप्न में भी नहीं पाया।'

शिष्य—बाद में क्या आप इस विषय का रहस्य जान सके थे?

स्वामी जी—नहीं, आज ही बातों बातों में वह घटना स्मरण हो आयी, इसलिए तुझसे कह दिया।

फिर स्वामी जी कहने लगे, "श्री रामकृष्ण सिद्धाइयों की बड़ी निन्दा किया करते थे। वे कहा करते थे कि इन शक्तियों के प्रकाश की ओर मन लगाये रखने से कोई परमार्थ को नहीं पहुँचता; परन्तु मनुष्य का मन ऐसा दुर्बल है कि गृहस्थों का तो कहना ही क्या, साधुओं में भी चौदह आने लोग सिद्धाई के उपासक होते हैं। पाश्चात्य देशों में लोग इन जादुओं को देखकर निर्वाक् हो जाते हैं। सिद्धाई लाभ करना बुरा है और वह धर्म-पथ में विघ्न डालता है। श्री रामकृष्ण के कृपा-पूर्वक समझाने के कारण ही मैं यह बात समझ सका हूँ। क्या तुमने देखा नहीं कि श्री गुरुदेव की सन्तानों में से कोई उधर ध्यान नहीं देता?"

इतने में स्वामी योगानन्द ने स्वामी जी से कहा, "मद्रास में एक ओझा से जो तुम्हारी भेंट हुई थी, वह कहानी इस गँवार को सुनाओ।"

शिष्य ने इस विषय को पहले नहीं सुना था। इसलिए उसे कहने के लिए स्वामी जी से आग्रह करने लगा। तब स्वामी जी ने उससे कहा, "मद्रास में मैं जब मन्मथ बाबू के भवन में था, तब एक रात स्वप्न में देखा कि मेरी माता जी का देहान्त हो गया है। मन में बड़ा दुःख हुआ। उस समय मठ को ही बहुत कम पत्र आदि भेजा करता था, तो घर की बात तो दूर रही। स्वप्न की बात मन्मथ बाबू से कहने पर उन्होंने उसकी जाँच करने के लिए कलकत्ते को तार भेजा; क्योंकि स्वप्न देखकर मन बहुत ही घबड़ा रहा था। इधर मद्रास के मित्रगण मेरे अमेरिका जाने का सब प्रबन्ध करके जल्दी मचा रहे थे। परन्तु माता जी की कुशल क्षेम का संवाद न मिलने से मेरा मन जाने को नहीं चाहता था। मेरे मन की अवस्था देखकर मन्मथ बाबू मुझसे बोले, 'देखो, नगर से कुछ दूर पर एक पिशाच-सिद्ध मनुष्य है, वह जीव के भूत-भविष्य, शुभ-अशुभ सब बातें बतला सकता है।' मन्मथ बाबू की प्रार्थना से और अपने मानसिक उद्वेग को दूर करने के निमित्त मैं उसके पास जाने के लिए राज़ी हुआ। मन्मथ बाबू, मैं, आलासिंगा तथा एक और सज्जन कुछ दूर तक रेल से गये। फिर पैदल चलकर वहाँ पहुँचे। पहुँचकर क्या देखा कि मसान

के पास विकट आकार का मृतक सा, सूखा, बहुत काले रंग का एक मनुष्य बैठा है। उसके अनुचरगण ने 'किडीं-मिडीं' कर मद्रासी भाषा में समझा दिया कि वही पिशाच-सिद्ध पुरुष है। प्रथम तो उसने हम लोगों पर कोई ध्यान नहीं दिया। फिर जब हम लौटने को हुए, तब हम लोगों से ठहरने के लिए विनय की। हमारे साथी आलासिंगा ने ही उसकी भाषा हमें, तथा हमारी भाषा उसे समझाने का कार्य किया। उसने ही हम लोगों से ठहरने को कहा। फिर एक पेंसिल लेकर वह पिशाच-सिद्ध मनुष्य कुछ समय तक न जाने क्या लिखता रहा। फिर देखा कि वह मन को एकाग्र करके बिल्कुल स्थिर हो गया, उसके बाद मेरा नाम, गोत्र इत्यादि चौदह पीढ़ी तक की बातें बतलायीं और कहा कि श्री रामकृष्ण मेरे साथ सर्वदा फिर रहे हैं। माता जी का मंगल समाचार भी बतलाया। और यह भी कहा कि धर्मप्रचार के लिए मुझे शीघ्र ही बहुत दूर जाना पड़ेगा। इस प्रकार माता जी का कुशल मंगल मिल जाने पर मन्मथ बाबू के साथ शहर लौटा। यहाँ पहुँचकर कलकत्ते से तार के जवाब में भी माता जी का कुशल मंगल मिल गया।"

स्वामी योगानन्द को लक्ष्य करके स्वामी जी बोले, "परन्तु उस पुरुष ने जो कुछ बतलाया था वह सब पूरा हुआ। यह 'काकतालीय' के समान ही हो या और किसी प्रकार से हो गया हो।"

इसके उत्तर में स्वामी योगानन्द बोले, "तुम पहले इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते थे, इसीलिए तुम्हें यह सब दिखलाने की आवश्यकता थी।"

स्वामी जी—मैं क्या बिना देखे-भाले किसी पर विश्वास करता? मैं तो ऐसा मनुष्य ही नहीं हूँ। महामाया के राज्य में आकर जगद्रूपी जादू के साथ साथ और कितने ही जादू देखने में आये। माया! माया!! अब राम कहो, राम कहो! आज कैसी कैसी फिज़ूल बातें हुईं। भूत-प्रेत की चिन्ता करने से लोग भूत-प्रेत ही बन जाते हैं, और जो रात-दिन जानकर या न जानकर भी कहते हैं, 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तात्मा हूँ,' वे ही ब्रह्मज्ञ होते हैं।

यह कहकर स्वामी जी शिष्य को स्नेह से लक्ष्य करके कहने लगे, "इन सब व्यर्थ की बातों को मन में तिल मात्र भी स्थान न दो। सदैव सत् और असत् का ही विचार करो; आत्मा को प्रत्यक्ष करने के निमित्त प्राण-पण से यत्न करो। आत्मज्ञान से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। और जो कुछ है वह सभी माया है—जादू है। एक प्रत्यगात्मा ही ध्रुव सत्य है। इस बात की यथार्थता मैं ठीक ठीक समझ गया हूँ। इसीलिए तुम सबको समझाने की चेष्टा भी करता हूँ। **एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।**"

बात करते करते रात के ११ बज गये। इसके बाद स्वामी जी भोजन कर

विश्राम करने चले। शिष्य भी स्वामी जी के चरण-कमलों में दण्डवत कर विदा हुआ। स्वामी जी ने पूछा, "कल फिर आयेगा न?"

शिष्य—जी महाराज, अवश्य आऊँगा। प्रतिदिन आपके दर्शन न होने से चित्त व्याकुल हो जाता है।

स्वामी जी—अच्छा तो जाओ। रात अधिक हो गयी है।

शिष्य स्वामी जी की बातों पर विचार करता हुआ रात के १२ बजे घर लौटा।

१३

[स्थान : बेलूड़, किराये का मठ। वर्ष : १८९८ ई०]

जिस वर्ष स्वामी जी इंग्लैण्ड से लौटे थे उस वर्ष दक्षिणेश्वर में राणी रासमणि के काली मन्दिर में श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ था। परन्तु अनेक कारणों से अगले वर्ष यह उत्सव वहाँ नहीं हो पाया और मठ को भी आलमबाज़ार से बेलूड़ में गंगा जी के तट पर नीलाम्बर मुखोपाध्याय की वाटिका को किराये पर लेकर, वहाँ हटाया गया। इसके कुछ ही दिन पश्चात् वर्तमान मठ के निमित्त जमीन मोल ली गयी, किन्तु इस वर्ष यहाँ जन्मोत्सव नहीं हो सका, क्योंकि यह स्थान समतल नहीं था और जंगल से भी भरा था। इसलिए इस वर्ष का जन्मोत्सव बेलूड़ में दाँ बाबुओं की ठाकुरवाड़ी में हुआ। परन्तु श्री रामकृष्ण की जन्म-तिथि पूजा जो फाल्गुन की शुक्ल द्वितीया को होती है, वह नीलाम्बर बाबू की वाटिका में ही हुई और इसके दो-एक दिन बाद ही श्री रामकृष्ण की मूर्ति इत्यादि का प्रबन्ध करके शुभ मुहूर्त में नयी भूमि पर पूजा-हवन इत्यादि कर उसकी प्रतिष्ठा की गयी। इस समय स्वामी जी नीलाम्बर बाबू की वाटिका में ठहरे हुए थे। जन्म-तिथि पूजा के निमित्त बड़ा आयोजन था। स्वामी जी के आदेशानुसार पूजागृह बड़ी उत्तम उत्तम सामग्रियों से परिपूर्ण था। स्वामी जी उस दिन स्वयं ही सब चीज़ों की देखभाल कर रहे थे।

जन्मतिथि के दिन प्रातःकाल से ही सब लोग आनन्दित हो रहे थे। भक्तों के मुँह में श्री रामकृष्ण के प्रसंग के अतिरिक्त और कोई प्रसंग न था। अब स्वामी जी पूजाघर के सम्मुख खड़े होकर पूजा का आयोजन देखने लगे।

इन सब की देखभाल करने के पश्चात् स्वामी जी ने शिष्य से पूछा, "जनेऊ ले आये हो न?"

शिष्य—जी हाँ, आपके आदेशानुसार सब सामग्री प्रस्तुत है। परन्तु इतने जनेऊ मँगवाने का कारण मेरी समझ में नहीं आया।

स्वामी जी—प्रत्येक द्विजाति का ही उपनयन संस्कार में अधिकार है। स्वयं वेद इसका प्रमाण है। आज श्री रामकृष्ण की जन्मतिथि में जो लोग यहाँ आयेंगे, मैं उन सबको जनेऊ पहनाऊँगा। वे सब व्रात्य (संस्कार से पतित) हो गये हैं। शास्त्र कहता है कि प्रायश्चित्त करने से व्रात्यों का फिर उपनयन संस्कार में अधिकार हो जाता है। आज श्री गुरुदेव का शुभ जन्म-तिथि पूजन है—उनके नाम से वे सब शुद्ध पवित्र हो जायँगे। इसलिए आज उन उपस्थित भक्तगणों को जनेऊ पहनाना है। समझे?

शिष्य—मैं आपके आदेश से बहुत से जनेऊ लाया भी हूँ। पूजा के अन्त में समागत भक्तों को आपकी आज्ञानुसार पहना दूँगा।

स्वामी जी—ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य भक्तों को इस प्रकार गायत्री मन्त्र बतला देना। (यहाँ स्वामी जी ने शिष्य से क्षत्रिय आदि द्विजातियों का गायत्री मन्त्र बतला दिया)। क्रमशः देश के सब लोगों को ब्राह्मण पद पर आरूढ़ करना होगा; श्री गुरुदेव के भक्तों का तो कहना ही क्या है? हिन्दू मात्र एक दूसरे के भाई हैं। 'इसे नहीं छूते, उसे नहीं छूते', कहकर ही तो हमने इनको ऐसा बना दिया है। इसीलिए तो हमारा देश हीनता, भीरुता, मूर्खता तथा कापुरुषता की चरम अवस्था को प्राप्त हुआ है। इनको उठाना होगा, इन्हें अभय वाणी सुनानी होगी, बतलाना होगा कि तुम भी हमारे समान मनुष्य हो, तुम्हारा भी हमारे ही समान सब अधिकार है। समझे?

शिष्य—जी महाराज।

स्वामी जी—अब जो लोग जनेऊ पहनेंगे, उनसे कह दो कि वे गंगा जी में स्नान कर आयें। फिर श्री रामकृष्ण को प्रणाम कर वे जनेऊ पहनेंगे।

स्वामी जी के आदेशानुसार समागत भक्तों में से कोई चालीस पचास लोगों ने गंगा स्नान कर शिष्य से गायत्री मन्त्र सीख कर जनेऊ पहन लिये। मठ में बड़ी चहल-पहल मच गयी। भक्तगणों ने जनेऊ धारण कर श्री रामकृष्ण को पुनः प्रणाम किया और स्वामी जी के चरण-कमलों की भी वन्दना की। स्वामी जी का मुखारविन्द उनको देखकर मानो सौगुना प्रफुल्लित हो गया। इसके कुछ ही देर पश्चात् श्री गिरीशचन्द्र घोष मठ में आ पहुँचे।

अब स्वामी जी की आज्ञा से संगीत का आयोजन होने लगा और मठ के संन्यासी लोग स्वामी जी को अपने इच्छानुसार सजाने लगे। उनके कानों में शंख का कुण्डल, सर्वांग में कर्पूर के समान श्वेत पवित्र विभूति, मस्तक पर आपादलम्बित

जटाभार, वाम हस्त में त्रिशूल, दोनों वाहों में रुद्राक्ष की माला और गले में आजानुलम्बित तीन लड़ की वड़े रुद्राक्ष की माला आदि पहनायीं। यह सव धारण करने पर स्वामी जी का रूप ऐसा शोभायमान हुआ कि उसका वर्णन करना सम्भव नही। उस दिन जिन लोगों ने उनकी इस मूर्ति का दर्शन किया था, उन्होंने एक स्वर से कहा था कि साक्षात् कालभैरव स्वामी-शरीर रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। स्वामी जी ने भी अन्य सब संन्यासियों के शरीर में विभूति लगा दी। उन्होंने स्वामी जी के चारों ओर सदेह भैरवगण के समान स्थित होकर, मठ-भूमि पर कैलाश पर्वत की शोभा का विस्तार किया। आज भी उस दृश्य का स्मरण हो आने से वड़ा आनन्द आता है।

अव स्वामी जी पश्चिम दिशा की ओर मुँह फेरे हुए मुक्त पद्मासन में वैठ कर **कूजन्तं रामरामेति** स्तोत्र धीरे धीरे उच्चारण करने लगे और अन्त में 'राम राम श्री राम राम' वारम्वार कहने लगे। ऐसा अनुमान होता था कि मानो प्रत्येक अक्षर से अमृत धारा वह रही है। स्वामी जी के नेत्र अर्धनिमीलित थे और वे हाथ से तानपूरे में स्वर दे रहे थे। कुछ देर तक मठ में 'राम राम श्री राम राम' ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी सुनने में नहीं आया। इस प्रकार लगभग आध घण्टे से भी अधिक समय व्यतीत हो गया, तव भी किसीके मुँह से अन्य कोई शब्द नहीं निकला। स्वामी जी के कण्ठ से निःसृत रामनाम सुधा को पान कर आज सव मतवाले हो गये हैं। शिष्य विचार करने लगा, क्या सचमुच ही स्वामी जी शिव के भाव से मतवाले होकर रामनाम ले रहे हैं? स्वामी जी के मुख का स्वाभाविक गाम्भीर्य मानो आज सौगुना हो गया है। अर्धनिमीलित नेत्रों से मानो वाल सूर्य की प्रभा निकल रही है और गहरे नशे में मानो उनका सुन्दर शरीर झूम रहा है। इस रूप का वर्णन करना अथवा किसीको समझाना सम्भव नहीं। इसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। दर्शकगण चित्र के समान स्थिर वैठे रहे।

राम नाम कीर्तन के अन्त में स्वामी जी उसी प्रकार मतवाली अवस्था में ही गाने लगे—**सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई**। साथ देनेवाला अच्छा न होने के कारण स्वामी जी का कुछ रसभंग होने लगा। अतः स्वामी सारदानन्द को गाने का आदेश देकर स्वामी जी स्वयं पखावज वजाने लगे। स्वामी सारदानन्द ने पहले **एक रूप अरूप नाम वरण** गीत गाया। पखावज के स्निग्ध गम्भीर घोप से गंगा जी मानो उछलने लगीं और स्वामी सारदानन्द के सुन्दर कण्ठ और साथ ही मधुर अलाप से सारा गृह भर गया। तत्पश्चात् श्री रामकृष्ण स्वयं जिन गीतों को गाते थे, क्रमशः वे गीत भी होने लगे।

अव स्वामी जी एकाएक अपनी वेश-भूपा को उतार कर वड़े आदर से गिरीश

बावू को उससे सजाने लगे। गिरीश बावू के विशाल शरीर में अपने हाथ से भस्म लगाकर, कानों में कुण्डल, मस्तक पर जटाभार, कण्ठ और बाँहों में रुद्राक्ष की माला पहनाने लगे। गिरीश बावू इस वेश में मानो एक नवीन मूर्ति में प्रकाशमान हुए। भक्तगण इसको देखकर अवाक् हो गये। फिर स्वामी जी बोले, "श्री रामकृष्ण कहा करते थे कि गिरीश भैरव का अवतार है और हममें और उसमें कोई भेद नहीं है।" गिरीश बावू चुप बैठे रहे। उनके संन्यासी गुरुभाई जैसे चाहें उनको सजायें, उन्हें सब स्वीकार है। अन्त में स्वामी जी के आदेशानुसार एक गेरुआ वस्त्र मँगवाकर गिरीश बावू को पहनाया गया। गिरीश बावू ने कुछ भी मना नहीं किया। गुरुभाइयों के इच्छानुसार अपने शरीर को उन्हींके हाथ में छोड़ दिया। अब स्वामी जी ने कहा, "जी० सी०, तुमको आज श्री गुरुदेव की कथा सुनानी होगी।" औरों को लक्ष्य करके कहा, "तुम लोग सब स्थिर होकर बैठो। अभी तक गिरीश बावू के मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। जिनके जन्मोत्सव में आज हम सब लोग एकत्र हुए हैं, उनकी लीला और उनके भक्तों का दर्शन कर वे आनन्द से जड़वत हो गये हैं।" अन्त में गिरीश बावू बोले, "दयामय श्री गुरुदेव की कथा मैं और क्या कहूँ? उन्होंने इस अधम को तुम्हारे समान काम-कांचन त्यागी बाल संन्यासियों के साथ एक ही आसन पर बैठने का जो अधिकार दिया है, इससे ही उनकी अपार करुणा का अनुभव कर रहा हूँ।" इन बातों को कहते कहते उनका गला भर आया और फिर उस दिन वे कुछ भी न कह सके। इसके बाद स्वामी जी ने कई एक हिन्दी गीत गाये, 'बैयाँ न पकरो मोरी नरम कलैयाँ', 'प्रभु मेरे अवगुन चित्त न धरो' इत्यादि। शिष्य संगीत विद्या में ऐसा पूर्ण पण्डित था कि गीत का एक वर्ण भी उसकी समझ में नहीं आया! केवल स्वामी जी के मुँह की ओर टकटकी लगाकर देखता ही रहा! अब प्रथम पूजा सम्पन्न होने पर जलपान के निमित्त भक्तगण बुलाये गये। जलपान के पश्चात् स्वामी जी नीचे की बैठक में जाकर बैठे। आये हुए भक्तगण भी उनको वहाँ घेरकर बैठ गये। उपवीतधारी किसी गृहस्थ को सम्बोधित कर स्वामी जी ने कहा, "तुम यथार्थ में द्विजाति हो, बहुत दिनों से व्रात्य हो गये थे। आज से फिर द्विजाति बने। अब प्रतिदिन कम से कम सौ बार गायत्री मन्त्र जपना। समझे?" गृहस्थ ने, "जैसी आज्ञा महाराज की" कहकर स्वामी जी की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। इस अवसर पर श्री महेन्द्रनाथ गुप्त[1] आ पहुँचे। स्वामी जी मास्टर महाशय को देख बड़े स्नेह से उनका सत्कार

---

१. इन्होंने ही 'श्री रामकृष्ण कथामृत' लिखी है। किसी स्कूल के अध्यापक होने के कारण ये मास्टर महाशय के नाम से विख्यात हैं।

करने लगे। महेन्द्र बाबू भी उनको प्रणाम कर एक कोने में जाकर खड़े रहे। स्वामी जी के बार बार कहने पर भी संकोच से वहीं बैठ गये।

स्वामी जी—मास्टर महाशय, आज श्री रामकृष्ण का जन्म दिन है, आपको हम लोगों को उनकी कथा सुनानी होगी।

मास्टर महाशय मुसकराकर सिर झुकाये ही रहे। इस बीच स्वामी अखण्डानन्द[1] मुर्शिदाबाद से लगभग १।। मन के दो पन्तुआ (एक प्रकार की बंगाली मिठाई) बनवाकर साथ लेकर मठ में आ पहुँचे। इतने बड़े दो पन्तुओं को देखने सब दौड़े। अखण्डानन्द जी ने वह मिठाई सबको दिखलायी। फिर स्वामी जी ने कहा, "जाओ, इसे श्री रामकृष्ण के मन्दिर में रख आओ।"

स्वामी अखण्डानन्द को लक्ष्य करके स्वामी जी शिष्य से कहने लगे, "देखो कैसा कर्मवीर है! भय, मृत्यु आदि का कुछ ज्ञान ही नहीं। **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** अपना कार्य धीरज के साथ और एक चित्त से कर रहा है।"

शिष्य—अधिक तपस्या के फल से ऐसी शक्ति उनमें आयी होगी।

स्वामी जी—तपस्या से शक्ति उत्पन्न होती है, यह सत्य है। किन्तु दूसरों के निमित्त कर्म करना ही तपस्या है। कर्मयोगी कर्म को तपस्या का एक अंग कहते हैं। जैसे तपस्या से परहित की इच्छा बलवान होकर साधकों से कर्म कराती है, वैसे ही दूसरों के निमित्त कार्य करते करते तपस्या फल के रूप में होती है। चित्त-शुद्धि और परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है।

शिष्य—परन्तु महाराज, दूसरों के निमित्त पहले से ही कितने मनुष्य प्राणपण से कार्य कर सकते हैं? वह उदारता मन में पहले से ही कैसे आयेगी जिससे मनुष्य आत्मसुख की इच्छा को बलि देकर औरों के निमित्त जीवन दान करता है?

स्वामी जी—और तपस्या करने में ही कितने मनुष्यों का मन लगता है? कामिनीकांचन के आकर्षण में पड़कर कितने मनुष्य भगवान् लाभ करने की इच्छा करते हैं? तपस्या जैसी कठिन है, निष्काम कर्म भी वैसा ही कठिन है। अतएव औरों के मंगल के लिए जो लोग कार्य करते हैं, उनके विरुद्ध तुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। तुझे यदि तपस्या अच्छी लगे तो तू किये जा। परन्तु यदि किसीको कर्म

---

१. श्री रामकृष्ण के एक अन्तरंग लीलासहचर। इन्होंने मुर्शिदाबाद के अन्तर्गत सारगाछी में अनाथाश्रम, शिल्पविद्यालय और दातव्य चिकित्सालय स्थापित किये हैं। यहां बिना जात-पांत के विचार के सबकी सेवा की जाती है और उनका कुल व्यय उदार सज्जनों की सहायता पर निर्भर है।

ही अच्छा लगे तो उसे रोकने का तुझे क्या अधिकार है? तू क्या यही सोच बैठा है कि कर्म तपस्या नहीं है?

शिष्य—जी महाराज। पहले मैं तपस्या का अर्थ कुछ और समझता था।

स्वामी जी—जैसे साधन-भजन का अभ्यास करते करते उस पर दृढ़ता हो जाती है, वैसे ही पहले अनिच्छा के साथ कर्म करते करते भी क्रमशः हृदय उसीमें मग्न हो जाता है और परार्थ कार्य करने की प्रवृत्ति होती है, समझे? तुम एक बार अनिच्छा के साथ ही औरों की सेवा कर देखो न, फिर देखो तपस्या का फल प्राप्त होता है या नहीं। परार्थ कर्म करने के फल से मन का टेढ़ापन नष्ट हो जाता है और वह मनुष्य निष्कपट भाव से औरों के मंगल के लिए प्राण देने को भी तैयार हो जाता है।

शिष्य—परन्तु महाराज, परहित का प्रयोजन क्या है?

स्वामी जी—अपना ही हित साधन। यदि तुम यह सोचो कि तुमने इस शरीर को जिसका अहंभाव लिये बैठे हो, दूसरों के निमित्त उत्सर्ग कर दिया है तो तुम इस अहंभाव को भी भूल जाओगे और अन्त में विदेह बुद्धि आ जायगी। एकाग्र चित्त से औरों के लिए जितना सोचोगे उतना ही अपने अहंभाव को भूलोगे। इस प्रकार कर्म करने पर जब क्रमशः चित्तशुद्धि हो जायगी, तब इस तत्त्व की अनुभूति होगी कि अपनी ही आत्मा सब जीवों तथा घटों में विराजमान है। औरों का हित करना आत्मविकास का एक उपाय है—एक पथ है। इसे भी एक प्रकार की ईश्वर साधना जानना। इसका भी उद्देश्य आत्मविकास है। ज्ञान, भक्ति आदि की साधना से जैसा आत्मविकास होता है, परार्थ कर्म करने से भी वैसा ही होता है।

शिष्य—किन्तु महाराज, यदि मैं रात दिन औरों की चिन्ता में लगा रहूँ तो आत्मचिंतन कब करूँगा? किसी एक विशेष भाव को पकड़े रहने से अभावात्मक आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा?

स्वामी जी—आत्मज्ञान लाभ ही समस्त साधनाओं का, सारे पथों का मुख्य उद्देश्य है। तुम सेवापरायण होकर कर्मफल से चित्तशुद्धि प्राप्त करो। यदि सब जीवों को आत्मवत देख सको तो आत्मदर्शन होने में रह ही क्या गया? आत्मदर्शन का अर्थ जड़ के समान एक दीवाल या लकड़ी के समान पड़ा रहना तो नहीं है।

शिष्य—माना ऐसा नहीं है, परन्तु शास्त्र में समस्त वृत्ति और सारे कर्म के निरोध को ही तो आत्मा का स्व-स्वरूप अवस्थान कहा है।

स्वामी जी—शास्त्र में जिस अवस्था को समाधि कहा गया है, यह अवस्था तो सहज में हर एक को प्राप्त नहीं होती। और किसीको हुई भी तो अधिक समय तक टिकती नहीं है। तब बताओ वह किस प्रकार समय बितायेगा? इसलिए

शास्त्रोक्त अवस्था लाभ करने के बाद साधक प्रत्येक भूत में आत्मदर्शन कर अभिन्न ज्ञान से सेवापरायण बनकर अपने प्रारब्ध को नष्ट कर देते हैं। इस अवस्था को शास्त्रकार जीवन्मुक्त अवस्था कह गये हैं।

शिष्य—महाराज, इससे तो यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त न करने से कोई भी ठीक ठीक परार्थ कार्य नहीं कर सकता।

स्वामी जी—शास्त्र में यह बात है। फिर यह भी है कि परार्थ सेवापरायण होते होते साधक को जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है। नहीं तो शास्त्र में 'कर्मयोग' के नाम से एक भिन्न पथ के उपदेश का कोई प्रयोजन नहीं था।

शिष्य यह सब बातें समझकर अब चुप हो गया। स्वामी जी ने भी इस प्रसंग को छोड़कर अपने कल कण्ठ से एक गीत गाना आरम्भ किया।

गिरीश बाबू तथा अन्य भक्तगण भी उनके साथ उसी गीत को गाने लगे। 'जगत् को तापित लख कातर हो' इत्यादि पद को बार बार गाने लगे। इस प्रकार 'मजलो आमार मन भ्रमरा', 'कालीपद-नीलकमले', 'अगणन भुवनभारधारी' इत्यादि कई एक गीत गाने के पश्चात् तिथिपूजन के नियमानुसार एक जीती मछली को खूब गा बजाकर गंगा जी में छोड़ दिया गया। तत्पश्चात् प्रसाद पाने के लिए भक्तों में बड़ी धूम मच गयी।

१४

[स्थान : बेलूड़—किराये का मठ। वर्ष : १८९८ ई०]

आज स्वामी जी नये मठ की भूमि पर यज्ञ करके श्री रामकृष्ण के चित्र की प्रतिष्ठा करेंगे। ठाकुर-प्रतिष्ठा दर्शन करने की इच्छा से शिष्य पिछली रात से ही मठ में उपस्थित है।

प्रातःकाल गंगा स्नान कर स्वामी जी ने पूजाघर में प्रवेश किया। फिर पूजन के आसन पर बैठ कर पुष्पपात्र में जो कुछ फूल और बिल्वपत्र थे, दोनों हाथों में सब एक साथ उठा लिये और श्री रामकृष्ण देव की पादुकाओं पर अर्पित कर ध्यानस्थ हो गये—कैसा अपूर्व दर्शन था! उनकी धर्मप्रभा विभासित स्निग्धोज्ज्वल कान्ति से पूजागृह मानो एक अद्भुत ज्योति से पूर्ण हो गया! स्वामी प्रेमानन्द तथा अन्य स्वामी पूजागृह के द्वार पर ही खड़े रहे।

ध्यान तथा पूजा समाप्त होने के बाद नये मठ की भूमि में जाने का आयोजन होने लगा। ताँबे की जिस मंजूषा में श्री रामकृष्ण देव की भस्मास्थि रक्षित थी, उसको स्वामी जी स्वयं अपने कन्धे पर रखकर आगे चलने लगे। शिष्य अन्य संन्यासियों के साथ पीछे पीछे चला। शंख-घण्टों की ध्वनि चारों ओर गूँज उठी। भागीरथी गंगा अपनी लहरों से मानो हाव-भाव के साथ नृत्य करने लगीं। मार्ग से जाते समय स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "श्री गुरुदेव ने मुझसे कहा था कि तू मुझे कन्धे पर चढ़ाकर जहाँ ले जायगा, मैं वहीं जाऊँगा और रहूँगा, चाहे वह स्थान वृक्ष के तले हो या कुटी में। इसीलिए मैं स्वयं उनको कन्धे पर उठाकर नयी मठ-भूमि पर ले जा रहा हूँ। निश्चय जान लेना कि श्री गुरुदेव 'बहुजनहिताय' यहाँ दीर्घ काल तक स्थिर रहेंगे।"

शिष्य—श्री रामकृष्ण ने आपसे यह बात कब कही थी?

स्वामी जी—(मठ के साधुओं को दिखाकर) क्या इनसे कभी यह बात नहीं सुनी? काशीपुर के बाग़ में।

शिष्य—अच्छा, हाँ। उसी समय सेवाधिकार के बारे में श्री रामकृष्ण के गृहस्थ तथा संन्यासी भक्तों में कुछ फूट सी पड़ गयी थी।

स्वामी जी—हाँ, फूट तो नहीं कह सकते, पर मन में कुछ मैल सा ज़रूर आ गया था। स्मरण रखना कि जो श्री रामकृष्ण के भक्त हैं, जिन्होंने उनकी कृपा यथार्थ पायी है, वे गृहस्थ हों या संन्यासी, उनमें कभी कोई फूट नहीं हो सकती और न रही है। फिर भी उस थोड़े से मनोमालिन्य का कारण क्या था, सुनेगा? सुन, प्रत्येक भक्त अपने अपने रंग से श्री रामकृष्ण को रँगता है और इसीलिए वह उन्हें अपने भाव से देखता है तथा समझता है। मानो वे एक सूर्य हैं और हम लोग भिन्न भिन्न रंगों के काँच अपनी आँखों के सामने लगाकर उस एक ही सूर्य को भिन्न भिन्न रंगों का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार भविष्य में भिन्न भिन्न मतों का ज़रूर सर्जन होता है; परन्तु जो सौभाग्य से अवतारी पुरुषों का साक्षात् सत्संग करते हैं, उनके जीवन-काल में ऐसे दलों का प्रायः सर्जन नहीं होता। आत्माराम पुरुष की ज्योति से वे चकाचौंध हो जाते हैं; अहंकार, अभिमान, क्षुद्र बुद्धि आदि सब मिट जाते हैं। अतएव दल बनाने का कोई अवसर उनको नहीं मिलता। वे अपने अपने भावानुसार उनकी हृदय से पूजा करते हैं।

शिष्य—महाराज, तब क्या श्री रामकृष्ण के सब भक्त उनको भगवान् जानकर भी उसी एक भगवान् के स्वरूप को भिन्न भिन्न भावों से देखते हैं और इसी कारण क्या उनके शिष्य एवं प्रशिष्य छोटी छोटी सीमाओं में बद्ध होकर छोटे छोटे दल या सम्प्रदायों को चलाते हैं?

स्वामी जी—हाँ, इसी कारण कुछ समय में सम्प्रदाय वन ही जायँगे। देखो न, चैतन्यदेव के वर्तमान समय के अनुयायियों में दो तीन सौ सम्प्रदाय हैं, ईसा के भी हज़ारों मत निकले हैं, परन्तु वात यह है कि वे सव सम्प्रदाय चैतन्यदेव और ईसा को ही मानते हैं।

शिष्य—तो ऐसा अनुमान होता है कि श्री रामकृष्ण के भक्तों में भी कुछ समय के पश्चात् अनेक सम्प्रदाय निकल पड़ेंगे।

स्वामी जी—अवश्य निकलेंगे; परन्तु जो मठ हम यहाँ वनाते हैं, उसमें सभी मतों और भावों का सामंजस्य रहेगा। श्री गुरुदेव का जो उदार मत था उसीका यह केन्द्र होगा। विश्व समन्वय की जो किरण यहाँ से प्रकाशित होगी, उससे सारा जगत् उद्भासित हो जायगा।

इसी प्रकार वार्तालाप करते हुए वे सव मठ-भूमि पर पहुँचे। स्वामी जी ने कन्धे पर से मंजूषा को जमीन पर विछे हुए आसन पर उतारा और भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। अन्य सवने भी प्रणाम किया।

इसके वाद स्वामी जी पूजा के लिए वैठ गये। पूजा के अन्त में यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके हवन किया और संन्यासी गुरुभाइयों की सहायता से स्वयं पायस (खीर) तैयार कर श्री रामकृष्ण को भोग चढ़ाया। ऐसा स्मरण आता है कि उस दिन स्वामी जी ने कुछ गृहस्थों को दीक्षा भी दी थी। जो कुछ भी हो, फिर पूजा सम्पन्न होने पर स्वामी जी ने समागतों को आदर से वुलाकर कहा, "आज तुम लोग तन, मन, वाक्य द्वारा श्री गुरुदेव से ऐसी प्रार्थना करो जिससे महा युगावतार श्री रामकृष्ण 'वहुजनहिताय वहुजनसुखाय' इस पुण्यक्षेत्र में अधिष्ठित रहें और इसे सव धर्मो का अपूर्व समन्वय केन्द्र बनाये रखें।" हाथ जोड़कर सवने प्रार्थना की। पूजा सम्पूर्ण होने पर स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "श्री गुरुदेव की इस मंजूषा को लौटा ले जाने का अधिकार हम लोगों (संन्यासियों) में से किसीको नहीं है; क्योंकि हमने ही यहाँ श्री गुरुदेव की स्थापना की है। अतएव तू इस मंजूषा को अपने मस्तक पर रखकर मठ (नीलाम्वर वावू की वाटिका) को ले चल।" शिष्य को मंजूषा को स्पर्श करने में हिचकिचाते देख स्वामी जी वोले, "डरो मत, उठा लो, मेरी आज्ञा है।" तव शिष्य ने वड़े आनन्द से स्वामी जी की आज्ञा को शिरोधार्य कर मंजूषा को अपने सिर पर उठा लिया। अपने गुरु की आज्ञा से उसको स्पर्श करने का अधिकार पाकर उसने अपने को कृतार्थ माना। आगे आगे शिष्य, उसके पीछे स्वामी जी और उनके पीछे वाक़ी सव चलने लगे। रास्ते में स्वामी जी उससे वोले, "श्री गुरुदेव तेरे सिर पर सवार होकर तुझे आशीर्वाद दे रहे हैं। आज से सावधान रहना, किसी अनित्य विषय में अपना मन न लगाना।" एक छोटा सा

पुल पार करते समय स्वामी जी ने शिष्य से फिर कहा, "देखो, यहाँ खूब सावधानी और सतर्कता से चलना।"

इस प्रकार सब लोग निर्विघ्न मठ में पहुँचकर हर्ष मनाने लगे। स्वामी जी अब शिष्य से कथा-प्रसंग में कहने लगे, "श्री गुरुदेव की इच्छा से आज उनके धर्मक्षेत्र की प्रतिष्ठा हो गयी। बारह वर्ष की चिन्ता का बोझ आज सिर से उतर गया। इस समय मेरे मन में क्या क्या भाव उठ रहे हैं, सुनेगा? यह मठ विद्या एवं साधना का एक केन्द्र-स्थान होगा। तुम्हारे समान सब धार्मिक गृहस्थ इस भूमि के चारों ओर अपने घर-बार बनाकर बसेंगे और बीच में त्यागी संन्यासी लोग रहेंगे। मठ के दक्षिण की ओर इंग्लैंड तथा अमेरिका के भक्तों के लिए गृह बनाये जायँगे। यदि ऐसा हो जाय तो कैसा होगा?"

शिष्य—आपकी यह कल्पना बड़ी अद्‌भुत है।

स्वामी जी—कल्पना क्यों? समय आने पर यह सब होकर रहेगा। मैं तो इसकी नींव मात्र डाल रहा हूँ। बाद में और न जाने क्या क्या होगा! कुछ तो मैं कर जाऊँगा और कुछ विचार तुम लोगों को दे जाऊँगा। भविष्य में तुम उन सबको कार्य रूप में परिणत करोगे। बड़े बड़े सिद्धान्तों को सुनकर रखने से क्या होगा? प्रतिदिन उनको व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करना चाहिए। शास्त्रों की लम्बी लम्बी बातों को केवल पढ़ने से क्या होगा? पहले उन्हें समझना चाहिए, फिर अपने जीवन में उनको परिणत करना चाहिए। समझे? इसीको कहते हैं व्यावहारिक धर्म।

इस प्रकार अनेक प्रसंगों से श्री शंकराचार्य का प्रसंग आरम्भ हुआ। शिष्य आचार्य शंकर का बड़ा ही पक्षपाती था; यहाँ तक कि उसको उन पर दीवाना कहा जा सकता था। वह सब दर्शनों में शंकरप्रतिष्ठित अद्वैत मत को मुकुटमणि समझता था। और यदि कोई श्री शंकराचार्य के उपदेशों में कुछ दोष निकालता था तो उसके हृदय में सर्पदंश की सी पीड़ा होने लगती थी। स्वामी जी यह जानते थे और उनको यह पसन्द नहीं था कि कोई किसी मत का दीवाना बन जाय। वे जब भी किसीको किसी विषय का दीवाना देखते थे, तभी उस विषय के विरुद्ध पक्ष में सहस्रों अमोघ युक्तियों से उस दीवानेपन के बाँध को चूर्ण विचूर्ण कर देते थे।

स्वामी जी—शंकर की बुद्धि क्षुर-धार के समान तीव्र थी। वे विचारक थे और पण्डित भी; परन्तु उनमें गहरी उदारता नहीं थी और ऐसा अनुमान होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार का था। इसके अतिरिक्त उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था। एक दक्षिणी पुरोहित जैसे ब्राह्मण थे, और क्या? अपने वेदान्त भाष्य में कैसी बहादुरी से समर्थन किया है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य

जातियों को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता! उनके विचार की क्या प्रशंसा करूँ! विदुर का उल्लेख कर उन्होंने कहा है कि पूर्व जन्म में ब्राह्मण शरीर होने के कारण वह (विदुर) ब्रह्मज्ञ हुए थे। अच्छा, यदि आजकल किसी शूद्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो तो क्या शंकर के मतानुसार कहना होगा कि वह पूर्व जन्म में ब्राह्मण था? क्यों, ब्राह्मणत्व को लेकर ऐसी खींचातानी करने का क्या प्रयोजन? वेद ने तो तीनों वर्णों में प्रत्येक को वेदपाठ और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बताया है। तो फिर इस विषय में वेद के भाष्य में ऐसे अद्‌भुत पांडित्य प्रदर्शित करने का कोई प्रयोजन न था। फिर उनका हृदय देखो, शास्त्रार्थ में पराजित कर कितने बौद्ध श्रमणों को आग में झोंक कर मार डाला! इन बौद्ध लोगों की भी कैसी बुद्धि थी कि तर्क में हारकर आग में जल मरे। शंकराचार्य के ये कार्य संकीर्ण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं? दूसरी ओर बुद्धदेव के हृदय का विचार करो। **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** का तो कहना ही क्या, वे एक बकरी के बच्चे की जीवन-रक्षा के लिए अपना जीवन भी देने को सदा प्रस्तुत रहते थे। कैसा उदार भाव, कैसी दया!—एक बार सोचो तो।

शिष्य—क्यों महाराज, क्या बुद्धदेव के इस भाव को भी एक और प्रकार का पागलपन नहीं कह सकते? एक पशु के निमित्त अपने प्राण देने को तैयार हो गये!

स्वामी जी—परन्तु उनके उस दीवानेपन से इस संसार के कितने जीवों का कल्याण हुआ यह भी तो देखो। कितने आश्रम बने, कितने विद्यालय खुले, कितने सार्वजनिक अस्पताल बने, कितने पशु-चिकित्सालय स्थापित हुए, स्थापत्य विद्या का कितना विकास हुआ, यह सब भी तो सोचो! बुद्धदेव के जन्म के पूर्व इस देश में क्या था? तालपत्र की पोथियों में कुछ धर्म-तत्त्व था, सो भी विरले ही मनुष्य उसको जानते थे। लोग इसको कैसे व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ करें, यह बुद्धदेव ने ही सिखलाया। वे ही वास्तव में वेदान्त के स्फूर्ति देवता थे।

शिष्य—परन्तु महाराज, यह भी है कि वर्णाश्रम धर्म को तोड़कर हिन्दू धर्म में विप्लव की सृष्टि वे ही कर गये है और इसीलिए कुछ ही दिनों में उनका प्रचारित धर्म भारत से निकाल बाहर कर दिया गया। यह बात भी सत्य प्रतीत होती है।

स्वामी जी—बौद्ध धर्म की ऐसी दुर्दशा उनकी शिक्षा के कारण नहीं हुई, वह हुई उनके शिष्यों के दोष से। दर्शन शास्त्रों की अत्यधिक चर्चा से उनके हृदय की उदारता कम हो गयी। तत्पश्चात् क्रमशः वामाचारियों के व्यभिचार से बौद्ध धर्म मर गया। ऐसी बीभत्स वामाचार-प्रथा का उल्लेख वर्तमान समय के किसी तन्त्र में भी नहीं है! बौद्ध धर्म का एक प्रधान केन्द्र 'जगन्नाथ क्षेत्र' था। वहाँ के मन्दिर

पर जो वीभत्स मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, उनको देखने से ही इन बातों को जान जाओगे। श्री रामानुजाचार्य तथा महाप्रभु चैतन्यदेव के समय से यह पुरुषोत्तम क्षेत्र वैष्णवों के अधिकार में आया है। वर्तमान समय में महापुरुषों की शक्ति से इस स्थान ने एक और नया स्वरूप धारण किया है।

शिष्य—महाराज, शास्त्रों से तीर्थ स्थानों की विशेष महिमा जान पड़ती है। यह कहाँ तक सत्य है?

स्वामी जी—समस्त ब्रह्माण्ड जब नित्य आत्मा ईश्वर का ही विराट् शरीर है, तब विशेष विशेष स्थानों के माहात्म्य में आश्चर्य की क्या बात है? विशेष स्थानों पर उनका विशेष विकास हुआ है। कहीं पर वे आप ही प्रकट होते है, कहीं कहीं शुद्धसत्त्व मनुष्य के व्याकुल आग्रह से। साधारण मनुष्य जिज्ञासु होकर वहाँ पहुँचने पर सहज ही फल प्राप्त करते हैं। इसलिए तीर्थादि का आश्रय लेने से समय पर आत्मा का विकास होना सम्भव है।

फिर भी यह तुम निश्चय जानो कि इस मानव शरीर की अपेक्षा और कोई बड़ा तीर्थ नहीं है। इस शरीर में जितना आत्मा का विकास हो सकता है, उतना और कहीं नहीं। श्री जगन्नाथ जी का जो रथ है, वह भी मानो इसी शरीररूपी रथ का एक स्थूल रूप है। इसी शरीररूपी रथ में हमें आत्मा का दर्शन करना होगा। तूने तो पढ़ा ही है कि **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते**, में जो वामनरूपी आत्मा के दर्शन का वर्णन किया गया है, वही ठीक जगन्नाथ दर्शन है। इसी प्रकार **रथे च वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते** का भी अर्थ यही है कि तेरे शरीर में जो आत्मा है उसका दर्शन यदि तू कर लेगा तो फिर तेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। परन्तु अभी तो तू इस आत्मा की उपेक्षा कर अपने इस विचित्र जड़ शरीर को ही सर्वदा 'मैं' समझा करता है। यदि लकड़ी के रथ में भगवान् को देखकर ही जीव की मुक्ति हो जाती, तब तो प्रत्येक वर्ष करोड़ों मनुष्यों को ही मुक्तिलाभ हो जाता; और आजकल तो जगन्नाथ जी पहुँचने के लिए रेल की भी सुविधा हो गयी है! फिर भी मैं जगन्नाथ जी के सम्बन्ध में साधारण भक्तों का जो विश्वास है, उसके बारे में यह नहीं कहता कि वह कुछ भी नहीं अथवा मिथ्या है। सचमुच एक श्रेणी के लोग ऐसे हैं भी जो इसी मूर्ति का अवलम्बन कर धीरे धीरे उच्च तत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं; अतएव इस मूर्ति का आश्रय लेकर भगवान् की विशेष शक्ति जो प्रकाशित हो रही है, इसमें भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

शिष्य—महाराज, फिर क्या मूर्ख और बुद्धिमान का धर्म अलग अलग है?

स्वामी जी—हाँ, यदि ऐसा न होता तो शास्त्रों में अधिकार-भेद का इतना झगड़ा ही क्यों? यह सत्य है। फिर भी सापेक्षिक सत्य मात्रा में भिन्न भिन्न होता

है। मनुष्य जिसे सत्य कहता है वह सब इसी प्रकार का है—कोई अल्प मात्रा में सत्य है, कोई उससे अधिक मात्रा में। नित्य सत्य तो केवल एकमात्र भगवान् ही है। यही आत्मा जड़ वस्तुओं में भी व्याप्त है—यद्यपि नितान्त सुप्तावस्था में। यही जीव नामधारी मनुष्य में किसी अंश तक चेतन हो जाता है और फिर श्री कृष्ण, बुद्धदेव, भगवान् शंकराचार्य आदि में वही दिव्य चेतन हो जाता है। इसके परे और एक अवस्था है, जिसको भाव या भाषा द्वारा प्रकट नहीं कर सकते—**अवाङ्मनसगोचरम्।**

शिष्य—महाराज, किसी किसी भक्ति सम्प्रदाय का ऐसा मत है कि भगवान् के साथ कोई एक भाव या सम्बन्ध स्थापित करके साधना करनी चाहिए। वे लोग आत्मा की महिमा आदि पर कोई ध्यान नहीं देते। और जब इस सम्बन्ध में कोई चर्चा होती है तो वे यही कहते हैं कि 'यह सब चर्चा छोड़कर सर्वदा भाव में ही रहो।'

स्वामी जी—हाँ, उनके लिए उनका यह कहना भी ठीक है। ऐसा ही करते करते एक दिन उनमें भी ब्रह्म जाग्रत हो उठेगा। हम संन्यासी भी जो कुछ करते हैं, वह भी एक प्रकार का 'भाव' ही है। हमने संसार का त्याग किया है; अतएव माँ, बाप, स्त्री, पुत्र इत्यादि जो सांसारिक सम्बन्ध हैं उनमें से किसी एक का भाव ईश्वर पर आरोपित कर साधना करना हमारे लिए कैसे सम्भव हो सकता है? हमारी दृष्टि से ये सब संकीर्ण बातें हैं। सचमुच, सब भावों से अतीत भगवान् की उपासना करना बड़ा कठिन है। परन्तु बताओ तो सही, यदि हम अमृत नहीं पा सकते तो क्या विषपान करने लगें? इसी आत्मा के सम्बन्ध में तू सदैव चर्चा कर, श्रवण कर, मनन कर। इस प्रकार अभ्यास करते करते कुछ समय के बाद देखेगा कि तुझमें ब्रह्मरूपी सिंह जाग्रत हो उठेगा। तू इन सब भाव-कल्पनाओं के परे चला जा। सुन, कठोपनिषद् में यम ने क्या कहा है, **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**—उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त कर लो।

इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ। मठ में प्रसाद पाने की घण्टी बजी और स्वामी जी के साथ शिष्य भी प्रसाद ग्रहण करने के लिए चला गया।

१५

[स्थान : बेलूड़—किराये का मठ। वर्ष : १८९८ ई० (फ़रवरी मास)]

बेलूड़स्थ श्री नीलाम्बर बाबू के बाग़ में स्वामी जी मठ को ले आये हैं। आलमबाज़ार से यहाँ आने पर अभी तक सब वस्तुओं को व्यवस्थित नहीं किया गया है।

चारों ओर सब बिखरी पड़ी हैं। स्वामी जी नये भवन में आकर बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। शिष्य के वहाँ उपस्थित होने पर कहने लगे, "अहा हा! देखो कैसी गंगा जी हैं! कैसा भवन है! ऐसे स्थान पर मठ न बनने से क्या कभी चित्त प्रसन्न होता!" तब अपराह्न का समय था।

सन्ध्या के पश्चात् दुमंज़िले पर स्वामी जी से शिष्य का साक्षात् होने पर अनेक प्रकार की चर्चा होने लगी। उस गृह में उस समय और कोई भी नहीं था। शिष्य बीच बीच में बातचीत के सिलसिले में अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगा। अन्त में उसने उनकी बाल्यावस्था के विषय में सुनने की अभिलाषा प्रकट की। स्वामी जी कहने लगे, "छोटी अवस्था से ही मैं बड़ा साहसी था। यदि ऐसा न होता तो निःसम्बल संसार में फिरना क्या मेरे लिए कभी सम्भव होता?"

रामायण की कथा सुनने की इच्छा उन्हें बचपन से ही थी। पड़ोस में जहाँ भी रामायण गान होता, वहीं स्वामी जी अपना खेलकूद छोड़कर पहुँच जाते थे। उन्होंने कहा कि कथा सुनते सुनते किसी दिन उसमें ऐसे लीन हो जाते थे कि अपना घरबार तक भूल जाते थे। 'रात ज़्यादा बीत गयी है' या 'घर जाना है' आदि विषयों का उन्हें स्मरण भी नहीं रहता था। किसी एक दिन कथा में सुना कि हनुमान जी कदली वन में रहते हैं। सुनते ही उनके मन में इतना विश्वास हो गया कि वे कथा समाप्त होने पर उस दिन रात में घर नहीं लौटे; घर के निकट किसी एक उद्यान में केले के पेड़ के नीचे बहुत रात तक हनुमान जी के दर्शन पाने की इच्छा से बैठे रहे।

रामायण के पात्र-पात्रियों में से हनुमान जी पर स्वामी जी की अगाध भक्ति थी। संन्यासी होने पर भी कभी कभी महावीर जी का प्रसंग कहते कहते आवेश में आ जाते थे और अनेक बार मठ में महावीर जी की एक प्रस्तर मूर्ति रखने का संकल्प करते थे।

छात्रजीवन में दिन भर अपने साथियों के साथ आमोद-प्रमोद में ही रहते थे। रात को घर के द्वार बन्दकर अपना अध्ययन करते थे। दूसरे किसीको यह नहीं जान पड़ता था कि वे कब अपना अध्ययन कर लेते हैं।

शिष्य ने पूछा, "महाराज, स्कूल में पढ़ते समय क्या कभी आपको किसी प्रकार का दिव्य दर्शन हुआ था?"

स्वामी जी—स्कूल में पढ़ते समय एक दिन रात में द्वार बन्दकर ध्यान करते करते मन भली भाँति तन्मय हो गया। कितनी देर तक इसी भाव से ध्यान करता रहा, यह कह नहीं सकता। ध्यान भंग हो गया। तब भी बैठा हूँ। इतने में ही

देखता हूँ कि दक्षिण दीवाल को भेदकर एक ज्योतिर्मय मूर्ति निकली और मेरे सामने खड़ी हो गयी। उसके मुख पर एक अद्भुत ज्योति थी, पर भाव मानो कोई भी न था—प्रशान्त संन्यासी मूर्ति। मस्तक मुण्डित था और हाथों में दण्ड-कमण्डल था। मेरी ओर टकटकी लगाकर कुछ समय तक देखती रही। मानो मुझसे कुछ कहेगी। मैं भी अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगा। तत्पश्चात् मन कुछ ऐसा भयभीत हुआ कि मैं शीघ्र ही द्वार खोलकर बाहर निकल आया। फिर मैं सोचने लगा, क्यों मैं इस प्रकार मूर्ख के समान भाग आया, सम्भव था कि वह कुछ मुझसे कहती। परन्तु फिर कभी उस मूर्ति के दर्शन नहीं हुए। कितने ही दिन सोचा कि यदि फिर उसके दर्शन मिलें तो उससे डरूँगा नहीं, वरन् वार्तालाप करूँगा; फिर दर्शन हुआ ही नहीं।

शिष्य—फिर इस विषय पर आपने कुछ चिन्तन भी किया।

स्वामीजी—चिन्तन अवश्य किया, किन्तु ओर-छोर नहीं मिला। अब ऐसा अनुमान होता है कि मैंने तब भगवान् बुद्धदेव को देखा था।

कुछ देर बाद स्वामी जी ने कहा, "मन के शुद्ध होने पर अर्थात् मन से काम और कांचन की लालसा निकल जाने पर, कितने ही दिव्य दर्शन होते हैं। वे दर्शन बड़े ही अद्भुत होते हैं, परन्तु उन पर ध्यान रखना उचित नहीं। रात-दिन उनमें ही मन रहने से साधक और आगे नहीं बढ़ सकते। तुमने भी तो सुना है कि श्री गुरुदेव कहा करते थे, 'मेरे चिन्तामणि की ड्योढ़ी पर कितने ही मणि पड़े हुए हैं।' आत्मा का साक्षात् करना होगा। इन सब पर ध्यान देने से क्या होगा?"

इन बातों की चर्चा के बाद ही स्वामी जी तन्मय होकर किसी विषय की चिन्ता करते हुए कुछ समय तक मौन भाव से बैठे रहे। फिर कहने लगे, "देखो, जब मैं अमेरिका में था, तब मुझमें अद्भुत शक्तियों का स्फुरण हुआ था। क्षण मात्र में मैं मनुष्य की आँखों से उसके मन के सब भावों को जान जाता था। किसीके मन में कोई कैसी ही बात क्यों न हो, वह सब मेरे सामने हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाती थी। कभी किसी किसीसे बता भी दिया करता था। जिन जिन को मैं बता देता था, उनमें से अनेक मेरे चेले बन जाते थे; और यदि कोई किसी बुरे अभिप्राय से मुझसे मिलने आता, तो वह इस शक्ति का परिचय पाकर फिर कभी मेरे पास नहीं आता था।"

"जब मैंने शिकागो आदि शहरों में व्याख्यान देना आरम्भ किया, तब सप्ताह में बारह बारह, चौदह चौदह और कभी इससे भी अधिक व्याख्यान देने पड़ते थे। शारीरिक और मानसिक परिश्रम बहुत अधिक होने के कारण मैं बहुत थक जाता

था और लगता था कि मानो व्याख्यान के सब विषय समाप्त होने ही वाले हैं। 'अब मैं क्या करूँगा, कल फिर नयी बातें क्या कहूँगा' बस ऐसी ही चिन्ता मन में आया करती थी। ऐसा अनुमान होता था कि कोई नया भाव नहीं उठेगा। एक दिन व्याख्यान देने के बाद लेटे हुए चिन्ता कर रहा था, 'बस, अब तो सब कह दिया, अब क्या उपाय करूँ?' ऐसी चिन्ता करते करते कुछ तन्द्रा सी आ गयी। उसी अवस्था में सुनने में आया कि जैसे कोई मेरे पास खड़ा होकर व्याख्यान दे रहा है, और उस भाषण में कितने ही नये भाव तथा नयी बातें हैं—मानो वे सब इस जन्म में कभी मेरे सुनने में या ध्यान में आयीं ही नहीं। सोकर उठते ही उन सब बातों का स्मरण कर भाषण में वही बातें कहीं। ऐसा कितनी ही बार हुआ, कहाँ तक गिनाऊँ? सोते सोते ऐसे व्याख्यान कितने ही बार सुने! कभी कभी तो व्याख्यान इतने ज़ोर से दिये जाते थे कि दूसरे कमरों में भी औरों को सुनायी पड़ते थे। दूसरे दिन वे लोग मुझसे पूछते थे, 'स्वामी जी, कल रात में आप किससे इतनी ज़ोर से वार्तालाप कर रहे थे?' उनके इस प्रश्न को किसी प्रकार टाल दिया करता था। वह बड़ी ही अद्भुत घटना थी।"

शिष्य स्वामी जी की बातों को सुन निर्वाक् होकर चिन्ता करते हुए बोला, "महाराज, ऐसा अनुमान होता है कि आप ही सूक्ष्म शरीर में व्याख्यान दिया करते थे और स्थूल शरीर से कभी कभी प्रतिध्वनि निकलती थी।"

यह सुनकर स्वामी जी बोले, "हो सकता है।"

इसके बाद अमेरिका की फिर बात छिड़ी। स्वामी जी कहने लगे, "उस देश में पुरुषों से स्त्रियाँ अधिक शिक्षित होती हैं। विज्ञान और दर्शन में बड़ी पण्डित हैं, इसीलिए वे मेरा इतना मान करती थीं। वहाँ पुरुष रात-दिन परिश्रम करते हैं, तनिक भी विश्राम लेने का अवसर नहीं पाते। स्त्रियाँ स्कूलों में पढ़कर और पढ़ाकर विदुषी बन गयी हैं। अमेरिका में जिस ओर भी दृष्टि डालो, स्त्रियों का ही साम्राज्य दिखायी देता है।"

शिष्य—महाराज, ईसाइयों में से जो संकीर्णमना (कट्टर) थे, वे क्या आपके विरुद्ध नहीं हुए?

स्वामी जी—हुए कैसे नहीं? फिर जब लोग मेरा बहुत मान करने लगे, तब वे पादरी लोग मेरे बहुत पीछे पड़े। मेरे नाम पर कितनी ही निन्दा समाचार-पत्रों में लिखने लगे। कितने ही लोग उनका प्रतिवाद करने के लिए मुझसे कहते थे, परन्तु मैं उन पर कुछ भी ध्यान नहीं देता था। मेरा यह दृढ़ विश्वास था कि कपट से जगत् में कोई महान् कार्य नहीं होता, इसीलिए उन अश्लील निन्दाओं पर ध्यान न देकर मैं धीरे धीरे अपना कार्य करता जा रहा था। अनेक बार यह भी देखने में

आता था कि जिसने मेरी व्यर्थ निन्दा की, वही फिर अनुतप्त होकर मेरी शरण में आता था और स्वयं ही समाचार-पत्रों में प्रतिवाद कर मुझसे क्षमा माँगता था। कभी कभी ऐसा भी हुआ कि किसी घर में मेरा निमन्त्रण है, यह सुनकर वहाँ कोई जा पहुँचा और घरवालों से मेरे बारे में मिथ्या निन्दा कर आया और घरवाले भी यह सुन कर द्वार बन्द करके कहीं चल दिये। मैं निमन्त्रण के अनुसार वहाँ गया। देखा, सब सुनसान है। कोई भी वहाँ नहीं है। कुछ दिन पीछे वे ही लोग सत्य बात को जानकर बड़े दुःखित हो मेरे पास शिष्य बनने आये। बेटा, जानते तो हो कि इस संसार में निरी दुनियादारी है। जो यथार्थ साहसी और ज्ञानी है, वह क्या ऐसी दुनियादारी से कभी घबड़ाता है? 'जगत् चाहे जो कहे, क्या परवाह है, मैं अपना कर्तव्य पालन करता चला जाऊँगा' यही वीरों की बात है। यदि 'वह क्या कहता है, क्या लिखता है,' ऐसी ही बातों पर रात-दिन ध्यान रहे तो जगत् में कोई महान् कार्य हो ही नहीं सकता। क्या तुमने यह श्लोक नहीं सुना—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

लोग तुम्हारी स्तुति करें या निन्दा, लक्ष्मी तुम्हारे ऊपर कृपालु हो या न हो, तुम्हारा देहान्त आज हो या एक युग में, तुम न्यायपथ से कभी भ्रष्ट न हो। कितने ही तूफ़ान पार करने पर मनुष्य शान्ति के राज्य में पहुँचता है। जो जितना बड़ा हुआ है, उसके लिए उतनी ही कठिन परीक्षा रखी गयी है। परीक्षारूपी कसौटी पर उसका जीवन कसने पर ही जगत् ने उसको बड़ा कहकर स्वीकार किया है। जो भीरु, कापुरुष होते हैं, वे ही समुद्र की लहरों को देखकर किनारे पर ही नाव रखते हैं। जो महावीर होते हैं वे क्या किसी बात पर ध्यान देते हैं? 'जो कुछ होना है सो हो, मैं अपना इष्टलाभ करके ही रहूँगा' यही यथार्थ पुरुषकार है। इस पुरुषकार के हुए बिना सैकड़ों दैव भी तुम्हारे जड़त्व को दूर नहीं कर सकते।

शिष्य—तो दैव पर निर्भर होना क्या दुर्बलता का चिह्न है?

स्वामी जी—शास्त्र में निर्भरता को पंचम पुरुषार्थ कहकर निर्देश किया गया है; परन्तु हमारे देश में लोग जिस प्रकार दैव पर निर्भर रहते हैं, वह मृत्यु का चिह्न है, महा कापुरुषता की चरम अवस्था है। ईश्वर की एक अद्भुत कल्पना कर उसके माथे अपने दोषों को थोपने की चेष्टा मात्र है। श्री रामकृष्ण द्वारा कथित गोहत्या

पाप की कहानी[1] तो तुमने सुनी होगी; अन्त में वह पाप उद्यान-स्वामी को ही भोगना पड़ा। आजकल सभी **यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि** कहकर पाप तथा पुण्य दोनों को ईश्वर के माथे मढ़ते हैं। मानो आप जल के कमल-पत्रों के समान निर्लिप्त हैं! यदि वे लोग इसी भाव पर सर्वदा जमे रह सकें तो वे मुक्त हैं; किन्तु अच्छे कार्य के समय 'मैं' और बुरे के समय 'तुम'—इस दैव निर्भरता का क्या कहना है! जब तक पूर्ण प्रेम या ज्ञान नहीं होता, तब तक निर्भरता की अवस्था हो ही नहीं सकती। जो ठीक ठीक निर्भर हो गये हैं, उनमें भले-बुरे की भेद बुद्धि नहीं रहती। हममें (श्री रामकृष्ण के शिष्यों में) नाग महाशय ही ऐसी अवस्था के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं।

अब बात बात में नाग महाशय का प्रसंग चल पड़ा। स्वामी जी कहने लगे, "ऐसा अनुरागी भक्त और भी दूसरा कोई है? अहा! फिर कब उनसे मिल सकेंगे?"

शिष्य—माता जी (नाग महाशय की पत्नी) ने मुझे लिखा है कि आपके दर्शन के निमित्त वे शीघ्र ही कलकत्ता आयेंगी।

स्वामी जी—श्री रामकृष्ण राजा जनक से उनकी तुलना किया करते थे। ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष का दर्शन होना तो बड़े भाग्य की बात है। ऐसे लोगों की कथा सुनने में भी नहीं आती। तुम उनका सत्संग सर्वदा करना। वे श्री रामकृष्ण के अन्तरंग भक्तों में से एक हैं।

---

१. एक दिन किसी मनुष्य के बगीचे में एक गाय घुस गयी और उसने उसका एक बड़ा सुन्दर पौधा रौंदकर नष्ट कर डाला। इससे वह मनुष्य बहुत ही क्रुद्ध हुआ और उसने उस गाय को इतना मारा कि वह मर गयी। यह खबर सारे गाँव भर में फैल गयी। वह मनुष्य यह देखकर कि उस पर गोहत्या लग रही है, कहने लगा, "अरे मैंने गाय को कब मारा है? इसका दोषी तो मेरा हाथ है और चूंकि हाथ इन्द्र के अधीन है, इसलिए सारा दोष इन्द्र का है।" इन्द्र ने जब यह सुना तो उसने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर उस मनुष्य के पास जाकर पूछा, "क्यों भाई, यह सुन्दर बगीचा किसने बनाया है?" वह मनुष्य बोला, "मैंने"। इन्द्र ने फिर पूछा, "और भाई, ये सब बढ़िया बढ़िया पेड़, फल-फूल के पौधे आदि किसने लगाये हैं?" वह मनुष्य बोला, "मैंने ही।" फिर इन्द्र ने मरी हुई गाय की ओर दिखाकर पूछा, "और इस गाय को किसने मारा?" वह मनुष्य बोला, "इन्द्र ने!" यह सुनकर इन्द्र हँसे और बोले, "बगीचा तुमने लगाया, फल-फूल के पौधे तुमने लगाये और गाय मारी बेचारे इन्द्र ने!—क्यों यही बात है न?"

शिष्य—उस देश में अनेक लोग उनको पागल समझते हैं, परन्तु मैंने तो पहले ही उनको एक महापुरुष समझा है। वे मुझसे बहुत प्रेम करते हैं और मुझ पर उनकी कृपा भी बहुत है।

स्वामी जी—तुमने ऐसे महापुरुष का सत्संग किया है, फिर तुम्हें क्या चिन्ता है? अनेक जन्मों की तपस्या से ऐसे महापुरुषों का सत्संग मिलता है। श्री नाग महाशय घर में किस प्रकार से रहते हैं?

शिष्य—महाराज, उन्हें तो मैंने कभी कोई काम-काज करते नहीं पाया। केवल अतिथि-सेवा में लगे रहते हैं। पाल बाबू आदि जो कुछ रुपया दे देते हैं, उसके अतिरिक्त उनके खाने पीने का और कोई सहारा नहीं है। परन्तु धनिकों के भवन में जैसी धूम-धाम रहती है, वैसी ही इनके घर भी देखी। लेकिन वे अपने भोग के निमित्त एक भी पैसा व्यय नहीं करते। जो कुछ व्यय करते हैं केवल परसेवार्थ। सेवा—सेवा—यही उनके जीवन का महाव्रत मालूम होता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रत्येक जीव में, प्रत्येक वस्तु में आत्मदर्शन करके वे अभिन्न ज्ञान से जगत् की सेवा करने को व्याकुल हैं। सेवा के लिए अपने शरीर को शरीर नहीं समझते। वास्तव में मुझे भी सन्देह होता है कि उन्हें शरीर-ज्ञान है भी या नहीं। आप जिस अवस्था को दिव्य चेतन कहते हैं, मेरा अनुमान है कि वे सर्वदा उसी अवस्था में रहते हैं।

स्वामी जी—ऐसा क्यों न हो! श्री गुरुदेव उनसे कितना प्रेम करते थे! वे ही उनके एक साथी थे जिन्होंने पूर्व बंग में जन्म लिया है। उन्हींके प्रकाश से पूर्व बंग प्रकाशित हुआ है।

१६

[स्थान : बेलूड़—किराये का मठ। वर्ष : १८९८ ई० (नवम्बर)]

आज दो-तीन दिन हुए, स्वामी जी लौटकर काश्मीर से आये हैं। शरीर कुछ स्वस्थ नहीं है। शिष्य के मठ में आते ही स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज कहने लगे, "स्वामी जी जब से काश्मीर से लौटे हैं, किसीसे कुछ वार्तालाप नहीं करते, मौन होकर स्तब्ध बैठे रहते हैं। तुम स्वामी जी से कुछ वार्तालाप करके उनके मन को नीचे (अर्थात जगत् के कार्यों में) लाने का प्रयत्न करो।"

शिष्य ने ऊपर स्वामी जी के कमरे में जाकर देखा कि स्वामी जी मुक्तपद्मासन

में पूर्व की ओर मुँह किये बैठे हैं, मानो गम्भीर ध्यान में मग्न है। मुँह पर हँसी नहीं। उज्ज्वल नेत्रों की दृष्टि वाहर की ओर नहीं, मानो भीतर ही कुछ देख रहे हैं। शिष्य को देखते ही वोले, "वच्चा, आ गये; वैठो।" वस, इतनी ही वात की। स्वामी जी के वाँयें नेत्र को रक्तिम देखकर शिष्य ने पूछा, "आपकी यह आँख लाल कैसे हो रही है?" "वह कुछ नहीं" कहकर स्वामी जी फिर स्तव्ध हो गये। वहुत समय तक बैठे रहने पर भी जव स्वामी जी ने कुछ भी वार्तालाप नहीं किया, तव शिष्य ने व्याकुल होकर स्वामी जी के चरण-कमलों को स्पर्श कर कहा, "श्री अमरनाथ में आपने जो कुछ प्रत्यक्ष किया है, क्या वह सव मुझे नहीं वतलाइएगा?" चरण-स्पर्श से स्वामी जी कुछ चौंक से उठे, दृष्टि भी कुछ वाहर की ओर खुली और कहने लगे, "जव से अमरनाथ जी का दर्शन किया है, तव से चौवीसों घण्टे मानो शिव जी मेरे मस्तक में समाये रहते हैं; किसी प्रकार भी नहीं हटते।" शिष्य इन वातों को सुनकर अवाक् हो गया।

स्वामी जी—अमरनाथ में और फिर क्षीरभवानी के मन्दिर में मैंने वहुत तपस्या की थी। जाओ, हुक्का भर लाओ।

शिष्य प्रफुल्ल मन से हुक्का भर लाया। स्वामी जी धीरे धीरे हुक्का पीते हुए कहने लगे, "अमरनाथ जाते समय पहाड़ की एक खड़ी चढ़ाई पार कर गया था। उस पगडण्डी से केवल पहाड़ी लोग ही चढ़ते उतरते हैं, कोई यात्री उधर से नहीं जाता; परन्तु इसी मार्ग से होकर जाने की मुझे ज़िद सी हो गयी थी। उस परिश्रम से शरीर कुछ दुर्वल पड़ गया। वहाँ ऐसा कड़ा जाड़ा पड़ता है कि शरीर में सुई सी चुभती है।

शिष्य—मैंने सुना है कि लोग नग्न होकर अमरनाथ जी का दर्शन करते हैं। क्या यह सत्य है?

स्वामी जी—मैंने भी कौपीन मात्र धारण कर और भस्म लगाकर गुफा में प्रवेश किया था। तव ठण्डक या गरमी कुछ नहीं मालूम हुई, परन्तु मन्दिर से निकलते ही शरीर ठण्ड से अकड़ गया था।

शिष्य—क्या वहाँ कभी कवूतर भी देखने में आया था? सुना है कि ठण्ड के मारे वहाँ कोई जीव-जन्तु नहीं वसता, केवल सफ़ेद कवूतरों की एक टुकड़ी कहीं से कभी कभी आ जाती है।

स्वामी जी—हाँ, तीन-चार सफ़ेद कवूतरों को देखा था। वे उसी गुफा में रहते हैं या आसपास के किसी पहाड़ में, यह ठीक अनुमान नहीं कर सका।

शिष्य—महाराज, लोगों से सुना है कि यदि कोई गुफा से वाहर निकलकर सफ़ेद कवूतरों को देख ले तो समझना चाहिए कि शिव के यथार्थ दर्शन हुए।

स्वामी जी बोले, "सुना है कि कबूतर देखने से जिसके मन में जो कामना रहती है, वही सिद्ध होती है।"

अब स्वामी जी फिर कहने लगे कि लौटते समय जिस मार्ग से सब यात्री आते हैं, उसी मार्ग से वे भी श्रीनगर को आये थे। श्रीनगर पहुँचने के कुछ दिन बाद क्षीरभवानी के दर्शन को गये थे और सात दिन वहाँ ठहरकर देवी को खीर चढ़ाकर पूजा तथा हवन किया था। प्रतिदिन वहाँ एक मन दूध की खीर का भोग चढ़ाते थे और हवन करते थे। एक दिन पूजा करते समय मन में यह विचार उदित हुआ, "माता भवानी यहाँ सचमुच कितने समय से प्रकाशित हैं? प्राचीन काल में यवनों ने यहाँ आकर उनके मन्दिर को विध्वंस कर दिया और यहाँ के लोग कुछ नहीं कर सके। हाय! यदि मैं उस समय होता, तो चुपचाप यह कभी नहीं देखता।" इस विचार से जब उनका मन दुःख और क्षोभ से अत्यन्त व्याकुल हो गया था, तब उनके स्पष्ट सुनने में आया था जैसे माता कह रही हैं—"मेरी इच्छा से ही यवनों ने मन्दिर का विध्वंस किया है, जीर्ण मन्दिर में रहने की मेरी इच्छा है। क्या मेरी इच्छा से अभी यहाँ सातमंजिला सोने का मन्दिर नहीं बन सकता है? तू क्या कर सकता है, मैं तेरी रक्षा करूँगी या तू मेरी रक्षा करेगा?" स्वामी जी बोले, "उस देववाणी को सुनने के समय से मन में और कोई संकल्प नहीं रखता। मठ-वठ बनाने का संकल्प छोड़ दिया है। माता जी की जो इच्छा है वही होगा।" शिष्य अवाक् होकर सोचने लगा कि इन्होंने ही तो एक दिन कहा था, "जो कुछ देखता है या सुनता है वह केवल तेरे भीतर अवस्थित आत्मा की प्रतिध्वनि मात्र है! बाहर कुछ भी नहीं है।" अब स्वामी जी से उसने स्पष्ट पूछा, "महाराज, आपने तो कहा था कि यह सब देव-वाणी हमारे भीतर के भावों की बाह्य प्रतिध्वनि मात्र है।" स्वामी जी ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया, "भीतर हो या बाहर, इससे क्या? यदि तुम अपने कानों से मेरे समान ऐसी अशरीरी वाणी को सुनो, तो क्या उसे मिथ्या कह सकते हो? देव-वाणी सचमुच सुनायी देती है, हम लोग जैसे वार्तालाप कर रहे हैं, ठीक इसी प्रकार।"

शिष्य ने बिना कोई द्विरुक्ति किये स्वामी जी के वाक्यों को शिरोधार्य कर लिया; क्योंकि स्वामी जी की कथाओं में एक ऐसी अद्भुत शक्ति होती थी कि उन्हें बिना माने नहीं रहा जाता था—युक्ति-तर्क सब धरे रह जाते थे!

शिष्य ने अब प्रेतात्माओं की बात छेड़ी, "महाराज, जो सब भूत-प्रेतादि योनियों की बात सुनी जाती है, और शास्त्रों ने भी जिनका बार बार समर्थन किया है, क्या वह सब सत्य है?"

स्वामी जी—अवश्य सत्य है। क्या जिसको तुम नहीं देखते, वह सत्य नहीं हो

सकता? तेरी दृष्टि से बाहर दूर दूर पर कितने ही सहस्रों ब्रह्माण्ड घूम रहे हैं। तुझे नहीं दीख पड़ते तो क्या उनका अस्तित्व ही नहीं? परन्तु भूत-प्रेत हैं तो होने दे, इनके झगड़े में अपना मन न दे। इस शरीर में जो आत्मा है, उसको प्रत्यक्ष करना ही तेरा कार्य है। उसको प्रत्यक्ष करने से भूत-प्रेत सब तेरे दासों के दास हो जायँगे।

शिष्य—परन्तु महाराज, ऐसा अनुमान होता है कि उनको देखने से पुनर्जन्म पर विश्वास बहुत दृढ़ होता है और परलोक पर कुछ अविश्वास नहीं रहता।

स्वामी जी—तुम सब तो महावीर हो, क्या तुम्हें भी परलोक पर विश्वास करने के लिए भूत-प्रेतों का दर्शन आवश्यक है? कितने शास्त्र पढ़े, कितने विज्ञान पढ़े, इस विराट् विश्व के कितने गूढ़ तत्त्व जाने, इतने पर भी क्या भूत-प्रेतों को देख कर ही आत्मज्ञान लाभ करना पड़ेगा? छिः! छिः!!

शिष्य—अच्छा, महाराज, आपने स्वयं कभी भूत-प्रेतों को देखा है?

स्वामी जी—स्वजनों में से कोई एक व्यक्ति प्रेत होकर कभी कभी मुझको दर्शन देता था। कभी दूर दूर के समाचार भी लाता था। परन्तु परीक्षा करके देखा कि उसकी सब बातें सदा ठीक नहीं होती थीं। पर किसी एक विशेष तीर्थ पर जाकर 'वह मुक्त हो जाय' ऐसी प्रार्थना करने पर उसका दर्शन फिर मुझे नहीं हुआ।

'अब श्राद्धादिकों से प्रेतात्माओं की तृप्ति होती है या नहीं?'—शिष्य के इस प्रश्न पर स्वामी जी बोले, "यह कुछ असम्भव नहीं है।" शिष्य के इस सम्बन्ध में युक्ति या प्रमाण माँगने पर स्वामी जी ने कहा था, "और किसी दिन इस प्रसंग को भली भाँति समझा दूँगा। श्राद्धादि से प्रेतात्माओं की तृप्ति होती है, इस विषय की अकाट्य युक्तियाँ हैं। आज मेरा शरीर कुछ अस्वस्थ है, फिर किसी और दिन इसको समझाऊँगा।" परन्तु फिर शिष्य को स्वामी जी से यह प्रश्न करने का अवसर जीवन भर नहीं मिला।

१७

[स्थान : बेलूड़—किराये का मठ। वर्ष : १८९८ ई० (नवम्बर)]

मठ अभी तक बेलूड़ में नीलाम्बर बाबू के बगीचे में ही है। अब अगहन महीने का अन्त है। इस समय स्वामी जी बहुधा संस्कृत शास्त्रादि की चर्चा में तत्पर हैं।

उन्होंने 'आचण्डालाप्रतिहतरयः'[1] इत्यादि श्लोकों की रचना इसी समय की थी। आज स्वामी जी ने "ॐ ह्रीं ऋतम्" इत्यादि स्तोत्र की रचना की और शिष्य को देखकर कहा, "देखना इसमें छन्दभंगादि कोई दोष तो नहीं है?" शिष्य ने उसे ले लिया और उसकी एक नक़ल उतार ली।

जिस दिन स्वामी जी ने इस स्तोत्र की रचना की थी, उस दिन मानो स्वामी जी की जिह्वा पर सरस्वती विराजमान थीं। लगभग दो घण्टे तक स्वामी जी ने शिष्य से सुन्दर और सुललित संस्कृत भाषा में वार्तालाप किया। ऐसा सुन्दर वाक्य-विन्यास, शिष्य ने बड़े बड़े पण्डितों के मुँह से कभी नहीं सुना था।

जो हो, शिष्य के स्तोत्र की नक़ल उतार लेने पर स्वामी जी ने उससे कहा, "देखो, किसी भाव में तन्मय होकर लिखते लिखते कभी कभी व्याकरण सम्बन्धी भूलें हो जाती हैं, इसलिए तुम लोगों से देख लेने को कहता हूँ।"

शिष्य—वे भाषा के दोष नहीं, वरन् आर्ष प्रयोग हैं।

स्वामी जी—तुमने तो ऐसा कह दिया, परन्तु साधारण लोग ऐसा क्यों समझेंगे? उस दिन मैंने 'हिन्दू धर्म क्या है' इस विषय पर बँगला भाषा में एक लेख लिखा तो तुम्हींमें से किसी किसीने कहा कि इसकी भाषा तो प्रांजल नहीं। मेरा अनुमान है कि सब वस्तुओं की तरह कुछ समय के बाद भाषा और भाव भी फीके पड़ जाते हैं। आजकल इस देश में यही हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। श्री गुरुदेव के आगमन से भाव और भाषा में नवीन प्रवाह आ गया है। अब सबको नवीन साँचे में ढालना है, नवीन प्रतिभा की मुहर लगाकर सब विषयों का प्रचार करना पड़ेगा। देखो न, संन्यासियों की प्राचीन चाल-ढाल टूटकर अब क्रमशः कैसी नवीन परिपाटी बन रही है। इसके विरुद्ध समाज में भी बहुत कुछ प्रतिवाद हो रहा है; परन्तु इससे क्या? क्या हम उससे डरें? आजकल इन संन्यासियों को प्रचार-कार्य के निमित्त दूर दूर जाना है। यदि प्राचीन संन्यासियों का वेश धारण कर अर्थात् भस्म लगाकर और अर्धनग्न होकर वे कहीं विदेश को जाना चाहें तो पहले तो जहाज़ पर ही उनको सवार नहीं होने देंगे। और यदि किसी प्रकार विदेश पहुँच भी जायँ तो उनको कारागृह में निवास करना होगा। देश, सभ्यता और समयोपयोगी कुछ कुछ परिवर्तन सभी विषयों में कर लेना पड़ेगा। अब मैं बँगला भाषा में लेख लिखने की सोच रहा हूँ। सम्भव है कि साहित्यसेवी उनको पढ़कर निन्दा करें। करने दो—मैं बँगला भाषा को नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न अवश्य करूँगा। आजकल के लेखक जब लिखने बैठते हैं, तब क्रियापद का बहुत प्रयोग

---

१. स्वामी जी कृत 'रामकृष्ण-स्तोत्रम्'

करते हैं। इससे भाषा में शक्ति नहीं आती। विशेषण द्वारा क्रियापदों का भाव प्रकट करने से भाषा में ओज अधिक बढ़ता है। आगे तुम इस प्रकार लिखने की चेष्टा करो तो 'उद्बोधन' में ऐसी ही भाषा में लेख लिखने का प्रयत्न करना। भाषा में क्रियापद प्रयोग करने का क्या तात्पर्य है जानते हो? इस प्रकार भावों को विराम मिलता है। इसलिए अधिक क्रियापदों का प्रयोग करना जल्दी जल्दी श्वास लेने के समान दुर्वलता का चिह्न मात्र है। यही कारण है कि बंगला भाषा में अच्छी वक्तृता नहीं दी जा सकती। जिनका किसी भाषा पर अच्छा अधिकार है, वे भावाभिव्यक्ति रोक कर नहीं चलते। दाल-भात का भोजन करके तुम लोगों का शरीर जैसा दुर्वल हो गया है, भाषा भी ठीक वैसी ही हो गयी है। खान-पान, चाल-चलन, भाव-भाषा सबमें तेजस्विता लानी होगी। चारों ओर प्राण का संचार करना होगा। नस नस में रक्त का प्रवाह तेज़ करना होगा, जिससे सब विषयों में प्राणों का स्पन्दन अनुभव हो; तभी इस घोर जीवन-संग्राम में देश के लोग बचे रह सकेंगे। नहीं तो शीघ्र ही इस देश और जाति को मृत्यु की छाया ढक लेगी।

शिष्य—महाराज, बहुत काल से इस देश के लोगों का स्वभाव कुछ अजीब सा हो गया है। क्या उसमें शीघ्र परिवर्तन की सम्भावना है?

स्वामी जी—यदि तुम पुरानी चाल को बुरी समझते हो तो मैंने जैसा बतलाया, उस नवीन भाव को क्यों नहीं सीख लेते? तुम्हें देखकर और भी दस-पाँच लोग वैसा ही करेंगे। फिर उनसे और पचास सीखेंगे। इस प्रकार आगे चलकर जाति में वह नवीन भाव जाग उठेगा। यदि तुम जान-बूझ कर भी ऐसा कार्य न करो तो मैं समझूँगा कि तुम केवल बातों में ही पण्डित हो, पर कार्य में मूर्ख।

शिष्य—आप की बातों से तो बड़े साहस का संचार होता है। उत्साह, बल और तेज से हृदय परिपूर्ण हो जाता है।

स्वामी जी—हृदय में धीरे धीरे बल लाना होगा। यदि एक भी यथार्थ 'मनुष्य' बन जाय तो लाख व्याख्यानों का फल हो। मन और मुँह को एक करके भावों को जीवन में कार्यान्वित करना होगा। इसीको श्री रामकृष्ण कहा करते थे, "भाव के घर में किसी प्रकार की चोरी न होने पाये।" सब विषयों में व्यावहारिक बनना होगा, अर्थात् अपने अपने कार्य द्वारा मत या भाव का विकास करना होगा। केवल मतमतान्तरों ने देश को चौपट कर दिया है। श्री रामकृष्ण की जो यथार्थ सन्तानें होंगी, वे सब धर्मभावों की व्यावहारिकता दिखायेंगी। लोगों या समाज की बातों पर ध्यान न देकर वे एकाग्र मन से अपना कार्य करते रहेंगे। क्या तूने नहीं सुना? कबीरदास के दोहे में है—

हाथी चले बजार में कुत्ता भोंक हजार।
साधुन को दुर्भाव नहिं, जो निन्दे संसार॥

एसे ही चलना है। दुनिया के लोगों की बातों पर ध्यान नहीं देना होगा। उनकी भली बुरी बातों को सुनने से जीवन भर कोई किसी प्रकार का महत् कार्य नहीं कर सकता। **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** अर्थात् शरीर और मन में दृढ़ता न रहने से कोई भी इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रथम पुष्टिकर उत्तम भोजन से शरीर को बलिष्ठ करना होगा, तभी तो मन का बल बढ़ेगा। मन तो शरीर का ही सूक्ष्म अंश है। मन और शब्दों में खूब दृढ़ता लाओ। 'मैं हीन हूँ', 'मैं दीन हूँ' ऐसा कहते कहते मनुष्य वैसा ही हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीति सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥

(अष्टावक्र संहिता)

जिसके हृदय में मुक्ताभिमान सर्वदा जाग्रत है, वह मुक्त हो जाता है और जो 'मैं बद्ध हूँ' ऐसी भावना रखता है, समझ लो कि उसकी जन्म-जन्मान्तर तक बद्ध दशा ही रहेगी। ऐहिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों में ही इस बात को सत्य जानना। इस जीवन में जो सर्वदा हताशचित्त रहते हैं, उनसे कोई भी कार्य नहीं हो सकता। वे जन्म-जन्मान्तर में 'हाय, हाय' करते हुए आते हैं और चले जाते हैं। **वीरभोग्या वसुन्धरा** अर्थात् वीर लोग ही वसुन्धरा का भोग करते हैं—यह वचन नितान्त सत्य है। वीर बनो, सर्वदा कहो, 'अभीः' 'अभीः'—मैं भयशून्य हूँ, मैं भयशून्य हूँ। सबको सुनाओ, 'माभैः' 'माभैः', भय न करो, भय न करो। भय ही मृत्यु है, भय ही पाप, भय ही नरक, भय ही अधर्म तथा भय ही व्यभिचार है। जगत् में जो असत् या मिथ्याभाव हैं, वे सब इस भयरूप शैतान से उत्पन्न हुए हैं। इस भय ने ही सूर्य के सूर्यत्व को, वायु के वायुत्व को, यम के यमत्व को अपने अपने स्थान पर स्थिर रख छोड़ा है, अपनी अपनी सीमा से किसीको बाहर नहीं जाने देता। इसलिए श्रुति कहती है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठोपनिषद्)

जिस दिन इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण भयशून्य होंगे, उसी दिन सब ब्रह्म में लीन हो जायँगे—सृष्टिरूप अध्यास का लय हो जायगा। इसीलिए कहता हूँ, 'अभीः' 'अभीः'।

बोलते-बोलते स्वामी जी के वे नीलोत्पल नेत्र-प्रान्त आरक्त हो गये। मानो 'अभीः' मूर्तिमान होकर स्वामी रूप से शिष्य के सामने सदेह अवस्थान कर रहा हो। शिष्य उस अभय मूर्ति का दर्शन कर मन में सोचने लगा, "आश्चर्य! इन महापुरुष के पास रहने से और इनकी वातें सुनने से मानो मृत्यु भय भी कहीं भाग जाता है।"

स्वामी जी फिर कहने लगे, "यह शरीर धारण कर तुम कितने ही सुख-दुःख तथा सम्पद-विपद की तरंगों में वहाये जाओ, परन्तु ध्यान रखना वे सब केवल मुहूर्त स्थायी हैं। उन सबको अपने ध्यान में भी नहीं लाना। मैं अजर, अमर, चिन्मय आत्मा हूँ, इस भाव को दृढ़ता के साथ धारण कर जीवन बिताना होगा। 'मेरा जन्म नहीं है, मेरी मृत्यु नहीं है, मैं निर्लेप आत्मा हूँ", ऐसी धारणा में एकदम तन्मय हो जाओ। एक बार लीन हो जाने से दुःख या कष्ट के समय यह भाव अपने आप ही मन में उदय होगा, इसके लिए फिर चेष्टा करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहेगी। कुछ ही दिन हुए मैं वैद्यनाथ देवघर में प्रियनाथ मुकर्जी के घर गया था। वहाँ ऐसी साँस फूली कि दम ही निकलने लगा, परन्तु प्रत्येक श्वास के साथ भीतर से "सोऽहं सोऽहं" गम्भीर ध्वनि उठने लगी। तकिये का सहारा लिये मैं प्राणवायु निकलने की अपेक्षा कर रहा था और सुन रहा था कि भीतर केवल "सोऽहं सोऽहं" ध्वनि हो रही है; केवल यह सुनने लगा, **एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।**

शिष्य ने स्तम्भित होकर कहा, "आपके साथ वार्तालाप करने से और आपकी सब अनुभूतियों को सुनने से शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती।"

स्वामी जी—अरे नहीं, शास्त्रों को पढ़ना बहुत ही आवश्यक है। ज्ञान लाभ करने के लिए शास्त्र पढ़ने की बहुत ज़रूरत है। मैं मठ में शीघ्र ही शास्त्रादि पढ़ाने का आयोजन कर रहा हूँ। वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत कक्षाओं में पढ़ाये जायेंगे और मैं अष्टाध्यायी भी पढ़ाऊँगा।

शिष्य—क्या आपने पाणिनि की अष्टाध्यायी पढ़ी है?

स्वामी जी—जब जयपुर में था, तब एक बड़े भारी वैयाकरण के साथ साक्षात्कार हुआ। उनसे व्याकरण पढ़ने की इच्छा हुई। व्याकरण के बड़े विद्वान् होने पर भी, उनमें पढ़ाने की योग्यता बहुत नहीं थी। उन्होंने मुझे तीन दिन तक प्रथम सूत्र का भाष्य समझाया, फिर भी मैं उसकी धारणा न कर सका। चौथे दिन अध्यापक जी विरक्त होकर बोले, "स्वामी जी, जब मैं तीन दिन में भी प्रथम सूत्र का मर्म आपको नहीं समझा सका तो अनुमान होता है कि मेरे पढ़ाने से आपको कोई लाभ नहीं होगा।" यह सुनकर अपने मन में बड़ी भर्त्सना हुई। भोजन और निद्रा त्यागकर प्रथम सूत्र का भाष्य अपने आप ही पढ़ने लगा। तीन घण्टे में उस सूत्रभाष्य का अर्थ मानो करामलक के समान प्रत्यक्ष हो गया। तत्पश्चात् अध्यापक

जी के पास जाकर सब व्याख्याओं का तात्पर्य बातों में समझा दिया। अध्यापक जी सुनकर बोले, "मैं तीन दिन से जो समझा न सका, आपने तीन घण्टे में उसकी ऐसी चमत्कारपूर्ण व्याख्या कैसे सीख ली ?" उस दिन से प्रतिदिन शीघ्र गति से अध्याय पर अध्याय पढ़ता चला गया। मन की एकाग्रता होने से सब सिद्ध हो जाता है— सुमेरु पर्वत को भी चूर्ण करना सम्भव है।

शिष्य—आपकी सभी बातें अद्भुत हैं।

स्वामी जी—'अद्भुत' नाम की स्वयं कोई विशेष चीज नहीं। अज्ञता ही अन्धकार है। इसमें सब कुछ ढके रहने के कारण अद्भुत जान पड़ता है। ज्ञानालोक से प्रकाशित होने पर फिर कुछ अद्भुत नहीं। 'अघटनघटनपटीयसी' जो माया है, वह भी लुप्त हो जाती है। जिसको जानने से सब कुछ जाना जाता है, उसको जानो; उसके विषय पर चिन्तन करो। उस आत्मा के प्रत्यक्ष होने से शास्त्रों के अर्थ 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष होंगे। जब प्राचीन ऋषि ऐसा कर सके थे, तब हम लोगों से क्यों न होगा ? हम भी तो मनुष्य हैं। एक व्यक्ति के जीवन में जो एक बार हुआ है, चेष्टा करने से वह अवश्य ही औरों के जीवन में फिर सिद्ध होगा। इतिहास अपने को दुहराता है; जो एक बार हुआ है, वह बार बार होता है। यह आत्मा सर्व भूत में समान है, केवल प्रत्येक भूत में उसके विकास का तारतम्य मात्र है। इस आत्मा का विकास करने की चेष्टा करो। देखोगे कि बुद्धि सब विषयों में प्रवेश करेगी। अनात्मज्ञ पुरुषों की बुद्धि एकदेश-दर्शिनी होती है, आत्मज्ञ पुरुषों की त्रिलोक-त्रिकालदर्शी। आत्मप्रकाश होने से, देखोगे दर्शन, विज्ञान सब तुम्हारे अधीन हो जायँगे। सिंहगर्जन से आत्मा की महिमा की घोषणा करो। जीव को अभय देकर कहो, **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**

१८

[स्थान : बेलूड़—किराये का मठ। वर्ष : १८९८ ई०]

आज दो दिन से शिष्य बेलूड़स्थ नीलाम्बर बाबू के भवन में स्वामी जी के पास है। कलकत्ते से अनेक युवकों का इस समय स्वामी जी के पास आना-जाना रहने के कारण आजकल मानो मठ में बड़ा उत्सव हो रहा है। कितनी धर्म-चर्चा, कितना साधन-भजन का उद्यम तथा दीन-दुखियों का कष्ट दूर करने के कितने ही उपायों की विवेचना हो रही है ! कितने ही उत्साही संन्यासी महादेव के गणों के समान

स्वामी जी की आज्ञा का पालन करने को उत्सुकता के साथ खड़े हैं। स्वामी प्रेमानन्द ने श्री रामकृष्ण की सेवा का भार ग्रहण किया है। मठ में पूजा और प्रसाद के लिए बड़ा आयोजन है। समागत सज्जनों के लिए प्रसाद सर्वदा तैयार है।

आज स्वामी जी ने शिष्य को अपने कमरे में रात को रहने की आज्ञा दी है। स्वामी जी की सेवा करने का अधिकार पाकर शिष्य का हृदय आज आनन्द से परिपूर्ण है। प्रसाद पाकर वह स्वामी जी की चरण-सेवा कर रहा है। इतने में स्वामी जी ने कहा, "ऐसे स्थान को छोड़कर तुम कलकत्ता जाना चाहते हो? यहाँ कैसा पवित्र भाव, कैसी गंगा जी की वायु, कैसा साधु समागम है! ऐसा स्थान क्या और कहीं ढूँढ़ने से मिलेगा?"

शिष्य—महाराज, बहुत जन्मों की तपस्या से आपका सत्संग मुझे मिला है। अब कृपया ऐसा उपाय कीजिए जिससे मैं फिर माया-मोह में न फँसूँ। अब प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए मन कभी कभी बड़ा व्याकुल हो उठता है।

स्वामी जी—मेरी भी अवस्था ऐसी ही हुई थी। काशीपुर के उद्यान में एक दिन श्री गुरुदेव से बड़ी व्याकुलता से अपनी प्रार्थना प्रकट की थी। उस दिन सन्ध्या के समय ध्यान करते करते अपने शरीर को खोजा तो नहीं पाया। ऐसा प्रतीत हुआ कि शरीर बिल्कुल है ही नहीं। चंद्र, सूर्य, देश, काल, आकाश सब मानो एकाकार होकर कहीं लय हो गये हैं। देहादि बुद्धि का प्रायः अभाव हो गया था और 'मैं' भी बस लय सा ही हो रहा था! परन्तु मुझमें कुछ 'अहं' था, इसीलिए उस समाधि अवस्था से लौट आया था। इस प्रकार समाधि-काल में ही 'मैं' और 'ब्रह्म' में भेद नहीं रहता, सब एक हो जाता है; मानो महासमुद्र है—जल ही जल और कुछ नहीं। भाव और भाषा का अन्त हो जाता है। **अवाङ्मनसगोचरम्** की उपलब्धि इसी समय होती है। नहीं तो जब साधक 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विचार करता है या कहता है तब भी 'मैं' और 'ब्रह्म' ये दो पदार्थ पृथक् रहते हैं अर्थात् द्वैतबोध रहता है। उसी अवस्था को फिर प्राप्त करने की मैंने बारम्बार चेष्टा की, परन्तु पा न सका। श्री गुरुदेव को सूचित करने पर वे कहने लगे, "उस अवस्था में दिन-रात रहने से माँ भगवती का कार्य तुमसे पूरा न हो सकेगा। इसलिए उस अवस्था को फिर प्राप्त न कर सकोगे; कार्य का अन्त होने पर वह अवस्था फिर आ जायगी।"

शिष्य—तो क्या निःशेष समाधि या परम निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर, कोई फिर अहं ज्ञान का आश्रय लेकर द्वैतभाव के राज्य में—इस संसार में—नहीं लौट सकता?

स्वामी जी—श्री रामकृष्ण कहा करते थे कि एकमात्र अवतारी पुरुष ही जीव

की मंगल कामना कर ऐसी समाधि से लौट सकते हैं। साधारण जीवों का फिर व्युत्थान नहीं होता। केवल इक्कीस दिन तक जीवित अवस्था में रहने के बाद उनका शरीर सूखे पत्ते के समान संसाररूपी वृक्ष से झड़कर गिर पड़ता है।

शिष्य---मन के विलुप्त होने पर जब समाधि होती है, मन में जब कोई लहर नहीं रह जाती, तब फिर विक्षेप अर्थात् अहं ज्ञान का आश्रय लेकर संसार में लौटने की क्या सम्भावना? जब मन ही नहीं रहा तब कौन या किसलिए समाधि अवस्था को छोड़कर द्वैतराज्य में उतरकर आयेगा?

स्वामी जी---वेदान्त शास्त्र का अभिप्राय यह है कि निःशेष निरोध समाधि से पुनरावृत्ति नहीं होती; यथा---अनावृत्तिः शब्दात्। परन्तु अवतारी लोग जीवों के मंगल के निमित्त एक-आध सामान्य वासना रख लेते हैं। उसीके आश्रय से ज्ञानातीत अद्वैतभूमि से वे 'मैं-तुम' की ज्ञानमूलक द्वैतभूमि में उतर आते हैं।

शिष्य---किन्तु महाराज, यदि एक-आध वासना भी रह जाय तो उसे निःशेष निरोध समाधि अवस्था कैसे कह सकते हैं? क्योंकि शास्त्र में कहा है कि निःशेष निर्विकल्प समाधि में मन की सब वृत्तियाँ, सब वासनाएँ निरुद्ध या ध्वंस हो जाती हैं।

स्वामी जी---तब महाप्रलय के पश्चात् तो फिर सृष्टि ही कैसे होती है? महाप्रलय में भी तो सब कुछ ब्रह्म में लय हो जाता है। परन्तु लय होने पर भी शास्त्र में सृष्टि-प्रसंग सुनने में आता है---सृष्टि और लय प्रवाहाकार से पुनः चलते रहते हैं। महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि और लय के पुनरावर्तन के समान अवतारी पुरुषों का निरोध और व्युत्थान भी अप्रासंगिक क्यों होगा?

शिष्य---क्या यह नहीं हो सकता है कि लय-काल में पुनः सृष्टि का बीज ब्रह्म में लीनप्राय रहता है और वह महाप्रलय या निरोध समाधि नहीं है। वह तो केवल सृष्टि का बीज तथा शक्ति का (आप जैसा कहते हैं) एक अव्यक्त आकार मात्र धारण करना है।

स्वामी जी---इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि जिस ब्रह्म में किसी गुण का अस्तित्व नहीं है, जो निर्लेप और निर्गुण है, उसके द्वारा इस सृष्टि का बहिर्गत होना ही कैसे सम्भव है।

शिष्य---पर सृष्टि का यह बहिर्गमन तो यथार्थ नहीं। आपके वचन के उत्तर में शास्त्र ने कहा है कि ब्रह्म से सृष्टि का विकास मरुस्थल में मृगजल के समान दिखायी देता है, परन्तु वास्तव में सृष्टि आदि कुछ भी नहीं है। भाव-वस्तु ब्रह्म में अभाव मिथ्यारूप माया के कारण ऐसा भ्रम दिखायी देता है।

स्वामी जी---यदि सृष्टि ही मिथ्या है तो तुम जीव की निर्विकल्प समाधि और समाधि से व्युत्थान को भी मिथ्या कह कर मान सकते हो। जीव स्वतः ही

ब्रह्मस्वरूप है। उसके फिर बन्धन की अनुभूति कैसी ?, 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा जो तुम अनुभव करना चाहते हो, वह भी तो भ्रम ही हुआ, क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि तुम तो पहले से ही ब्रह्म हो। अतएव **अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि**—यह समाधि-लाभ करने की तुम्हारी चाह ही तुम्हारा बन्धन है।

शिष्य—यह तो बड़ी कठिन बात है। यदि मैं ब्रह्म ही हूँ तो सर्वदा इस विषय की अनुभूति क्यों नहीं होती ?

स्वामी जी—यदि 'मैं-तुम' के द्वैतमूलक चेतन स्तर पर इस बात का अनुभव करना हो तो एक करण की आवश्यकता है। मन ही हमारा वह करण है, परन्तु मन पदार्थ तो जड़ है। उसके पीछे जो आत्मा है उसकी प्रभा से मन चैतन्यवत केवल प्रतीत होता है। इसलिए पञ्चदशीकार ने कहा है, **चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा** अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा की परछाई या प्रतिबिम्ब के वश शक्ति चैतन्यमयी लगती है और इसीलिए मन भी चेतन पदार्थ कहकर माना जाता है। अतः यह निश्चित है कि मन के द्वारा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जान सकते। मन के परे पहुँचना है। मन के परे तो कोई करण नहीं है—एक आत्मा ही है। अतएव जिसको जानना चाहते हो, वही फिर करणस्थानीय हो जाता है। कर्ता, कर्म, करण सब एक हो जाते हैं। इसीलिए श्रुति कहती है, **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**। इसका निचोड़ यह है कि द्वैतमूलक चेतन के ऊपर ऐसी एक अवस्था है जहाँ कर्ता, कर्म, करणादि में कोई द्वैतभाव नहीं है। मन के निरोध होने से वह प्रत्यक्ष होती है और कोई उचित भाषा न होने के कारण इस अवस्था को 'प्रत्यक्ष करना' कह रहा हूँ; अन्यथा इस अनुभव को प्रकाशित करने के लिए कोई भाषा नहीं। श्री शंकराचार्य इसको 'अपरोक्षानुभूति' कह गये हैं। ऐसी प्रत्यक्षानुभूति या अपरोक्षानुभूति होने पर भी अवतारी लोग नीचे द्वैतभूमि पर उतरकर उसकी कुछ कुछ झलक दिखा देते हैं। इसीलिए कहते हैं कि आप्त पुरुषों के अनुभव से ही वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है। साधारण जीवों की अवस्था उस नमक के पुतले के समान है, जो समुद्र को नापने गया था, पर स्वयं ही उसमें घुल गया। समझे न ? तात्पर्य यह है कि तुम्हें इतना ही जानना होगा कि तुम वही नित्य ब्रह्म हो। तुम तो पहले से ही वह हो, केवल एक जड़ मन (जिसको शास्त्र ने माया कहा है) बीच में पड़कर तुम्हें इसको समझने नहीं देता। सूक्ष्म जड़रूप उपादानों द्वारा निर्मित मन नामक पदार्थ के प्रशमित होने पर, आत्मा अपनी प्रभा से आप ही उद्भासित होती है। यह माया और मन मिथ्या है, इसका एक प्रमाण यह है कि मन स्वयं जड़ और अन्धकारस्वरूप है, जो इसके पीछे विद्यमान आत्मा की प्रभा से चैतन्यवत प्रतीत होता है। जब इसको

समझ जाओगे तो एक अखण्ड, चैतन्य में मन लय हो जायगा। तभी **अयमात्मा ब्रह्म** की अनुभूति होगी।

यहाँ पर स्वामी जी ने कहा, "क्या तुझे नींद आ रही है? तो जा सो जा।" शिष्य स्वामी जी के पास के ही बिछौने पर सो गया। रात में स्वामी जी नींद अच्छी न आने के कारण बीच बीच में उठकर बैठने लगे। शिष्य भी उठकर उनकी आवश्यक सेवा करने लगा। इस प्रकार रात बीत गयी, पर रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक अद्भुत सा स्वप्न देखकर निद्रा भंग होने पर वह बड़े आनन्द से उठा। प्रातः-काल गंगा-स्नान करके जब शिष्य आया तो देखा कि स्वामी जी मठ की निचली मंज़िल में एक बेंच पर पूर्व की ओर मुँह किये बैठे हैं। रात्रि के स्वप्न का स्मरण कर स्वामी जी के चरण-कमलों के पूजन के लिए उसका मन व्याकुल हुआ और उसने अपना अभिप्राय प्रकट कर उनकी अनुमति के लिए प्रार्थना की। उसकी व्याकुलता को देख स्वामी जी सहमत हो गये। फिर शिष्य ने कुछ धतूरे के फूल संग्रह किये और स्वामी जी के शरीर में महाशिव के अधिष्ठान का ध्यान करके विधिपूर्वक उनकी पूजा की।

पूजा के अन्त में स्वामी जी शिष्य से कहने लगे, "तूने तो पूजा कर ली, परन्तु बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) आकर तुझे खा जायगा! तूने कैसे श्री रामकृष्ण के पूजा-पात्र में मेरे पाँवों को रखकर पूजा?" ये बातें हो ही रही थीं कि स्वामी प्रेमानन्द वहाँ आ पहुँचे। स्वामी जी उनसे बोले, "देखो, आज इसने कैसा एक काण्ड रचा है! श्री रामकृष्ण के पूजा-पात्र में फूल-चन्दन लेकर इसने मेरी पूजा की।" स्वामी प्रेमानन्द जी हँसने लगे और बोले, "बहुत अच्छा किया, तुम और श्री रामकृष्ण क्या अलग अलग हो?" यह बात सुनकर शिष्य निर्भय हो गया।

शिष्य एक कट्टर हिंदू था। अखाद्य का तो कहना ही क्या, किसीका छुआ द्रव्य तक भी ग्रहण नहीं करता था। इसलिए स्वामी जी उसको कभी कभी 'भट्ट जी' कहकर पुकारते थे। प्रातःकालीन जलपान के समय देशी बिस्कुट आदि खाते खाते स्वामी जी स्वामी सदानन्द से बोले, "जाओ, भट्ट जी को तो पकड़ लाओ।" आदेश पर शिष्य के वहाँ पहुँचते ही स्वामी जी ने शिष्य को इन द्रव्यों में से थोड़ा थोड़ा प्रसादरूप से खाने को दिया। बिना दुविधा में पड़े शिष्य को वह सब ग्रहण करते देखकर स्वामी जी हँसते हुए बोले, "आज तुमने क्या खाया, जानते हो? ये सब मुरगी के अण्डे से बनी हुई हैं।" इसके उत्तर में उसने कहा, "जो भी हो मुझे जानने की कोई आवश्यकता नहीं, आपका प्रसादरूप अमृत खाकर मैं तो अमर हो गया।" यह सुनकर स्वामी जी ने कहा, "मैं आशीर्वाद देता हूँ कि आज से तुम्हारा

जाति, वर्ण, आभिजात्य, पाप, पुण्यादि का अभिमान सदा के लिए दूर हो जाय।"

स्वामी जी की उस दिन की अयाचित अपार दया को स्मरण कर शिष्य समझता है कि उसका मानव जन्म सार्थक हो गया।

तीसरे पहर अकाउन्टेन्ट जनरल बाबू मन्मथनाथ भट्टाचार्य स्वामी जी के पास आये। अमेरिका जाने से पहिले स्वामी जी मद्रास में इन्हींके भवन में अतिथि होकर बहुत दिन रहे थे और तभी से वे स्वामी जी के प्रति बहुत श्रद्धा-भक्ति रखते थे। भट्टाचार्य महाशय पाश्चात्य देशों और भारत के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करने लगे। स्वामी जी ने उन सब प्रश्नों के उत्तर देकर और अनेक प्रकार से सत्कार करके कहा, "एक दिन तो यहाँ ठहर ही जाइए।" मन्मथ बाबू यह कहकर कि "और किसी दिन आकर ठहरूँगा", विदा हुए और सीढ़ियों से नीचे उतरते समय किसी एक मित्र से कहने लगे, "हम यह मद्रास में पहले ही जान गये थे कि वे पृथ्वी पर एक महान् कार्य किये बिना न रहेंगे। ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा मनुष्य में तो पायी नहीं जाती।"

स्वामी जी ने मन्मथ बाबू के साथ गंगा के किनारे तक जाकर उनको अभिवादन करके विदा किया और कुछ देर तक मैदान में टहलकर अपने कमरे में विश्राम करने के लिए चले गये।

१९

[स्थल : बेलूड़; किराये का मठ-भवन। वर्ष : १८९८ ई०]

शिष्य आज प्रातःकाल मठ में आया है। स्वामी जी के चरण-कमलों की वन्दना करके खड़े होते ही स्वामी जी ने कहा, "नौकरी ही करते रहने से क्या होगा? कोई व्यापार क्यों नहीं करते?" शिष्य उस समय एक स्थान पर एक गृहशिक्षक का कार्य करता था। उस समय तक उसके सिर पर परिवार का भार न था। आनन्द से दिन बीतते थे। शिक्षक के कार्य के सम्बन्ध में शिष्य ने पूछा तब स्वामी जी ने कहा, "बहुत दिनों तक मास्टरी करने से बुद्धि बिगड़ जाती है। ज्ञान का विकास नहीं होता। दिन-रात लड़कों के बीच रहने से धीरे धीरे जड़ता आ जाती है; इसलिए आगे अब अधिक मास्टरी न कर।"

शिष्य—तो क्या करूँ?

स्वामी जी—क्यों? यदि तुझे गृहस्थी ही करनी है और यदि धन कमाने

की आकांक्षा है तो जा, अमेरिका चला जा। मैं व्यापार का उपाय बता दूंगा। देखना, पाँच, वर्षों में कितना धन कमा लेगा।

शिष्य—कौन सा व्यापार करूँगा? और उसके लिए धन कहाँ से आयेगा?

स्वामी जी—पागल की तरह क्या बकता है? तेरे भीतर अदम्य शक्ति है। तू तो 'मैं कुछ नहीं' सोच सोच कर वीर्यविहीन बना जा रहा है। तू ही क्यों?—सारी जाति ही ऐसी बन गयी है। जा एक बार घूम आ; देखेगा भारत के बाहर लोगों का 'जीवन-प्रवाह' कैसे आनन्द से, सरलता से, प्रबल वेग के साथ बहता जा रहा है। और तुम लोग क्या कर रहे हो? इतनी विद्या सीख कर दूसरों के दरवाजे पर भिखारी की तरह 'नौकरी दो, नौकरी दो' कहकर चिल्ला रहे हो। दूसरों की ठोकरें खाते हुए —गुलामी करके भी तुम लोग क्या अब मनुष्य रह गये हो? तुम लोगों का मूल्य एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। ऐसी सुजला सुफला भूमि में, जहाँ पर प्रकृति अन्य सभी देशों से करोड़ों गुना अधिक धन-धान्य पैदा कर रही है, जन्म लेकर भी तुम लोगों के पेट में अन्न नहीं, तन पर वस्त्र नहीं! जिस देश के धन-धान्य ने पृथ्वी के अन्य सभी देशों में सभ्यता का विस्तार किया है, उसी अन्नपूर्णा के देश में तुम लोगों की ऐसी दुर्दशा! तुम लोग घृणित कुत्तों से भी बदतर हो गये हो! और फिर भी अपने वेद-वेदान्त की डींग हाँकते हो! जो राष्ट्र आवश्यक अन्न-वस्त्र का भी प्रबन्ध नहीं कर सकता और दूसरों के मुँह की ओर ताक कर ही जीवन व्यतीत कर रहा है, उस राष्ट्र का यह गर्व! धर्म-कर्म को तिलांजलि देकर पहले जीवन-संग्राम में कूद पड़ो। भारत में कितनी चीज़ें पैदा होती हैं। विदेशी लोग उसी कच्चे माल के द्वारा 'सोना' पैदा कर रहे हैं। और तुम लोग भारवाही गधों की तरह उनका माल ढोते ढोते मरे जा रहे हो। भारत में जो चीज़ें उत्पन्न होती हैं, विदेशी उन्हींको ले जाकर अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार की चीज़ें बनाकर सम्पत्तिशाली बन गये; और तुम लोग! अपनी बुद्धि सन्दूक में बन्द करके घर का धन दूसरों को देकर 'हा अन्न', 'हा अन्न' करके भटक रहे हो!

शिष्य—अन्न-समस्या कैसे हल हो सकती है, महाराज?

स्वामी जी—उपाय तुम्हारे ही हाथों में है। आँखों पर पट्टी बाँधकर कह रहे हो, 'मैं अन्धा हूँ, कुछ देख नहीं सकता!' आँख पर की पट्टी अलग कर दो, देखोगे—दोपहर के सूर्य की किरणों से जगत् आलोकित हो रहा है। रुपया इकट्ठा नहीं कर सकता तो जहाज़ का मज़दूर बनकर विदेश चला जा। देशी वस्त्र, गमछा, सूप, झाड़ू सिर पर रखकर अमेरिका और यूरोप की सड़कों और गलियों में घूम घूम कर बेच। देखेगा भारत में उत्पन्न चीज़ों का आज भी वहाँ कितना मूल्य है। हुगली ज़िले के कुछ मुसलमान अमेरिका में ऐसा ही व्यापार कर

धनवान बन गये हैं। क्या तुम लोगों की विद्या-बुद्धि उनसे भी कम है? देखना, इस देश में जो बनारसी साड़ी बनती है, उसके समान बढ़िया कपड़ा पृथ्वी भर में और कहीं नहीं बनता। इस कपड़े को लेकर अमेरिका चला जा। उस देश में इस कपड़े से स्त्रियों के गाउन तैयार करने लग जा, फिर देख कितने रुपये आते हैं!

शिष्य—महाराज, वे लोग क्या बनारसी साड़ी का गाउन पहनेंगी? सुना है, रंग-बिरंगे कपड़े उनके देश की औरतें पसन्द नहीं करतीं।

स्वामी जी—लेंगे या नहीं, यह मैं देखूंगा। हिम्मत करके चला तो जा! उस देश में मेरे अनेक मित्र हैं। मैं उनसे तेरा परिचय करा दूंगा। आरम्भ में कह सुनकर उनमें उन चीज़ों का प्रचार करा दूंगा। उसके बाद देखेगा, कितने लोग उनकी नक़ल करते हैं। तब तो तू उनकी माँग की पूर्ति करने में भी अपने को असमर्थ पायेगा।

शिष्य—पर व्यापार करने के लिए मूलधन कहाँ से आयेगा?

स्वामी जी—मैं किसी न किसी तरह तेरा काम शुरू करा दूंगा। परन्तु उसके बाद तुझे अपने ही प्रयत्न पर निर्भर रहना होगा। **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्**—इस प्रयत्न में यदि तू मर भी जायगा तो भी बुरा नहीं। तुझे देखकर और दूसरे दस व्यक्ति आगे बढ़ेंगे। और यदि सफलता प्राप्त हो गयी तो फिर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेगा।

शिष्य—परन्तु महाराज, साहस नहीं होता।

स्वामी जी—इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि भाई, तुममें श्रद्धा नहीं है—आत्मविश्वास भी नहीं। क्या होगा तुम लोगों का? न तो तुमसे गृहस्थी होगी और न धर्म ही। या तो इस प्रकार के उद्योग-धंधे करके संसार में यशस्वी, सम्पत्तिशाली बन, या सब कुछ छोड़-छाड़ कर हमारे पथ का अनुसरण करके लोगों को धर्म का उपदेश देकर उनका उपकार कर; तभी तू हमारी तरह भिक्षा पा सकेगा। लेन-देन न रहने पर कोई किसी की ओर नहीं ताकता। देख तो रहा है; हम धर्म की दो बातें सुनाते हैं, इसीलिए गृहस्थ लोग हमें अन्न के दो दाने दे रहे हैं। तुम लोग कुछ भी न करोगे तो लोग तुम्हें वह भी क्यों देंगे? नौकरी में, गुलामी में इतना दुःख देखकर भी तुम लोग सचेत नहीं हो रहे हो! इसीलिए दुःख भी दूर नहीं हो रहा है। यह अवश्य ही दैवी माया का छल है। उस देश में मैंने देखा, जो लोग नौकरी करते हैं, उनका स्थान लोक-सभा में बहुत पीछे होता है। पर जो लोग प्रयत्न करके विद्या-बुद्धि द्वारा स्वनामधन्य हो गये हैं, उनके बैठने के लिए सामने की सीटें रहती हैं। उन सब देशों में जाति-भेद का झंझट नहीं है। उद्यम एवं

परिश्रम द्वारा जिन पर भाग्य-लक्ष्मी प्रसन्न है, वे ही देश के नेता और नियन्ता माने जाते हैं। और तुम्हारे देश में जाति-पाँति का मिथ्याभिमान है, इसीलिए तुम्हें अन्न तक नसीब नहीं। तुममें एक सुई तक तैयार करने की योग्यता नहीं है और तुम्हीं लोग अंग्रेजों के गुण-दोषों की आलोचना करने को उद्यत होते हो! मूर्ख! जा, उनके पैरों पड़; जीवन-संग्राम के उपयुक्त विद्या, शिल्पविज्ञान और क्रियाशीलता सीख, तभी तू योग्य बनेगा और तभी तुम लोगों का सम्मान होगा। वे भी उस समय तुम्हारी बात मानेंगे। केवल कांग्रेस बनाकर चिल्लाने से क्या होगा?

शिष्य—परन्तु महाराज, देश के सभी शिक्षित लोग उसमें सम्मिलित हो रहे हैं।

स्वामी जी—कुछ उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही क्या तुम्हारी दृष्टि में वे शिक्षित हो गये! जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, पर-हित भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही शिक्षा है। आजकल के इन सब स्कूल-कॉलिजों में पढ़कर तुम लोग न जाने अजीर्ण के रोगियों की कैसी एक जमात तैयार कर रहे हो। केवल मशीन की तरह परिश्रम कर रहे हो और 'जायस्व म्रियस्व' वाक्य के साक्षी रूपमें खड़े हो! ये जो किसान, मजदूर, मोची, मेहतर आदि हैं इनकी कर्मशीलता और आत्मनिष्ठा तुममें से कइयों से कहीं अधिक है। ये लोग चिर काल से चुपचाप काम करते जा रहे हैं, देश का धन-धान्य उत्पन्न कर रहे हैं, पर अपने मुँह से शिकायत नहीं कहते। ये लोग शीघ्र ही तुम लोगों से ऊपर उठ जायँगे। धन उनके हाथ में चला जा रहा है—तुम्हारी तरह उनमें कमी नहीं है। वर्तमान शिक्षा से तुम्हारा सिर्फ़ बाहरी परिवर्तन होता जा रहा है—परन्तु नयी नयी उद्भावनी शक्ति के अभाव से तुम लोगों को धन कमाने का उपाय उपलब्ध नहीं हो रहा है। तुम लोगों ने इतने दिन इन सब सहनशील नीची जातियों पर अत्याचार किया है। अब ये लोग उसका बदला लेंगे और तुम लोग 'हा! नौकरी', 'हा! नौकरी' करके लुप्त हो जाओगे।

शिष्य—महाराज, दूसरे देशों की तुलना में हमारी उद्भावनी शक्ति कम होने पर भी भारत की अन्य सभी जातियाँ तो हमारी बुद्धि द्वारा ही संचालित हो रही हैं। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जातियों को जीवन-संग्राम में पराजित कर सकने की शक्ति और शिक्षा अन्य जातियाँ कहाँ से पायेंगी?

स्वामी जी—माना कि उन्होंने तुम लोगों की तरह पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं, तुम्हारी तरह कोट-कमीज पहनकर सभ्य बनना उन्होंने नहीं सीखा, पर इससे क्या

होता है ? वास्तव में वे ही राष्ट्र की रीढ़ हैं। यदि ये निम्न श्रेणियों के लोग अपना अपना काम करना बन्द कर दें तो तुम लोगों को अन्न-वस्त्र मिलना कठिन हो जाय ! कलकत्ते में यदि मेहतर लोग एक दिन के लिए काम बन्द कर देते हैं तो 'हाय तोबा' मच जाती है। यदि तीन दिन वे काम बन्द कर दें तो संक्रामक रोगों से शहर बर्बाद हो जाय! श्रमिकों के काम बन्द करने पर तुम्हें अन्न-वस्त्र नहीं मिल सकता। इन्हें ही तुम लोग नीच समझ रहे हो और अपने को शिक्षित मानकर अभिमान कर रहे हो ।

जीवन-संग्राम में सदा लगे रहने के कारण निम्न श्रेणी के लोगों में अभी तक ज्ञान का विकास नहीं हुआ। ये लोग अभी तक मानव बुद्धि द्वारा परिचालित यन्त्र की तरह एक ही भाव से काम करते आये हैं, और बुद्धिमान चतुर व्यक्ति इनके परिश्रम तथा कार्य का सार तथा निचोड़ लेते रहे हैं। सभी देशों में इसी प्रकार हुआ है। परन्तु अब वे दिन नहीं रहे। निम्न श्रेणी के लोग धीरे धीरे यह बात समझ रहे हैं और इसके विरुद्ध सब सम्मिलित रूप से खड़े होकर अपने समुचित अधिकार प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हो गये हैं। यूरोप और अमेरिका में निम्न जातीय लोगों ने जाग्रत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है, और आज भारत में भी इसके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। निम्न श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा आजकल जो इतनी हड़तालें हो रही हैं, वे इनकी इसी जाग्रति का प्रमाण है। अब हजार प्रयत्न करके भी उच्च जाति के लोग निम्न श्रेणियों को अधिक दबाकर नहीं रख सकेंगे। अब निम्न श्रेणियों के न्यायसंगत अधिकार की प्राप्ति में सहायता करने में ही उच्च श्रेणियों का भला है।

इसलिए कहता हूँ कि तुम लोग ऐसे काम में लग जाओ, जिससे साधारण श्रेणी के लोगों में विद्या का विकास हो। जाकर इन्हें समझा कर कहो—'तुम हमारे भाई हो, हमारे शरीर के अंग हो। हम तुमसे प्रेम करते हैं, घृणा नहीं।' तुम लोगों की यह सहानुभूति पाने पर ये लोग सौ गुने उत्साह के साथ काम करने लगेंगे। आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनमें ज्ञान का विकास कर दो। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ ही साथ धर्म के गम्भीर तत्त्व इन्हें सिखा दो। उससे शिक्षकों की भी दरिद्रता मिट जायगी और इस प्रकार के आदान-प्रदान से दोनों आपस में मित्र जैसे बन जायँगे।

शिष्य—परन्तु महाराज, इनमें शिक्षा का प्रचार होने पर, फिर ये लोग भी समय आने पर हमारी ही तरह बुद्धिमान किन्तु निश्चेष्ट तथा आलसी बनकर अपने से निम्न श्रेणी के लोगों के परिश्रम से लाभ उठाने लग जायँगे।

स्वामी जी—ऐसा क्यों होगा ? ज्ञान का विकास होने पर भी कुम्हार

कुम्हार ही रहेगा—मछुआ मछुआ ही बना रहेगा—किसान खेती का ही काम करेगा कोई अपना जातीय धन्धा क्यों छोड़ेगा ? **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्** (हे अर्जुन, अपने सहज कर्म को सदोष होने पर भी त्यागना नहीं चाहिए।)—इस प्रकार की शिक्षा पाने पर वे लोग अपने अपने व्यवसाय क्यों छोड़ेंगे ? विद्या के बल से अपने सहज कर्म को वे और भी अच्छी तरह से करने का प्रयत्न करेंगे। समय पर उनमें से दस-पाँच प्रतिभाशाली व्यक्ति अवश्य उठ खड़े होंगे। उन्हें तुम अपनी उच्च श्रेणी में सम्मिलित कर लोगे। तेजस्वी विश्वामित्र को जो ब्राह्मणों ने ब्राह्मण मान लिया था, इससे क्षत्रिय जाति ब्राह्मणों के प्रति कितनी कृतज्ञ हुई थी—कहो तो ? उसी प्रकार सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने पर मनुष्य तो दूर रहा, पशु-पक्षी भी अपने बन जाते हैं।

शिष्य—महाराज, आप जो कुछ कह रहे हैं वह सत्य तो है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी उच्च तथा निम्न श्रेणी के लोगों में बड़ा अन्तर है। भारत की निम्न जातियों के प्रति उच्च श्रेणी के लोगों में सहानुभूति की भावना लाना बड़ा ही कठिन काम ज्ञात होता है।

स्वामी जी—परन्तु ऐसा न होने से तुम्हारा (उच्च जातियों का) भला नहीं। तुम लोग हमेशा से जो कुछ करते आ रहे हो, वह तुम्हारा पृथकता का प्रयत्न रहा है। आपस की मार-काट ही करते हुए मर मिटोगे! ये निम्न श्रेणी के लोग जब जाग उठेंगे और अपने ऊपर होनेवाले तुम लोगों के अत्याचारों को समझ लेंगे, तब उनकी फूँक से ही तुम लोग उड़ जाओगे ! उन्हींने तुम्हें सभ्य बनाया है, उस समय वे ही सब कुछ मिटा देंगे। सोचकर देखो न—रोमन सभ्यता गॉल जाति के पंजे में पड़कर कहाँ चली गयी। इसीलिए कहता हूँ, इन सब निम्न जाति के लोगों को विद्या-दान, ज्ञान-दान देकर इन्हें नींद से जगाने के लिए सचेष्ट हो जाओ! जब वे लोग जागेंगे—और एक दिन वे अवश्य जागेंगे—तब वे भी तुम लोगों के किये उपकारों को नहीं भूलेंगे और तुम लोगों के प्रति कृतज्ञ रहेंगे।

इस प्रकार वार्तालाप के बाद स्वामी जी ने शिष्य से कहा—ये सब बातें अब रहने दे—तूने अब क्या निश्चय किया, कह ! मैं तो कहता हूँ, जो कुछ भी हो, तू कुछ कर अवश्य ! या तो किसी व्यापार के लिए चेष्टा कर, या तो हम लोगों की तरह **आत्मनो मोक्षाय जगद्धिताय च** (अपने मोक्ष के लिए तथा जगत् के कल्याण के लिए)—यथार्थ संन्यास के पथ का अनुसरण कर। यह अन्तिम पथ ही निस्सन्देह श्रेष्ठ पथ है, व्यर्थ ही गृहस्थ बनने से क्या होगा ? समझा न, सभी क्षणिक है—**नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्** (कमल के पत्र पर रखा आ पानी चंचल होता है, उसीके समान जीवन अत्यन्त चपल है)।

अतः यदि इसी आत्मविश्वास को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित है तो फिर समय न गँवा ! आगे वढ़। **यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**। (जिस दिन संसार से वैराग्य उत्पन्न हो, उसी दिन उसे त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहिए।) दूसरों के लिए अपने जीवन का वलिदान देकर लोगों के द्वार द्वार जाकर यह अभय-वाणी सुना---**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** ।

२०

[स्थान : वेलड़, किराये का मठ-भवन। वर्ष : १८९८ ई०]

जिस समय मठ आलमवाज़ार से लाकर वेलूड़ में नीलाम्वर वावू के वगीचे में स्थापित किया गया, उसके थोड़े दिन वाद स्वामी जी ने अपने गुरुभाइयों के सामने जनसाधारण में श्री रामकृष्ण के भावों के प्रचार के लिए वंगला में एक समाचार-पत्र निकालने का प्रस्ताव रखा। स्वामी जी ने पहले एक दैनिक समाचार-पत्र निकालने का प्रस्ताव किया था। परन्तु उसके लिए काफ़ी धन आवश्यक होने के कारण एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित करने का प्रस्ताव ही सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को उसके संचालन का भार सौंपा गया । स्वामी जी के पास एक हज़ार रुपये थे। श्री रामकृष्ण के एक गृहस्थ भक्त (स्वर्गीय हरमोहन मित्र) ने और एक हज़ार रुपये ऋण के रूप में दिये। उससे काम शुरू हुआ। एक छापाखाना जो स्वामी जी के जीवन-काल में ही कई कारणों से वेच दिया गया था। खरीदा गया और श्यामवाज़ार की 'रामचन्द्र मैत्र लेन' में श्री गिरीन्द्रनाथ वसाक के घर पर वह प्रेस रखा गया । स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने इस प्रकार कार्य-भार ग्रहण करके वंगला सन् १३०५, माघ के प्रथम दिन उक्त 'पत्र' का प्रथम अंक प्रकाशित किया। स्वामी जी ने उस पत्र का नाम 'उद्वोधन' रखा और उसकी उन्नति के लिए स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को अनेकानेक आशीर्वाद दिये। अथक परिश्रमी स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने स्वामी जी के निर्देश पर उसके मुद्रण तथा प्रचार के लिए जो परिश्रम किया था, वह अवर्णनीय है। कभी भक्त-गृहस्थ के भिक्षान्न पर निर्वाह कर, कभी अभुक्त रहकर, कभी प्रेस तथा पत्र सम्वन्धी कार्य के लिए दस दस मील तक पैदल चलकर स्वामी त्रिगुणातीतानन्द उक्त पत्र की उन्नति तथा

प्रचार के लिए प्राणपण से प्रयत्न में लग गये। उस समय पैसा देकर कर्मचारी रखना सम्भव न था और स्वामी जी का आदेश था कि पत्र के लिए एकत्र धन में से एक पैसा भी पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में खर्च न किया जाय; इसीलिए स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने भक्तों के घर भिक्षा ग्रहण कर जैसे-तैसे अपने भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करते हुए उक्त निर्देश का अक्षरशः पालन किया था।

पत्र की प्रस्तावना स्वामी जी ने स्वयं लिख दी थी और निश्चय हुआ कि श्री रामकृष्ण के संन्यासी तथा गृहस्थ भक्त ही इस पत्र में लेख आदि लिखेंगे तथा किसी भी प्रकार के अश्लील विज्ञापन आदि इस पत्र में प्रकाशित न होंगे। श्री रामकृष्ण मिशन एक संघ का रूप धारण कर चुका था। स्वामी जी ने मिशन के सदस्यों से इस पत्र में लेख आदि लिखने तथा श्री रामकृष्ण के धर्म सम्बन्धी मतों का पत्र की सहायता से जनसाधारण में प्रचार करने के लिए अनुरोध किया। पत्र का प्रथम अंक प्रकाशित होने पर एक दिन शिष्य मठ में उपस्थित हुआ। प्रणाम करके बैठ जाने पर उससे स्वामी जी ने 'उदबोधन' पत्र के सम्बन्ध में वार्तालाप प्रारम्भ किया—

स्वामी जी—(पत्र के नाम को हँसी हँसी में विकृत करके)—'उद्बन्धन' देखा है ?

शिष्य—जी, हाँ ! सुन्दर है !

स्वामी जी—इस पत्र के भाव-भाषा सभी कुछ नये ढाँचे में गढ़ने होंगे !

शिष्य—कैसे ?

स्वामी जी—श्री रामकृष्ण का भाव तो सबको देना होगा ही; साथ ही बंगला भाषा में नया जोश लाना होगा। उदाहरणार्थ, बार बार केवल क्रियापद का प्रयोग करने से भाषा की शक्ति घट जाती है; विशेषण देकर क्रियापदों का प्रयोग घटा देना होगा। तू ऐसी भाषा में निबन्ध लिखना शुरू कर दे। पहले मुझे दिखाकर फिर 'उद्बोधन' में प्रकाशित होने के लिए भेजते जाना।

शिष्य—महाराज, स्वामी त्रिगुणातीतानन्द इस पत्र के लिए जितना परिश्रम कर रहे हैं, वह दूसरों के लिए असम्भव है।

स्वामी जी—तो क्या तू समझता है कि श्री रामकृष्ण की ये सब संन्यासी सन्तान केवल पेड़ के नीचे धूनी जलाकर बैठे रहने के लिए ही पैदा हुई हैं ? इनमें से जो जिस समय जिस कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होगा, उस समय उसका उद्यम देखकर लोग दंग रह जायँगे। इससे सीख, काम कैसे करना चाहिए। यह देख, मेरे आदेश का पालन करने के लिए त्रिगुणातीत साधन-भजन, ध्यान-धारणा तक छोड़कर कर्तव्य-क्षत्र में उतर पड़ा है। क्या यह कम त्याग की बात है ? मेरे प्रति कितने प्रेम

से कर्म की यह प्रेरणा उसमें आयी है देख तो, पूरा काम होने पर ही वह उसे छोड़ेगा ! क्या तुम लोगों में है ऐसी दृढ़ता ?

शिष्य––परन्तु महाराज, गेरुआ वस्त्र पहने संन्यासी का गृहस्थों के द्वार द्वार पर इस प्रकार घूमना-फिरना हमारी दृष्टि में उचित नहीं ।

स्वामी जी––क्यों ! पत्र का प्रचार तो गृहस्थों के ही कल्याण के लिए है। देश में नवीन भाव के प्रचार से जनसाधारण का कल्याण होगा । क्या तू इस फलाकांक्षारहित कर्म को साधन-भजन से कम महत्त्वपूर्ण समझता है ? हमारा उद्देश्य है जीवों का कल्याण करना । इस पत्र की आमदनी से हमारा इरादा पैसा कमाने का नहीं । हम सर्वत्यागी संन्यासी हैं––हमारे स्त्री-पुत्र नहीं हैं जो उनके लिए कुछ छोड़ जायँगे । यदि काम सफल हो तथा आमदनी बढ़े तो इसकी सारी आमदनी जीव-सेवा में ख़र्च होगी। स्थान स्थान पर संघ और सेवाश्रम स्थापित करने तथा अन्यान्य कल्याणकारी कार्यों में इससे बचे हुए धन का सदुपयोग हो सकेगा। हम लोग गृहस्थों की तरह धन-संग्रह के उद्देश्य से यह काम नहीं कर रहे हैं। केवल परहित के लिए ही हमारे सब काम हैं, यह जान लेना ।

शिष्य––फिर भी सभी लोग इस भाव को समझ नहीं सकते ।

स्वामी जी––न सही ! इससे हमारा क्या बनेगा या बिगड़ेगा ? हम निन्दा या प्रशंसा की परवाह करके कार्य में अग्रसर नहीं हुए ।

शिष्य––महाराज, यह पत्र हर पन्द्रह दिन के बाद प्रकाशित होगा; हमारी इच्छा है यह साप्ताहिक हो ।

स्वामी जी––यह तो ठीक है, परन्तु उतना धन कहाँ ? श्री रामकृष्ण की इच्छा से यदि रुपये की व्यवस्था हो जायगी तो कुछ समय के पश्चात् इसे दैनिक भी किया जा सकता है और प्रतिदिन इसकी लाखों प्रतियाँ छपकर कलकत्ते की गली गली में बिना मूल्य बाँटी जा सकती हैं ।

शिष्य––आपका यह संकल्प बहुत ही उत्तम है।

स्वामी जी––मेरी इच्छा है कि इस पत्र को स्वावलम्बी बनाकर तुझे सम्पादक बना दूँ। किसी चीज़ को पहले-पहल खड़ा करने की शक्ति तो तुम लोगों में अभी नहीं आयी। इसमें तो ये सब सर्वत्यागी साधु ही समर्थ हैं। ये लोग काम करते करते मर जायँगे , फिर भी हटनेवाले नहीं। तुम लोग थोड़ी बाधा आते ही, थोड़ी निन्दा सुनते ही चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा देखने लगते हो।

शिष्य––हाँ, उस दिन हमने देखा भी था कि स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने पहले श्री रामकृष्ण के चित्र की प्रेस में पूजा कर ली और तब काम प्रारम्भ किया। साथ ही काम की सफलता के लिए आपकी कृपा की प्रार्थना की ।

स्वामी जी—हमारे केन्द्र तो श्री रामकृष्ण ही हैं। हम एक एक व्यक्ति उसी प्रकाश-केन्द्र की एक एक किरण मात्र हैं। श्री रामकृष्ण की पूजा करके काम का आरम्भ किया, यह अच्छा किया। परन्तु उसने पूजा की वात तो मुझसे कुछ भी नहीं कही ?

शिष्य—महाराज, वे आपसे डरते हैं। उन्होंने मुझसे कल कहा, "तू पहले स्वामी जी के पास जाकर जान आ कि पत्र के प्रथम अंक के वारे में उनकी क्या राय है, फिर मैं उनसे मिलूँगा।"

स्वामी जी—तू जाकर कह दे, मैं उसके काम से वहुत प्रसन्न हुआ हूँ। उससे मेरा आशीर्वाद भी कहना और तुम लोग सव जहाँ तक हो सके उसकी सहायता करना। यह तो श्री रामकृष्ण का ही काम है।

इतनी वातें कहकर स्वामी जी ने ब्रह्मानन्द स्वामी जी को पास वुलाया और आवश्यकतानुसार भविष्य में 'उद्‌बोधन' के लिए त्रिगुणातीतानन्द जी को और अधिक धन देने का आदेश दिया। उस दिन रात को भोजन के पश्चात् स्वामी जी ने फिर शिष्य के साथ 'उद्‌बोधन' पत्र के सम्बन्ध में चर्चा की।

स्वामी जी—'उद्‌वोधन' द्वारा जनसाधारण के सामने भावात्मक आदर्श रखना होगा। 'नहीं, नहीं' की भावना मनुष्य को दुर्वल वना डालती है। देखता नहीं, जो माता-पिता दिन-रात वच्चों के लिखने-पढ़ने पर ज़ोर देते रहते हैं, कहते हैं, 'इसका कुछ सुधार नहीं होगा, यह मूर्ख है, गधा है, आदि आदि—उनके वच्चे अधिकांश वैसे ही वन जाते हैं। बच्चों को अच्छा कहने से और प्रोत्साहन देने से समय आने पर वे स्वयं ही अच्छे वन जाते हैं। जो नियम वच्चों के लिए है, वे ही उन लोगों के लिए भी हैं, जो भाव-राज्य के उच्च अधिकार की तुलना में उन शिशुओं की तरह हैं। यदि जीवन के रचनात्मक भाव उत्पन्न किये जा सकें तो साधारण व्यक्ति भी मनुष्य वन जायगा और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेगा। मनुष्य भाषा, साहित्य, दर्शन, कविता, शिल्प आदि अनेकानेक क्षेत्रों में जो प्रयत्न कर रहा है उसमें वह अनेक ग़लतियाँ करता है। आवश्यक यह है कि हम उसे उन ग़लतियों को न वतलाकर प्रगति के मार्ग पर धीरे धीरे अग्रसर होने के लिए सहायता दें। गलतियाँ दिखाने से लोगों की भावना को ठेस पहुँचती है तथा वे हतोत्साह हो जाते हैं। श्री रामकृष्ण को हमने देखा है—जिन्हें हम त्याज्य मानते थे, उन्हें भी वे प्रोत्साहित करके उनके जीवन की गति को मोड़ देते थे। शिक्षा देने का उनका ढंग ही वड़ा अद्‌भुत था।

इसके पश्चात् स्वामी जी किंचित् चुप हो गये। थोड़ी देर वाद फिर कहने लगे, "धर्म प्रचार के काम को किसी पर भी बात वात में नाक-भौं सिकोड़ने

का काम न समझ लेना। शरीर, मन और आत्मा से सम्बद्ध सभी वातों में मनुष्य को सुनिश्चित भाव देना होगा, परन्तु घृणा के साथ नहीं। आपस में एक दूसरे से घृणा करते करते ही तुम लोगों का अधःपतन हुआ है। अब केवल सबल तथा जीवन को संगठित करने का भाव फैलाकर लोगों को उठाना होगा—पहले हिन्दू जाति को और उसके बाद दुनिया को। असल में श्री रामकृष्ण के अवतीर्ण होने का उद्देश्य ही यह था। उन्होंने जगत् में किसी का भाव नष्ट नहीं किया। उन्होंने महापतित मनुष्य को भी अभय और उत्साह देकर उठा लिया है। हमें भी उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण कर सभी को उठाना होगा—जगाना होगा—समझा?

"तुम्हारे इतिहास, साहित्य, पुराण आदि सभी शास्त्र मनुष्य को केवल डराने का ही कार्य करते हैं। मनुष्य से केवल कह रहे हैं—'तू नरक में जायगा, तेरी रक्षा का कोई उपाय नहीं है।' इसलिए भारत की नस नस में इतनी अवसन्नता आ गयी है। अतः वेद-वेदान्त के उच्च भावों को सरल भाषा में लोगों को समझा देना होगा। सदाचार, सद्व्यवहार और शिक्षा का प्रचार कर ब्राह्मण और चाण्डाल को एक ही भूमि पर खड़ा करना होगा। 'उद्बोधन' में इन्हीं विषयों पर लिखकर बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी को उठा दे तो देखूँ। तभी जानूँगा तेरा वेद-वेदान्त पढ़ना सफल हुआ है। क्या कहता है, बोल, कर सकेगा?"

शिष्य—मन कहता है, आपका आशीर्वाद और आदेश होने पर सभी विषयों में सफल हो सकूँगा।

स्वामी जी—एक बात और, तुम्हें शरीर को दृढ़ बनाना सीखना होगा और यही दूसरों को भी सिखाना होगा। देखता नहीं, मैं अभी भी प्रतिदिन डम्बल करता हूँ। रोज सवेरे-शाम टहलो, शारीरिक परिश्रम करो—शरीर और मन साथ ही साथ उन्नत होने चाहिए। सभी बातों में दूसरों पर निर्भर रहने से कैसे काम चलेगा! शरीर को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता समझने पर तू स्वयं ही उस विषय में सचेष्ट रहेगा। इस आवश्यकता को समझने के ही लिए तो शिक्षा की जरूरत है।

२१

[स्थान : कलकत्ता]

आज तीन दिन से स्वामी जी बाग़बाज़ार के स्व० बलराम वसु के मकान पर निवास कर रहे हैं। प्रतिदिन अगणित लोगों की भीड़ होती है। स्वामी योगानन्द

भी स्वामी जी के साथ ही निवास कर रहे हैं। आज भगिनी निवेदिता को साथ लेकर स्वामी जी अलीपुर का 'ज़ू' (पशुशाला) देखने जायँगे। शिष्य के उपस्थित होने पर उससे तथा स्वामी योगानन्द से उन्होंने कहा, "तुम लोग पहले चले जाओ—मैं निवेदिता को लेकर गाड़ी पर थोड़ी देर में आ रहा हूँ।"

स्वामी योगानन्द शिष्य को साथ लेकर ट्राम द्वारा क़रीब ढाई बजे रवाना हो गये। उस समय घोड़े की ट्राम चलती थी। दिन के क़रीब चार बजे पशुशाला में पहुँचकर उन्होंने बगीचे के सुपरिण्टेण्डेण्ट रायबहादुर बाबू रामब्रह्म सान्याल से भेंट की। स्वामी जी आ रहे हैं, यह जानकर रामब्रह्म बाबू बहुत ही प्रसन्न हुए और स्वामी जी का स्वागत करने के लिए स्वयं बगीचे के फाटक पर खड़े रहे। क़रीब साढ़े चार बजे स्वामी जी भगिनी निवेदिता को साथ लेकर वहाँ पहुँचे। रामब्रह्म बाबू भी बड़े आदर-सत्कार के साथ स्वामी जी तथा निवेदिता का स्वागत कर उन्हें पशुशाला के भीतर ले गये और क़रीब ढेढ़ घण्टे तक उनके साथ साथ घूमते हुए बगीचे के विभिन्न स्थानों को दिखाते रहे। स्वामी योगानन्द भी शिष्य के साथ उनके पीछे पीछे चले।

रामब्रह्म बाबू वनस्पति शास्त्र के अच्छे पण्डित थे। बगीचे के नाना प्रकार के वृक्षों को दिखाते हुए वनस्पति शास्त्र के मतानुसार कालक्रम में वृक्षादि की किस प्रकार क्रम-परिणति हुई है, यह बतलाते हुए आगे बढ़ने लगे। तरह तरह के जानवरों को देखते हुए स्वामी जी भी बीच बीच में जीव की क्रम-परिणति के सम्बन्ध में डारविन के मत की आलोचना करने लगे। शिष्य को स्मरण है, साँप के घर में जाकर उन्होंने बदन पर चक्र जैसे दाग़वाले एक बृहत् साँप को दिखाकर कहा "देखो, इसीसे काल-क्रम में कछुआ पैदा हुआ है। उसी साँप के बहुत दिनों तक एक स्थान पर बैठे रहने के कारण धीरे धीरे उसकी पीठ कड़ी हो गयी है।" इतना कहकर स्वामी जी ने शिष्य से हँसी हँसी में पूछा, "तुम लोग कछुआ खाते हो न? डारविन के मत में यह साँप ही कालक्रम से क़छुआ बन गया है;—तो बात यह है कि तुम लोग साँप भी खाते हो!" शिष्य ने सुनकर मुँह फेरकर कहा— "महाराज, कोई चीज़ क्रम-विकास के द्वारा दूसरी चीज़ बन जाने पर जब उसका पहले का आकार और प्रकृति ही नहीं रहती, तब कछुआ खाने से साँप खाना कसे हुआ? यह आप कैसे कह रहे हैं?"

शिष्य की बात सुनकर स्वामी जी तथा रामब्रह्म बाबू हँस पड़े और भगिनी निवेदिता को यह बात समझा देने पर वे भी हँसने लगीं। धीरे धीरे सभी लोग उस कटघरे की ओर बढ़ने लगे जिसमें शेर, बाघ आदि रहते थे।

रामब्रह्म बाबू के आज्ञानुसार वहाँ के चपरासी लोग शेरों तथा बाघों के

लिए अधिक परिमाण में मांस लाकर हमारे सामने ही उन्हें खिलाने लगे। उनकी सानन्द गर्जना सुनकर तथा साग्रह भक्षण देखकर हम लोग बड़े प्रसन्न हुए। इसके थोड़ी देर बाद हम सभी बगीचे में स्थित रामब्रह्म बाबू के मकान में आये। वहाँ पर चाय तथा जलपान आदि की व्यवस्था हुई। स्वामी जी ने थोड़ी सी चाय पी। निवेदिता ने भी चाय पी। एक ही मेज़ पर बैठकर भगिनी निवेदिता की छुई हुई मिठाई तथा चाय लेने में मेरा संकोच देख स्वामी जी ने शिष्य से कई बार अनुरोध करके मिठाई खिलायी और स्वयं जल पीकर बचा हुआ जल शिष्य को पीने के लिए दे दिया। इसके बाद डारविन के विकासवाद के सम्बन्ध में थोड़ी देर तक चर्चा होती रही।

रामब्रह्म बाबू—डारविन ने विकासवाद तथा उसके कारण जिस तरह समझाये हैं, उसके बारे में आपकी क्या राय है?

स्वामी जी—डारविन की बातें ठीक होने पर भी मैं ऐसा नहीं मान सकता कि उनका मत विकास के कारण के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय है।

रामब्रह्म बाबू—क्या इस विषय पर हमारे देश के प्राचीन विद्वानों ने किसी प्रकार का विचार नहीं किया?

स्वामी जी—सांख्य दर्शन में इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है। मेरी सम्मति में क्रम-विकास के कारण के बारे में भारत के प्राचीन दार्शनिकों का सिद्धान्त ही अन्तिम निर्णय है।

रामब्रह्म बाबू—यदि संक्षेप में उस सिद्धान्त को समझाना सम्भव हो तो सुनने की इच्छा होती है।

स्वामी जी—निम्न जाति को उच्च जाति में परिणत करने में पाश्चात्यों की राय में 'जीवन-संग्राम', 'बलिष्ठ की अतिजीविता', 'प्राकृतिक चयन' आदि जिन सब नियमों को कारण माना गया है, आप उन्हें अवश्य ही जानते होंगे। परन्तु पातंजल दर्शन में उनमें से एक को भी उसका कारण नहीं माना गया है। पतंजलि की राय है कि **प्रकृत्यापूरात्**—अर्थात् प्रकृति पूर्ति-क्रिया द्वारा एक जाति दूसरी जाति में परिणत हो जाती है, विघ्नों के साथ दिन-रात संघर्ष करके नहीं। मैं समझता हूँ कि संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता तो बहुधा जीव की पूर्णता प्राप्ति में रुकावटें बन जाती हैं। यदि हज़ार जीवों का विनाश करके एक जीव की क्रमोन्नति होती है (जिसका पाश्चात्य दर्शन समर्थन करता है) तो फिर कहना होगा कि क्रम-विकास द्वारा जगत् की कोई विशेष उन्नति नहीं हो रही है। फिर जागतिक उन्नति की बात यदि ठीक बैठ भी जाय तो यह बात कौन नहीं मानेगा कि आध्यात्मिक विकास के लिए वह विशेष विघ्नकारक है। हमारे दार्शनिकों का कहना है कि सभी जीव पूर्ण

आत्मा हैं। इस आत्मा के प्रकाश के कम-ज्यादा होने के कारण ही प्रकृति की अभिव्यक्ति तथा विकास में विभिन्नता दिखायी देती है। प्रकृति की अभिव्यक्ति एवं विकास में जो विघ्न हैं, वे जब सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाते हैं, तब पूर्ण भाव से आत्मप्रकाश होता है। प्रकृति की अभिव्यक्ति के निम्न स्तरों में चाहे जो हो, परन्तु उच्च स्तरों में उन्हें दूर करने के लिए इन विघ्नों के साथ दिन-रात संघर्ष करना आवश्यक नहीं है। देखा जाता है, वहाँ पर शिक्षा-दीक्षा, ध्यान-धारणा एवं प्रधानतया त्याग के ही द्वारा विघ्न दूर हो जाते हैं अथवा अधिक से अधिकतर आत्मप्रकाश होता रहता है। अतः विघ्नों को आत्मप्रकाश का कार्य न कहकर कारण कहना तथा प्रकृति की इस विचित्र अभिव्यक्ति का सहायक कहना ठीक नहीं है। हजार पापियों के प्राणों का नाश करके जगत् से पाप को दूर करने की चेष्टा करने से जगत् में पाप की वृद्धि ही होती है। परन्तु यदि उपदेश देकर जीव को पाप से निवृत्त किया जा सके तो जगत् में फिर पाप नहीं रहेगा। अब देखिए, पाश्चात्यों के संघर्ष सिद्धान्त अर्थात् जीवों का आपस में संघर्ष एवं प्रतिद्वन्द्विता द्वारा उन्नति करने का सिद्धान्त कितना भयानक मालूम होता है।

रामब्रह्म बाबू स्वामी जी की बातों को सुनकर दंग रह गये। अन्त में कहने लगे, "इस समय भारत में आप जैसे प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शनों में पारंगत विद्वानों की ही आवश्यकता है। ऐसे ही विद्वान् एकदेशदर्शी शिक्षित जनसमुदाय की भूलों को साफ़ साफ़ दिखा दे सकते हैं। आपकी विकासवाद की नवीन व्याख्या सुनकर मैं विशेष आनन्दित हुआ।"

चलते समय रामब्रह्म बाबू ने बगीचे के फाटक तक आकर स्वामी जी को विदा किया और वचन दिया कि किसी अन्य दिन उपयुक्त अवसर देखकर फिर एकान्त में स्वामी जी से भेंट करेंगे। मैं कह नहीं सकता कि रामब्रह्म बाबू को उसके बाद फिर कभी स्वामी जी के पास जाने का अवसर मिला या नहीं, क्योंकि इस घटना के थोड़े ही दिन बाद उनकी मृत्यु हो गयी थी।

शिष्य स्वामी योगानन्द के साथ ट्राम पर सवार होकर रात के क़रीब ८ बजे बाग़बाज़ार लौटा। स्वामी जी उससे क़रीब पन्द्रह मिनट पहले लौटकर आराम कर रहे थे। लगभग आधे घण्टा विश्राम करने के बाद वे बैठकघर में हमारे पास उपस्थित हुए। उस समय वहाँ पर स्वामी योगानन्द, स्व० शरच्चन्द्र सरकार, शशिभूषण घोष (डॉक्टर), विपिनविहारी घोष (डॉक्टर), शान्तिराम घोष आदि परिचित मित्रगण तथा स्वामी जी की दर्शन की इच्छा से आये हुए पाँच-छः अन्य सज्जन भी उपस्थित थे। यह जानकर कि आज स्वामी जी ने पशुशाला देखने के लिए जाकर रामब्रह्म बाबू से विकासवाद की अपूर्व व्याख्या की है, सभी

लोग उक्त प्रसंग को विशेप रूप से सुनने के लिए पहले से ही उत्सुक थे। अतः उनके आते ही सबकी इच्छा के अनुसार शिष्य ने उसी प्रसंग को उठाया।

शिष्य—महाराज, पशुशाला में आपने विकासवाद के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, उसे मैं अच्छी तरह समझ न सका। कृपया उसे सरल भाषा में फिर कहिए।

स्वामी जी—क्यों, क्या नहीं समझा?

शिष्य—यही कि आपने पहले अनेक बार हमसे कहा है कि बाहरी शक्तियों के साथ संघर्ष करने की क्षमता ही जीवन का चिह्न है और वही उन्नति की सीढ़ी है। आज आपने जो वतलाया वह कुछ उलटा सा लगा।

स्वामी जी—उलटा क्यों वताऊँगा, वरन् तू ही समझ नहीं सका। निम्न प्राणि-जगत् में हम वास्तव में जीवित रहने के लिए संघर्ष, सवसे अधिक वलिष्ठ का अतिजीवन आदि नियम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसीलिए डारविन का मतवाद कुछ कुछ सत्य ज्ञात होता है। परन्तु मनुष्य-जगत् में जहाँ ज्ञान-वुद्धि का विकास है, वहाँ हम उक्त नियम के विपरीत ही देखते हैं। उदाहरणार्थ, जिन्हें हम वास्तव में महान् पुरुष या आदर्श पुरुष समझते हैं, उनका वाह्य जगत् से संघर्ष विल्कुल नहीं दिखायी देता। पशु-जगत् में संस्कार अथवा स्वाभाविक ज्ञान की प्रवलता है। परन्तु मनुष्य ज्यों ज्यों उन्नत होता जाता है, त्यों त्यों उसमें वुद्धि का विकास होता जाता है। इसीलिए मनुष्येतर प्राणि-जगत् की तरह वुद्धियुक्त मनुष्य-जगत् में दूसरों का नाश करके उन्नति नहीं हो सकती। मानव का सर्वश्रेष्ठ पूर्ण विकास एकमात्र त्याग के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जो दूसरे के लिए जितना त्याग कर सके, मनुष्यों में वह उतना वड़ा है। और निम्न स्तर के पशुओं में जो जितना ध्वंस कर सकता है, वह उतना ही वलवान समझा जाता है। अतः जीवन-संघर्ष का तत्त्व इन दोनों क्षेत्रों में एक सा उपयोगी नहीं हो सकता। मनुष्य का संघर्ष है मन में। मन को जो जितना वश में कर सका, वह उतना वड़ा वना है। मन के सम्पूर्ण रूप से वृत्तिविहीन वनने से आत्मा का विकास होता है। मनुष्य से भिन्न प्राणि-जगत् में स्थूल देह के संरक्षण के लिए जो संघर्ष होते देखे जाते हैं, वे ही मानव जीवन में मन पर प्रभुता स्थापित करने के लिए अथवा सत्त्ववृत्ति सम्पन्न वनने के लिए होते रहते हैं। जीवित वृक्ष तथा तालाव के जल में पड़ी हुई वृक्ष-छाया की तरह मनुष्येतर प्राणियों का संघर्ष मनुष्य-जगत् के संघर्ष से विपरीत देखा जाता है।

शिष्य—तो फिर आप हमसे शारीरिक उन्नति करने के लिए इतना क्यों कहा करते हैं?

स्वामी जी—क्या तुम लोग मनुष्य हो? हाँ, इतना ही कि तुममें थोड़ी वुद्धि

है। यदि शरीर स्वस्थ न हो तो मन के साथ संग्राम कैसे कर सकोगे? तुम लोग क्या जगत् के पूर्ण विकास रूपी मनुष्य कहलाने योग्य रह गये हो? आहार, निद्रा, मैथुन के अतिरिक्त तुम लोगों में और है ही क्या? ग़नीमत यही है कि अब तक चतुष्पाद नहीं बन गये। श्री रामकृष्ण कहा करते थे—'वही मनुष्य है, जिसे अपने सम्मान का ध्यान है।' तुम लोग तो **जायस्व म्रियस्व** वाक्य के साक्षी बनकर स्वदेशवासियों के द्वेष और विदेशियों की घृणा के पात्र बने हुए हो। इस तरह तुम लोग मानवेतर प्राणियों की श्रेणी में आ पड़े हो, इसीलिए मैं तुम्हें संघर्ष करने को कहता हूँ। मतवाद का झमेला छोड़ो। अपने प्रतिदिन के कार्य एवं व्यवहार का स्थिर चित्त से विचार करके देख लो कि तुम लोग मनुष्य और मनुष्येतर स्तर के बीच के जीवविशेष हो या नहीं। शरीर को पहले सुगठित कर लो। फिर मन पर धीरे धीरे अधिकार प्राप्त होगा—**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** (निर्बल के द्वारा यह आत्म-तत्त्व प्राप्त नहीं किया जा सकता)—समझा?

शिष्य—महाराज, 'बलहीनेन' शब्द के अर्थ में भाष्यकार ने तो 'ब्रह्मचर्यहीनेन' कहा है!

स्वामी जी—सो कहें, मैं तो कहता हूँ—The physically weak are unfit for the realisation of the self. (जो लोग शरीर से दुर्बल हैं, वे आत्म-साक्षात्कार के अयोग्य हैं।)

शिष्य—परन्तु सबल शरीर में कई जड़-बुद्धि भी तो देखने में आते हैं।

स्वामी जी—यदि तुम कोशिश करके उन्हें सद्विचार एक बार दे सको, तो वे जितने शीघ्र उसे कार्यरूप में परिणत कर सकेंगे, उतने शीघ्र दुर्बल व्यक्ति नहीं कर सकते। देखता नहीं, क्षीण व्यक्ति काम-क्रोधादि के वेग को सँभाल नहीं सकता। कमज़ोर व्यक्ति थोड़े ही में क्रोध कर उठते हैं—काम द्वारा भी शीघ्र ही मोहित हो जाते हैं।

शिष्य—परन्तु इस नियम का व्यतिक्रम भी देखा जाता है।

स्वामी जी—कौन कहता है कि व्यतिक्रम नहीं है? मन पर एक बार अधिकार प्राप्त हो जाने पर देह सबल रहे या सूख जाय, इससे कुछ नहीं होता। वास्तविक बात यह है कि शरीर के स्वस्थ न रहने पर कोई आत्म-ज्ञान का अधिकारी ही नहीं बन सकता। श्री रामकृष्ण कहा करते थे—'शरीर में ज़रा भी दोष रहने पर जीव सिद्ध नहीं बन सकता।'

इन बातों को कहते कहते स्वामी जी को उत्तेजित होते देखकर शिष्य और कोई बात करने का साहस नहीं कर सका। वह स्वामी जी के सिद्धान्त को स्वीकार कर चुप हो गया। थोड़ी देर बाद स्वामी जी हँसी हँसी में उपस्थित व्यक्तियों

से कहने लगे—"और एक वात सुनी है आप लोगों ने ? आज एक भट्टाचार्य ब्राह्मण निवेदिता का जूठा खा आया है। उसकी छुई हुई मिठाई खाई तो खैर, उससे उतनी हानि नहीं; परन्तु उसका छुआ हुआ जल कैसे पी गया !"

शिष्य—सो आप ही ने तो आदेश दिया था। गुरु के आदेश पर मैं सव कुछ कर सकता हूँ। जल पीने को तो मैं सहमत न था। आपने पीकर दिया ! इसीलिए प्रसाद मानकर पी गया।

स्वामी जी—तेरी जाति की जड़ कट गयी है। अव फिर तुझे कोई भट्टाचार्य ब्राह्मण नहीं कहेगा।

शिष्य—न कहे, मैं आपकी आज्ञा पर चाण्डाल का भात भी खा सकता हूँ।

वात सुनकर स्वामी जी तथा उपस्थित सभी लोग जोर से हँस पड़े।

वातचीत में रात्रि के क़रीव साढ़े वारह वज गये। शिष्य ने निवासगृह में लौटकर देखा, फाटक वन्द हो गया है। पुकार कर किसीको जगाने में असमर्थ होकर वह विवश हो वाहर के वरामदे में ही सो गया।

कालचक्र के निर्मम परिवर्तन से आज स्वामी जी, स्वामी योगानन्द तथा भगिनी निवेदिता इस संसार में नहीं हैं, रह गयी है, उनके जीवन की केवल पवित्र स्मृति। उनके वार्तालाप को थोड़ा-वहुत लिखने में समर्थ होकर शिष्य अपने को धन्य मान रहा है।

२२

[स्थान : वेलूड़ ; किराये का मठ। वर्ष : १८९८ ई०]

आज दिन में क़रीव दो वजे के समय शिष्य पैदल चलकर मठ में आया है। अव मठ को उठाकर नीलाम्वर वावू के वगीचेवाले मकान में लाया गया है। इस मठ की ज़मीन भी थोड़े दिन हुए खरीदी गयी है। स्वामी जी शिष्य को साथ लेकर दिन के क़रीव चार वजे मठ की नयी ज़मीन में घूमने निकले हैं। मठ की ज़मीन उस समय भी जंगलों से पूर्ण थी। उस समय उस ज़मीन के उत्तर भाग में एक एकमंज़िला पक्का मकान था। उसीका संस्कार करके वर्तमान मठ-भवन निर्मित हुआ है। जिन सज्जन ने मठ की ज़मीन खरीद दी थी, उन्होंने भी स्वामी जी के साथ थोड़ी दूर तक आकर विदा ली। स्वामी जी शिष्य के साथ मठ की भूमि पर भ्रमण करने लगे और वार्तालाप के सिलसिले में भावी मठ की रूपरेखा तथा नियम आदि की चर्चा करने लगे।

धीरे धीरे उपर्युक्त एकमंज़िले मकान के पूर्व के वरामदे में पहुँचकर घूमते

घूमते स्वामी जी कहने लगे, "यहीं पर साधुओं के रहने का स्थान होगा। यह मठ साधन-भजन एवं ज्ञान-चर्चा का प्रधान केन्द्र होगा, यही मेरी इच्छा है। यहाँ से जिस शक्ति की उत्पत्ति होगी वह पृथ्वी भर में फैल जायगी और वह मनुष्य के जीवन की गति को परिवर्तित कर देगी। ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म के समन्वय स्वरूप मानव के लिए हितकर उच्च आदर्श यहाँ से प्रसूत होंगे। इस मठ के पुरुषों के इशारे पर एक समय दिग्दिगन्त में प्राण का संचार होगा। समय पर यथार्थ धर्म के सब प्रेमी यहाँ आकर एकत्र होंगे—मन में इसी प्रकार की कितनी ही कल्पनाएँ उठ रही हैं।

"वह जो मठ के दक्षिण भाग की ज़मीन देख रहा है, वहाँ पर विद्या का केन्द्र बनेगा। व्याकरण, दर्शन, विज्ञान, काव्य, अलंकार, स्मृति, भक्ति शास्त्र और राजभाषा की शिक्षा उसी स्थान में दी जायगी। प्राचीन काल की पाठशालाओं (टोलों) के अनुकरण पर यह विद्या-मंदिर स्थापित होगा। बालब्रह्मचारी उस स्थान पर रहकर शास्त्रों का अध्ययन करेंगे। उनके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जायगा। ये सब ब्रह्मचारी पाँच वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् यदि चाहेंगे तो घर लौटकर गृहस्थी कर सकेंगे। यदि इच्छा हो तो मठ के वरिष्ठ संन्यासियों की अनुमति लेकर संन्यास ले सकेंगे। इन ब्रह्मचारियों में जो उच्छृंखल या दुश्चरित्र पाये जायँगे, उन्हें मठाधिपति उसी समय बाहर निकाल देंगे। यहाँ पर सभी जाति और वर्ण के शिक्षार्थियों को शिक्षा दी जायगी। इसमें जिन्हें आपत्ति होगी उन्हें नहीं लिया जायगा, परन्तु जो लोग अपनी जाति वर्णाश्रम के आचार को मानकर चलना चाहेंगे, उन्हें अपने भोजन आदि का प्रबंध स्वयं कर लेना होगा। वे केवल अध्ययन ही दूसरों के साथ करेंगे। उनके भी चरित्र के सम्बन्ध में मठाधिपति सदा कड़ी दृष्टि रखेंगे। यहाँ पर शिक्षित न होने से कोई संन्यास का अधिकारी न बन सकेगा। धीरे धीरे जब इस प्रकार मठ का काम प्रारम्भ होगा, उस समय कैसा होगा, बोल तो।"

शिष्य—तो क्या आप प्राचीन काल की तरह गुरुगृह में ब्रह्मचर्याश्रम की प्रथा को देश में फिर से प्रचलित करना चाहते हैं?

स्वामी जी—और नहीं तो क्या? इस समय देश में जिस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है, उसमें ब्रह्मविद्या के विकास का ज़रा भी स्थान नहीं। पहले के समान ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित करने होंगे। परन्तु इस समय उसकी नींव व्यापक भावसमूह पर डालनी होगी अर्थात् समयानुसार उसमें अनेक उपयुक्त परिवर्तन करने होंगे। वह सब पीछे बतलाऊँगा।

स्वामी जी फिर कहने लगे—"मठ के दक्षिण में वह जो ज़मीन है, उसे भी किसी

दिन खरीद लेना होगा। वहाँ पर मठ का लंगरखाना रहेगा। वहाँ पर वास्तविक ग़रीब-दुखियों को नारायण मानकर उनकी सेवा करने की व्यवस्था रहेगी। वह लंगरखाना श्री रामकृष्ण के नाम पर स्थापित होगा। जैसा धन जुटेगा पहले उसी के अनुसार लंगरखाना खोलना होगा। ऐसा भी हो सकता है कि पहले-पहल दो ही तीन व्यक्तियों को लेकर काम प्रारम्भ किया जाय। उत्साही ब्रह्मचारियों को इस लंगरखाने का संचालन सिखाना होगा। उन्हें कहीं से प्रवन्ध करके, आवश्यक हो तो भीख माँगकर भी इस लंगरखाने को चलाना होगा। इस विषय में मठ किसी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं कर सकेगा। ब्रह्मचारियों को ही उसके लिए धन संग्रह करके लाना पड़ेगा। इस प्रकार धर्मार्थ लंगर में पाँच वर्प का प्रशिक्षण समाप्त होने पर वे विद्या-मन्दिर शाखा में प्रवेश करने का अधिकार पा सकेंगे। लंगरखाने में पाँच और विद्या-मन्दिर में पाँच, कुल दस वर्ष प्रशिक्षण ग्रहण करने के वाद मठ के स्वामियों द्वारा दीक्षित होकर वे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो सकेंगे—केवल शर्त होगी कि वे संन्यासी बनना चाहें और मठ के अध्यक्ष उन्हें योग्य अधिकारी समझकर संन्यास देना चाहें। परन्तु मठाध्यक्ष किसी किसी विशेप सद्‌गुणी ब्रह्मचारी के सम्वन्ध में इस नियम का उल्लंघन करके भी उन्हें जव इच्छा हो, संन्यास में दीक्षा दे सकेंगे। परन्तु साधारण ब्रह्मचारियों को, जैसा मैंने पहले कहा है, उसी क्रम से संन्यासाश्रम में प्रवेश करना होगा। मेरे मस्तिप्क में ये सव विचार मौजूद हैं"

शिष्य—महाराज, मठ में इस प्रकार तीन शाखाओं की स्थापना का क्या उद्देश्य होगा?

स्वामी जी—समझा नहीं? पहले अन्नदान; उसके वाद विद्यादान और सर्वोपरि ज्ञानदान। इन तीन भावों का समन्वय इस मठ से करना होगा। अन्नदान करने की चेष्टा करते करते ब्रह्मचारियों के मन में परार्थ कर्म में तत्परता तथा शिव मानकर जीव-सेवा का भाव दृढ़ होगा। उससे उनके चित्त धीरे धीरे निर्मल होकर उनमें सात्त्विक भाव का स्फुरण होगा। तभी ब्रह्मचारी समय पर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की योग्यता एवं संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

शिष्य—महाराज, ज्ञानदान ही यदि श्रेष्ठ है, फिर अन्नदान और विद्यादान की शाखाएँ स्थापित करने की क्या आवश्यकता?

स्वामी जी—तू अभी तक मेरी वात नहीं समझा! सुन—इस अन्नाभाव के युग में यदि तू दूसरों के लिए सेवा के उद्देश्य से ग़रीव-दुःखियों को, भिक्षा माँगकर या जैसे भी हो, दो ग्रास अन्न दे सका तो जीव-जगत् का तथा तेरा तो कल्याण होगा ही—साथ ही साथ तू इस सत्कार्य के लिए सभी की सहानुभूति भी प्राप्त कर सकेगा। इस सत्कार्य के लिए तुझ पर विश्वास करके काम-कांचन में वँधे हुए गृहस्थ लोग भी

तेरी सहायता करने के लिए अग्रसर होंगे। तू विद्यादान या ज्ञानदान करके जितने लोगों को आकर्षित कर सकेगा, उसके हज़ार गुने लोग तेरे इस अयाचित अन्नदान द्वारा आकृष्ट होंगे। इस कार्य में तुझे जन-साधारण की जितनी सहानुभूति प्राप्त होगी उतनी अन्य किसी कार्य में नहीं हो सकती। यथार्थ सत्कार्य में मनुष्य के भगवान् भी सहायक होते हैं। इसी तरह लोगों के आकृष्ट होने पर ही तू उनमें विद्या तथा ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा को उद्दीप्त कर सकेगा। इसीलिए पहले अन्नदान ही आवश्यक है।

शिष्य—महाराज, खैराती लंगरखाना खोलने के लिए पहले स्थान चाहिए; उसके बाद उसके लिए मकान आदि बनवाना पड़ेगा, फिर काम चलाने के लिए धन चाहिए। इतना रुपया कहाँ से आयेगा?

स्वामी जी—मठ का दक्षिण का भाग मैं अभी छोड़ देता हूँ और उस बेल के पेड़ के नीचे एक झोपड़ा खड़ा कर देता हूँ। तू एक या दो अन्धे-लूले खोज कर ले आ और कल से ही उनकी सेवा में लग जा। स्वयं उनके लिए भिक्षा माँग कर ला। स्वयं पका कर उन्हें खिला। इस प्रकार कुछ दिन करने से ही देखेगा—तेरे इस कार्य में सहायता करने के लिए कितने ही लोग अग्रसर होंगे; कितने ही लोग धन देंगे। **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति** (हे तात, कल्याण कार्य करनेवाला कभी दुःखी नहीं होता)।

शिष्य—हाँ, ठीक है। परन्तु उस प्रकार लगातार कर्म करते करते समय पर कर्म-बन्धन भी तो आ सकता है?

स्वामी जी—कर्म के परिणाम के प्रति यदि तेरी दृष्टि न रहे और सभी प्रकार की कामना तथा वासनाओं के परे जाने के लिए यदि तुझमें एकान्त आग्रह रहे तो वे सब सत्कार्य तेरे कर्म-बन्धन काट डालने में ही सहायता करेंगे! ऐसे कर्म से कहीं बन्धन आयेगा? यह तू कैसी बात कह रहा है? दूसरों के लिए किये हुए इस प्रकार के कर्म ही कर्म-बन्धनों की जड़ को काटने के लिए एकमात्र उपाय हैं! **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है)।

शिष्य—महाराज, अब तो मैं धर्मार्थ लंगर और सेवाश्रम के सम्बन्ध में आपके मनोभाव को विशेष रूप से सुनने के लिए और भी उत्कण्ठित हो रहा हूँ।

स्वामी जी—ग़रीब दुःखियों के लिए छोटे छोटे ऐसे कमरे बनवाने होंगे, जिनमें हवा आने-जाने की अच्छी व्यवस्था रहे। एक एक कमरे में दो या तीन व्यक्ति रहेंगे। उन्हें अच्छे बिछौने और साफ़ कपड़े देने होंगे, उनके लिए एक डॉक्टर रहेगा। सप्ताह में एक या दो बार सुविधानुसार वह उन्हें देख जायगा। धर्मार्थ लंगरखाने के भीतर सेवाश्रम एक विभाग की तरह रहेगा। इसमें रोगियों की सेवा-शुश्रूषा की जायगी।

धीरे धीरे जैसे जैसे धन आता जायगा, वैसे वैसे एक बड़ा रसोईघर बनाना होगा। लंगरखाने में केवल 'दीयतां भुज्यताम्'—यही ध्वनि उठेगी। भात का पानी गंगा जी में पड़कर गंगा जी का जल सफ़ेद हो जायगा। इस प्रकार धर्मार्थ लंगरखाना बना देखकर मेरे प्राणों को शान्ति मिलेगी।

शिष्य ने कहा, "आपकी जब इस प्रकार इच्छा है तो सम्भव है समय पर वास्तव में ऐसा ही हो।" शिष्य की यह बात सुनकर स्वामी जी गंगा की ओर थोड़ी देर ताकते हुए मौन रहे। फिर प्रसन्न मुख शिष्य से सस्नेह कहने लगे—"तुममें से कब किसके भीतर से सिंह जाग उठेगा, यह कौन जानता है? तुममें से एक एक में यदि माँ शक्ति जगा दें तो पृथ्वी भर में वैसे कितने ही लंगरखाने बन जायँगे। क्या जानता है? ज्ञान, शक्ति, भक्ति सभी जीवों में पूर्ण भाव से मौजूद हैं, पर हम केवल उनके विकास की न्यूनाधिकता को ही देखते हैं और इस कारण इसे बड़ा और छोटा मानने लगते हैं। मात्र जीव के मन पर पड़ा हुआ एक प्रकार का पर्दा सम्पूर्ण विकास को रोककर खड़ा है। वह हटा कि बस सब कुछ हो गया। उस समय जो चाहेगा, जो इच्छा करेगा वही होगा।"

स्वामी जी की बात सुनकर शिष्य सोचने लगा कि उसके स्वयं के मन का पर्दा कब हटेगा और कब उसे ईश्वर-दर्शन प्राप्त होगा!

स्वामी जी फिर कहने लगे—"यदि ईश्वर ने चाहा तो इस मठ को समन्वय का महान् क्षेत्र बनाना होगा। हमारे श्री रामकृष्ण सर्व भावों की साक्षात् समन्वय-मूर्ति हैं। उस समन्वय के भाव को यहाँ पर जगाकर रखने से श्री रामकृष्ण संसार में प्रतिष्ठित रहेंगे। सारे मत, सारे पंथ, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी जिससे यहाँ पर आकर अपने अपने आदर्श को देख सकें, वह करना होगा। उस दिन जब मठ-भूमि पर श्री रामकृष्ण की प्राण-प्रतिष्ठा की, तब ऐसा लगा मानो यहाँ से उनके भावों का विकास होकर चराचर विश्व भर में छा गया है। मैं तो जहाँ तक हो सके, कर रहा हूँ और करूँगा; तुम लोग भी श्री रामकृष्ण के उदार भाव लोगों को समझा दो। केवल वेदान्त पढ़ने से कोई लाभ न होगा। असल में प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में शुद्धाद्वैतवाद की सत्यता को प्रमाणित करना होगा। श्री शंकर इस अद्वैतवाद को जंगलों और पहाड़ों में रख गये हैं; मैं अब उसे वहाँ से लाकर संसार और समाज में प्रचारित करने के लिए आया हूँ। घर घर में, घाट-मैदान में, जंगल-पहाड़ों में इस अद्वैतवाद का गम्भीर नाद उठाना होगा। तुम लोग मेरे सहायक बनकर काम में लग जाओ।

शिष्य—महाराज, ध्यान की सहायता से उस भाव का अनुभव करने में ही मानो मुझे अच्छा लगता है। उछल-कूद की इच्छा नहीं होती।

स्वामी जी—यह तो नशा करके बेहोश पड़े रहने की तरह हुआ। केवल ऐसे रहकर क्या होगा? अद्वैतवाद की प्रेरणा से कभी ताण्डव नृत्य कर तो कभी स्थिर होकर रह। अच्छी चीज़ पाने पर क्या उसे अकेले खाकर ही सुख होता है? दस आदमियों को देकर खाना चाहिए। आत्मानुभूति प्राप्त करके यदि तू मुक्त हो गया तो इससे दुनिया को क्या लाभ होगा? त्रिजगत् को मुक्त करना होगा। महामाया के राज्य में आग लगा देनी होगी; तभी नित्य-सत्य में प्रतिष्ठित होगा। उस आनन्द की क्या कोई तुलना है?—**निरवधि गगनाभम्**—आकाशकल्प भूमानन्द में प्रतिष्ठित होगा, जीव-जगत् में सर्वत्र ही अपनी ही सत्ता देखकर तू दंग रह जायगा! स्थावर और जंगम सभी तुझे अपनी सत्ता ज्ञात होंगे। उस समय अपनी ही की तरह सबकी चिन्ता किये बिना तू रह नहीं सकेगा। ऐसी स्थिति ही कर्म के बीच में वेदान्त की अनुभूति है, समझा? वह ब्रह्म एक होकर भी व्यावहारिक रूप में अनेक रूपों में सामने विद्यमान है। नाम तथा रूप व्यवहार के मूल में मौजूद हैं। जिस प्रकार घड़े का नाम-रूप छोड़ देने से क्या देखता है—केवल मिट्टी, जो उसकी वास्तविक सत्ता है। इसी प्रकार भ्रम में घट, पट इत्यादि का भी तू विचार करता है तथा उन्हें देखता है। ज्ञान-प्रतिबन्धक यह जो अज्ञान है, जिसकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है, उसीको लेकर व्यवहार चल रहा है। स्त्री-पुत्र, देह-मन जो कुछ है, सभी नाम-रूप की सहायता से अज्ञान की सृष्टि में देखने में आते हैं। ज्योंही अज्ञान हट जायगा, त्योंही ब्रह्म-सत्ता की अनुभूति हो जायगी।

शिष्य—यह अज्ञान आया कहाँ से?

स्वामी जी—कहाँ से आया यह बाद में बताऊँगा। तू जब रस्सी को साँप मानकर भय से भागने लगा, तब क्या रस्सी साँप बन गयी थी?—या तेरी अज्ञता ने ही तुझे उस प्रकार भगाया था?

शिष्य—अज्ञता ने ही वैसा किया था।

स्वामी जी—तो फिर सोचकर देख, तू जब फिर रस्सी को रस्सी जान सकेगा, उस समय अपनी पहलेवाली अज्ञता का चिन्तन कर तुझे हँसी आयगी या नहीं, नाम-रूप मिथ्या जान पड़ेंगे या नहीं?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामी जी—तब, नाम-रूप मिथ्या हुए कि नहीं? इस प्रकार ब्रह्म-सत्ता ही एकमात्र सत्य रह गयी। इस अनन्त सृष्टि की विचित्रताओं से भी उनके स्वरूप में जरा सा परिवर्तन नहीं हुआ, केवल तू इस अज्ञान के धीमे अन्धकार में यह स्त्री, यह पुत्र, यह अपना, यह पराया, ऐसी मान्यता के कारण इस सर्वविभासक आत्म-सत्ता को समझ नहीं सकता! जिस समय तू गुरु के उपदेश और अपने विश्वास के

द्वारा इस नाम-रूपात्मक जगत् को न देखकर, इसकी मूल सत्ता का ही अनुभव करेगा, उस समय आब्रह्मस्तम्ब सभी पदार्थों में तुझे आत्मानुभूति होगी। उसी समय **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः** (हृदय-ग्रन्थि कट जाती है और समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं) की स्थिति होगी।

शिष्य—महाराज, मुझे इस अज्ञान के आदि-अन्त की बातें जानने की इच्छा है।

स्वामी जी— जो चीज बाद में नहीं रहती वह झूठी है, यह तो समझ गया? जिसने वास्तव में ब्रह्म को जान लिया है, वह कहेगा, 'अज्ञान फिर कहाँ?' वह रस्सी को रस्सी ही देखता है, साँप नहीं। जो लोग रस्सी में साँप देखते हैं, उन्हें भयभीत देखकर उसे हँसी आती है। इसलिए अज्ञान का वास्तव में कोई स्वरूप नहीं है। अज्ञान को 'सत्' भी नहीं कहा जा सकता, 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता— **सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो**। जो चीज़ इस प्रकार असत्य ज्ञात हो रही है, उसके सम्बन्ध में क्या प्रश्न है, और क्या उत्तर है? उस विषय में प्रश्न करना भी उचित नहीं हो सकता। क्यों, यह सुन—यह प्रश्नोत्तर भी तो उसी नाम-रूप या देश-काल की भावना से किया जा रहा है। जो ब्रह्म वस्तु, नाम-रूप, देश-काल से परे है, उसे प्रश्नोत्तर द्वारा कैसे समझाया जा सकता है? इसीलिए शास्त्र, मंत्र आदि व्यावहारिक रूप से सत्य हैं, पारमार्थिक रूप से नहीं। अज्ञान का स्वरूप ही नहीं है, उसे फिर समझेगा क्या? जब ब्रह्म का प्रकाश होगा, उस समय फिर इस प्रकार का प्रश्न करने का अवसर ही न रहेगा। श्री रामकृष्ण की 'मोची-मुटिया' वाली कहानी[1] सुनी है न?—बस, ठीक वही! अज्ञान को ज्योंही पहचाना जाता है, त्योंही वह भाग जाता है।

---

१. एक पण्डित जी किसी गाँव को जा रहे थे। उन्हें कोई नौकर नहीं मिला, इसलिए उन्होंने रास्ते के एक चमार को ही अपने साथ ले लिया और उसे सिखा दिया कि वह अपनी जात-पांत गुप्त रखे और किसीसे कुछ भी न बोले। गाँव पहुँचकर एक दिन पण्डित जी अपने नित्यक्रम के अनुसार सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। वह नौकर भी उनके पास बैठा था। इतने में ही वहाँ एक दूसरे पण्डित जी आये। अपने जूते कहीं छोड़ आये थे वे। उन्होंने इस नौकर को हुक्म दिया, "अरे जा, वहाँ से मेरे जूते तो ले आ।" पर नौकर नहीं उठा और न कुछ बोला ही। पण्डित जी ने फिर कहा, पर वह फिर भी नहीं उठा। इस पर उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उसे डाँटकर कहा, "तू बड़ा चमार है, कहने से भी नहीं उठता।" अब तो नौकर बड़ा घबड़ाया, वह सचमुच चमार था। वह सोचने लगा, 'अरे मेरी जात

शिष्य—परन्तु महाराज, यह अज्ञान आया कहाँ से ?

स्वामी जी—जो चीज़ है ही नहीं, वह फिर आयेगी कैसे ? हो, तब तो आयेगी ?

शिष्य—तो फिर इस जीव-जगत् की उत्पत्ति क्योंकर हुई ?

स्वामी जी—एक ब्रह्म-सत्ता ही तो मौजूद है ! तू मिथ्या नाम-रूप देकर उसे नाना रूपों और नामों में देख रहा है।

शिष्य—यह मिथ्या नाम-रूप भी क्यों और वह कहाँ से आया ?

स्वामी जी—शास्त्रों में इस नाम-रूपात्मक संस्कार या अज्ञान को प्रवाह के रूप में नित्यप्राय कहा गया है। परन्तु उसका अन्त है। और ब्रह्म-सत्ता तो सदा रस्सी की तरह अपने स्वरूप में ही वर्तमान है। इसीलिए वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है कि यह निखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्म में अध्यस्त, इन्द्रजालवत प्रतीत हो रहा है। इससे ब्रह्म के स्वरूप में किंचित् भी परिवर्तन नहीं हुआ। समझा ?

शिष्य—एक बात अभी भी नहीं समझ सका।

स्वामी जी—वह क्या ?

शिष्य—यह जो आपने कहा कि यह सृष्टि, स्थिति, लय आदि ब्रह्म में अध्यस्त हैं, उनकी कोई स्वरूप-सत्ता नहीं है—यह कैसे हो सकता है ? जिसने जिस चीज़ को पहले कभी नहीं देखा, उस चीज़ का भ्रम उसे हो ही नहीं सकता। जिसने कभी साँप नहीं देखा, उसे रस्सी में सर्प का भ्रम नहीं होता। इसी प्रकार जिसने इस सृष्टि को नहीं देखा, उसका ब्रह्म में सृष्टि का भ्रम क्यों होगा ? अतः सृष्टि थी या है, इसीलिए सृष्टि का भ्रम हो रहा है; इसीसे द्वैत की आपत्ति उठ रही है।

स्वामी जी—ब्रह्मज्ञ व्यक्ति तेरे प्रश्न का इस रूप में पहले ही प्रत्याख्यान करेंगे कि उनकी दृष्टि में सृष्टि आदि बिल्कुल दिखायी नहीं दे रही है। वे एकमात्र ब्रह्म-सत्ता को ही देख रहे हैं। रस्सी ही देख रहे हैं; साँप नहीं देख रहे हैं। यदि तू कहेगा, 'मैं तो यह सृष्टि या साँप देख रहा हूँ'—तो तेरी दृष्टि के दोष को दूर करने के लिए वे तुझे रस्सी का स्वरूप समझा देने की चेष्टा करेंगे। जब उनके उपदेश और अपनी स्वयं की विचार-शक्ति इन दोनों के बल पर तू रज्जु-सत्ता या ब्रह्म-सत्ता को समझ सकेगा, उस समय यह भ्रमात्मक सर्प-ज्ञान या सृष्टि-ज्ञान नष्ट हो जायगा। उस समय इस सृष्टि, स्थिति, प्रलय रूपी भ्रमात्मक ज्ञान को ब्रह्म में आरोपित

तो शायद इन्होंने जान ली।' बस वह भागा, और ऐसा भागा कि उसका पता ही न चला। ठीक इसी प्रकार जब माया पहचान ली जाती है तो वह भी भाग जाती है, एक क्षण भी नहीं टिकती।

कहने के अतिरिक्त और तू क्या कह सकता है? अनादि प्रवाह के रूप में सृष्टि की यह प्रतीति यदि चली आयी है तो आती रहे, उसके निर्णय में लाभ-हानि कुछ भी नहीं। 'करामलक' की तरह ब्रह्म-तत्त्व का प्रत्यक्ष न होने पर इस प्रश्न की पूरी मीमांसा नहीं हो सकती; और उस समय फिर प्रश्न भी नहीं उठता, उत्तर की भी आवश्यकता नहीं होती! ब्रह्म-तत्त्व का आस्वाद उस समय 'मूकास्वादन' की तरह होता है।

शिष्य—तो फिर इतना विचार करके क्या होगा?

स्वामी जी—उस विषय को समझने के लिए विचार है। परन्तु सत्य वस्तु विचार से परे है—**नैषा तर्केण मतिरापनेया।**

इस प्रकार वार्तालाप होते होते शिष्य स्वामी जी के साथ मठ में आकर उपस्थित हुआ। मठ में आकर स्वामी जी ने मठ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारियों को आज के ब्रह्म विचार का संक्षिप्त सार समझा दिया और उठते उठते शिष्य से कहने लगे, **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।**

२३

[स्थान: वेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष: १८९८ ई०]

शिष्य—स्वामी जी, आप इस देश में व्याख्यान क्यों नहीं देते? अपनी वक्तृता के प्रभाव से यूरोप-अमेरिका को मतवाला बना आये; परन्तु भारत में लौट-कर आपका उस विषय में यत्न और अनुराग क्यों घट गया, इसका कारण समझ में नहीं आता। हमारी समझ में तो पाश्चात्य देशों के बजाय यहीं पर उस प्रकार की चेष्टा की अधिक आवश्यकता है।

स्वामी जी—इस देश में पहले ज़मीन तैयार करनी होगी। तब बीज बोने से वृक्ष उगेगा। पाश्चात्य की भूमि ही इस समय बीज बोने के योग्य है, बहुत उर्वरा है। वहाँ के लोग अब भोग की अन्तिम सीमा तक पहुँच चुके हैं। भोग से अघा कर अब उनका मन उसमें और अधिक शान्ति नहीं पा रहा है। वे एक घोर अभाव का अनुभव कर रहे हैं। पर तुम्हारे देश में न तो भोग है और न योग ही। भोग की इच्छा कुछ तृप्त हो जाने पर ही, लोग योग की बात सुनते या समझते हैं। अन्न के अभाव से क्षीण देह, क्षीण मन, रोग-शोक-परिताप की जन्मभूमि भारत में भाषण देने से क्या होगा?

शिष्य—क्यों, आपने ही तो कभी कभी कहा है, यह देश धर्मभूमि है। इस देश में लोग जैसे धर्म की बात समझते हैं और कार्यरूप में धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वैसा दूसरे देशों में नहीं। तो फिर आपके ओजस्वी भाषणों से क्यों न देश मतवाला हो उठेगा—क्यों न फल होगा?

स्वामी जी—अरे, धर्म-कर्म करने के लिए पहले कूर्म अवतार की पूजा करनी चाहिए। पेट है वह कूर्म। इसे पहले ठण्डा किये बिना तेरी धर्म-कर्म की बात कोई ग्रहण नहीं करेगा। देखता नहीं, पेट की चिन्ता से भारत बेचैन है। विदेशियों के साथ मुक़ाबला करना, वाणिज्य में अबाध निर्यात, और सबसे बढ़कर तुम लोगों की आपस की घृणित दास-सुलभ ईर्ष्या ने ही तुम्हारे देश की अस्थि-मज्जा को खा डाला है। धर्म की बात सुनाना हो तो पहले इस देश के लोगों के पेट की चिन्ता को दूर करना होगा। नहीं तो केवल व्याख्यान देने से विशेष लाभ न होगा।

शिष्य—तो हमें अब क्या करना चाहिए?

स्वामी जी—पहले कुछ त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है, जो अपने परिवार के लिए न सोचकर दूसरों के लिए जीवन का उत्सर्ग करने को तैयार हों। इसीलिए मैं मठ की स्थापना करके कुछ बाल-संन्यासियों को उसी रूप में तैयार कर रहा हूँ। शिक्षा समाप्त होने पर, ये लोग द्वार द्वार पर जाकर सभी को उनकी वर्तमान शोचनीय स्थिति समझायेंगे; उस स्थिति से उन्नति किस प्रकार हो सकती है, इस विषय में उपदेश देंगे और साथ ही साथ धर्म के महान् तत्त्वों को सरल भाषा में उन्हें साफ़ साफ़ समझा देंगे। तुम्हारे देश का जन साधारण मानो एक सोया हुआ तिमिंगल (एक विशालकाय समुद्री जीव) है। इस देश की यह जो विश्वविद्यालय की शिक्षा है, उससे देश के अधिक से अधिक एक या दो प्रतिशत व्यक्ति लाभ उठा रहे हैं। जो लोग शिक्षा पा रहे हैं, वे भी देश के कल्याण के लिए कुछ नहीं कर सक रहे हैं। बेचारे करें भी तो कैसे? कॉलेज से निकलकर ही देखते हैं कि वे सात बच्चों के बाप बन गये हैं, उस समय जैसे तैसे किसी क्लर्की या डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी स्वीकार कर लेते हैं—बस यही हुआ शिक्षा का परिणाम! उसके बाद गृहस्थी के भार से उच्च कर्म और चिन्तन करने का उसको फिर समय कहाँ? जब अपना स्वार्थ ही सिद्ध नहीं होता, तब वह दूसरों के लिए क्या करेगा?

शिष्य—तो क्या इसका कोई उपाय नहीं है?

स्वामी जी—अवश्य है! यह सनातन धर्म का देश है। यह देश गिर अवश्य गया है, परन्तु निश्चय फिर उठेगा। और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जायगी। देखा नहीं है, नदी या समुद्र में लहरें जितनी नीचे उतरती हैं, उसके बाद उतनी ही जोर से ऊपर उठती हैं। यहाँ पर भी उसी प्रकार होगा। देखता नहीं

है, पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है, सूर्य उदित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम लोग इसी समय कमर कसकर तैयार हो जाओ। गृहस्थी करके क्या होगा? तुम लोगों का अब काम है प्रान्त प्रान्त में, गाँव गाँव में जाकर देश के लोगों को समझा देना कि अब आलस्य से बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षा-विहीन, धर्म-विहीन वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो—'भाई, सब उठो, जागो, और कितने दिन सोओगे?' और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल करके उन्हें जाकर समझा दो। इतने दिन इस देश का ब्राह्मण धर्म पर एकाधिकार किये बैठा था। काल के स्रोत में वह जब और अधिक टिक नहीं सका, तो तू अब जाकर ऐसी व्यवस्था कर कि देश के सभी लोग उस धर्म को प्राप्त कर सकें। सभी को जाकर समझा दो कि ब्राह्मणों की तरह तुम्हारा भी धर्म में एक सा अधिकार है। चाण्डाल तक को इस अग्नि-मन्त्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थ-जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। नहीं तो तुम्हारे लिखने पढ़ने को धिक्कार—और तुम्हारे वेद-वेदान्त पढ़ने को भी धिक्कार!

शिष्य—महाराज, हममें वह शक्ति कहाँ? यदि आपकी शतांश शक्ति भी हममें होती तो हम स्वयं धन्य हो जाते और दूसरों को भी धन्य कर सकते!

स्वामी जी—धत् मूर्ख! शक्ति क्या कोई दूसरा देता है? वह तेरे भीतर ही मौजूद है। समय आने पर वह स्वयं ही प्रकट होगी। तू काम में लग जा; फिर देखेगा, इतनी शक्ति आयेगी कि तू उसे सँभाल न सकेगा। दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह का सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते करते मर भी जाओ तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।

शिष्य—परन्तु महाराज, जो लोग मुझ पर निर्भर हैं, उनका क्या होगा?

स्वामी जी—यदि तू दूसरों के लिए प्राण देने को तैयार हो जाता है, तो भगवान् उनका कोई न कोई उपाय करेंगे ही। **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति**—(हे तात, कल्याण करनेवाला व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होता), गीता पढ़ा है न?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामी जी—त्याग ही असली बात है। त्यागी हुए बिना कोई दूसरों के लिए सोलह आना प्राण देकर काम नहीं कर सकता। त्यागी सभी को समभाव से देखता है; सभी की सेवा में लगा रहता है। वेदान्त में भी तो पढ़ा है कि समभाव से देखो तो फिर एक स्त्री और कुछ बच्चों को अधिक अपना समझकर

क्यों मानेगा? तेरे दरवाज़े पर स्वयं नारायण दरिद्र के भेष में आकर अनाहार से मृतप्राय होकर पड़े हैं। उन्हें कुछ न देकर केवल अपना और अपने स्त्री-पुत्रों का पेट भाँति भाँति के व्यंजनों से भरना तो पशुओं का काम है।

शिष्य—महाराज, दूसरों के लिए काम करने के लिए समय समय पर बहुधा धन की भी आवश्यकता होती है। वह कहाँ से आयेगा?

स्वामी जी—मैं कहता हूँ, जितनी शक्ति है, पहले उतना ही कार्य कर। धन के अभाव से यदि कुछ नहीं दे सकता तो न सही, पर एक मीठी बात या एक-दो सदुपदेश तो उन्हें दे सकता है। क्या इसमें भी धन लगता है?

शिष्य—जी हाँ, यह तो कर सकता हूँ।

स्वामी जी—'जी, कर सकता हूँ'—केवल मुँह से कहने से काम नहीं बनेगा। जो कर सकता है, वह मुझे करके दिखा, तब जानूँगा कि तेरा मेरे पास आना सफल हुआ। काम में लग जा। कितने दिनों के लिए है यह जीवन? संसार में जब आया है, तब एक स्मृति छोड़कर जा। वरना पेड़-पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं। उसी प्रकार जन्म लेने और मरने की इच्छा क्या मनुष्य की भी कभी होती है? मुझे करके दिखा दे कि तेरा वेदान्त पढ़ना सार्थक हुआ है। जाकर सभी को यह बात सुना—'तुम्हारे भीतर अनन्त शक्ति मौजूद है, उसी शक्ति को जाग्रत करो।' केवल अपनी मुक्ति से क्या होगा? मुक्ति की कामना भी तो महा स्वार्थपरता है। छोड़ दे ध्यान, छोड़ दे मुक्ति की आकांक्षा। मैं जिस काम में लगा हूँ उसी काम में लग जा।

शिष्य विस्मित होकर सुनने लगा। स्वामी जी फिर कहने लगे—

"तुम लोग जाकर इसी प्रकार ज़मीन तैयार करो। बाद में मेरे जैसे हज़ार हज़ार विवेकानन्द भाषण देने के लिए नरलोक में शरीर धारण करेंगे; उसकी चिन्ता नहीं है। यह देख न, हममें (श्री रामकृष्ण के शिष्यों में) जो पहले सोचा करते थे कि उनमें कोई शक्ति नहीं, वे ही अब अनाथाश्रम, दुर्भिक्ष-कोष आदि कितनी ही संस्थाएँ खोल रहे हैं। देखता नहीं, निवेदिता ने, अंग्रेज़ की लड़की होकर भी, तुम लोगों की सेवा करना सीखा है? और तुम लोग अपने ही देशवासियों के लिए ऐसा नहीं कर सकोगे? जहाँ पर महामारी हुई हो, जहाँ पर जीवों को दुःख ही दुःख हो, जहाँ दुर्भिक्ष पड़ा हो, चला जा उस ओर। अधिक से अधिक क्या होगा, मर ही तो जायगा। मेरे-तेरे जैसे न जाने कितने कीड़े पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं। इससे दुनिया को क्या हानि-लाभ? एक महान् उद्देश्य लेकर मर जा। मरना तो है ही; पर अच्छा उद्देश्य लेकर मरना ठीक है! इस भाव का घर घर में प्रचार कर, अपना और देश का कल्याण होगा। तुम्हीं लोग देश की आशा हो।

तुम्हें कर्म-विहीन देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। लग जा, काम में लग जा। विलम्ब न कर, मृत्यु तो दिनोंदिन निकट आ रही है! 'बाद में करूँगा' कहकर अधिक बैठा न रह—यदि बैठा रहेगा, तो फिर तुझसे कुछ भी न हो सकेगा।

२४

[स्थान : बेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

शिष्य—स्वामी जी, ब्रह्म यदि एकमात्र सत्य वस्तु है तो फिर जगत् में इतनी विचित्रताएँ क्यों देखी जाती हैं?

स्वामी जी—ब्रह्म वस्तु को (यह सत्य हो अथवा जो कुछ भी हो) कौन जानता है, बोल? जगत् को हम देखते हैं और उसकी सत्यता में दृढ़ विश्वास रखते हैं। परन्तु सृष्टि की विचित्रता को सत्य मानकर विचार-पथ में अग्रसर होते होते समय पर मूल एकत्व को पहुँच सकते हैं। यदि तू इस एकत्व में स्थिर हो सकता तो फिर इस विचित्रता को नहीं देखता।

शिष्य—महाराज, यदि एकत्व में ही अवस्थित हो सकता तो प्रश्न ही क्यों करता? मैं जब विचित्रता को देखकर ही प्रश्न कर रहा हूँ तो उसे अवश्य ही सत्य मान रहा हूँ।

स्वामी जी—अच्छी बात है। सृष्टि की विचित्रता को देखकर उसे सत्य मानते हुए मूल एकत्व के अनुसन्धान को शास्त्रों में व्यतिरेकी विचार कहा गया है अर्थात् अभाव या असत्य वस्तु को भाव या सत्य वस्तु मानकर विचार द्वारा यह प्रमाणित करना कि वह भाव वस्तु नहीं वरन् अभाव वस्तु है, व्यतिरेक कहलाता है। तू उसी प्रकार मिथ्या को सत्य मानकर सत्य में पहुँचने की बात कह रहा है—क्यों, यही है न?

शिष्य—जी हाँ, परन्तु मैं भाव को ही सत्य कहता हूँ और भावविहीनता को ही मिथ्या मानता हूँ।

स्वामी जी—अच्छा। अब देख, वेद कह रहे हैं—एकमेवाद्वितीयम्। यदि वास्तव में एक ब्रह्म ही है तो तेरा नानात्व तो मिथ्या ही है। वेद तो मानता है न?

शिष्य—वेद की बात मैं अवश्य मानता हूँ। परन्तु यदि कोई न माने तो उसे भी तो समझाना होगा?

स्वामी जी—वह भी हो सकता है। भौतिक विज्ञान की सहायता से उसे पहले

अच्छी तरह से दिखा देना चाहिए कि इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्ष पर भी हम विश्वास नहीं कर सकते। इन्द्रियाँ भी ग़लत साक्ष्य देती हैं, और वास्तविक सत्य वस्तु हमारे मन, इन्द्रिय तथा वुद्धि से परे है। उसके वाद उससे कहना चाहिए कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों से परे जाने का उपाय भी है। उसे ऋषियों ने योग कहा है। योग अनुष्ठान पर निर्भर है—उसे प्रत्यक्ष रूप से करना चाहिए—विश्वास करो या न करो, अभ्यास करने से ही फल प्राप्त किया जाता है। करके देख—होता है या नहीं। मैंने वास्तव में देखा है, ऋषियों ने जो कुछ कहा है सब सत्य है। यह देख, तू जिसे विचित्रता कह रहा है, वह एक समय लुप्त हो जाती है, अनुभूत नहीं होती। यह मैंने स्वयं अपने जीवन में श्री रामकृष्ण की कृपा से प्रत्यक्ष किया है।

शिष्य—ऐसा कब किया है?

स्वामी जी—एक दिन श्री रामकृष्ण ने दक्षिणेश्वर के बगीचे में मुझे स्पर्श किया था। उनके स्पर्श करते ही मैंने देखा कि घर-बार, दरवाज़ा-बरामदा, पेड़-पौधे, चन्द्र-सूर्य, सभी मानो आकाश में लीन हो रहे हैं। धीरे धीरे आकाश भी न जाने कहाँ विलीन हो गया—उसके बाद जो प्रत्यक्ष हुआ था, वह बिल्कुल याद नहीं है; परन्तु हाँ, इतना याद है कि उस प्रकार के परिवर्तन को देखकर मुझे बड़ा भय लगा था—चीत्कार करके श्री रामकृष्ण से मैंने कहा था, 'अरे, तुम मेरा यह क्या कर रहे हो जी; मेरे माँ-बाप जो हैं।' इस पर श्री रामकृष्ण ने हँसते हुए 'तो अब रहने दे' कहकर फिर स्पर्श किया। उस समय धीरे धीरे फिर देखा घर-बार, दरवाज़ा-बरामदा—जो जैसा था ठीक उसी प्रकार है। कैसा अनुभव था! और एक दिन—अमेरिका में भी एक तालाब के किनारे ठीक वैसा ही हुआ था।

शिष्य विस्मित होकर सुन रहा था। थोड़ी देर बाद उसने कहा, "अच्छा महाराज, ऐसी स्थिति मस्तिष्क के विकार से भी हो सकती है? और एक बात—उस स्थिति में क्या आपको किसी विशेष आनन्द की उपलब्धि हुई थी?"

स्वामी जी—जब रोग के प्रभाव से नहीं, नशा पीकर नहीं, तरह तरह के दम लगाकर भी नहीं, वरन् स्वाभाविक मनुष्य की स्वस्थ दशा में यह स्थिति होती है तो उसे मस्तिष्क का विकार कैसे कहा जा सकता है, विशेषतः जब उस प्रकार की स्थिति प्राप्त करने की बात वेदों में भी वर्णित है तथा पूर्व आचार्यों तथा ऋषियों के आप्त वाक्यों में भी मिलती है। मुझे क्या अन्त में तूने विकृत-मस्तिष्क ठहराया?

शिष्य—नहीं महाराज, मैं यह नहीं कह रहा हूँ। शास्त्र में जब इस प्रकार एकत्व की अनुभूति के सैकड़ों उदाहरण हैं तथा आप भी जब कह रहे हैं कि यह हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह प्रत्यक्ष सिद्ध है, और आपकी अपरोक्षानुभूति जब वेदादि

शास्त्रोक्त वाक्यों के अनुरूप है, तब सचमुच इसे मिथ्या कहने का साहस नहीं होता। श्री शंकराचार्य ने भी कहा है—**क्व गतं केन वा नीतम्** इत्यादि।

स्वामी जी—जान लेना, यह एकत्व ज्ञान होने पर—जिसे तुम्हारे शास्त्र में ब्रह्मानुभूति कहा गया है—जीव को फिर भय नहीं रहता; जन्म-मृत्यु का बन्धन छिन्न हो जाता है। इस निन्दनीय काम-कांचन में बद्ध रहकर जीव उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। उस परमानन्द के प्राप्त होने पर, जगत् के सुख-दुःख से जीव फिर अभिभूत नहीं होता।

शिष्य—अच्छा महाराज, यदि ऐसा ही है, और यदि हम वास्तव में पूर्ण ब्रह्म का ही स्वरूप हैं तो फिर उस प्रकार की समाधि द्वारा सुख प्राप्त करने में हमारी चेष्टा क्यों नहीं होती? हम तुच्छ काम-कांचन के प्रलोभन में पड़कर वार बार मृत्यु की ही ओर क्यों दौड़ रहे हैं?

स्वामी जी—क्या तू समझ रहा है कि उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए जीव का आग्रह नहीं है? ज़रा सोचकर देख, तब समझ सकेगा कि तू जो भी कुछ कर रहा है, वह भूमा-सुख की आशा से ही कर रहा है। परन्तु सभी इस वात को समझ नहीं पाते। उस परमानन्द को प्राप्त करने की इच्छा आब्रह्मस्तम्ब सभी में पूर्ण रूप से मौजूद है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म सभी के हृदय के भीतर है। तू भी वही पूर्ण ब्रह्म है। इसी मुहूर्त में ठीक ठीक अपने को उसी रूप में सोचने पर उस बात की अनुभूति हो सकती है। केवल अनुभूति की ही कमी है। तू जो नौकरी करके स्त्री-पुत्रों के लिए इतना परिश्रम कर रहा है, उसका भी उद्देश्य उस सच्चिदानंद की प्राप्ति ही है। इस मोह के दाँव-पेंच में पड़कर, मार खा खाकर धीरे धीरे अपने स्वरूप पर दृष्टि पड़ेगी। वासना है, इसलिए मार खा रहा है और आगे भी खायेगा। बस, इसी प्रकार मार खा खाकर अपनी ओर दृष्टि पड़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति की किसी न किसी समय अवश्य ही पड़ेगी। अन्तर इतना ही है कि किसी की इसी जन्म में और किसी की लाखों जन्मों के बाद पड़ती है।

शिष्य—महाराज, यह ज्ञान आपका आशीर्वाद और श्री रामकृष्ण की कृपा हुए विना कभी नहीं होगा।

स्वामी जी—श्री रामकृष्ण की कृपारूपी हवा तो वह ही रही है, तू पाल उठा दे न। जव जो कुछ कर, ख़ूब दिल से कर। दिन-रात सोच 'मैं सच्चिदानंदस्वरूप हूँ—मुझे फिर भय-चिन्ता क्या है? यह देह, मन, बुद्धि सभी क्षणिक हैं, इसके परे जो कुछ है वह मैं ही हूँ।'

शिष्य—महाराज, न जाने क्या वात है, यह भाव क्षण भर के लिए आकर फिर उसी समय उड़ जाता है, और फिर उसी व्यर्थ के संसार का चिन्तन करने लगता हूँ।

स्वामी जी—ऐसा पहले-पहल हुआ करता है। पर धीरे धीरे सब सुधर जायगा। परन्तु ध्यान रखना कि सफलता के लिए मन की बहुत तीव्रता और एकान्तिक इच्छा चाहिए। तू सदा सोचा कर कि 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव हूँ। क्या मैं कभी अनुचित काम कर सकता हूँ? क्या मैं मामूली काम-कांचन के लोभ में पड़कर साधारण जीवों की तरह मुग्ध बन सकता हूँ?' इस प्रकार धीरे धीरे मन में बल आयेगा। तभी तो पूर्ण कल्याण होगा।

शिष्य—महाराज, कभी कभी मन में बहुत बल आ जाता है। पर फिर सोचने लगता हूँ, डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी के लिए परीक्षा दूँ—धन आयेगा, मान होगा, बड़े आनन्द से रहूँगा।

स्वामी जी—मन में जब ऐसी बातें आयें, तब विचार में लग जाया कर। तूने तो वेदान्त पढ़ा है?—सोते समय भी विचार रूपी तलवार को सिरहाने रखकर सोया कर, ताकि स्वप्न में भी लोभ सामने न बढ़ सके। इसी प्रकार ज़बरदस्ती वासना का त्याग करते करते धीरे धीरे यथार्थ वैराग्य आयेगा—तब देखेगा, स्वर्ग का दरवाज़ा खुल गया है।

शिष्य—अच्छा महाराज, भक्ति शास्त्र में जो कहा है कि अधिक वैराग्य होने पर भाव नहीं रहता; क्या यह सत्य है?

स्वामी जी—अरे फेंक दे अपना वह भक्ति शास्त्र, जिसमें ऐसी बात है। वैराग्य, विषय-वितृष्णा न होने पर तथा काक-विष्ठा की तरह कामिनी-कांचन का त्याग किये बिना **न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि**, ब्रह्मा के करोड़ों कल्पों में भी जीव की मुक्ति नहीं हो सकती। जप, ध्यान, पूजा, हवन, तपस्या—केवल तीव्र वैराग्य लाने के लिए हैं। जिसने वह नहीं किया, उसका हाल तो वैसा ही है जैसा नाव बाँधकर पतवार चलानेवाले का—**न धनेन न चेज्यया त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः** (न वंश परम्परा से और न धन सम्पदा से, वरन् केवल त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है)।

शिष्य—अच्छा महाराज, क्या काम-कांचन त्याग देने से ही सब कुछ होता है?

स्वामी जी—उन दोनों को त्यागने के बाद भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। जैसे उनके बाद आती है—लोकप्रसिद्धि! उसे ऐसा वैसा आदमी सँभाल नहीं सकता। लोग मान देते रहते हैं, नाना प्रकार के भोग आकर जुटते हैं। इसीमें त्यागियों में से भी बारह आना लोग फँस जाते हैं। यह जो मठ आदि बनवा रहा हूँ, और दूसरों के लिए नाना प्रकार के काम कर रहा हूँ उससे प्रशंसा हो रही है। कौन जाने मुझे ही फिर इस जगत् में लौटकर आना पड़े!

शिष्य—महाराज, आप ही ऐसी बातें कर रहे हैं तो फिर हम कहाँ जायें?

स्वामी जी—संसार में है, इसमें भय क्या है? अभीः, अभीः, अभीः—भय का त्याग कर! नाग महाशय को देखा है न? वे संसार में रहकर भी संन्यासी से बढ़कर हैं। ऐसे व्यक्ति अधिक देखने में नहीं आते। गृहस्थ यदि कोई हो तो नाग महाशय की तरह हो। नाग महाशय समस्त पूर्व बंग को आलोकित किये हुए हैं। वहाँ के लोगों से कहना, उनके पास जायँ। इससे उन लोगों का कल्याण होगा।

शिष्य—महाराज, आपने बिल्कुल ठीक बात कही है। नाग महाशय श्री रामकृष्ण के लीला-सहचर एवं नम्रता की जीती-जागती मूर्ति प्रतीत होते हैं।

स्वामी जी—यह भी क्या कहने की बात है? मैं एक बार उनका दर्शन करने जाऊँगा—तू भी चलेगा न? जल में डूबे हुए बड़े बड़े मैदान देखने की मेरी तीव्र इच्छा है। मैं जाऊँगा, देखूँगा। तू उन्हें लिख दे।

शिष्य—मैं लिख दूँगा। आपके देवभोग जाने की बात सुनकर वे आनन्द से पागल हो जायँगे। बहुत दिन पहले आपके एक बार जाने की बात चली थी। उस पर उन्होंने कहा था, 'पूर्व बंग आपके चरणों की धूलि से तीर्थ बन जायगा।'

स्वामी जी—जानता तो है, नाग महाशय को श्री रामकृष्ण 'जलती आग' कहा करते थे।

शिष्य—जी हाँ, सुना है।

स्वामी जी—अच्छा, अब रात अधिक हो गयी है। आ, कुछ खा ले, फिर जाना।

शिष्य—जो आज्ञा।

इसके बाद कुछ प्रसाद पाकर शिष्य कलकत्ता जाते जाते सोचने लगा, स्वामी जी अद्भुत पुरुष हैं—मानो साक्षात् ज्ञानमूर्ति आचार्य श्री शंकर!

२५

[स्थान : बेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९६ ई०]

शिष्य—स्वामी जी, ज्ञान और भक्ति का मेल किस प्रकार हो सकता है! देखता हूँ, भक्तिमार्गावलम्बी तो आचार्य श्री शंकर का नाम सुनते ही कानों में अँगुली दे देते हैं, और उधर ज्ञानपन्थी भक्तों का आकुल क्रंदन, उल्लास तथा नृत्यगीत आदि देखकर कहते हैं कि वे एक प्रकार के पागल हैं।

स्वामी जी—बात क्या है, जानता है? गौण ज्ञान और गौण भक्ति लेकर

ही विवाद उपस्थित होता है। श्री रामकृष्ण की भूत-वन्दर की कहानी[1] तो सुनी है न?

शिष्य—जी हाँ!

स्वामी जी—परन्तु मुख्य भक्ति और मुख्य ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। मुख्य भक्ति का अर्थ है, भगवान् की प्रेम के रूप में उपलब्धि करना। यदि तू सर्वत्र सभी के बीच में भगवान् की प्रेममूर्ति का दर्शन करता है तो फिर हिंसा-द्वेष किससे करेगा? वह प्रेमानुभूति ज़रा भी वासना के रहते, जिसे श्री रामकृष्ण काम-कांचन के प्रति आसक्ति कहा करते थे, प्राप्त नहीं हो सकती। सम्पूर्ण प्रेमानुभूति में देह-बुद्धि तक नहीं रहती। और मुख्य ज्ञान का अर्थ है सर्वत्र एकत्व की अनुभूति, आत्म-स्वरूप का सर्वत्र दर्शन, पर वह ज़रा सी भी अहंबुद्धि के रहते प्राप्त नहीं हो सकता।

शिष्य—तो क्या आप जिसे प्रेम कहते हैं, वही परम ज्ञान है?

स्वामी जी—नहीं तो क्या? पूर्ण प्रज्ञ न होने पर किसीको प्रेमानुभूति नहीं होती। देखता है न, वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा है। उस सच्चिदा-नन्द शब्द का अर्थ है—सत् यानी अस्तित्व, चित् अर्थात् चैतन्य या ज्ञान और आनन्द अर्थात् प्रेम। भगवान् के 'सत्' भाव के विषय में भक्त और ज्ञानी में कोई विवाद नहीं। परन्तु ज्ञानमार्गी ब्रह्म की चित् या चैतन्य सत्ता पर ही सदा अधिक ज़ोर देते हैं और भक्त सदा 'आनन्द' सत्ता पर दृष्टि रखते हैं। परन्तु 'चित्' स्वरूप की अनुभूति होने के साथ ही आनंदस्वरूप की भी उपलब्धि हो जाती है, क्योंकि जो चित् है, वही आनन्द है।

शिष्य—तो फिर भारत में साम्प्रदायिक भाव इतना प्रबल क्यों है और ज्ञान तथा भक्ति शास्त्रों में भी इतना विरोध क्यों?

स्वामी जी—देख, गौण भाव को लेकर अर्थात् जिन भावों को पकड़कर मनुष्य यथार्थ ज्ञान अथवा यथार्थ भक्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते हैं, उन्हीं पर सारी मारपीट होते देखी जाती है। तेरी क्या राय है? उद्देश्य बड़ा है या उपाय बड़े हैं? निश्चय है कि उद्देश्य से उपाय कभी बड़ा नहीं हो सकता। क्योंकि, अधिकारियों की भिन्नता से एक ही उद्देश्य की प्राप्ति अनेक उपायों से होती है। तू ये जो जप-ध्यान, पूजा-होम आदि धर्म के अंग देखता है, वे सभी उपाय हैं और परा भक्ति अथवा

---

१. शिव और राम में युद्ध हुआ था। उधर राम के गुरु हैं शिव और शिव के गुरु हैं राम; अतः युद्ध के बाद दोनों में मेल भी हो गया। परन्तु शिव के चेले भूत-प्रेत तथा राम के चेले वन्दरों का आपस का झगड़ा-झंझट उस दिन से लेकर आज तक न मिटा।

परब्रह्मस्वरूप का दर्शन ही मुख्य उद्देश्य है। अत: ज़रा ग़ौर से देखने पर ही समझ सकेगा कि विवाद किस पर हो रहा है। एक व्यक्ति कह रहा है 'पूर्व की ओर मुंह करके बैठकर पुकारने से ईश्वर प्राप्त होता है,' और एक व्यक्ति कहता है, 'नहीं, पश्चिम की ओर मुंह करके बैठना होगा।' सम्भव है किसी व्यक्ति ने वर्षो पहले पूर्व की ओर मुंह करके बैठकर ध्यान-भजन करके ईश्वर लाभ किया हो तो उनके अनुयायी यह देखकर उसी समय से उस मत का प्रचार करते हुए कहने लगे, 'पूर्व की ओर मुंह करके बैठे बिना ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती।' और एक दल ने कहा, 'यह कैसी बात है? हमने तो सुना है, पश्चिम की ओर मुंह करके बैठकर अमुक ने ईश्वर को प्राप्त किया है?' दूसरा बोला, 'हम तुम्हारा वह मत नहीं मानते।' बस, इसी प्रकार दलबंदी का जन्म हो गया। इसी प्रकार एक व्यक्ति ने, सम्भव है, हरिनाम का जप करके परा भक्ति प्राप्त की हो। उसी समय शास्त्र बन गया, नास्त्येव गतिरन्यथा। फिर कोई अल्लाह कहकर सिद्ध हुआ और उसी समय उनका एक दूसरा अलग मत चलने लगा। हमें अब देखना होगा, इन सब जप, पूजा आदि की जड़ कहाँ है? यह जड़ है श्रद्धा। संस्कृत भाषा के 'श्रद्धा' शब्द को समझाने योग्य कोई शब्द हमारी भाषा में नहीं है। उपनिषद् में बतलाया है, यही श्रद्धा नचिकेता के हृदय में प्रविष्ट हुई थी। 'एकाग्रता' शब्द द्वारा भी 'श्रद्धा' शब्द का समस्त भाव प्रकट नहीं होता। मेरे मत से संस्कृत 'श्रद्धा' शब्द का निकटतम अर्थ 'एकाग्र-निष्ठा' शब्द द्वारा व्यक्त हो सकता है। निष्ठा के साथ एकाग्र मन से किसी भी तत्त्व का चिन्तन करते रहने पर तू देखेगा कि मन की गति धीरे धीरे एकत्व की ओर, सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति की ओर जा रही है। भक्ति और ज्ञान शास्त्र दोनों ही उसी प्रकार एक एक निष्ठा को जीवन में लाने के लिए मनुष्य को विशेष रूप से उपदेश कर रहे हैं। युग परम्परा से विकृत भाव धारण करके, वे ही सब महान् सत्य धीरे धीरे देशाचार में परिणत हुए हैं। केवल तुम्हारे भारत में ही ऐसा नहीं हुआ है; पृथ्वी की सभी जातियों में और सभी समाजों में ऐसा हुआ है। विचारविहीन साधारण जीव, उन बातों को लेकर उसी समय से आपस में लड़कर मर रहे हैं। जड़ को भूल गये, इसीलिए तो इतनी मार-काट हो रही है।

शिष्य—महाराज, तो अब उपाय क्या है?

स्वामी जी—पहले जैसी यथार्थ श्रद्धा लानी होगी। व्यर्थ की बातों को जड़ से निकाल डालना होगा। सभी मतों में, सभी पंथों में देश-कालोत्तर सत्य अवश्य पाये जाते हैं; परन्तु उन पर मैल जम गयी है। उन्हें साफ़ करके यथार्थ तत्त्वों को लोगों के सामने रखना होगा, तभी तुम्हारे धर्म और देश का भला होगा।

शिष्य—ऐसा किस प्रकार करना होगा?

स्वामी जी—पहले-पहल महापुरुषों की पूजा चलानी होगी। जो लोग उन सब सनातन तत्त्वों को प्रत्यक्ष कर गये हैं, उन्हें लोगों के सामने आदर्श या इष्ट के रूप में खड़ा करना होगा, जैसे भारत में श्री रामचन्द्र, श्री कृष्ण, महावीर तथा श्री रामकृष्ण। देश में श्री रामचन्द्र और महावीर की पूजा चला दे तो देखूं? वृन्दावन लीला-फीला अब रख दे। गीता का सिंहनाद करनेवाले श्री कृष्ण की पूजा चला दे—शक्ति की पूजा चला दे!

शिष्य—क्यों, वृन्दावन लीला क्या बुरी है?

स्वामी जी—इस समय श्री कृष्ण की वैसी पूजा से तुम्हारे देश का कल्याण न होगा। बंसी बजाकर अब देश का कल्याण न होगा। अब चाहिए महान् त्याग, महान् निष्ठा, महान् धैर्य और स्वार्थगन्धशून्य शुद्ध बुद्धि की सहायता से महान् उद्यम के साथ सभी बातें ठीक ठीक जानने के लिए कमर कसकर लग जाना।

शिष्य—महाराज, तो क्या आपकी राय में वृन्दावन लीला सत्य नहीं है?

स्वामी जी—यह कौन कहता है। उस लीला की यथार्थ धारणा तथा उपलब्धि करने के लिए बहुत उच्च साधना की आवश्यकता है। इस घोर काम-कांचन की आसक्ति के युग में उस लीला के उच्च भाव की धारणा कोई नहीं कर सकेगा।

शिष्य—महाराज, तो क्या आप कहना चाहते हैं कि जो लोग मधुर, सख्य आदि भावों का अवलम्बन कर इस समय साधना कर रहे हैं, उनमें से कोई भी यथार्थ पथ पर नहीं जा रहा है?

स्वामी जी—मुझे तो ऐसा ही लगता है। विशेष रूप से वे जो मधुर भाव के साधक बताकर अपना परिचय देते हैं, उनमें दो-एक को छोड़कर बाक़ी सभी घोर तमोभावापन्न हैं। अस्वाभाविक मानसिक दुर्बलता से भरे हैं! इसीलिए कह रहा हूँ कि अब देश को उठाने के लिए महावीर की पूजा चलानी होगी, शक्ति की पूजा चलानी होगी, श्री रामचन्द्र की पूजा घर घर में करनी होगी। तभी तुम्हारा और देश का कल्याण होगा। दूसरा कोई उपाय नहीं।

शिष्य—परन्तु महाराज, सुना है श्री रामकृष्ण देव तो सभी को लेकर संकीर्तन में विशेष आनन्द लेते थे?

स्वामी जी—उनकी बात अलग है। उनके साथ क्या मनुष्य की तुलना हो सकती है? उन्होंने सभी मतों की साधना करके देखा है कि सभी एक तत्त्व में पहुँचा देते हैं। उन्होंने जो कुछ किया है, वह क्या तू या मैं कर सकता हूँ? वे

कौन थे और कितने बड़े थे, यह हम कोई भी अभी तक समझ नहीं सके। इसीलिए मैं उनकी बात जहाँ-तहाँ नहीं कहता। वे क्या थे, यह वे ही जानते थे। उनकी देह ही केवल मनुष्य की थी, आचरण में तो उन्हे देवत्व प्राप्त था।

शिष्य—अच्छा महाराज, क्या आप उन्हें अवतार मानते हैं?

स्वामी जी—पहले यह बता कि तेरे 'अवतार' शब्द का अर्थ क्या है।

शिष्य—क्यों? श्री राम, श्री कृष्ण, श्री गौरांग, बुद्ध, आदि के समान पुरुष।

स्वामी जी—तूने जिनका नाम लिया, मैं श्री रामकृष्ण को उन सबसे बड़ा मानता हूँ—मानना तो छोटी बात है—जानता हूँ। रहने दे अब इस बात को। इतना ही सुन ले कि समय और समाज के अनुसार जो एक एक महापुरुष धर्म का उद्धार करने आते हैं, उन्हें महापुरुष कह, या अवतार कह, इसमें कुछ भी अन्तर नहीं होता। वे संसार में आकर जीवों को अपना जीवन संगठित करने का आदर्श बता जाते हैं। जो जिस समय आता है, उस समय उसीके आदर्श पर सब कुछ होता है—मनुष्य बनते हैं और सम्प्रदाय चलते हैं। समय पर वे सब सम्प्रदाय विकृत हो जाने पर, फिर वैसे ही अन्य संस्कारक आते हैं। यह नियम प्रवाह के रूप में चला आ रहा है।

शिष्य—महाराज, तो आप श्री रामकृष्ण को अवतार कहकर घोषित क्यों नहीं करते? आप में तो शक्ति, वक्तृताशक्ति, काफ़ी है।

स्वामी जी—इसका कारण, उनके सम्बन्ध में मेरी अल्पज्ञता है। मुझे वे इतने बड़े लगते हैं कि उनके सम्बन्ध में कुछ भी कहने में मुझे भय होता है कि कहीं सत्य का विपर्यास न हो जाय; कहीं मैं अपनी इस अल्प शक्ति के अनुसार उन्हें बड़ा करने के यत्न में उनका चित्र अपने ढाँचे में खींचकर उन्हें छोटा न बना डालूँ।

शिष्य—परन्तु आजकल अनेक लोग उन्हें अवतार बताकर ही प्रचार कर रहे हैं।

स्वामी जी—करें। जो जैसा समझ रहा है, वह वैसा कर रहा है। तेरा वैसा विश्वास हो तो तू भी कर!

शिष्य—मैं आप ही को अच्छी तरह समझ नहीं पाता, फिर श्री रामकृष्ण की तो बात दूर रही। ऐसा लगता है कि आपकी कृपा का कण पाने से ही मैं इस जन्म में धन्य हो जाऊँगा।

आज यहीं पर वार्तालाप समाप्त हुआ और शिष्य स्वामी जी की पदधूलि लेकर घर लौटा।

२६

[स्थान : वेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

शिष्य—महाराज, श्री रामकृष्ण कहा करते थे, कामिनी-कांचन का त्याग न करने पर कोई भी धर्मपथ में अग्रसर नहीं हो सकता; तो फिर जो लोग गृहस्थ हैं, उनके उद्धार का क्या उपाय है? उन्हें तो दिन-रात उन दोनों को ही लेकर व्यस्त रहना पड़ता है।

स्वामी जी—काम-कांचन की आसक्ति न जाने पर, ईश्वर में मन नहीं लगता। वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी। इन दो चीजों में जब तक मन है, तब तक ठीक ठीक अनुराग, निष्ठा या श्रद्धा कभी उत्पन्न नहीं होगी।

शिष्य—तो क्या फिर गृहस्थों के उद्धार का उपाय है?

स्वामी जी—हाँ, उपाय है क्यों नहीं? छोटी छोटी वासनाओं को पूर्ण कर लेना और वड़ी वड़ी का विवेक से त्याग कर देना। त्याग के विना ईश्वर की प्राप्ति न होगी—**यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्**—वेदकर्ता ब्रह्मा यदि स्वयं ऐसा कहें, फिर भी न होगा।

शिष्य—अच्छा महाराज, संन्यास लेने से ही क्या विषय त्याग होता है?

स्वामी जी—नहीं, परन्तु संन्यासी लोग काम-कांचन को सम्पूर्ण रूप से छोड़ने के लिए तैयार हो रहे हैं, यत्न कर रहे हैं; गृहस्थ तो नाव को बाँधकर पतवार चला रहे हैं—यही अन्तर है। भोग की आकांक्षा क्या कभी मिटती है रे? **भूय एवाभिवर्धते**—दिनोंदिन बढ़ती ही रहती है।

शिष्य—क्यों? भोग करते करते तंग आने पर अन्त में तो वितृष्णा आ सकती है।

स्वामी जी—धत् छोकरे, कितनों को आती देखी है? लगातार विषयभोग करते रहने पर मन में उन सब विषयों की छाप पड़ जाती है,—दाग़ लग जाता है—मन विषय के रँग में रँग जाता है। त्याग, त्याग—यही है मूल मंत्र।

शिष्य—क्यों महाराज, ऋषिवाक्य तो है—**गृहेषु पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्**। गृहस्थाश्रम में रहकर इन्द्रियों को विषयों से अर्थात् रूप, रस आदि भोगों से विमुख रखने को ही तपस्या कहते हैं। विषयानुराग दूर होने पर गृह ही तपोवन बन जाता है।

स्वामी जी—गृह में रहकर जो लोग काम-कांचन का त्याग कर सकते हैं, वे धन्य हैं, परन्तु यह कर कितने सकते हैं?

शिष्य—परन्तु महाराज, आपने तो थोड़ी ही देर पहले कहा था कि संन्यासियों में भी अधिकांश का सम्पूर्ण रूप से काम-कांचन त्याग नहीं हुआ है?

स्वामी जी—हाँ, कहा है; परन्तु यह भी कहा है कि वे त्याग के पथ पर चल रहे हैं। वे काम-कांचन के विरुद्ध युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। गृहस्थों को अभी तक यह धारणा ही नहीं हुई है कि काम-कांचन की आसक्ति एक विपत्ति है। उनकी आत्मोन्नति के लिए चेष्टा ही नहीं हो रही है। उसके विरुद्ध जो युद्ध करना होगा, यह चिन्ता ही अभी तक उन्हें नहीं हुई है।

शिष्य—क्यों महाराज, उनमें से भी तो अनेक व्यक्ति उस आसक्ति का त्याग करने की चेष्टा कर रहे हैं।

स्वामी जी—जो लोग कर रहे हैं, वे अवश्य ही धीरे धीरे त्यागी बनेंगे। उनकी भी धीरे धीरे काम-कांचन के प्रति आसक्ति कम हो जायगी। परन्तु बात यह है, 'अब जाता हूँ, तब जाता हूँ', 'अब होगा, तब होगा', जो लोग इस प्रकार चल रहे हैं, उनका आत्मदर्शन अभी बहुत दूर है। परन्तु 'अभी भगवान् को प्राप्त करूँगा, इसी जन्म में करूँगा'—यह है वीर की बात। ऐसे व्यक्ति सर्वस्व त्याग देने को तैयार होते हैं; शास्त्र में उन्हींके सम्बन्ध में कहा है—**यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्**—जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जायगा, उसी क्षण वे संसार का त्याग कर देंगे।

शिष्य—परन्तु महाराज, श्री रामकृष्ण तो कहा करते थे कि ईश्वर-कृपा होने पर, उन्हें पुकारने पर, वे इन सब आसक्तियों को एक पल में मिटा देते हैं।

स्वामी जी—हाँ, उनकी कृपा होने पर ऐसा अवश्य होता है, परन्तु उनकी कृपा प्राप्त करनी हो तो पहले शुद्ध, पवित्र बन जाना चाहिए; कायमनोवाक्य से पवित्र होना चाहिए, तभी उनकी कृपा होती है।

शिष्य—परन्तु कायमनोवाक्य से यदि संयम कर सके तो फिर कृपा की आवश्यकता ही क्या है! तब तो फिर स्वयं अपनी ही चेष्टा से आत्मोन्नति की हुई समझी जायगी।

स्वामी जी—तुझे प्राणपण से चेष्टा करते देखकर ही वे कृपा करेंगे। उद्यम या प्रयत्न न करके बैठे रहो तो कभी कृपा न होगी।

शिष्य—सम्भवतः अच्छा बनने की इच्छा सभी की है; परन्तु पता नहीं कि किस दुर्ज्ञेय सूत्र से मन निम्नगामी बन जाता है; सभी लोग क्या यह नहीं चाहते कि 'मैं सत् बनूँगा, अच्छा बनूँगा, ईश्वर को प्राप्त करूँगा?'

स्वामी जी—जिनके मन में उस प्रकार की इच्छा हुई है, याद रखना उन्हींमें वैसा बनने की चेष्टा आयी भी है और चेष्टा करते करते ही ईश्वर की दया होती है।

शिष्य—परन्तु महाराज, अनेक अवतारों में देखा गया है, जिन्हें हम अत्यन्त

पापी, व्यभिचारी आदि समझते हैं, साधन-भजन किये बिना ही वे उनकी कृपा से ईश्वर को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे—इसका क्या कारण है?

स्वामी जी—याद रखना, उनके मन में अत्यन्त अशान्ति आयी थी, भोग करते करते वितृष्णा आ गयी थी, अशान्ति से उनका हृदय जल रहा था; वे हृदय में इतनी कमी अनुभव कर रहे थे कि यदि उन्हें कुछ शान्ति न मिलती तो उनकी देह छूट जाती, इसीलिए भगवान् की दया हुई थी। वे सब लोग तमोगुण में से होकर धर्मपथ में उठे थे।

शिष्य—तमोगुण हो या और कुछ, परन्तु उस भाव में भी तो उनको ईश्वर-प्राप्ति हुई थी?

स्वामी जी—क्यों न होगी? परन्तु पाखाने के दरवाज़े से प्रवेश न करके सामनेवाले दरवाजे में से होकर मकान में प्रवेश क्या अच्छा नहीं है? और उस पथ में भी तो इस प्रकार की एक परेशानी और चेष्टा है ही कि मन की इस अशान्ति को कैसे दूर किया जाय।

शिष्य—यह ठीक है, परन्तु मैं समझता हूँ कि जो लोग इन्द्रिय आदि का दमन अथवा काम-कांचन का त्याग करके ईश्वर को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हैं, वे प्रयत्नवादी तथा स्वावलम्बी हैं; और जो लोग केवल उनके नाम पर विश्वास कर निर्भर रहते हैं, भगवान् समय पर काम-कांचन के प्रति उनकी आसक्ति को दूर करके अन्त में परम पद दे ही देते हैं।

स्वामी जी—हाँ, परन्तु ऐसे लोग बहुत ही कम हैं। सिद्ध होने के बाद लोग उन्हें ही कृपा-सिद्ध कहते हैं। परन्तु ज्ञानी और भक्त दोनों के मत में त्याग ही मूलमंत्र है।

शिष्य—इसमें फिर सन्देह क्या है! श्री गिरीशचन्द्र घोष महाशय ने एक दिन मुझसे कहा था, 'कृपा का कोई नियम नहीं है। यदि है तो उसे कृपा नहीं कहा जा सकता। वहाँ पर सभी ग़ैरक़ानूनी कार्रवाइयाँ हो सकती हैं।'

स्वामी जी—ऐसा नहीं है रे, ऐसा नहीं है; घोष महाशय ने जिस स्थिति की बात कही है, वहाँ पर भी कोई अज्ञात क़ानून या नियम अवश्य है। ग़ैरक़ानूनी कार्रवाई है अन्तिम बात—देश-काल-निमित्त के परे के स्थान की बात; वहाँ पर कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए वहाँ पर कौन किस पर कृपा करेगा? वहाँ पर सेव्य-सेवक, ध्याता-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञेय सब एक हो जाते हैं—सभी समरस।

शिष्य—तो अब विदा लूँ। आपकी बात सुनकर आज वेद-वेदान्त का सार समझ गया। इतने दिन तो केवल बातों का आडम्बर मात्र हो रहा था।

स्वामी जी की पदधूलि लेकर शिष्य कलकत्ते की ओर अग्रसर हुआ।

२७

[स्थान : वेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

शिष्य—स्वामी जी, क्या खाद्य-अखाद्य के साथ धर्माचरण का कुछ सम्बन्ध है?

स्वामी जी—थोड़ा बहुत अवश्य है।

शिष्य—मछली तथा मांस खाना क्या उचित तथा आवश्यक है?

स्वामी जी—खूब खाओ भाई। इससे जो पाप होगा वह मेरा।[1] तुम अपने देश के लोगों की ओर एक बार ध्यान से देखो तो, मुँह पर मलिनता की छाया; कलेजे में न साहस, न उल्लास; पेट बड़ा, हाथ-पैरों में शक्ति नहीं; डरपोक और कायर!

शिष्य—मछली और मांस खाने से यदि उपकार ही होता तो बौद्ध तथा वैष्णव धर्म में अहिंसा को 'परमो धर्मः' क्यों कहा गया है?

स्वामी जी—बौद्ध तथा वैष्णव धर्म अलग नहीं। बौद्ध धर्म के उच्छेद के समय हिन्दू धर्म ने उनके कुछ नियमों को अपना लिया था। वही इस समय भारत में वैष्णव धर्म के नाम से विख्यात है।

'अहिंसा परमो धर्मः'—बौद्ध धर्म का एक बहुत अच्छा सिद्धान्त है, परन्तु अधिकारी का विचार न करके जबरदस्ती राज्य की शक्ति के बल पर उस मत को

---

१. स्वामी जी के इस प्रकार के उत्तर से कोई ऐसा न सोचे कि वे मांस खाने में अधिकारी का विचार न करते थे। उनके योग सम्बधी दूसरे ग्रन्थों में उन्होंने भोजन के सम्बन्ध में यही साधारण नियम बताया है कि दुष्पाच्य होने के कारण जिससे अजीर्ण आदि रोगों की उत्पत्ति होती है अथवा वैसा न होने पर भी जिससे शरीर की उष्णता में अकारण वृद्धि होकर इन्द्रिय तथा मन में चंचलता उत्पन्न होती है, उसे सब प्रकार से त्यागना चाहिए। अतः जो लोग आध्यात्मिक उन्नति चाहते हैं, उनमें से जिनकी मांस खाने की प्रवृत्ति है, उन्हें स्वामी जी ने पूर्वोक्त दो बातों पर ध्यान रखते हुए मांस खाने का उपदेश किया है। नहीं तो मांस एकदम त्याग देने को कहते थे। अथवा 'मांस खाऊँ या नहीं'—इस प्रश्न का समाधान वे प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक पवित्रता आदि की रक्षा करके स्वयं ही कर लेने के लिए कहते थे। परन्तु भारत के साधारण गृहस्थों के बारे में स्वामी जी मांसाहार के पक्षपाती कहते थे। वे कहा करते थे, वर्तमान युग में पाश्चात्य मांसाहारी जातियों के साथ उन्हें जीवन संग्राम में सब प्रकार से प्रतिद्वन्द्विता करनी होगी, इसलिए मांस खाना उनके लिए इस समय विशेष आवश्यक है।

सर्वसाधारण पर लाद कर बौद्ध धर्म ने देश का सर्वनाश किया है। परिणाम यही हुआ कि लोग चींटियों को तो चीनी देते हैं, पर धन के लिए भाई का भी सर्वनाश कर डालते हैं। इस प्रकार अनेक **बकः परमधार्मिकः** के अनुसार जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं। दूसरी ओर देख, वैदिक तथा मनु के धर्म में मछली और मांस खाने का विधान है और साथ ही अहिंसा की बात भी। अधिकारी भेद से हिंसा और अहिंसा धर्मो के पालन करने की व्यवस्था है। श्रुति ने कहा है—**मा हिंस्यात् सर्वभूतानि,** मनु ने भी कहा है—**निवृत्तिस्तु महाफला।**

शिष्य—लेकिन आजकल तो देखा है महाराज, कि धर्म की ओर ज़रा आकर्षण होने के पहले ही लोग मछली और मांस त्याग देते हैं। कई लोगों की दृष्टि में तो व्यभिचार आदि गम्भीर पाप से भी मानो मछली और मांस खाना अधिक पाप है! यह भाव कहाँ से आया?

स्वामी जी—कहाँ से आया, यह जानने से तुझे क्या लाभ? परन्तु यह मत तुम्हारे समाज तथा देश में प्रविष्ट होकर जो सर्वनाश कर रहा है, यह तो देख रहा है न? देखो न—तुम्हारे पूर्व बंग के लोग बहुत मछली और मांस खाते हैं, कछुआ खाते हैं, इसीलिए पश्चिम बंग के लोगों की तुलना में अधिक स्वस्थ हैं। पूर्व बंग में तो धनवानों ने भी अभी तक रात को पूड़ी या रोटी खाना नहीं सीखा। इसीलिए तो वे इस ओर के लोगों की तरह अम्ल रोग के शिकार नहीं बने। सुना है, पूर्व बंग के देहातों में लोग अम्ल रोग जानते ही नहीं।

शिष्य—जी हाँ। हमारे देश में अम्ल रोग नाम का कोई रोग नहीं। इस देश में आकर उस रोग का नाम सुना। देश में हम दोनों समय मछली भात खाते हैं।

स्वामी जी—खूब खाया कर। घास-पात खाकर पेट-रोगी बाबा जी लोगों के दल से देश भर गया है। यह सत्त्व गुण का लक्षण नहीं। महा तमोगुण की छाया है—मृत्यु की छाया है। सत्त्वगुण के लक्षण हैं—मुखमण्डल पर चमक—हृदय में अदम्य उत्साह, अतुल चपलता; और तमोगुण के लक्षण हैं आलस्य, जड़ता, मोह तथा निद्रा आदि।

शिष्य—परन्तु महाराज, मांस-मछली से तो रजोगुण की वृद्धि होती है।

स्वामी जी—मैं तो यही चाहता हूँ। इस समय रजोगुण की ही तो आवश्यकता है। देश के जिन सब लोगों को तू आज सत्त्वगुणी समझ रहा है, उनमें से पन्द्रह आने लोग तो घोर तमोगुणी हैं। एक आना सतोगुणी मनुष्य मिले तो बहुत हैं। अब चाहिए प्रबल रजोगुण की ताण्डव उद्दीपना। देश जो घोर तमसाच्छन्न है, देख नहीं रहा है? अब देश के लोगों को मछली-मांस खिलाकर उद्यमशील बना डालना होगा, जगाना होगा, कार्य तत्पर बनाना होगा; नहीं तो धीरे धीरे देश के

सभी लोग जड़ बन जायँगे—पेड़-पत्थरों की तरह जड़ बन जायँगे। इसीलिए कह रहा था, मछली और मांस खूब खाना।

शिष्य—परन्तु महाराज, मन में जब सत्त्व गुण की अत्यन्त स्फूर्ति होती है, तब क्या मछली और मांस खाने की इच्छा रहती है?

स्वामी जी—नहीं, फिर इच्छा नहीं होती। सत्त्व गुण का जब बहुत विकास होता है, तब मछली, मांस में रुचि नहीं रहती। परन्तु सत्त्व गुण के प्रकट होने के ये सब लक्षण समझो: दूसरों के हित में सब प्रकार से यत्न करना, कामिनी-कांचन में सम्पूर्ण अनासक्ति, अभिमानशून्यता, अहंबुद्धिशून्यता आदि सब लक्षण जिसके होते हैं, उसकी फिर मांस खाने की इच्छा नहीं होती। और जहाँ पर देखेगा कि मन में उन सब गुणों का विकास नहीं है, परन्तु अहिंसा के दल में केवल नाम लिखा लिया है, वहाँ पर या तो बगुला भक्ति है या धर्म का ढोंग। तेरी जिस समय वास्तव में सत्त्व गुण में स्थिति होगी, उस समय तू मांसाहार छोड़ देगा।

शिष्य—परन्तु महाराज, 'छान्दोग्य' उपनिषद् में तो कहा है, **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**—शुद्ध वस्तु खाने से सत्त्व गुण की वृद्धि होती है, इत्यादि। अतः सत्त्व-गुणी बनने के लिए पहले से ही रजस् और तमोगुण को उद्दीपित करनेवाले पदार्थों को छोड़ देना ही क्या यहाँ पर श्रुति का अभिप्राय नहीं है?

स्वामी जी—उस श्रुति का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—'आहार' यानी इन्द्रिय-विषय; और रामानुज ने 'आहार' का अर्थ खाद्य माना है। मेरा मत है कि उन दोनों के मतों में सामंजस्य कर लेना होगा। केवल दिन-रात खाद्य और अखाद्य पर वाद-विवाद करके ही जीवन व्यतीत करना उचित है या वास्तव में इन्द्रिय-संयम करना आवश्यक है? अतएव हमें इन्द्रिय-संयम को ही मुख्य उद्देश्य मान लेना होगा; और उस इन्द्रिय-संयम के लिए ही भले-बुरे खाद्य-अखाद्य का थोड़ा बहुत विचार करना होगा। शास्त्रों ने कहा है, खाद्य तीन प्रकार के दोषों से अपवित्र तथा त्याज्य होता है। (१) जाति दोष—जैसे प्याज, लहसुन आदि। (२) निमित्त दोष—जैसे हलवाई की दूकान की मिठाई, जिसमें कितनी ही मरी मक्खियाँ तथा रास्ते की धूल उड़कर पड़ी रहती है, आदि। (३) आश्रय दोष—जैसे बुरे व्यक्ति द्वारा छुआ हुआ अन्न आदि। जाति दोष अथवा निमित्त दोष से खाद्य युक्त है या नहीं, इस पर सभी समय विशेष दृष्टि रखनी चाहिए; परन्तु इस देश में इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया जाता। केवल शेषोक्त दोष को ही लेकर—जो योगियों के अतिरिक्त शायद दूसरा कोई समझ ही नहीं सकता—देश में व्यर्थ के संघर्ष हो रहे हैं। 'छुओ मत', 'छुओ मत' कह कहकर छूतपन्थियों ने देश को तंग कर डाला है। भले-बुरे का विचार नहीं—गले में केवल यज्ञोपवीत धारण कर लेने

से ही किसीके हाथ का अन्न खाने में छूतधर्मियों को आपत्ति नहीं रहती। खाद्य के आश्रय दोष पर ठीक ध्यान देते एकमात्र श्री रामकृष्ण को ही देखा है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं, जब वे किसी-किसी व्यक्ति का छुआ नहीं खा सके। कभी विशेष खोज करने पर जब पता लगाया गया तो वास्तव में उस व्यक्ति में कोई न कोई बड़ा दोष अवश्य निकला। तुम लोगों का सब धर्म अब भात की हाँड़ियों में ही रह गया है। दूसरी जाति का छुआ हुआ भात न खाने से ही मानो भगवान् की प्राप्ति हो गयी। शास्त्र के सब महान् सत्यों को छोड़कर केवल ऊपरी छिलका लेकर ही आजकल संघर्ष चल रहा है।

शिष्य—महाराज, तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि किसीका भी छुआ अन्न हमें खा लेना चाहिए?

स्वामी जी—ऐसा क्यों कहूँगा? मेरा कहना है—तू ब्राह्मण है, दूसरी जाति का अन्न चाहे न भी खा, पर तू सभी ब्राह्मणों के हाथ का अन्न क्यों नहीं खाता? मान लो तुम लोग राढ़ी श्रेणी के ब्राह्मण हो, तो वारेन्द्र श्रेणी के ब्राह्मणों का अन्न खाने में तुम्हें क्यों आपत्ति होनी चाहिए? दूसरी ओर वारेन्द्र ब्राह्मण तुम्हारा अन्न क्यों नहीं खायेंगे? महाराष्ट्री, तेलंगी और कन्नौजी ब्राह्मण भी तुम्हारे हाथ का अन्न क्यों नहीं खायेंगे? कलकत्ते में जाति-विचार और भी मज़े का है। देखा जाता है, अनेक ब्राह्मण तथा कायस्थ होटलों में भात खा रहे हैं, परन्तु वे ही होटल से बाहर निकलकर समाज के नेता बन रहे हैं, वे ही दूसरों के लिए जाति-विचार तथा अन्न-विचार के नियम बनाते हैं! मैं कहता हूँ, क्या समाज को उन सब पाखंडियों के बनाये नियमों के अनुसार चलना चाहिए? असल में उनकी बातों को छोड़कर सनातन ऋषियों का शासन चलाना होगा, तभी देश का कल्याण सम्भव है।

शिष्य—तो क्या महाराज, कलकत्ते के आधुनिक समाज में ऋषियों का शासन नहीं चल रहा है?

स्वामी जी—केवल कलकत्ते में ही क्यों? मैंने भारत में अच्छी तरह से छानबीन करके देखा है, कहीं भी ऋषि-शासन ठीक ठीक नहीं चल रहा है। केवल लोकाचार, देशाचार और स्त्री-आचार इन्हींसे सभी स्थानों में समाज का शासन चल रहा है। न शास्त्रों का कोई अध्ययन करता है, और न पढ़कर उसके अनुसार समाज को चलाना ही चाहता है।

शिष्य—तो महाराज, अब हमें क्या करना होगा?

स्वामी जी—ऋषियों का मत चलाना होगा; मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के मंत्र से देश को दीक्षित करना होगा। समय के अनुसार कुछ कुछ परिवर्तन करना होगा। यह देख न, भारत में कहीं भी अब चातुर्वर्ण्य विभाग दृष्टिगोचर नहीं

होता। पहले तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों में देश के लोगों को विभाजित करना होगा। सब ब्राह्मणों को एक करके ब्राह्मणों की एक जाति संगठित करनी होगी। इसी प्रकार सब क्षत्रिय, सब वैश्य तथा सब शूद्रों को लेकर अपर तीन जातियाँ बनाकर सभी जातियों को वैदिक प्रणाली में लाना होगा। नहीं तो केवल 'तुम्हें छुऊँगा नहीं' कहने से ही क्या देश का कल्याण होगा? कभी नहीं।

२८

[स्थान : बेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

शिष्य—स्वामी जी, आजकल हमारे समाज और देश की इतनी बुरी दशा क्यों हो रही है?

स्वामी जी—तुम्हीं लोग इसके लिए जिम्मेदार हो।

शिष्य—महाराज, क्यों, किस प्रकार?

स्वामी जी—बहुत दिनों से देश की नीच जातियों से घृणा करते करते अब तुम लोग स्वयं जगत् में घृणा के पात्र बन गये हो।

शिष्य—हमने कब उनसे घृणा की?

स्वामी जी—क्यों, तुम पुरोहित ब्राह्मणों ने ही तो वेद-वेदान्त आदि सारयुक्त शास्त्रों को ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जातिवालों को कभी पढ़ने नहीं दिया—उन्हें स्पर्श भी नहीं किया—उन्हें केवल नीचे दबाकर रखा—स्वार्थ की दृष्टि से तुम्हीं लोग तो चिर काल से ऐसा करते आ रहे हो। ब्राह्मणों ने ही तो धर्मशास्त्रों पर एकाधिकार जमाकर विधि-निषेधों को अपने ही हाथ में रखा था और भारत की दूसरी जातियों को नीच कहकर उनके मन में विश्वास जमा दिया था कि वे वास्तव में नीच हैं। यदि किसी व्यक्ति को खाते, सोते, उठते, बैठते, हर समय कोई कहता रहे कि 'तू नीच है', 'तू नीच है', तो कुछ समय के पश्चात् उसकी यही धारणा हो जाती है कि 'मैं वास्तव में नीच हूँ।' इसे सम्मोहित (हिप्नोटाइज़) करना कहते हैं। ब्राह्मणेतर जातियों का अब धीरे धीरे यह भ्रम मिट रहा है। ब्राह्मणों के तंत्र-मंत्र में उनका विश्वास कम होता जा रहा है। प्रबल जल-वेग से पद्मा नदी का किनारा जिस प्रकार टूट रहा है, उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार से ब्राह्मणों की करतूतें अब प्रकट हो रही हैं, देख तो रहा है न?

शिष्य—जी हाँ, छुआछूत आदि का बन्धन आजकल धीरे धीरे ढीला होता जा रहा है।

स्वामी जी—होगा नहीं? ब्राह्मणों ने धीरे धीरे जो घोर अनाचार, अत्याचार करना प्रारम्भ किया था। स्वार्थ के वशीभूत होकर केवल अपनी प्रभुता को ही क़ायम रखने के लिए कितने ही विचित्र ढंग के अवैदिक, अनैतिक, युक्तिविरुद्ध मतों को चलाया था, उनका फल भी हाथों-हाथ पा रहे हैं।

शिष्य—क्या फल पा रहे हैं महाराज?

स्वामी जी—क्या फल, देख नहीं रहा है? तुम लोगों ने भारत की अन्य साधारण जातियों से घृणा की थी, इसीलिए अब तुम लोगों को हज़ार वर्षों से दासता सहनी पड़ रही है और तुम लोग अब विदेशियों की घृणा तथा स्वदेशवासियों की उपेक्षा के पात्र बने हुए हो।

शिष्य—परन्तु महाराज, अभी तो व्यवस्था आदि ब्राह्मणों के मत से ही चल रही है। गर्भाधान से लेकर सभी कर्मकाण्ड की क्रियाएँ—जैसे ब्राह्मण बता रहे हैं, वैसे ही लोग कर रहे हैं तो फिर आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?

स्वामी जी—कहाँ चल रहा है? शास्त्रोक्त दशविध संस्कार कहाँ चल रहा है? मैंने तो सारा भारत घूमकर देखा है, सभी स्थानों में श्रुति और स्मृतियों द्वारा निन्दित देशाचारों से समाज का शासन चल रहा है। लोक-प्रथा, देश-प्रथा और स्त्री-प्रथा ही सर्वत्र स्मृति शास्त्र बन गये हैं। कौन किसकी बात सुनता है? धन दे सको तो पण्डितों का समाज जैसा चाहो विधि-निषेध लिख देने को तैयार है। कितने पुरोहितों ने वैदिक कल्प, गृह्य व श्रौत सूत्रों को पढ़ा है? उस पर और देख—यहाँ बंगाल में रघुनन्दन का शासन है; ज़रा आगे बढ़ कर देखेगा तो मिताक्षरा का शासन और दूसरी ओर जाकर देखेगा तो मनुस्मृति का शासन चल रहा है। तुम लोग समझते हो, शायद सर्वत्र एक ही मत प्रचलित है! इसीलिए मैं चाहता हूँ कि वेद के प्रति लोगों का सम्मान बढ़े; सब लोग वेदों की चर्चा करें और इस प्रकार सर्वत्र वेद का शासन फैले।

शिष्य—महाराज, क्या अब ऐसा चलना सम्भव है?

स्वामी जी—वेद के सभी प्राचीन नियम चाहे न चलें, परन्तु समय के अनुसार काट-छाँट कर नियमों को सजाकर नये साँचे में ढालकर समाज के सामने रखने से वे क्यों नहीं चलेंगे?

शिष्य—महाराज, मेरा विश्वास था, कम से कम मनु का शासन भारत में सभी लोग मानते हैं।

स्वामी जी—कहाँ मान रहे हैं? तुम अपने ही प्रदेश में देखो न, तंत्र का

वामाचार तुम्हारी नस नस में प्रविष्ट हो गया है, यहाँ तक कि आधुनिक वैष्णव धर्म में भी, जो मृत बौद्ध धर्म के कंकाल का अवशेष है, घोर वामाचार प्रविष्ट हो गया है। उस अवैदिक वामाचार के प्रभाव को घटाना होगा।

शिष्य—महाराज, क्या अब इस कीचड़ को साफ़ करना सम्भव है?

स्वामी जी—तू क्या कह रहा है? डरपोक, कापुरुष कहीं का! असम्भव कह कहकर तुम लोगों ने देश को बर्बाद कर डाला है। मनुष्य की चेष्टा से क्या नहीं हो सकता?

शिष्य—परन्तु महाराज, देश में मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के फिर से पैदा हुए बिना ऐसा होना सम्भव नहीं जान पड़ता।

स्वामी जी—अरे, पवित्रता और निःस्वार्थ चेष्टा के लिए ही तो वे मनु, याज्ञवल्क्य बने थे, या और कुछ के लिए? चेष्टा करने पर तो हम मनु या याज्ञवल्क्य से भी कहीं बड़े बन सकते हैं। उस समय हमारा मत भी क्यों नहीं चलेगा?

शिष्य—महाराज, थोड़ी देर पहले आप ही ने तो कहा था कि प्राचीन आचारों को देश में चलाना होगा। तो फिर मनु आदि को हमारी ही तरह व्यक्ति मानकर उनकी उपेक्षा करने से कैसे होगा?

स्वामी जी—किस बात पर तू किस बात को ला रहा है? तूने मेरी बात ही नहीं समझी। मैंने सिर्फ़ कहा है कि प्राचीन वैदिक आचारों को समाज और समय के उपयुक्त बनाकर नये ढाँचे में गढ़कर नवीन रूप में देश में चलाना होगा।

शिष्य—जी हाँ।

स्वामी जी—तो फिर वह क्या कह रहा था? तुम लोगों ने शास्त्र पढ़ा है। मेरी आशा विश्वास तुम्हीं लोग हो। मेरी बातों को ठीक ठीक समझकर उसीके अनुसार काम में लग जा।

शिष्य—परन्तु महाराज, हमारी बात सुनेगा कौन? देश के लोग उसे स्वीकार क्यों करने लगे?

स्वामी जी—यदि तू ठीक ठीक समझा सके और जो कुछ कहे उसे स्वयं करके दिखा सके तो अवश्य ही अन्य लोग भी उसे स्वीकार करेंगे, पर यदि तोते की तरह केवल श्लोक रटता हुआ वाक्पटु बनकर कापुरुष की तरह दूसरों की दुहाई देता रहा और कहे हुए को कार्यरूप में परिणत न कर सका तो फिर तेरी बात कौन सुनेगा, बोल?

शिष्य—महाराज, समाज-संस्कार के सम्बन्ध में अब संक्षेप में कुछ उपदेश दीजिए।

स्वामी जी—उपदेश तो तुझे अनेक दिये; कम से कम एक उपदेश को भी तो

कार्य रूप में परिणत कर ले। वड़ा कल्याण होगा। दुनिया भी देखे कि तेरा शास्त्र पढ़ना तथा मेरी वातें सुनना सार्थक हुआ। यह जो मनु आदि का शास्त्र पढ़ा है तथा और भी जो पढ़ा है, उस पर अच्छी तरह सोचकर देख कि उसकी असली जड़ अथवा उद्देश्य क्या है? उसको लक्ष्य में रखकर सत्य तत्त्वों का प्राचीन ऋषियों की तरह संग्रह कर और समयोपयोगी मतों को उसमें मिला ले। केवल इतना ध्यान रखना कि समग्र भारतवर्ष की सभी जातियों तथा सम्प्रदायों के लोगों का उन सब नियमों के पालन करने से वास्तव में कल्याण हो। लिख तो वैसी एक स्मृति; मैं देखकर उसका संशोधन कर दूंगा।

शिष्य—महाराज, यह काम सरल नहीं। और भी इस प्रकार की स्मृति लिखने पर क्या वह चलेगी?

स्वामी जी—क्यों नहीं चलेगी? तू लिख न। **कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी**—तूने यदि ठीक ठीक लिखी तो एक न एक दिन चलेगी ही। आत्मविश्वास रख। तुम्हीं लोग तो पूर्व काल में वैदिक ऋषि थे। अव केवल शरीर वदलकर आये हो। मैं दिव्य चक्षु से देख रहा हूँ, तुम लोगों में अनन्त शक्ति है! उस शक्ति को जगा दे; उठ, उठ, लग जा, कमर कस। क्या होगा, दो दिन का धन-मान लेकर? मेरा भाव जानता है?—मैं मुक्ति आदि नहीं चाहता। मेरा काम है तुम लोगों में इन्हीं भावों को जगा देना। एक मनुष्य तैयार करने के लिए लाख जन्म भी लेने पड़ें तो मैं उसके लिए तैयार हूँ।

शिष्य—परन्तु महाराज, उस प्रकार काम में लग कर भी क्या होगा? मृत्यु तो पीछे लगी ही है।

स्वामी जी—धत् छोकरे, मरना हो तो एक ही वार मर जा! कापुरुष की तरह रात-दिन मृत्यु की चिन्ता करके वार वार क्यों मरता है?

शिष्य—अच्छा महाराज, मृत्यु की चिन्ता यदि न भी की, पर इस अनित्य संसार में कर्म करके भी क्या लाभ है?

स्वामी जी—अरे, मृत्यु जव अवश्यम्भावी है तो ईंट-पत्थरों की तरह मरने के वजाय वीर की तरह मरना अच्छा है। इस अनित्य संसार में दो दिन अधिक जीवित रहकर भी क्या लाभ? It is better to wear out than to rust out—जराजीर्ण होकर थोड़ा थोड़ा करके क्षीण होते हुए मरने के वजाय वीर की तरह दूसरों के अल्प कल्याण के लिए लड़कर उसी समय मर जाना क्या अच्छा नहीं?

शिष्य—जी हाँ! आपको आज मैंने वहुत कष्ट दिया।

स्वामी जी—यथार्थ जिज्ञासु के पास लगातार दो रात तक बोलते रहने से भी मुझे श्रम का वोध नहीं होता। मैं आहार, निद्रा आदि छोड़कर लगातार बोल

सकता हूँ, और चाहूँ तो मैं हिमालय की गुफा में समाधिमग्न होकर भी बैठा रह सकता हूँ। देख तो रहा है, आजकल माँ की इच्छा से मुझे खाने की भी कोई चिन्ता नहीं। किसी न किसी प्रकार जुट ही जाता है। तो फिर क्यों ऐसा न करूँ? इस देश में रह क्यों रहा हूँ? देश की दशा देखकर और परिणाम की चिन्ता करके स्थिर नहीं रह सकता! समाधि-वमाधि तुच्छ लगती है—तुच्छं ब्रह्मपदम् हो जाता है!—तुम लोगों के कल्याण की कामना ही मेरे जीवन का व्रत है। जिस दिन वह व्रत पूर्ण हो जायगा, उसी दिन देह छोड़कर सीधा भाग जाऊँगा।

शिष्य मंत्रमुग्ध की तरह स्वामी जी की इन सब बातों को सुन कर स्तम्भित हो उनके मुँह की ओर ताकता हुआ कुछ देर तक बैठा रहा। इसके पश्चात् विदा लेने के उद्देश्य से भक्ति के साथ उन्हें प्रणाम करके उसने कहा, "महाराज, तो फिर आज आज्ञा दीजिए।"

स्वामी जी—जायगा, क्यों रे? मठ में ही रह जा न! गृहस्थों में जाने पर मन फिर मलिन हो जायगा। यहाँ पर देख कैसी सुन्दर हवा है, गंगा जी का तट, साधुगण साधन-भजन कर रहे हैं, कितनी अच्छी अच्छी बातें हो रही हैं। कलकत्ते में जाकर तो फिर उसी व्यर्थ की चिन्ता में लग जायगा।

शिष्य आनन्दित होकर बोला, "अच्छा महाराज, तो आज यहीं रहूँगा।"

स्वामी जी—आज ही क्यों रे? सदैव यहीं नहीं रह सकता? क्या होगा फिर संसार में जाकर?

स्वामी जी की वह बात सुनकर शिष्य सिर झुका कर रह गया। मन में एक ही साथ अनेक चिन्ताओं का उदय होने के कारण वह कोई भी उत्तर न दे सका।

२९

[स्थान : बेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

इधर स्वामी जी का शरीर बहुत कुछ स्वस्थ है। मठ की नयी जमीन में जो पुराना मकान था उसके कमरों की मरम्मत करके उन्हें रहने योग्य बनाया जा रहा है, परन्तु अभी तक काम पूरा नहीं हुआ। इसके लिए पहले सारी जमीन पर मिट्टी डालकर उसे समतल बनाया गया है। स्वामी जी आज दिन के तीसरे पहर शिष्य को साथ लेकर मठ के मैदान में घूमने निकले हैं। स्वामी जी के हाथ में एक लम्बा लट्ठ, बदन पर गेरुए रंग का फ़लालैन का चोग़ा और सिर नंगा। शिष्य के साथ

वातें करते करते दक्षिण की ओर जाकर फाटक तक पहुँच कर फिर उत्तर की ओर लौट रहे हैं—इसी प्रकार मकान से फाटक तक और फाटक से मकान तक वार वार चहलक़दमी कर रहे हैं। दक्षिण की ओर वेल वृक्ष के मूल भाग को पक्का करके वँधवाया गया है। उसी वेल वृक्ष के निकट खड़े होकर स्वामी जी अव धीरे धीरे गाना गाने लगे—'हे गिरिराज, गणेश मेरे कल्याणकारी हैं' इत्यादि।

गाना गाते गाते शिष्य से कहने लगे—"यहाँ पर कितने ही दण्डी, योगी, जटाधारी आयेंगे—समझा? कुछ समय के पश्चात् यहाँ कितने ही साधु-संन्यासियों का समागम होगा।" यह कहते कहते वे विल्व वृक्ष के नीचे वैठ गये और वोले, "विल्व वृक्ष का तल वहुत ही पवित्र है। यहाँ वैठकर ध्यान-धारणा करने पर शीघ्र ही उद्दीपना होती है, श्री रामकृष्ण यह वात कहा करते थे।"

शिष्य—महाराज, जो लोग आत्मा और अनात्मा के विचार में मग्न हैं उनके लिए स्थान-अस्थान, काल-अकाल, शुद्धि-अशुद्धि के विचार की आवश्यकता है क्या?

स्वामी जी—जिनकी आत्मज्ञान में निष्ठा है, उन्हें यह सव विचार करने की आवश्यकता सचमुच नहीं, परन्तु वह निष्ठा क्या ऐसे ही होती है? कितनी चेष्टा, साधना करनी पड़ती है, तव कहीं होती है। इसलिए पहले-पहल एक आध वाह्य अवलम्वन लेकर अपने पैरों पर खड़े होने की चेष्टा करनी होती है और फिर जव आत्मज्ञान में निष्ठा प्राप्त हो जाती है, तव किसी वाह्य अवलम्वन की आवश्यकता नहीं रहती।

"शास्त्रों में जो नाना प्रकार की साधनाओं का निर्देश है वह सव केवल आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही है। अधिकारी-भेद से साधनाएँ भिन्न भिन्न हैं। पर वे सव साधनाएँ भी एक प्रकार का कर्म हैं और जव तक कर्म है, तव तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। आत्मप्रकाश के सभी विघ्न शास्त्रोक्त साधना रूपी कर्म द्वारा हटा दिये जाते हैं। कर्म की अपनी प्रत्यक्ष आत्मप्रकाश की शक्ति नहीं; वह कुछ आवरणों को केवल हटा देता है। उसके वाद आत्मा अपनी प्रभा से स्वयं ही प्रकाशित हो जाती है, समझा? इसीलिए तेरे भाष्यकार कह रहे हैं—'ब्रह्मज्ञान से कर्म का तनिक भी सम्वन्ध नहीं'।"

शिष्य—परन्तु महाराज, जव किसी न किसी कर्म के विना किये आत्मप्रकाश के विघ्न दूर नहीं होते, तो परोक्षरूप में कर्म ही तो ज्ञान का कारण वन जाता है।

स्वामी जी—कार्य-कारण की परम्परा की दृष्टि से पहले वैसा अवश्य प्रतीत होता है। मीमांसा शास्त्र में वैसे ही दृष्टिकोण के आधार पर कहा गया है—

'काम्य कर्म अवश्य ही फल देता है।' परन्तु निर्विशेष आत्मा का दर्शन कर्म द्वारा न हो सकेगा, क्योंकि आत्मज्ञान के इच्छुकों के लिए साधना आदि कर्म करने का विधान है, परन्तु उसके परिणाम के सम्बन्ध में उदासीन रहना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है, वे सब साधनाएँ आदि कर्म साधक की चित्तशुद्धि के कारण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, क्योंकि यदि उन साधनाओं आदि के परिणाम में ही आत्मा का साक्षात् रूप से प्रत्यक्ष करना सम्भव होता तो फिर शास्त्रों में साधकों को उन सब कर्मों के फल को त्याग देने के लिए नहीं कहा जाता। अतः मीमांसा शास्त्र में कहे हुए फलप्रद कर्मवाद के निराकरण के लिए ही गीता में निष्काम कर्मयोग की अवतारणा की गयी है, समझा।

शिष्य—परन्तु महाराज, कर्म के फलाफल की ही यदि आशा न रखी, तो फिर कष्ट उठाकर कर्म करने में रुचि क्यों होगी?

स्वामी जी—देह धारण करके कुछ न कुछ कर्म किये बिना कोई कभी नहीं रह सकता। जीव को जब कर्म करना पड़ता ही है तो जिस प्रकार कर्म करने से आत्मा का दर्शन प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त होती है, उसी कर्म की प्रवृत्ति को निष्काम कर्मयोग कहा गया है। और तूने जो कहा, 'प्रवृत्ति क्यों होगी?'—उसका उत्तर यह है कि जितने कुछ कर्म किये जाते हैं, वे सभी प्रवृत्तिमूलक हैं; परन्तु कर्म करते करते जब एक कर्म से दूसरे कर्म में, एक जन्म से दूसरे जन्म में ही केवल गति होती रहती है तो समय पर लोगों की विचार की प्रवृत्ति स्वतः ही जागकर पूछती है—इस कर्म का अन्त कहाँ? उसी समय वह उस बात का मर्म समझ जाता है, जो गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—गहना कर्मणो गतिः। अतः जब कर्म करके उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती, तभी साधक कर्म-त्यागी बनता है। परन्तु देह धारण करके मनुष्य को कुछ न कुछ साथ लेकर तो रहना ही होगा। क्या लेकर रहेगा, बोल। इसीलिए साधक दो-चार सत्कर्म करता जाता है, परन्तु उस कर्म के फलाफल की आशा नहीं रखता, क्योंकि उस समय उसने जान लिया है कि उस कर्मफल में ही जन्म-मृत्यु के नाना प्रकार के अंकुर भरे पड़े हैं। इसीलिए ब्रह्मज्ञ व्यक्ति सारे कर्म त्याग देते हैं। दिखाने के दो-चार कर्म करने पर भी उनमें उनके प्रति आकर्षण बिल्कुल नहीं रहता। ये ही लोग शास्त्र में निष्काम कर्मयोगी बताये गये हैं।

शिष्य—तो महाराज, क्या निष्काम ब्रह्मज्ञ का उद्देश्यविहीन कर्म उन्मत्त की चेष्टा की तरह है?

स्वामी जी—नहीं। अपने लिए, अपने देह-मन के सुख के लिए कर्म न करना ही कर्मफल का त्याग है। ब्रह्मज्ञ अपने सुख की तलाश नहीं करते, परन्तु दूसरों के कल्याण अथवा यथार्थ सुख की प्राप्ति के लिए क्यों कर्म न करेंगे? वे लोग फल

की आकांक्षा न रखते हुए जो कुछ कर्म करते रहते हैं, उससे जगत् का कल्याण होता है। वे सव कर्म 'वहुजनहिताय', 'वहुजनसुखाय' होते हैं। श्री रामकृष्ण कहा करते थे—'उनके पैर कभी वेताल नहीं पड़ते।' वे जो कुछ करते हैं सभी अर्थपूर्ण होते हैं। 'उत्तररामचरित' में नहीं पढ़ा है—**ऋषीणां पुनराद्यानां वाच-मर्थोऽनुधावति** अर्थात् ऋषियों के वाक्यों का अर्थ है, वे कभी निरर्थक या मिथ्या नहीं होते। मन जिस समय आत्मा में लीन होकर वृत्तिविहीन वन जाता है, उस समय **इहामुत्रफलभोगविराग** उत्पन्न होता है अर्थात् संसार में अथवा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग आदि में किसी प्रकार का सुखभोग करने की आकांक्षा नहीं रहती। मन में फिर संकल्प-विकल्पों की लहर नहीं रहती, परन्तु व्युत्थान काल में अर्थात् समाधि अथवा उस वृत्तिविहीन स्थिति से उतरकर मन जिस समय फिर 'मैं-मेरा' के राज्य में आ जाता है, उस समय पूर्वकृत कर्म या अभ्यास या प्रारव्ध से उत्पन्न संस्कार के अनुसार देह आदि का कर्म चलता रहता है। मन उस समय प्राय: ज्ञानातीत स्थिति में रहता है। न खाने से काम नहीं चलता, केवल इसीलिए उस समय खाना-पीना रहता है—देहवुद्धि इतनी क्षीण हो जाती है। इस ज्ञानातीत भूमि में पहुँचकर जो कुछ किया जाता है, वही ठीक ठीक किया जाता है। वे सव काम जीव और जगत् के लिए होते हैं; क्योंकि उस समय कर्ता का मन फिर स्वार्थ वुद्धि द्वारा अथवा अपने लाभ-हानि के विचार द्वारा दूषित नहीं होता। ईश्वर ने सदा ज्ञानातीत भूमि में रहकर ही इस जगत् रूपी विचित्र सृष्टि की रचना की है, अत: इस सृष्टि में कुछ भी अपूर्ण नहीं पाया जाता। इसीलिए कह रहा था—आत्मज्ञ जीव के, फलकामना से शून्य कर्म आदि कभी अंगहीन अथवा असम्पूर्ण नहीं होते—उनसे जीव और जगत् का यथार्थ कल्याण ही होता है।

शिष्य—आपने थोड़ी देर पहले कहा, ज्ञान और कर्म आपस में एक दूसरे के विरोधी हैं। ब्रह्मज्ञान में कर्म का ज़रा भी स्थान नहीं है अथवा कर्म के द्वारा ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मदर्शन नहीं होता, तो फिर आप वीच वीच में महा रजोगुण के उद्दीपक उपदेश क्यों देते हैं? यही उस दिन आप मुझसे ही कह रहे थे—कर्म—कर्म—कर्म—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

स्वामी जी—मैंने दुनिया में घूमकर देखा है कि इस देश की तरह इतने अधिक तामस प्रकृति के लोग पृथ्वी में और कहीं भी नहीं, वाहर सात्त्विकता का ढोंग, पर अन्दर विल्कुल ईंट-पत्थर की तरह जड़—इनसे जगत् का क्या काम होगा? इस प्रकार अकर्मण्य, आलसी, घोर विषयी जाति दुनिया में और कितने दिन जीवित रह सकेगी? पाश्चात्य देशों में घूमकर पहले एक वार देख आ, फिर मेरे इस कथन का प्रतिवाद करना। उनका जीवन कितना उद्यमशील है, उनमें कितनी कर्मतत्परता

है, कितना उत्साह है, रजोगुण का कितना विकास है। तुम्हारे देश के लोगों का खून मानो हृदय में जम गया है—नसों में मानों रक्त का प्रवाह ही रुक गया है। सर्वांग पक्षाघात के कारण शिथिल सा हो गया है। इसलिए मैं रजोगुण की वृद्धि कर कर्मतत्परता के द्वारा इस देश के लोगों को पहले इहलौकिक जीवन संग्राम के लिए समर्थ वनाना चाहता हूँ। देह में शक्ति नहीं, हृदय में उत्साह नहीं, मस्तिष्क में प्रतिभा नहीं। क्या होगा रे इन जड़ पिण्डों से? मैं हिला-डुलाकर इनमें स्पन्दन लाना चाहता हूँ। इसलिए मैंने प्राणान्त प्रण किया है—वेदान्त के अमोघ मंत्र के वल से इन्हें जगाऊँगा। **उत्तिष्ठत जाग्रत** इस अभय वाणी को सुनाने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। तुम लोग इस काम में मेरे सहायक वनो। जा, गाँव-गाँव में, देश-देश में यह अभय वाणी चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी को सुना आ। सभी को पकड़ पकड़ कर जाकर कह दे—'तुम लोग अमित वीर्यवान हो—अमृत के अधिकारी हो।' इसी प्रकार पहले रजःशक्ति की उद्दीपना कर, जीवन संग्राम के लिए सव को कार्यक्षम वना, इसके पश्चात् उन्हें परजन्म में मुक्ति प्राप्त करने की वात सुना। पहले भीतर की शक्ति को जाग्रत करके देश के लोगों को अपने पैरों पर खड़ा कर; अच्छे भोजन-वस्त्र तथा उत्तम भोग आदि करना वे पहले सीखें। इसके वाद उन्हें उपाय वता दे कि किस प्रकार सव प्रकार के भोग-वन्धनों से वे मुक्त हो सकेंगे। निष्क्रियता, हीन वुद्धि और कपट से देश छा गया है। क्या वुद्धिमान लोग यह देखकर स्थिर रह सकते हैं? रोना नहीं आता? मद्रास, वम्बई, पंजाव, वंगाल—कहीं भी तो जीवनी शक्ति का चिह्न दिखाई नहीं देता। तुम लोग सोच रहे हो—'हम शिक्षित हैं!' क्या खाक सीखा है? दूसरों की कुछ वातों को दूसरी भाषा में रटकर मस्तिष्क में भरकर, परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सोच रहे हो—हम शिक्षित हो गये! धिक् धिक्, इसका नाम कहीं शिक्षा है? तुम्हारी शिक्षा का उद्देश्य क्या है? या तो क्लर्क वनना या एक दुष्ट वकील वनना, और वहुत हुआ तो क्लर्की का ही दूसरा रूप एक डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी—यही न? इससे तुम्हें या देश को क्या लाभ हुआ? एक वार आँखें खोलकर देख—सोना पैदा करनेवाली भारत-भूमि में अन्न के लिए हाहाकार मचा है! तुम्हारी इस शिक्षा द्वारा उस न्यूनता की क्या पूर्ति हो सकेगी? कभी नहीं। पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से ज़मीन खोदने लग जा, अन्न की व्यवस्था कर—नौकरी करके नहीं—अपनी चेष्टा द्वारा पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से नित्य नवीन उपाय का आविष्कार करके! इसी अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करने के लिए मैं लोगों को रजोगुण की वृद्धि करने का उपदेश देता हूँ। अन्न-वस्त्र की कमी और उसकी चिन्ता से देश वुरी अवस्था में चला जा रहा है—इसके लिए तुम लोग क्या

कर रहे हो ? फेंक दो अपने शास्त्र-वास्त्र गंगा जी में। देश के लोगों को पहले अन्न की व्यवस्था करने का उपाय सिखा दे। इसके वाद उन्हें भागवत का पाठ सुनाना। कर्मतत्परता के द्वारा इहलोक का अभाव दूर न होने तक कोई धर्म की कथा ध्यान से न सुनेगा। इसीलिए कहता हूँ, पहले अपने में अन्तर्निहित आत्मशक्ति को जाग्रत कर, फिर देश के समस्त व्यक्तियों में जितना सम्भव हो, उस शक्ति के प्रति विश्वास जमा। पहले अन्न की व्यवस्था कर, वाद में उन्हें धर्म प्राप्त करने की शिक्षा दे। अव अधिक बैठे रहने का समय नहीं—कव किसकी मृत्यु होगी, कौन कह सकता है ?

वात करते करते क्षोभ, दु:ख और दया के सम्मिलित आवेश से स्वामी जी के मुखमण्डल पर एक अपूर्व तेज उद्भासित हो उठा। आँखों से मानो अग्निकण निकलने लगे। उनकी उस समय की दिव्य मूर्ति का दर्शन कर भय और विस्मय के कारण शिष्य के मुख से वात न निकल सकी! कुछ समय रुक कर स्वामी जी फिर कहने लगे, "यथा समय देश में कर्मतत्परता और आत्मनिर्भरता अवश्य आ जायगी—मैं स्पष्ट देख रहा हूँ—there is no escape—दूसरी गति ही नहीं। जो लोग बुद्धिमान हैं, वे भावी तीन युगों का चित्र सामने प्रत्यक्ष देख सकते हैं।"

"श्री रामकृष्ण के जन्मग्रहण के समय से ही पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है—समय आते ही दोपहर के सूर्य की प्रखर किरणों से देश अवश्य आलोकित हो जायगा।"

३०

[स्थान : वेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

नया मठभवन तैयार हो गया है। जो कुछ कार्य शेष रह गया है, उसे स्वामी जी की राय से स्वामी विज्ञानानन्द समाप्त कर रहे है। स्वामी जी का स्वास्थ्य आजकल सन्तोषजनक नहीं, इसीलिए डॉक्टरों ने उन्हें प्रात: एवं सायंकाल नाव पर सवार होकर गंगा का वायु-सेवन करने को कहा है। स्वामी नित्यानन्द ने नड़ाल के राय वावुओं का वजरा (नाव) थोड़े दिनों के लिए माँग लिया है। मठ के सामने वह वँधा हुआ है। स्वामी जी कभी कभी अपनी इच्छा के अनुसार उस वजरे में सवार होकर गंगा-सेवन किया करते हैं।

आज रविवार है; शिष्य मठ में आया है और भोजन के पश्चात् स्वामी जी

के कमरे में बैठकर उनसे वार्तालाप कर रहा है। मठ में स्वामी जी ने इसी समय संन्यासियों और बाल ब्रह्मचारियों के लिए कुछ नियम तैयार किये हैं। उन नियमों का मुख्य उद्देश्य है गृहस्थों के संग से दूर रहना; जैसे—अलग भोजन का स्थान, अलग विश्राम का स्थान आदि। उसी विषय पर बातचीत होने लगी।

स्वामी जी—गृहस्थों के शरीर में, वस्त्रों में आजकल मैं कैसी एक प्रकार की संयमहीनता की गन्ध पाता हूँ; इसीलिए मैंने नियम बना दिया है कि गृहस्थ साधुओं के बिस्तर पर न बैठें, न सोवें। पहले मैं शास्त्रों में पढ़ा करता था कि गृहस्थों में ये बातें पायी जाती हैं और इसीलिए संन्यासी गृहस्थों की गन्ध नहीं सह सकते। अब मैं इस सत्य को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। नियमों को मानकर चलने से ही बाल ब्रह्मचारी समय पर यथार्थ संन्यास लेने के योग्य हो सकेंगे। संन्यास में निष्ठा दृढ़ हो जाने पर गृहस्थों के साथ मिल जुलकर रहने से भी फिर हानि न होगी। परन्तु प्रारम्भ में नियम न होने से संन्यासी ब्रह्मचारी सब बिगड़ जायँगे। यथार्थ ब्रह्मचारी बनने के लिए पहले-पहल संयम के कठोर नियमों का पालन करके चलना पड़ता है। इसके अतिरिक्त स्त्री संग करनेवालों का संग भी अवश्य ही त्यागना पड़ता है।

गृहस्थाश्रमी शिष्य स्वामी जी की बात सुनकर दंग रह गया और यह सोचकर कि अब वह मठ के संन्यासी ब्रह्मचारियों के साथ पहले के समान सम भाव से न मिल-जुल सकेगा, दुःखी होकर कहने लगा, "परन्तु महाराज, यह मठ और इसके सभी लोग मुझे अपने घर, स्त्री-पुत्र आदि सबसे अधिक प्यारे लगते हैं; मानो ये सभी कितने ही दिनों के परिचित हैं। मैं मठ में जिस प्रकार स्वाधीनता का उपभोग करता हूँ, दुनिया में और कहीं भी वैसा नहीं करता।

स्वामी जी—जितने शुद्ध सत्त्व के लोग हैं, उन सबको यहाँ पर ऐसा ही अनुभव होगा। पर जिसे ऐसा नहीं होता, समझना वह यहाँ का आदमी नहीं। कितने ही लोग जोश में जगकर आते हैं और फिर अल्प काल में ही भाग जाते हैं, उसका यही कारण है। ब्रह्मचर्यविहीन, दिन-रात 'रुपया रुपया' करके भटकनेवाला व्यक्ति यहाँ का भाव कभी समझ ही न सकेगा, कभी मठ में लोगों को अपना न मानेगा। यहाँ के संन्यासी पुराने ज़माने के विभूति रमाये, सिर पर जटा, हाथ में चिमटा धारण किये, दवा देनेवाले बाबा जी की तरह नहीं हैं। इसीलिए लोग देख सुनकर कुछ भी समझ नहीं पाते। हमारे श्री रामकृष्ण का आचरण, भाव सब कुछ नये प्रकार का है, इसीलिए हम सब भी नये प्रकार के हैं। कभी अच्छे वस्त्र पहनकर भाषण देते हैं, और कभी 'हर हर बम बम' कहते हुए भस्म रमाये पहाड़-जंगलों में घोर तपस्या में तल्लीन हो जाते हैं।

आजकल क्या केवल पुराने ज़माने के पोथी-पत्रों की दुहाई देने से ही काम चलता है रे ? इस समय इस पाश्चात्य सभ्यता का प्रबल प्रवाह अबाध गति से देश भर में प्रवाहित हो रहा है। उसकी उपयोगिता की ज़रा भी परवाह न करके केवल पहाड़ पर बैठे ध्यान में मग्न रहने से क्या आज काम चल सकता है ? इस समय चाहिए —गीता में भगवान् ने जो कहा है—प्रबल कर्मयोग—हृदय में अमित साहस, अपरिमित शक्ति। तभी तो देश के सब लोग जाग उठेंगे, नहीं तो जिस अन्धकार में तुम हो, उसीमें वे भी रहेंगे।

दिन ढलने को है। स्वामी जी गंगा में भ्रमण योग्य कपड़े पहनकर नीचे उतरे और मठ के मैदान में जाकर पूर्व के पक्के घाट पर कुछ समय तक टहलते रहे। फिर नाव के घाट में आने पर स्वामी निर्भयानन्द, नित्यानन्द तथा शिष्य को साथ लेकर उस पर चढ़ गये।

नाव पर चढ़कर स्वामी जी जब छत पर बैठे तो शिष्य उनके चरणों के पास जा बैठा। गंगा की छोटी छोटी लहरें नाव से टकरा कर कल-कल ध्वनि कर रही हैं, वायु धीरे धीरे वह रही है, अभी तक आकाश का पश्चिम भाग सायंकालीन लालिमा से लाल नहीं हुआ है, सूर्य भगवान् के अस्त होने में अभी लगभग आध घण्टा बाक़ी है। नाव उत्तर की ओर जा रही है। स्वामी जी के मुख से प्रफुल्लता, आँखों से कोमलता, बातचीत से गम्भीरता और प्रत्येक भाव-भंगी से जितेन्द्रियता व्यक्त हो रही है ! वह एक भावपूर्ण रूप है—जिसने वह नहीं देखा, उसके लिए समझना असम्भव है।

अब दक्षिणेश्वर छोड़कर अनुकूल वायु के झोकों के साथ नाव उत्तर की ओर आगे बढ़ रही है। दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर को देख शिष्य तथा अन्य दोनों संन्यासियों ने प्रणाम किया, परन्तु स्वामी जी एक गम्भीर भाव में विभोर होकर खोये खोये से बैठे रहे। शिष्य और संन्यासी लोग दक्षिणेश्वर की कितनी ही बातें कहने लगे, पर मानों वे बातें स्वामी जी के कानों में प्रविष्ट ही नहीं हुई ! देखते देखते नाव पेनेटी की ओर बढ़ी। पेनेटी में स्वर्गीय गोविन्द कुमार चौधरी के बगीचेवाले मकान के घाट में थोड़ी देर के लिए नाव ठहरायी गयी। इस बगीचेवाले मकान को पहले एक बार मठ के लिए किराये पर लेने का विचार हुआ था। स्वामी जी उतर-कर बगीचा और मकान देखने गये। फिर देख-दाखकर बोले—"बगीचा बहुत अच्छा है, परन्तु कलकत्ते से काफ़ी दूर है। श्री रामकृष्ण के शिष्यों को आने जाने में कष्ट होता। यहाँ पर मठ नहीं बना, यह अच्छा ही हुआ।"

अब नाव फिर मठ की ओर चली और लगभग एक घण्टे तक रात्रि के अन्धकार को चीरती हुई फिर मठ में आ पहुँची।

३१

[स्थान : वेलूड़ मठ। वर्ष : १८९९ ई० के प्रारम्भ में]

शिष्य आज नाग महाशय को साथ लेकर मठ में आया है।

स्वामी जी (नाग महाशय का अभिवादन करके)—कहिए आप अच्छे तो हैं न?

नाग महाशय—आपका दर्शन करने आया हूँ। जय शंकर! जय शंकर! साक्षात् शिवजी का दर्शन हुआ।

यह कहकर दोनों हाथ जोड़कर नाग महाशय खड़े रहे।

स्वामी जी—स्वास्थ्य कैसा है?

नाग महाशय—व्यर्थ के मांस-हड्डी की वात क्या पूछ रहे हैं? आपके दर्शन से आज मैं धन्य हुआ, धन्य हुआ!

ऐसा कहकर नाग महाशय ने स्वामी जी को साष्टांग प्रणाम किया।

स्वामी जी (नाग महाशय को उठाकर)—यह क्या कर रहे है?

नाग महाशय—मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ—आज मुझे साक्षात् शंकर का दर्शन प्राप्त हुआ! जय भगवान् श्री रामकृष्ण की।

स्वामी जी (शिष्य की ओर इशारा करके)—देख रहा है—यथार्थ भक्ति से मनुष्य कैसा वनता है! नाग महाशय तन्मय हो गये हैं, देहवुद्धि विल्कुल नहीं रही, ऐसा दूसरा नहीं देखा जाता।
(प्रेमानन्द स्वामी के प्रति)—नाग महाशय के लिए प्रसाद ला।

नाग महाशय—प्रसाद! प्रसाद! (स्वामी जी के प्रति हाथ जोड़कर) आपके दर्शन से आज मेरी भव-क्षुधा मिट गयी।

मठ में वाल व्रह्मचारी और संन्यासी उपनिषद् का अध्ययन कर रहे थे। स्वामी जी ने उनसे कहा, "आज श्री रामकृष्ण के एक महाभक्त पधारे हैं। नाग महाशय के शुभागमन से आज तुम लोगों का अध्ययन वन्द रहेगा।" सव लोग पुस्तकें वन्द करके नाग महाशय के चारों ओर घिर कर वैठ गये। स्वामी जी भी नाग महाशय के सामने वैठे।

स्वामी जी (सभी को सम्वोन्वित कर)—देख रहे हो? नाग महाशय को देखो—गृहस्थ हैं, परन्तु जगत् है या नहीं, यह भी नहीं जानते। सदा तन्मय वने रहते हैं? (नाग महाशय के प्रति)—इन सव व्रह्मचारियों को और हमें श्री रामकृष्ण की कुछ वातें सुनाइए।

नाग म०—यह क्या कहते हैं! यह क्या कहते हैं! मैं क्या कहूँगा? मैं

आपके दर्शन के लिए आया हूँ—श्री रामकृष्ण की लीला के सहायक महावीर का दर्शन करने आया हूँ। श्री रामकृष्ण की बातें लोग अब समझेंगे। जय श्री रामकृष्ण ! जय श्री रामकृष्ण !

स्वामी जी—आप ही ने वास्तव में श्री रामकृष्ण देव को पहचाना है। हमारा तो व्यर्थ चक्कर काटना ही रहा।

नाग म०—छि: ! यह आप क्या कह रहे हैं ! आप श्री रामकृष्ण की छाया हैं—एक ही सिक्के के दो पहलू—जिनकी आँखें हैं वे देखें !

स्वामी जी—ये जो सब मठ आदि बनवा रहा हूँ, क्या यह ठीक हो रहा है ?

नाग म०—मैं तो छोटा हूँ, मैं क्या समझूँ। आप जो कुछ करते हैं, निश्चित जानता हूँ, उससे जगत् का कल्याण होगा—कल्याण होगा।

अनेक व्यक्ति नाग महाशय की पदधूलि लेने में व्यस्त हो जाने से नाग महाशय संकोच में पड़ गये; स्वामी जी ने सबसे कहा, "जिससे इन्हें कष्ट हो, वह न करो।" यह सुनकर सब लोग रुक गये।

स्वामी जी—आप आकर मठ में रह क्यों नहीं जाते ? आपको देखकर मठ के सब लड़के सीखेंगे।

नाग म०—श्री रामकृष्ण से एक बार यही बात पूछी थी। उन्होंने कहा, 'घर में ही रहो'—इसीलिए घर में हूँ; बीच बीच में आप लोगों के दर्शन कर धन्य हो जाता हूँ।

स्वामी जी—मैं एक बार आपके देश में जाऊँगा।

नाग महाशय आनन्द से अधीर होकर बोले—"क्या ऐसा दिन आयेगा ? देश काशी बन जायगा ! काशी बन जायगा !! क्या मेरा ऐसा भाग्य होगा ?"

स्वामी जी—मेरी तो इच्छा है, पर जब माँ ले जाय, तब तो हो।

नाग म०—आपको कौन समझेगा, कौन समझेगा ? दिव्य दृष्टि खुले बिना पहचानने का उपाय नहीं। एकमात्र श्री रामकृष्ण ने ही आपको पहचाना था। बाकी सभी केवल उनके कहने पर विश्वास करते हैं। कोई समझ नहीं सका।

स्वामी जी—मेरी अब एकमात्र इच्छा यही है कि देश को जगा डालूँ—मानो महावीर अपनी शक्तिमत्ता से विश्वास खोकर सो रहे हैं—बेखबर होकर—शब्द नहीं है। सनातन धर्म के भाव में इसे किसी प्रकार जगा सकने से समझूँगा कि श्री रामकृष्ण तथा हम लोगों का आना सार्थक हुआ। केवल यही इच्छा है—मुक्ति-उक्ति तुच्छ लग रही है। आप आशीर्वाद दीजिए, जिससे सफलता प्राप्त हो।

नाग म०—श्री रामकृष्ण आशीर्वाद देंगे। आपकी इच्छा की गति को फेरनेवाला कोई भी नहीं दिखता। आप जो चाहेंगे वही होगा।

स्वामी जी—कहाँ, कुछ भी नहीं होता। उनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता।

नाग म०—उनकी इच्छा और आपकी इच्छा एक बन गयी है। आपकी जो इच्छा है, वही श्री रामकृष्ण की इच्छा है। जय श्री रामकृष्ण! जय श्री रामकृष्ण!!

स्वामी जी—काम करने के लिए दृढ़ शरीर चाहिए। यह देखिए, इस देश में आने के बाद स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता; उस देश में (यूरोप-अमेरिका में) अच्छा था।

नाग म०—श्री रामकृष्ण कहा करते थे—शरीर धारण करने पर 'घर का टैक्स देना पड़ता है', रोग-शोक—वही टैक्स हैं। आपका शरीर अशरफ़िओं का सन्दूक है, उस सन्दूक की खूब सेवा होनी चाहिए। कौन करेगा? कौन समझेगा? एकमात्र श्री रामकृष्ण ने ही समझा था। जय श्री रामकृष्ण! जय श्री रामकृष्ण!!

स्वामी जी—मठ के ये लोग मेरी बहुत सेवा करते हैं।

नाग म०—जो लोग कर रहे हैं, उन्हीं का कल्याण है। समझें या न समझें। सेवा में न्यूनता होने पर शरीर की रक्षा करना कठिन होगा।

स्वामी जी—नाग महाशय, क्या कर रहा हूँ, क्या नहीं कर रहा हूँ, कुछ समझ में नहीं आता। एक एक समय एक एक दिशा में कार्य करने का प्रबल वेग आता है। बस, उसीके अनुसार काम किये जा रहा हूँ। इससे भला हो रहा है या बुरा, कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।

नाग म०—श्री रामकृष्ण ने जो कहा था—'कुंजी लगा दी गयी।' इसीलिए अब समझने नहीं दे रहे हैं। समझने के साथ ही लीला समाप्त हो जायगी।

स्वामी जी ध्यानस्थ होकर कुछ सोचने लगे। इसी समय स्वामी प्रेमानन्द श्री रामकृष्ण का प्रसाद लेकर आये और नाग महाशय तथा अन्य सभी को प्रसाद दिया गया। नाग महाशय दोनों हाथों से प्रसाद को सिर पर रखकर 'जय श्री रामकृष्ण' कहते हुए नृत्य करने लगे। सभी लोग देखकर दंग रह गये। प्रसाद पाकर सभी लोग बगीचे में टहलने लगे। इस बीच स्वामी जी एक कुदाली लेकर धीरे धीरे मठ के तालाब के पूर्वी तट पर मिट्टी खोदने लगे—नाग महाशय देखते ही उनका हाथ पकड़कर बोले—"हमारे रहते आप यह क्या करते हैं?" स्वामी जी कुदाली छोड़कर मैदान में टहलते टहलते बातें करने लगे। स्वामी जी एक शिष्य से कहने लगे—"श्री रामकृष्ण के स्वर्गवास के पश्चात् एक दिन हम लोगों ने सुना, नाग महाशय चार-पाँच दिनों से उपवास करते हुए अपने कलकत्ते के मकान में पड़े हैं। मैं, हरिभाई और न जाने एक और कौन थे, तीनों मिलकर नाग महाशय की

कुटिया में जा पहुँचे। देखते ही वे रज़ाई छोड़कर उठ खड़े हुए! मैंने कहा, 'आपके यहाँ आज हम लोग भिक्षा पायेंगे।' नाग महाशय ने उसी समय बाज़ार से चावल, वर्तन, लकड़ी आदि लाकर पकाना शुरू किया। हमने सोचा था, हम भी खायेंगे, नाग महाशय को भी खिलायेंगे। भोजन तैयार होने पर हमें परोसा गया। हम नाग महाशय के लिए सब चीजें रखकर भोजन करने बैठे। भोजन के पश्चात् जब उनसे खाने के लिए अनुरोध किया गया, वे भात की हाँड़ी फोड़कर अपना सिर ठोककर बोले, 'जिस शरीर से भगवान् की प्राप्ति नहीं हुई, उस शरीर को फिर भोजन दूँगा?' हम तो यह देखकर दंग रह गये। बहुत कहने-सुनने के बाद उन्होंने कुछ भोजन किया और फिर हम लौट आये।"

स्वामी जी—नाग महाशय आज क्या मठ में ठहरेंगे?

शिष्य—नहीं, उन्हें कुछ काम है; आज ही जाना होगा।

स्वामी जी—तो जा, नाव का प्रबन्ध कर। सन्ध्या हो रही है।

नाव आने पर शिष्य और नाग महाशय स्वामी जी को प्रणाम करके नाव पर सवार हो कलकत्ते की ओर रवाना हुए।

३२

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १८९९ ई०]

इस समय स्वामी जी काफ़ी स्वस्थ हैं। शिष्य रविवार को प्रातःकाल मठ में आया है। स्वामी जी के चरण-कमलों का दर्शन करने के बाद दुमंज़िले से उतर वह स्वामी निर्मलानन्द के साथ वेदान्त शास्त्र की चर्चा कर रहा है। इसी समय स्वामी जी नीचे उतर आये और शिष्य को देखकर कहने लगे "अरे, तुलसी के साथ क्या विचार-विमर्श हो रहा था?"

शिष्य—महाराज, तुलसी महाराज कह रहे थे, 'वेदान्त का ब्रह्मवाद केवल तू और तेरे स्वामी जी जानते हैं। हम तो जानते हैं—**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।**

स्वामी जी—तूने क्या कहा?

शिष्य—मैंने कहा, 'एक आत्मा ही सत्य है। कृष्ण केवल एक ब्रह्मज्ञ पुरुष थे।' तुलसी महाराज भीतर से वेदान्तवादी हैं, परन्तु बाहर द्वैतवादी का पक्ष लेकर तर्क करते हैं, ईश्वर को व्यक्तिविशेष बताकर बात का प्रारम्भ करके धीरे धीरे वेदान्तवाद की नींव को सुदृढ़ प्रमाणित करना ही उनका उद्देश्य ज्ञात होता है।

परन्तु जव वे मुझे 'वैष्णव' कहते हैं तो मैं उनके सच्चे इरादे को भूल जाता हूँ और उनके साथ वाद-विवाद करने लग जाता हूँ।

स्वामी जी—तुलसी तुझसे प्रेम करता है न, इसीलिए वैसा कहकर तुझे चिढ़ाता है। तू विगड़ता क्यों है? तू भी कहना, 'आप शून्यवादी नास्तिक हैं।'

शिष्य—महाराज, उपनिषद् दर्शन आदि में क्या यह वात है कि ईश्वर कोई शक्तिमान व्यक्तिविशेष है? लोग किन्तु वैसे ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं।

स्वामी जी—सर्वेश्वर कभी भी व्यक्ति विशेष नहीं वन सकता। जीव है व्यष्टि; और समस्त जीवों की समष्टि है ईश्वर। जीव में अविद्या प्रवल है; ईश्वर विद्या और अविद्या की समष्टिरूपी माया को वशीभूत करके विराजमान है और स्वाधीन भाव से उस स्थावर-जंगमात्मक जगत् को अपने भीतर से वाहर निकाल रहा है। परन्तु ब्रह्म उस व्यष्टि-समष्टि से अथवा जीव और ईश्वर से परे है। ब्रह्म का अंशांश भाग नहीं होता। समझाने के लिए उनके त्रिपाद, चतुष्पाद आदि की कल्पना मात्र की गयी है। जिस पाद में सृष्टि-स्थिति-लय का अध्यास हो रहा है, उसीको शास्त्र में 'ईश्वर' कहकर निर्देश किया गया है। अपर त्रिपाद कूटस्थ है, जिसमें द्वैत कल्पना का आभास नहीं, वही ब्रह्म है। इससे तू कहीं ऐसा न मान लेना कि ब्रह्म जीव-जगत् से कोई अलग वस्तु है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, ब्रह्म ही जीव-जगत् के रूप में परिणत हुआ है। अद्वैतवादी कहते हैं, 'ऐसा नहीं, ब्रह्म में जीव-जगत् अध्यस्त मात्र हुआ है। परन्तु वास्तव में उसमें ब्रह्म की किसी प्रकार की परिणति नहीं हुई।' अद्वैतवादी का कहना है कि जगत् केवल नाम-रूप ही है। जव तक नाम-रूप है, तभी तक जगत् है। ध्यान-धारणा द्वारा जव नाम-रूप लुप्त हो जाता है, उस समय एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है। उस समय तेरी, मेरी अथवा जीव-जगत् की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं होता। उस समय ऐसा लगता है, मैं ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध प्रत्यक् चैतन्य अथवा ब्रह्म हूँ—जीव का स्वरूप ही ब्रह्म है। ध्यान-धारणा द्वारा नाम-रूप आवरण हटकर यह भाव प्रत्यक्ष होता है, वस इतना ही। यही है शुद्धाद्वैतवाद का असल सार। वेद-वेदान्त, शास्त्र आदि इसी वात को नाना प्रकार से वार वार समझा रहे हैं।

शिष्य—तो फिर ईश्वर सर्वशक्तिमान व्यक्तिविशेष है—यह वात फिर कैसे सत्य हो सकती है?

स्वामी जी—मनरूपी उपाधि को लेकर ही मनुष्य है। मन के ही द्वारा मनुष्य को सभी विषय समझना पड़ रहा है। परन्तु मन जो कुछ सोचता है, वह सीमित होगा ही। इसीलिए अपने व्यक्तित्व से ईश्वर के व्यक्तित्व की कल्पना करना जीव का स्वतःसिद्ध स्वभाव है, मनुष्य अपने आदर्श को मनुष्य के रूप में ही सोचने

में समर्थ है। इस जरा-मृत्युपूर्ण जगत् में आकर मनुष्य दुःख की ताड़ना से 'हा हतोऽस्मि' करता है और किसी ऐसे व्यक्ति का आश्रय लेना चाहता है, जिस पर निर्भर रहकर वह चिन्ता से मुक्त हो सके। परन्तु ऐसा आश्रय है कहाँ! निराधार सर्वज्ञ आत्मा ही एकमात्र आश्रयस्थल है। पहले पहले मनुष्य यह बात जान नहीं सकता। विवेक-वैराग्य आने पर ध्यान-धारणा करते करते धीरे धीरे यह जाना जाता है। परन्तु कोई किसी भी भाव से साधना क्यों न करे, सभी अनजान में अपने भीतर स्थित ब्रह्मभाव को जगा रहे है। हाँ, आलम्बन अलग अलग हो सकते हैं। जिसका ईश्वर के सगुण होने में विश्वास है, उसे उसी भाव को पकड़कर साधन-भजन आदि करना चाहिए। ऐकान्तिक भाव आने पर उसीसे समय पाकर ब्रह्म-रूपी सिंह उसके भीतर से जाग उठता है। ब्रह्मज्ञान ही जीव का एकमात्र प्राप्य है। परन्तु अनेक पंथ—अनेक मत हैं। जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म होने पर भी मनरूपी उपाधि में अभिमान रहने के कारण, वह तरह तरह के सन्देह, संशय, सुख, दुःख आदि भोगता है, परन्तु अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए आब्रह्मस्तम्ब सभी गतिशील हैं। जब तक 'अहं ब्रह्म' यह तत्त्व प्रत्यक्ष न होगा, तब तक इस जन्म-मृत्यु की गति के पंजे से किसीका छुटकारा नहीं है। मनुष्य-जन्म प्राप्त करके मुक्ति की इच्छा प्रबल होने तथा महापुरुष की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य की आत्मज्ञान की आकांक्षा बलवती होती है; नहीं तो काम-कांचन में लिप्त व्यक्तियों के मन की उधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिसके मन में स्त्री, पुत्र, धन, मान प्राप्त करने का संकल्प है, उनके मन में ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसे हो? जो सर्वस्व त्यागने को तैयार है, जो सुख-दुःख, भले-बुरे के चंचल प्रवाह में धीर-स्थिर, शान्त तथा दृढ़चित्त रहता है, वही आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वही, **निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी**—महाबल से जगद्रूपी जाल को तोड़कर माया की सीमा को लाँघ सिंह की तरह बाहर निकल जाता है।

शिष्य—क्या महाराज, संन्यास के बिना ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता?

स्वामी जी—क्या यह बात एक बार कहने की है? अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार से संन्यास का अवलम्बन करना चाहिए। आचार्य शंकर ने भी उपनिषद् के **तपसो वाप्यलिंगात्**—इस अंश की व्याख्या के प्रसंग में कहा है, 'लिंगहीन अर्थात् संन्यास के बाह्य चिह्नों के रूप में गेरुआ वस्त्र, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण न करके तपस्या करने पर कष्ट से प्राप्त करने योग्य ब्रह्म-तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं होता।'[1] वैराग्य न आने पर, त्याग न होने पर, भोग-स्पृहा का त्याग न होने पर क्या कुछ होना सम्भव है?—

१. मुंडकोपनिषद् ॥३।२।४॥

वह बच्चे के हाथ का लड्डू तो है नहीं, जिसे भुलावा देकर छीन कर खा सकते हो।

शिष्य—परन्तु साधना करते करते धीरे धीरे त्याग आ सकता है न?

स्वामी जी—जिसे धीरे धीरे आता है, उसे आये। परन्तु तुझे क्यों बैठे रहना चाहिए? अभी से नाला काटकर जल लाने में लग जा। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, "हो रहा है, होगा, यह सब टालने का ढंग है।" प्यास लगने पर क्या कोई बैठा रह सकता है? या जल के लिए दौड़-धूप करता है? प्यास नहीं लगी, इसलिए बैठा है। ज्ञान की इच्छा प्रबल नहीं हुई, इसीलिए स्त्री-पुत्र लेकर गृहस्थी कर रहा है!

शिष्य—वास्तव में मैं यह समझ नहीं सका कि अभी तक मुझमें उस प्रकार की सर्वस्व त्यागने की बुद्धि क्यों नहीं आ सकी। आप इसका कोई उपाय कर दीजिए।

स्वामी जी—उद्देश्य और उपाय सभी तेरे हाथ में हैं। मैं केवल उस विषय की इच्छा को मन में उत्तेजित कर दे सकता हूँ। तू इन सब सत् शास्त्रों का अध्ययन कर रहा है—बड़े बड़े ब्रह्मज्ञ साधुओं की सेवा और सत्संग कर रहा है—इतने पर भी यदि त्याग का भाव नहीं आता, तो तेरा जीवन ही व्यर्थ है। परन्तु बिल्कुल व्यर्थ नहीं होगा—समय पर इसका परिणाम निकलेगा ही।

शिष्य सर झुकाये विषण्ण भाव से कुछ समय तक अपने भविष्य की चिन्ता करके फिर स्वामी जी से कहने लगा, "महाराज, मैं आपकी शरण में आया हूँ, मेरी मुक्ति का रास्ता खोल दीजिए—मैं इसी जन्म में तत्त्वज्ञ बनना चाहता हूँ।"

स्वामी जी शिष्य को खिन्न देखकर कहने लगे, "भय क्या है? सदा विचार किया कर—यह शरीर, घर, जीव-जगत् सभी सम्पूर्ण मिथ्या है—स्वप्न की तरह है, सदा सोचा कर कि यह शरीर एक जड़-यंत्र मात्र है। इसमें जो आत्माराम पुरुष है, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है। मनरूपी उपाधि ही उसका प्रथम और सूक्ष्म आवरण है। उसके बाद देह उसका स्थूल आवरण बना हुआ है। निष्कल, निर्विकार, स्वयंज्योति वह पुरुष इन सब मायिक आवरणों से ढका हुआ है, इसलिए तू अपने स्वरूप को जान नहीं पाता। रूप-रस की ओर दौड़नेवाले इस मन की गति को अन्दर की ओर लौटा देना होगा। मन को मारना होगा। देह तो स्थूल है। यह मरकर पंचभूतों में मिल जाती है, परन्तु संस्कारों की गठरी मन शीघ्र नहीं मरता। बीज की भाँति कुछ दिन रहकर फिर वृक्ष रूप में परिणत होता है, फिर स्थूल शरीर धारण करके जन्म-मृत्यु के पथ में आया-जाया करता है। जब तक आत्मज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यही क्रम चलता रहता है। इसीलिए कहता हूँ—ध्यान, धारणा और विचार के बल पर मन को सच्चिदानन्द-समुद्र में डुबो दे। मन के मरते ही सभी गया समझ। बस फिर तू ब्रह्मसंस्थ हो जायगा।

शिष्य—महाराज, इस उद्दाम उन्मत्त मन को ब्रह्म में डुबो देना बहुत ही कठिन है।

स्वामी जी—वीर के सामने कठिन नाम की कोई भी चीज़ है क्या? कापुरुष ही ऐसी बातें कहा करते हैं! **वीराणामेव करतलगता मुक्तिः, न पुनः कापुरुषाणाम्।** अभ्यास और वैराग्य के बल से मन को संयत कर। गीता में कहा है, **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।** चित्त मानो एक निर्मल तालाब है। रूप-रस आदि के आघात से उसमें जो तरंग उठ रही है, उसीका नाम है मन। इसीलिए मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक है। उस संकल्प-विकल्प से ही वासना उठती है। उसके बाद वह मन ही क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होकर स्थूल देहरूपी यंत्र के द्वारा कार्य करता है। फिर कर्म भी जिस प्रकार अनन्त है, कर्म का फल भी वैसा ही अनन्त है। अतः अनन्त असंख्य कर्मफल रूपी तरंग में मन सदा झूला करता है। उस मन को वृत्तिशून्य बना देना होगा। उसे स्वच्छ तालाब में परिणत करना होगा, जिससे उसमें फिर वृत्तिरूपी एक भी तरंग न उठ सके। तभी ब्रह्म-तत्त्व प्रकट होगा। शास्त्रकार उसी स्थिति का आभास इस रूप में दे रहे हैं—**भिद्यते हृदयग्रन्थिः** आदि—समझा?

शिष्य—जी हाँ, परन्तु ध्यान तो विषयावलम्बी होना चाहिए न?

स्वामी जी—तू स्वयं ही अपना विषय बनेगा। तू सर्वव्यापी आत्मा है, इसी बात का मनन और ध्यान किया कर। मैं देह नहीं—मन नहीं—बुद्धि नहीं—स्थूल नहीं—सूक्ष्म नहीं—इस प्रकार 'नेति' 'नेति' करके प्रत्यक् चैतन्य रूपी अपने स्वरूप में मन को डुबो दे। इस प्रकार मन को बार बार डुबो डुबो कर मार डाल। तभी ज्ञानस्वरूप का बोध या स्व स्वरूप में स्थिति होगी। उस समय ध्याता-ध्येय-ध्यान एक बन जायँगे—ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान एक हो जायँगे। सभी अध्यासों की निवृत्ति हो जायगी। इसीको शास्त्र में 'त्रिपुटि भेद' कहा है। इस स्थिति में जानने, न जानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। आत्मा ही जब एकमात्र विज्ञाता है, तब उसे फिर जानेगा कैसे? आत्मा ही ज्ञान—आत्मा ही चैतन्य—आत्मा ही सच्चिदानन्द है। जिसे सत् या असत् कुछ भी कहकर निर्देश नहीं किया जा सकता, उसी अनिर्वचनीय मायाशक्ति के प्रभाव से जीवरूपी ब्रह्म के भीतर ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भाव आ गया है। इसे ही साधारण मनुष्य चेतन स्थिति कहते हैं। यहाँ यह द्वैतसंघात शुद्ध ब्रह्म-तत्त्व एक बन जाता है, उसे ही शास्त्र में समाधि या दिव्य चेतन स्थिति कहकर इस प्रकार वर्णन किया गया है—**स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम्!**

इन बातों को स्वामी जी मानो ब्रह्मानुभव के गंभीर सलिल में मग्न होकर ही कहने लगे—इस ज्ञाता-ज्ञेय रूप सापेक्ष भूमिका से ही दर्शन, शास्त्र-विज्ञान आदि

निकले हैं; परन्तु मानव मन का कोई भी भाव या भाषा जानने या न जानने के परे की वस्तु को सम्पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकती। दर्शन, विज्ञान आदि आंशिक रूप से सत्य हैं; इसलिए वे किसी भी तरह परमार्थ तत्त्व के सम्पूर्ण प्रकाशक नहीं बन सकते। अतएव परमार्थ की दृष्टि से देखने पर सभी मिथ्या ज्ञात होता है—धर्म मिथ्या, कर्म मिथ्या, मैं मिथ्या हूँ, तू मिथ्या है, जगत् मिथ्या है। उसी समय देखता है कि मैं ही सब कुछ हूँ; मैं ही सर्वगत आत्मा हूँ; मेरा प्रमाण मैं ही हूँ। मेरे अस्तित्व के प्रमाण के लिए फिर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता कहाँ? मैं—जैसा कि शास्त्रों ने कहा है—**नित्यमस्मत्प्रसिद्धम्** हूँ। मैंने वास्तव में ऐसी स्थिति को प्रत्यक्ष किया है—उसका अनुभव किया है। तुम लोग भी देखो —अनुभव करो—और जाकर जीव को यह ब्रह्म-तत्त्व सुनाओ। तब तो शान्ति पायेगा।"

ऐसा कहते कहते स्वामी जी का मुख गम्भीर बन गया और उनका मन मानो किसी एक अज्ञात राज्य में जाकर थोड़ी देर के लिए स्थिर हो गया। कुछ समय के बाद वे फिर कहने लगे—"इस सर्वमतग्रासिनी, सर्वमतसमंजसा ब्रह्मविद्या का स्वयं अनुभव कर—और जगत् में प्रचार कर, उससे अपना कल्याण होगा, जीव का भी कल्याण होगा। तुझे आज सारी बात बता दी। इससे बढ़कर बात और दूसरी कोई नहीं।"

शिष्य—महाराज, आप इस समय ज्ञान की बात कह रहे हैं; कभी भक्ति की, कभी कर्म की तथा कभी योग की प्रधानता की बात कहते हैं। इससे मेरी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

स्वामी जी—असल बात यही है कि ब्रह्मज्ञ बनना ही चरम लक्ष्य है—परम पुरुषार्थ है। परन्तु मनुष्य तो हर समय ब्रह्म में स्थित नहीं रह सकता? व्युत्थान के समय कुछ लेकर तो रहना होगा? उस समय ऐसा कर्म करना चाहिए, जिससे लोगों का कल्याण हो। इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ, अभेदबुद्धि से जीव की सेवा के भाव से कर्म करो। परन्तु भैया, कर्म के ऐसे दाँव-घात हैं कि बड़े बड़े साधु भी इसमें आबद्ध हो जाते हैं! इसीलिए फल की आकांक्षा से शून्य होकर कर्म करना चाहिए। गीता में यही बात कही गयी है। परन्तु यह समझ ले कि ब्रह्मज्ञान में कर्म का अनुप्रवेश भी नहीं है। सत्कर्म के द्वारा बहुत हुआ तो चित्त-शुद्धि होती है। इसीलिए भाष्यकार ने ज्ञान-कर्म-समुच्चय के प्रति इतना तीव्र कटाक्ष—इतना दोषारोपण किया है। निष्काम कर्म से किसी किसीको ब्रह्मज्ञान हो सकता है। यह भी एक उपाय अवश्य है, परन्तु उद्देश्य है ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति। इस बात को भली भाँति जान ले—विचार-मार्ग तथा अन्य सभी प्रकार की साधना का फल है, ब्रह्मज्ञता प्राप्त करना।

शिष्य—महाराज, अब भक्ति और राजयोग की उपयोगिता बताकर मेरी जिज्ञासा शांत कीजिए।

स्वामी जी—उन सब पथों में साधना करते करते भी किसी किसीको ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भक्ति मार्ग के द्वारा धीरे धीरे उन्नति होकर फल देर में प्राप्त होता है—परन्तु मार्ग है सरल। योग में अनेक विघ्न हैं। सम्भव है कि मन सिद्धियों में चला जाय और असली स्वरूप में पहुँच न सके। एकमात्र ज्ञान-मार्ग ही आशुफलदायक है और सभी मतों का संस्थापक होने के कारण सर्व काल में सभी देशों में समान रूप से सम्मानित है। परन्तु विचार-पथ में चलते चलते भी मन ऐसे तर्क-जाल में बद्ध हो सकता है, जिससे निकलना कठिन हो। इसीलिए साथ ही साथ ध्यान भी करते जाना चाहिए। विचार और ध्यान के बल पर उद्देश्य तक अथवा ब्रह्म-तत्त्व में पहुँचना होगा। इस प्रकार साधना करने से गन्तव्य स्थल पर ठीक ठीक पहुँचा जा सकता है। यही मेरी सम्मति में सरल तथा शीघ्र फलदायक मार्ग है।

शिष्य—अब मुझे अवतारवाद के सम्बन्ध में कुछ बतलाइए।

स्वामी जी—जान पड़ता है, तू एक ही दिन में सभी कुछ मार लेना चाहता है!

शिष्य—महाराज, मन का सन्देह एक ही दिन में मिट जाय तो बार बार फिर आपको तंग न करना पड़ेगा।

स्वामी जी—जिस आत्मा की इतनी महिमा शास्त्रों से जानी जाती है, उस आत्मा का ज्ञान जिनकी कृपा से एक मुहूर्त में प्राप्त होता है, वे ही हैं सचल तीर्थ—अवतार पुरुष। वे जन्म से ही ब्रह्मज्ञ हैं और ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञ में कुछ भी अन्तर नहीं—**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** (ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है)। आत्मा को तो फिर जाना नहीं जाता, क्योंकि यह आत्मा ही ज्ञाता और मननशील बनी हुई है—यह बात पहले ही मैंने कही है। अतः मनुष्य का जानना उसी अवतार तक है—जो आत्मसंस्थ है। मानव बुद्धि ईश्वर के सम्बन्ध में जो सबसे उच्च भाव ग्रहण कर सकती है, वह वहीं तक है। उसके बाद और जानने का प्रश्न नहीं रहता। उस प्रकार के ब्रह्मज्ञ कभी कभी ही जगत् में पैदा होते हैं। उन्हें कम लोग ही समझ पाते हैं। वे ही शास्त्र-वचनों के प्रमाण-स्थल है—भवसागर के आलोकस्तम्भ हैं! इन अवतारों के सत्संग तथा कृपादृष्टि से एक क्षण में ही हृदय का अन्धकार दूर हो जाता है—एकाएक ब्रह्मज्ञान का स्फुरण हो जाता है। क्यों होता है अथवा किस उपाय से होता है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता, परन्तु होता अवश्य है। मैंने होते देखा है। श्री कृष्ण ने आत्मसंस्थ होकर गीता कही थी। गीता में जिन जिन स्थानों में 'अहम्' शब्द का उल्लेख है—वह 'आत्मपर' जानना। **मामेकं शरणं व्रज**

अर्थात् 'आत्मसंस्थ वनो।' यह आत्मज्ञान ही गीता का अन्तिम लक्ष्य है। योग आदि का उल्लेख उसी आत्म-तत्त्व की प्राप्ति की आनुषंगिक अवतारणा है। जिन्हें यह आत्मज्ञान नहीं होता वे आत्मघाती हैं—**विनिहन्त्यसद्ग्रहात्**। रूप-रस आदि की फाँसी लगकर उनके प्राण निकल जाते हैं। तू भी तो मनुष्य है—दो दिनों के तुच्छ भोग की उपेक्षा नहीं कर सकता? **जायस्व म्रियस्व** के दल में जायगा? 'श्रेय' को ग्रहण कर—'प्रेय' का त्याग कर! यह आत्म-तत्त्व चाण्डाल आदि सभी को सुना। सुनाते सुनाते तेरी वुद्धि भी निर्मल हो जायगी। **तत्त्वमसि, सोऽहमस्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। आदि महामंत्र का सदा उच्चारण कर और हृदय में सिंह की तरह बल रख। भय क्या है? भय ही मृत्यु है—भय ही महापातक है। नररूपी अर्जुन को भय हुआ था—इसलिए आत्मसंस्थ होकर भगवान् श्री कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया; फिर भी क्या उसका भय चला गया था? अर्जुन जव विश्वरूप का दर्शन कर आत्मसंस्थ हुए तभी वे ज्ञानाग्नि-दग्धकर्मा वने और उन्होंने युद्ध किया।

शिष्य—महाराज, आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर भी क्या कर्म रह जाता है?

स्वामी जी—ज्ञान-प्राप्ति के वाद साधारण लोग जिसे कर्म कहते हैं, वैसा कर्म नहीं रहता। उस समय कर्म 'जगद्धिताय' हो जाता है। आत्मज्ञानी की सभी वातें जीव के कल्याण के लिए होती हैं। श्री रामकृष्ण को देखा है—**देहस्थोऽपि न देहस्थः** (देह में रहते हुए भी देह में न रहना) यह भाव! वैसे पुरुषों के कर्म के उद्देश्य के सम्वन्ध में केवल यही कहा जा सकता है—**लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (जो कुछ वे करते हैं, वह केवल लोक में लीला रूप में है)।

३३

[स्थान: वेलूड़ मठ। वर्ष—१९०१ ई०]

कलकत्ता जुविली ऑर्ट अकादमी के अध्यापक और संस्थापक वावू रणदाप्रसाद दासगुप्त महाशय को साथ लेकर शिष्य वेलूड़ मठ में आया है। रणदा वावू शिल्प-कला में निपुण, सुपण्डित तथा स्वामी जी के गुणग्राही हैं। परिचय के वाद स्वामी जी रणदा वावू के साथ शिल्पविज्ञान के सम्वन्ध में वातें करने लगे। रणदा वावू को प्रोत्साहित करने के लिए एक दिन जुविली ऑर्ट अकादमी में जाने की इच्छा भी प्रकट की, परन्तु कई असुविधाओं के कारण स्वामी जी वहाँ नहीं जा सके। स्वामी

जी रणदा वाबू से कहने लगे, "पृथ्वी के प्राय: सभी सभ्य देशों का शिल्प-सौन्दर्य देख आया, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के समय इस देश में शिल्पकला का जैसा विकास देखा जाता है, वैसा और कहीं भी नहीं देखा। मुग़ल बादशाहों के समय में भी इस विद्या का विशेष विकास हुआ था। उस विद्या के कीर्तिस्तम्भ के रूप में आज भी ताजमहल, जामा मसजिद आदि भारतवर्ष के वक्ष पर खड़े हैं।

"मनुष्य जिस चीज का निर्माण करता है, उससे किसी एक मनोभाव को व्यक्त करने का नाम ही शिल्प है। जिसमें भाव की अभिव्यक्ति नहीं, उसमें रंग-बिरंगी चकाचौंध रहने पर भी उसे वास्तव में शिल्प नहीं कहा जा सकता। लोटा, कटोरे, प्याली आदि नित्य व्यवहार की चीजें भी उसी प्रकार कोई-विशेष भाव व्यक्त करते हुए तैयार करनी चाहिए। पेरिस प्रदर्शनी में पत्थर की बनी हुई एक विचित्र मूर्ति देखी थी। मूर्ति के परिचय के रूप में उसके नीचे ये शब्द लिखे हुए थे---'प्रकृति का अनावरण करती हुई कला' अर्थात् शिल्पी किस प्रकार प्रकृति के घूँघट को अपने हाथ से हटाकर भीतर के रूप-सौन्दर्य को देखता है। मूर्ति का निर्माण इस प्रकार किया है मानो प्रकृति देवी के रूप का चित्र अभी स्पष्ट चित्रित नहीं हुआ, पर जितना हुआ है, उतने के ही सौन्दर्य को देखकर मानो शिल्पी मुग्ध हो गया है। जिस शिल्पी ने इस भाव को व्यक्त करने की चेष्टा की है, उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। आप ऐसा ही कुछ मौलिक भाव व्यक्त करने की चेष्टा कीजिएगा।"

रणदा बाबू---समय आने पर मौलिक भावयुक्त मूर्ति तैयार करने की मेरी भी इच्छा है। परन्तु इस देश में उत्साह नहीं पाता। धन की कमी, उस पर फिर हमारे देश के निवासी गुणग्राही नहीं।

स्वामी जी---आप यदि दिल से एक भी नयी वस्तु तैयार कर सकें, यदि शिल्प में एक भी भाव ठीक ठीक व्यक्त कर सकें तो समय पर अवश्य ही उसका मूल्य होगा। जगत् में कभी भी सच्ची वस्तु का अपमान नहीं हुआ है। ऐसा भी सुना है कि किसी किसी शिल्पी के मरने के हजार वर्ष बाद उसकी कला का सम्मान हुआ।

रणदा बाबू---यह ठीक है। परन्तु हममें जो अकर्मण्यता आ गयी है, इससे घर का खाकर जंगल की भैंस चराने का साहस नहीं होता। इन पाँच वर्षों की चेष्टा से फिर भी मुझे कुछ सफलता मिली है। आशीर्वाद दीजिए कि प्रयत्न व्यर्थ न हो।

स्वामी जी---आप यदि हृदय से काम में लग जायें तो सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी। जो जिस सम्बन्ध में मन लगाकर हृदय से परिश्रम करता है, उसमें उसकी सफलता तो होती ही है, पर उसके पश्चात् ऐसा भी हो सकता है कि उस कार्य

को तन्मयता से करने पर ब्रह्मविद्या तक की प्राप्ति हो जाय। जिस कार्य में मन लगाकर परिश्रम किया जाता है, उसमें भगवान् भी सहायता करते हैं।

रणदा बाबू—पश्चिम के देशों तथा भारत के शिल्प में क्या आपने कुछ अन्तर देखा?

स्वामी जी—प्रायः सभी स्थानों में वह एक सा ही है; नवीनता का बहुधा अभाव रहता है। उन सब देशों में कैमरे की सहायता से आजकल अनेक प्रकार के चित्र खींचकर तस्वीरें तैयार कर रहे हैं। परन्तु यंत्र की सहायता लेते ही नये नये भावों को व्यक्त करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। अपने मन के भाव को व्यक्त नहीं किया जा सकता। पूर्व काल के शिल्पकार अपने अपने मस्तिष्क से नये नये भाव निकालने तथा उन्हीं भावों को चित्रों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया करते थे। आजकल फ़ोटो जैसे चित्र होने के कारण मस्तिष्क के प्रयोग की शक्ति और प्रयत्न लुप्त होते जा रहे हैं। परन्तु प्रत्येक जाति की एक एक विशेषता है। आचरण में, व्यवहार में, आहार में, विहार में, चित्र में, शिल्प में उस विशेष भाव का विकास देखा जाता है। उदाहरण के रूप में देखिए—उस देश के संगीत और नृत्य सभी में एक अजीव मर्मस्पर्शिता (pointedness) है। नृत्य में ऐसा जान पड़ता है मानो वे हाथ-पैर झटक रहे हैं। वाद्यों की आवाज़ ऐसी है मानो कानों में संगीन भोंकी जा रही हो। गायन का भी यही हाल है। इधर इस देश का नृत्य मानो सजीव लहरों की थिरकन है। इसी प्रकार गीतों की स्वर-तान में भी स्वरों का चक्रवत आलोड़न दिखायी पड़ता है। वाद्य में भी वही बात है। तात्पर्य यह कि कला का पृथक् पृथक् जातियों में पृथक् पृथक् रूपों में विकास हुआ जान पड़ता है। जो जातियाँ बहुत ही जड़वादी तथा इहकाल को ही सब कुछ मानती हैं, वे प्रकृति के नाम-रूप को ही अपना परम उद्देश्य मान लेती हैं और शिल्प में भी उसीके अनुसार भाव को प्रकट करने की चेष्टा करती हैं; परन्तु जो जाति प्रकृति के परे किसी भाव की प्राप्ति को ही जीवन का परम उद्देश्य मानती है, वह उसी भाव को प्रकृतिगत शक्ति की सहायता से शिल्प में प्रकट करने की चेष्टा करती है। प्रथमोक्त जातियों की कला का प्रकृतिगत सांसारिक भावों तथा पदार्थसमूह का चित्रण ही मूलाधार है और परोक्त जातियों की कला के विकास का मूल कारण है, प्रकृति के अतीत किसी भाव को व्यक्त करना। इसी प्रकार दो भिन्न भिन्न उद्देश्यों के आधार पर कला के विकास में अग्रसर होने पर भी, दोनों का परिणाम प्रायः एक ही हुआ है। दोनों ने ही अपने अपने भावानुसार कला में उन्नति की है। उन सब देशों का एक एक चित्र देखकर आपको वास्तविक प्राकृतिक दृश्य का भ्रम होगा। इसी प्रकार इस देश में भी, प्राचीन काल में स्थापत्य-विद्या का जिस समय बहुत विकास हुआ था,

उस समय की एक एक मूर्ति देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो वह आपको इस जड़ प्राकृतिक राज्य से उठाकर एक नवीन भावलोक में ले जायगी। जिस प्रकार आजकल उस देश में पहले जैसे चित्र नहीं बनते, उसी प्रकार इस देश में भी नये नये भावों के विकास के लिए कलाकार प्रयत्नशील नहीं देखे जाते। यह देखिए न, आप लोगों के आँर्ट स्कूल के चित्रों में मानो किसी भाव का विकास ही नहीं। यदि आप लोग हिन्दुओं के प्रतिदिन के ध्यान करने योग्य मूर्तियों में प्राचीन भावों की उद्दीपक भावना को चित्रित करने का प्रयत्न करें तो अच्छा हो।

रणदा वावू---आपकी वातों से मैं वहुत ही उत्साहित हुआ हूँ। प्रयत्न करके देखूँगा---आपके कथनानुसार कार्य करने की चेष्टा करूँगा।

स्वामी जी फिर कहने लगे---उदाहरणार्थ, माँ काली का चित्र ही ले लीजिए। इसमें एक साथ ही कल्याणकारी तथा भयावह भावों का समावेश है, पर प्रचलित चित्रों में इन दोनों भावों का यथार्थ विकास कहीं भी नहीं देखा जाता। इतना ही नहीं, इन दोनों भावों में से किसी एक को भी चित्रित करने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहा है। मैंने माँ काली की भीषण मूर्ति का कुछ भाव 'जगन्माता काली' (Kali the Mother) नामक अपनी अंग्रेजी कविता में व्यक्त करने की चेष्टा की है। क्या आप उस भाव को किसी चित्र में व्यक्त कर सकते हैं?

रणदा वावू---किस भाव को?

स्वामी जी ने शिष्य की ओर देखकर अपनी उस कविता को ऊपर से ले आने को कहा। शिष्य के ले आने पर स्वामी जी उसे (The stars are blotted out etc.) पढ़कर रणदा वावू को सुनाने लगे। स्वामी जी जव उस कविता का पाठ कर रहे थे, उस समय शिष्य को ऐसा लगा, मानो महाप्रलय की संहारकारी मूर्ति उनके कल्पना-चक्षु के सामने नृत्य कर रही है। रणदा वावू भी उस कविता को सुनकर कुछ समय के लिए स्तव्ध हो गये। दूसरे ही क्षण उस चित्र को अपनी कल्पना की आँखों से देखकर रणदा वावू 'वाप रे' कहकर भयचकित दृष्टि से स्वामी जी के मुख की ओर ताकने लगे।

स्वामी जी---क्यों, क्या इस भाव को चित्र में व्यक्त कर सकेंगे?

रणदा वावू---जी, प्रयत्न करूँगा,[1] परन्तु इस भाव की कल्पना से ही मेरा सिर चकरा जाता है।

---

१. शिष्य उस समय रणदा वावू के साथ ही रहता था। उसे ज्ञात था कि रणदा वावू ने घर पर लौटकर दूसरे ही दिन से प्रलय ताण्डव में उन्मत्त चण्डी की

स्वामी जी—चित्र तैयार करके मुझे दिखाइएगा, उसके वाद उसे सर्वांग सुन्दर वनाने के लिए जो चाहिए, मैं आपको वता दूँगा।

इसके वाद स्वामी जी ने श्री रामकृष्ण मिशन की मुहर के लिए साँप द्वारा घेरे हुए कमलदल विकसित ह्रद के वीच में हंस का जो छोटा सा चित्र तैयार किया था, उसे मँगवाकर रणदा वावू को दिखाया और उसके सम्वन्ध में उनसे अपनी राय व्यक्त करने के लिए कहा। रणदा वावू पहले उसका भाव ग्रहण करने में असमर्थ होकर स्वामी जी से ही उसका अर्थ पूछने लगे। स्वामी जी ने समझा दिया कि चित्र का तरंगपूर्ण जलसमूह कर्म का, कमलसमूह भक्ति का और उदीयमान सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। चित्र में जो साँप का घेरा है—वह योग और जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति का द्योतक है और चित्र के मध्य में जो हंस की मूर्ति है उसका अर्थ है परमात्मा। अतः कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग के साथ सम्मिलित होने से ही परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है—यही चित्र का तात्पर्य है।

रणदा वावू चित्र का यह तात्पर्य सुनकर स्तब्ध हो गये। उसके वाद उन्होंने कहा, "यदि मैं आपसे कुछ समय शिल्पकला सीख सकता तो मेरी वास्तव में कुछ उन्नति हो जाती!"

इसके वाद स्वामी जी ने भविष्य में श्री रामकृष्ण-मन्दिर और मठ को जिस प्रकार तैयार करने की उनकी इच्छा है, उसका एक खाका (कच्चा नक़शा) मँगवाया। इस खाके को स्वामी जी के परामर्श से स्वामी विज्ञानानन्द ने तैयार किया था। यह खाका रणदा वावू को दिखाते हुए वे कहने लगे—"इस भावी मठ-मन्दिर के निर्माण में प्राच्य तथा पाश्चात्य सभी शिल्पकलाओं का समन्वय करने की मेरी इच्छा है। मैं पृथ्वी भर में घूमकर स्थापत्य के सम्वन्ध में जितने भाव लाया हूँ, उन सभी को इस मन्दिर के निर्माण में विकसित करने की चेष्टा करूँगा। वहुत से सटे हुए स्तम्भों पर एक विराट् प्रार्थनागृह तैयार होगा। उसकी दीवालों पर सैकड़ों खिले हुए कमल प्रस्फुटित होंगे। प्रार्थनागृह इतना वड़ा वनाना होगा कि उसमें वैठकर हज़ार व्यक्ति एक साथ जप-ध्यान कर सकें। श्री रामकृष्ण-मन्दिर तथा प्रार्थनागृह को इस प्रकार एक साथ तैयार करना होगा कि दूर से देखने पर ठीक ओंकार की धारणा हो। मन्दिर के वीच में एक राजहंस पर श्री रामकृष्ण की मूर्ति रहेगी। द्वार पर दोनों ओर दो मूर्तियाँ इस प्रकार रहेंगी—एक सिंह और एक भेड़ मित्रता से एक दूसरे को चाट रहे हैं—अर्थात् महाशक्ति और महानम्रता

मूर्ति चित्रित करनी आरम्भ कर दी थी। आज भी वह अर्धचित्रित मूर्ति रणदा बाबू के आँर्ट स्कूल में मौजूद है, परन्तु स्वामी जी को वह फिर दिखायी नहीं गयी।

मानो प्रेम से एकत्र हो गये हैं। मन में ये सब भाव हैं। अब यदि जीवन रहा तो उन्हें कार्य में परिणत कर जाऊँगा। नहीं तो भविष्य की पीढ़ी के लोग उनको धीरे धीरे कार्यरूप में परिणत कर सके तो करेंगे। मुझे ऐसा लगता है कि श्री रामकृष्ण देश की सभी प्रकार की विद्या और भाव में प्राण संचारित करने के लिए ही आये थे। इसलिए श्री रामकृष्ण के इस मठ को इस प्रकार संगठित करना होगा कि इस मठ-केन्द्र से धर्म, कर्म, विद्या, ज्ञान तथा भक्ति का संचार समस्त संसार में हो जाय। इस विषय में आप लोग मेरे सहायक बनें।

रणदा बाबू तथा उपस्थित संन्यासी और ब्रह्मचारी स्वामी जी की बात सुनकर विस्मित होकर बैठे रहे। जिनका महान् एवं उदार मन सभी विषयों के सभी प्रकार के महान् भावसमूह की अदृष्टपूर्व क्रीड़ाभूमि था, उन स्वामी जी की महिमा को हृदयगम कर सब लोग एक अव्यक्त भाव में मग्न हो गये। कुछ समय के बाद स्वामी जी फिर बोले, "आप शिल्पविद्या की यथार्थ आलोचना करते हैं, इसलिए आज उस विषय पर चर्चा हो रही है। शिल्प के सम्बन्ध में इतने दिन चर्चा करके आपने उस विषय का जो कुछ सार तथा उच्च भाव प्राप्त किया है, वह अब मुझे सुनाइए।"

रणदा बाबू—महाराज, मैं आपको नयी बात क्या सुनाऊँगा? आपने ही आज उस विषय में मेरी आँखें खोल दी हैं। शिल्प के सम्बन्ध में इस प्रकार ज्ञानपूर्ण बातें इस जीवन में इससे पूर्व कभी नहीं सुनी थीं। आशीर्वाद दीजिए कि आपसे जो भाव प्राप्त किये हैं, उन्हें कार्यरूप में परिणत कर सकूँ।

फिर स्वामी जी आसन से उठकर मैदान में इधर उधर टहलते हुए शिष्य से कहने लगे, "यह युवक बड़ा तेजस्वी है।"

शिष्य—महाराज, आपकी बात सुनकर वह विस्मित हो गया है।

स्वामी जी शिष्य की इस बात का कोई उत्तर न देकर मन ही मन गुनगुनाते हुए श्री रामकृष्ण का एक गीत गाने लगे—'परम धन वह परश मणि' (संयत मन परम धन है जो अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण करता है, इत्यादि।)

इस प्रकार कुछ समय तक टहलने के बाद स्वामी जी हाथ-मुंह धोकर शिष्य के साथ दुमंज़िले के अपने कमरे में आये और उन्होंने अंग्रेज़ी विश्वकोष के शिल्प सम्बन्धी अध्याय का कुछ समय तक अध्ययन किया। अध्ययन समाप्त करने पर पूर्व बंगाल की भाषा तथा उच्चारण-प्रणाली के विषय में शिष्य के साथ साधारण रूप से हँसी करने लगे।

३४

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०१ ई०]

स्वामी जी कुछ दिन हुए, पूर्वी बंगाल और आसाम की यात्रा से लौट आये हैं। शरीर अस्वस्थ है, पैर सूज गया है। शिष्य ने आकर मठ की ऊपरी मंजिल में स्वामी जी के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। शारीरिक अस्वस्थता के होते हुए भी स्वामी जी के मुखमण्डल पर मुस्कराहट और दृष्टि में स्नेह झलक रहा था, जो देखने-वालों के सब प्रकार के दुःखों को भुलाकर उन्हें आत्मविस्मृत कर देता था।

शिष्य—महाराज, आपका स्वास्थ्य कैसा है?

स्वामी जी—मेरे बच्चे, मैं अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में क्या कहूँ? शरीर तो दिनोंदिन कार्य के लिए अक्षम बनता जा रहा है। बंगाल प्रांत में आकर शरीर धारण करना पड़ा, शरीर में रोग लगा ही है। इस देश का स्वास्थ्य बिल्कुल अच्छा नहीं। अधिक कार्यभार शरीर सहन नहीं कर सकता। फिर भी जब तक शरीर है, तुम लोगों के लिए परिश्रम करूँगा। परिश्रम करते हुए ही शरीर त्याग करूँगा।

शिष्य—आप अब कुछ दिन काम करना बंद कर विश्राम कीजिए, तभी शरीर स्वस्थ होगा। इस शरीर की रक्षा से जगत् का कल्याण होगा।

स्वामी जी—विश्राम करने को अवकाश कहाँ, भाई? श्री रामकृष्ण जिसे 'काली' 'काली' कहकर पुकारा करते थे, वही उनके शरीर त्याग के दो-तीन दिन पहले से ही इस शरीर में प्रविष्ट हो गयी है। वही मुझे इधर उधर काम करते हुए घुमा रही है—स्थिर होकर रहने नहीं देती, अपने सुख की ओर देखने नहीं देती।

शिष्य—शक्ति-प्रवेश की बात क्या किसी रूपक के अर्थ में कह रहे है?

स्वामी जी—नहीं रे, श्री रामकृष्ण के देह-त्याग के तीन-चार दिन पहले, उन्होंने मुझे एक दिन एकान्त में अपने पास बुलाया, और मुझे सामने बिठाकर मेरी ओर एक दृष्टि से एकटक देखते हुए समाधिमग्न हो गये। मैं उस समय अनुभव करने लगा कि उनके शरीर से एक सूक्ष्म तेज बिजली के कम्पन की तरह आकर मेरे शरीर में प्रविष्ट हो रहा है! धीरे धीरे मैं भी बाह्य ज्ञान खोकर निश्चल हो गया। कितनी देर तक ऐसे भाव में रहा, मुझे कुछ भी याद नहीं। जब बाहर की चेतना हुई तो देखा, श्री रामकृष्ण रो रहे हैं। पूछने पर उन्होंने स्नेह के साथ कहा, 'आज सभी कुछ तुझे देकर मैं फ़क़ीर बन गया। तू इस शक्ति के द्वारा संसार का बहुत कल्याण करके लौट जायगा।' मुझे ऐसा लगता है, वह शक्ति ही मुझे इस काम से उस काम में घुमाती रहती है। बैठे रहने के लिए मेरा यह शरीर बना ही नहीं।

शिष्य विस्मित होकर सुनते सुनते सोचने लगा—इन सब बातों को साधारण व्यक्ति कैसे समझेंगे, कौन जाने? इसके बाद उसने दूसरा प्रसंग उठाकर कहा—"महाराज, हमारा बंगाल देश (पूर्वी बंगाल) आपको कैसा लगा?"

स्वामी जी—देश कोई बुरा नहीं है। मैदानी भाग में देखा, पर्याप्त अन्न उत्पन्न होता है। जलवायु भी बुरी नहीं। पहाड़ी भाग का दृश्य भी बहुत सुन्दर है। ब्रह्मपुत्र की घाटी की शोभा अतुलनीय है। हमारी इस ओर की तुलना में लोग कुछ मजबूत तथा परिश्रमी हैं। इसका कारण, सम्भव है, यह हो कि वे मछली-मांस अधिक खाते हैं। जो कुछ करते हैं, अच्छे ढंग से करते हैं। खाद्य-सामग्री में तेल-चर्बी का उपयोग अधिक करते हैं, वह ठीक नहीं है। तेल-चर्बी अधिक खाने से शरीर मोटा हो जाता है।

शिष्य—धर्म भाव कैसा देखा?

स्वामी जी—धर्म भाव के सम्बन्ध में देखा, देश के लोग बहुत अनुदार हैं। प्राचीन प्रथा के अनुगामी हैं। अनेक उदार भाव से धर्म प्रारंभ करके फिर हठधर्मी बन गये हैं। ढाका के मोहिनी बाबू के मकान पर एक दिन एक लड़के ने न जाने किसका एक फ़ोटो लाकर मुझे दिखाया और कहा, 'महाराज, कहिए तो, ये कौन हैं? अवतार हैं या नहीं?' मैंने उसे बहुत समझाकर कहा, 'भाई, यह मैं क्या जानूं?' तीन-चार बार कहने पर भी देखा, वह लड़का किसी भी तरह ज़िद नहीं छोड़ रहा है, अन्त में मुझे बाध्य होकर कहना पड़ा—'भाई, आज से अच्छी तरह खाया पिया करो; तब मस्तिष्क का विकास होगा—पुष्टिकर खाद्य के अभाव से तुम्हारा मस्तिष्क सूख जो गया है!' यह बात सुनकर, सम्भव है, वह लड़का असन्तुष्ट हुआ हो। सो क्या करूँ भाई, बच्चों को वैसा न कहने से वे तो धीरे धीरे पागल हो जायँगे।

शिष्य—हमारे पूर्वी बंगाल में आजकल अनेक अवतारों का उदय हो रहा है।

स्वामी जी—गुरु को लोग अवतार कह सकते हैं अथवा जो चाहें मानकर धारणा करने की चेष्टा कर सकते हैं। परन्तु भगवान् का अवतार कहीं भी तथा किसी भी समय नहीं होता। एक ढाका में ही सुना है, तीन-चार अवतार पैदा हो गये हैं!

शिष्य—वहाँ की महिलाएँ कैसी हैं?

स्वामी जी—महिलाएँ सर्वत्र प्रायः एक सी ही होती हैं। वैष्णव भाव ढाका में अधिक देखा। ह—की स्त्री बहुत बुद्धिमती जान पड़ी। वह बहुत आदर के साथ भोजन तैयार करके मेरे पास भेज देती थी।

शिष्य—सुना, आप नाग महाशय के घर पर गये थे?

स्वामी जी—हाँ, इतनी दूर जाकर भला मैं उन महापुरुष का जन्मस्थान न देखूँगा? नाग महाशय की स्त्री ने मुझे कितनी ही स्वादिष्ट वस्तुएँ बनाकर खिलायीं। मकान उनका कैसा सुन्दर है! मानो शान्ति का आश्रम है। वहाँ जाकर एक तालाब में तैरा भी था। उसके बाद आकर ऐसी नींद लगी कि दिन के ढाई बज गये। मेरे जीवन में जितने बार गाढ़ी निद्रा लगी है, नाग महाशय के मकान की नींद उनमें से एक है। फिर नाग महाशय की स्त्री ने प्रचुर स्वादिष्ट भोजन कराया तथा एक वस्त्र दिया। उसे सिर पर लपेटकर ढाका की ओर रवाना हुआ। देखा, नाग महाशय के चित्र की पूजा होती है। उनकी समाधि के स्थान को भली भाँति रखना चहिए। जैसा होना चहिए, अभी वैसा नहीं हुआ।

शिष्य—महाराज, नाग महाशय को वहाँ के लोग ठीक तरह समझ नहीं सके।

स्वामी जी—उनके समान महापुरुष को साधारण लोग क्या समझ सकते हैं? जिन्हें उनका सहवास प्राप्त हुआ, वे धन्य हैं।

शिष्य—महाराज, कामाख्या में जाकर आपने क्या देखा?

स्वामी जी—शिलङ पहाड़ बहुत ही सुन्दर है। वहाँ पर चीफ़ कमिश्नर मिस्टर कॉटन के साथ साक्षात्कार हुआ था। उन्होंने मुझसे पूछा—स्वामी जी, यूरोप और अमेरिका घूमकर इस दूरवर्ती पर्वत प्रान्त में आप क्या देखने आये हैं? कॉटन साहब जैसे सज्जन व्यक्ति प्रायः देखने में नहीं आते। उन्होंने मेरी अस्वस्थता की बात सुनकर सरकारी डॉक्टर भिजवाया था। वे सायं-प्रातः दोनों समय मेरी खबर लेते थे। वहाँ पर अधिक व्याख्यानादि न दे सका। शरीर बहुत ही अस्वस्थ हो गया था। रास्ते में निताई ने बहुत सेवा की।

शिष्य—वहाँ आपने धर्म-भावना कैसी देखी?

स्वामी जी—तंत्र-प्रधान देश है; एक 'हंकर' देव का नाम सुना जो उस अंचल में अवतार मानकर पूजे जाते हैं। सुना है, उनका सम्प्रदाय बहुत व्यापक है। वह 'हंकर' देव शंकराचार्य का ही दूसरा नाम है या और कोई, समझ न सका। वे लोग विरक्त हैं। सम्भव है, तांत्रिक संन्यासी हों अथवा शंकराचार्य का ही कोई सम्प्रदाय विशेष हो।

इसके बाद शिष्य ने कहा, "महाराज, उस देश के लोग, सम्भव है, नाग महाशय की तरह, आपको भी ठीक ठीक समझ न सके हों।"

स्वामी जी—समझें या न समझें, इस अंचल के लोगों की तुलना में उनका रजोगुण अवश्य प्रबल है। आगे चलकर उसका और भी विकास होगा। जिस प्रकार के चाल-चलन को इस समय सभ्यता या शिष्टाचार कहते हैं, वह अभी तक उस प्रान्त में भली भाँति प्रविष्ट नहीं हुआ। ऐसा धीरे धीरे होगा। सदैव राज-

धानी से ही क्रमशः अन्य प्रान्तों में धीरे धीरे चाल-चलन, अदब-क़ायदा, आचार-विचार आदि का विस्तार होता है। वहाँ भी ऐसा ही हो रहा है। जहाँ नाग महाशय जैसे महापुरुष जन्म ग्रहण करते हैं, वहाँ की फिर क्या चिन्ता! उनके प्रकाश से ही पूर्व बंगाल प्रकाशित हो रहा है।

शिष्य—परन्तु महाराज, साधारण लोग उन्हें उतना नहीं जानते थे। वे तो बहुत ही गुप्त रूप से रहते थे।

स्वामी जी—उस देश में लोग मेरे खाने-पीने के प्रश्न को लेकर बड़ी चर्चा किया करते थे। कहते थे—'वह क्यों खायेंगे; अमुक के हाथ का क्यों खायेंगे, आदि आदि।' इसलिए कहना पड़ता था—'मैं तो संन्यासी फ़क़ीर हूँ—मेरा नियम क्या? तुम्हारे शास्त्र में ही कहा है—**वरेन्मधुकरीं वृत्तिमपि म्लेच्छकुलादपि** (भिक्षा-वृत्ति के लिए निकलने पर म्लेच्छ-कुल से भी भिक्षा ग्रहण की जाती है)। परन्तु भीतर धर्म की अनुभूति के लिए पहले-पहल बाहर की नियम-निष्ठा आवश्यक है। शास्त्र का ज्ञान अपने जीवन में कार्यरूप में परिणत करने के लिए वह बहुत आवश्यक है। श्री रामकृष्ण की वह पत्रा निचोड़े हुए जल की कहानी सुनी है न?[1] नियम-निष्ठा केवल मनुष्य के भीतर की महाशक्ति के स्फुरण का उपाय मात्र है। जिससे भीतर की वह शक्ति जाग उठे और मनुष्य अपने स्वरूप को ठीक ठीक समझ सके, यही है सब शास्त्रों का उद्देश्य। सभी उपाय विधि-निषेध रूप हैं। उद्देश्य को भूलकर केवल उपाय लेकर लड़ने से क्या होगा? जिस देश में भी जाता हूँ, देखता हूँ, उपाय लेकर ही लट्ठबाजी चल रही है; उद्देश्य की ओर लोगों की दृष्टि नहीं। श्री रामकृष्ण यही दिखाने के लिए आये थे कि अनुभूति ही सार वस्तु है। हज़ार वर्ष गंगा-स्नान कर और हज़ार वर्ष निरामिष भोजन कर भी यदि आत्मविकास नहीं होता तो सब जानना व्यर्थ। और नियम-निष्ठा पर ध्यान न रखकर यदि कोई आत्मदर्शन कर सके, तो वह अनाचार भी श्रेष्ठ नियम-निष्ठा है। परन्तु आत्मदर्शन होने पर भी, लोकसंस्थिति के लिए कुछ नियम-निष्ठा मानना ही उचित है। मुख्य बात है मन को एकनिष्ठ बनाना। एक विषय में निष्ठा होने से मन की एकाग्रता होती है अर्थात् मन की अन्य वृत्तियाँ शान्त होकर एक विषय में ही केन्द्रित हो जाती हैं। बहुतों का बाहर की नियम-निष्ठा या विधि-निषेध के झंझट में ही सारा समय बीत

---

१. पत्रा में लिखा रहता है—'इस वर्ष बीस इंच जल बरसेगा।' परन्तु पत्रा को निचोड़ने पर एक बूँद जल भी नहीं निकलता। इसी तरह शास्त्र में लिखा है, ऐसा ऐसा करने से ईश्वर का दर्शन होता है; वैसा न करके केवल शास्त्र के पन्ने उलटने से कुछ फल प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जाता है, फिर उसके बाद आत्म-चिन्तन करना नहीं होता। दिन-रात विधि-निषेधों की सीमा से आबद्ध रहने से आत्मा का प्रकाश कैसे होगा? जो आत्मा का जितना अनुभव कर सका, उसके विधि-निषेध उतने ही शिथिल हो जाते हैं। आचार्य शंकर ने भी कहा है, **निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः** (तीन गुणों से भिन्न मार्ग पर विचरण करनेवाले के लिए विधि क्या है और निषेध क्या है?) अतः मूल वस्तु है अनुभूति। उसे ही उद्देश्य या लक्ष्य जानना मत-पथ रास्ता मात्र है। त्याग को ही उन्नति की कसौटी जानना। जहाँ पर काम-कांचन की आसक्ति कम देखो, वह किसी भी मत या पथ का अनुगामी क्यों न हो, जान लो, उसकी आत्मानुभूति का द्वार खुल गया है। दूसरी ओर हजार नियम-निष्ठा मानकर चले, हज़ार श्लोक सुने, पर फिर भी यदि त्याग का भाव न आया हो तो जानना, जीवन व्यर्थ है। अतएव यही अनुभूति प्राप्त करने के लिए तैयार हो जा; शास्त्र तो बहुत पढ़ा; बोल तो उससे क्या हुआ? कोई धन की चिन्ता करते करते धनकुबेर बन जाता है, और कोई शास्त्र-चिन्तन करते करते विद्वान्। पर दोनों ही बन्धन हैं। परा विद्या प्राप्त करके विद्या और अविद्या से परे चला जा।

शिष्य—महाराज, आपकी कृपा से मैं सब समझता हूँ; परन्तु कर्म के चक्कर में पड़कर धारणा नहीं कर सकता।

स्वामी जी—कर्म-वर्म छोड़ दे। तूने ही पूर्व जन्म में कर्म करके इस देह को प्राप्त किया है, यह बात यदि सत्य है तो कर्म द्वारा कर्म को काटकर, तू ही फिर इसी देह में जीवन्मुक्त बनने का प्रयत्न क्यों नहीं करता? निश्चय जान ले मुक्ति और आत्मज्ञान तेरे अपने ही हाथ में हैं। ज्ञान में कर्म का लवलेश भी नहीं, परन्तु जो लोग जीवन्मुक्त होकर भी काम करते हैं, समझ लेना, वे दूसरों के हित के लिए ही कर्म करते हैं। वे भले-बुरे परिणाम की ओर नहीं देखते। किसी वासना का बीज उनके मन में नहीं रहता। गृहस्थाश्रम में रहकर इस प्रकार यथार्थ परहित के लिए कर्म करना, एक प्रकार से असम्भव समझना। समस्त हिन्दू शास्त्रों में उस विषय में जनक राजा का ही एक नाम है, परन्तु तुम लोग अब प्रतिवर्ष बच्चों को जन्म देकर घर घर में विदेह 'जनक' बनना चाहते हो!

शिष्य—आप ऐसी कृपा कीजिए जिससे आत्मानुभूति की प्राप्ति इसी शरीर में हो जाय।

स्वामी जी—भय क्या है? मन में अनन्यता आने पर, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ, इस जन्म में ही आत्मानुभूति हो जायगी। परन्तु पुरुषकार चाहिए। पुरुषकार क्या है, जानता है? आत्मज्ञान प्राप्त करके ही रहूँगा; इसमें जो बाधा-विपत्ति सामने आयेगी, उस पर अवश्य ही विजय प्राप्त करूँगा—इस प्रकार के

दृढ़ संकल्प का नाम ही पुरुषकार है। माँ, बाप, भाई, मित्र, स्त्री, पुत्र मरते हैं तो मरें, यह देह रहे तो रहे, न रहे तो न सही, मैं किसी भी तरह पीछे न देखूँगा। जब तक आत्मदर्शन नहीं होता, तब तक इस प्रकार सभी विषयों की उपेक्षा कर, एक मन से अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करने का नाम है पुरुषकार; नहीं तो दूसरे पुरुषकार तो पशु-पक्षी भी कर रहे हैं। मनुष्य ने इस देह को प्राप्त किया है केवल उसी आत्मज्ञान को प्राप्त करनेके लिए। संसार में सभी लोग जिस रास्ते से जा रहे हैं, क्या तू भी उसी स्रोत में बहकर चला जायगा? तो फिर तेरे पुरुषकार का मूल्य क्या? सब लोग तो मरने बैठे हैं, पर तू तो मृत्यु को जीतने आया है। महावीर की तरह अग्रसर हो जा। किसीकी परवाह न कर। कितने दिनों के लिए है यह शरीर? कितने दिनों के लिए हैं ये सुख-दुःख? यदि मानव शरीर को ही प्राप्त किया है तो भीतर की आत्मा को जगा और बोल—मैंने अभयपद प्राप्त कर लिया है। बोल—मैं वही आत्मा हूँ, जिसमें मेरा क्षुद्र 'अहं भाव' डूब गया है। इसी तरह सिद्ध बन जा। उसके बाद जितने दिन यह देह रहे, उतने दिन दूसरों को यह महावीर्यप्रद अभय वाणी सुना—**तत्त्वमसि, उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** ('तू वही है', 'उठो, जागो और उद्देश्य प्राप्त करने तक रुको नहीं')। यह होने पर तब जानूँगा कि तू वास्तव में एक सच्चा 'पूर्वी बंगाली' है।

३५

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०१ ई०]

शनिवार सायंकाल शिष्य मठ में आया है। स्वामी जी का शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं है। वे शिलङ पहाड़ से अस्वस्थ होकर थोड़े दिन हुए लौटे हैं। उनके पैरों में सूजन आ गयी है, और समस्त शरीर में मानो जल भर आया है; इसलिए स्वामी जी के गुरुभाई बहुत ही चिन्तित हैं। बहूबाज़ार के श्री महानन्द वैद्य स्वामी जी का इलाज कर रहे हैं। स्वामी निरंजनानन्द के अनुरोध से स्वामी जी ने वैद्य की दवा लेना स्वीकार किया है। आगामी मंगलवार से नमक और जल लेना बन्द करके नियमित दवा लेनी है—आज रविवार है।

शिष्य ने पूछा—"महाराज, यह विकट गर्मी का मौसम है। इस पर आप प्रति घंटे ४-५ बार जल पीते हैं; जल पीना बन्द करके दवा लेना आपके लिए कठिन तो न होगा?"

स्वामी जी—तू क्या कह रहा है? दवा लेने के दिन प्रातःकाल जल न पीने का दृढ़ संकल्प करूँगा; उसके बाद क्या मजाल है कि जल फिर कण्ठ से नीचे उतरे। मेरे संकल्प के कारण इक्कीस दिन जल फिर नीचे नहीं उतर सकेगा। शरीर तो मन का ही आवरण है। मन जो कहेगा, उसीके अनुसार तो उसे चलना होगा। फिर बात क्या है? निरंजन के अनुरोध से मुझे ऐसा करना पड़ा। उन लोगों का (गुरुभाइयों का) अनुरोध तो मैं टाल नहीं सकता।

दिन के लगभग दस बजे का समय है। स्वामी जी ऊपर ही बैठे हैं। स्त्रियों के लिए जो भविष्य में मठ तैयार करेंगे, उसके सम्बन्ध में शिष्य के साथ बातचीत कर रहे हैं। कह रहे हैं, "माता जी को केन्द्र मानकर गंगा के पूर्व तट पर स्त्रियों के मठ की स्थापना करनी होगी। इस मठ में जिस प्रकार ब्रह्मचारी साधु तैयार होंगे, उसी प्रकार उस पार के स्त्री-मठ में भी ब्रह्मचारिणी और साध्वी स्त्रियाँ तैयार होंगी।"

शिष्य—महाराज, भारत के इतिहास में बहुत प्राचीन काल से भी स्त्रियों के लिए तो किसी मठ की बात नहीं मिलती। बौद्ध युग में ही स्त्री-मठों की बात सुनी जाती है। परन्तु उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के व्यभिचार होने लगे थे। घोर वामाचार से देश भर गया था।

स्वामी जी—इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त शास्त्र में तो कहा है, एक ही चित् सत्ता सर्वभूत में विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की निन्दा ही करते हो। उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया, बोलो तो? स्मृति आदि लिखकर, नियम-नीति में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को एकदम बच्चा पैदा करने की मशीन बना डाला है। महामाया की साक्षात् मूर्ति—इन स्त्रियों का उत्थान न होने से क्या तुम लोगों की उन्नति सम्भव है?

शिष्य—महाराज, स्त्री-जाति साक्षात् माया की मूर्ति है। मनुष्य के अधःपतन के लिए ही मानो उनकी सृष्टि हुई है। स्त्री-जाति ही माया के द्वारा मनुष्य के ज्ञान-वैराग्य को आवृत कर देती है। सम्भव है, इसलिए शास्त्रों ने कहा कि उन्हें ज्ञान-भक्ति का कभी लाभ न होगा।

स्वामी जी—किस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं होंगी? भारत का अधःपतन उसी समय से हुआ जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेदपाठ का अनधिकारी घोषित किया, और साथ ही, स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिए। नहीं तो, वैदिक युग में, उपनिषद् युग में, तू देख कि मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रातःस्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्मविचार में ऋषितुल्य

हो गयी हैं। हज़ार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था, तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा? एक बार जो हुआ है, वह फिर अवश्य ही हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है। स्त्रियों की पूजा करके सभी जातियाँ बड़ी बनी हैं। जिस देश में, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं, वह देश, वह जाति न कभी बड़ी बन सकी और न कभी बन ही सकेगी। तुम्हारी जाति का जो इतना अधःपतन हुआ, उसका प्रधान कारण है इन सब शक्ति-मूर्तियों का अपमान। मनु ने कहा है, **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला. क्रियाः॥** (जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न होते है और जहाँ उनका सम्मान नहीं होता है, वहाँ समस्त कार्य और प्रयत्न असफल हो जाते हैं)। जहाँ पर स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, वे दुःखी रहती हैं; उस परिवार की, उस देश की उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए इन्हें पहले उठाना होगा। इनके लिए आदर्श मठ की स्थापना करनी होगी।

शिष्य—महाराज, प्रथम बार देश से लौटकर आपने स्टार थियेटर में भाषण देते हुए तंत्र की कितनी निन्दा की थी। अब फिर तन्त्रों द्वारा प्रतिपादित स्त्री-पूजा का समर्थन कर आप अपनी ही बात बदल रहे हैं।

स्वामी जी—तंत्र का वामाचार मत बदलकर इस समय उसका जो रूप हो गया है, उसीकी मैंने निन्दा की थी। तंत्रोक्त मातृभाव की अथवा यथार्थ वामाचार की मैंने निन्दा नहीं की। भगवती मानकर स्त्रियों की पूजा करना ही तंत्र का उद्देश्य है। बौद्ध धर्म के अधःपतन के समय वामाचार घोर दूषित हो गया था। वही दूषित भाव आजकल के वामाचार में विद्यमान है। अब भी भारत के तंत्रशास्त्र उसी भाव से प्रभावित हैं। उन सब वीभत्स प्रथाओं की ही मैंने निन्दा की थी, अब भी करता हूँ। जिस महामाया का रूपरसात्मक बाह्य विकास मनुष्य को पागल बनाये रखता है, जिस माया का ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्यात्मक अन्तर्विकास मनुष्य को सर्वज्ञ, सिद्धसंकल्प, ब्रह्मज्ञ बना देता है—उन प्रत्यक्ष मातृरूपा स्त्रियों की पूजा करने का निषेध मैंने कभी नहीं किया। **सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये**—(प्रसन्न होने पर वह वर देनेवाली तथा मनुष्यों की मुक्ति का कारण होती है)—इस महामाया को पूजा, प्रणाम द्वारा प्रसन्न न कर सकने पर क्या मजाल है कि ब्रह्मा, विष्णु तक उनके पंजे से छूटकर मुक्त हो जायँ? गृहलक्ष्मियों की पूजा के उद्देश्य से, उनमें ब्रह्मविद्या के विकास के निमित्त उनके लिए मठ बनवाकर जाऊँगा।

शिष्य—हो सकता है कि आपका यह संकल्प अच्छा है, परन्तु स्त्रियाँ

कहाँ से मिलेंगी ? समाज के बड़े बन्धन के रहते कौन कुलवधुओं को स्त्री-मठ में जाने की अनुमति देगा ?

स्वामी जी—क्यों रे ? अभी भी श्री रामकृष्ण की कितनी ही भक्तिमती लड़कियाँ हैं। उनसे स्त्री-मठ का प्रारम्भ करके जाऊँगा। श्री माता जी उनका केन्द्र बनेंगी। श्री रामकृष्ण देव के भक्तों की स्त्री-कन्याएँ आदि उसमें पहले-पहल निवास करेंगी, क्योंकि वे उस प्रकार के स्त्री-मठ की उपकारिता आसानी से समझ सकेंगी। उसके बाद उन्हें देखकर अन्य गृहस्थ लोग भी इस महत्कार्य के सहायक बनेंगे।

शिष्य—श्री रामकृष्ण के भक्तगण इस कार्य में अवश्य ही सम्मिलित होंगे; परन्तु साधारण लोग इस कार्य में सहायक बनेंगे, ऐसा सरल प्रतीत नहीं होता।

स्वामी जी—जगत् का कोई भी महान् कार्य त्याग के बिना नहीं हुआ। वट वृक्ष का अंकुर देखकर कौन समझ सकता है कि समय आने पर वह एक विराट वृक्ष बनेगा ? अब तो इसी रूप में मठ की स्थापना करूँगा। फिर देखना, एकाध पीढ़ी के बाद दूसरे सभी देशवासी इस मठ की क़द्र करने लगेंगे। ये जो विदेशी स्त्रियाँ मेरी शिष्या बनी हैं, ये ही इस कार्य में जीवन उत्सर्ग करेंगी। तुम लोग भय और कापुरुषता छोड़कर इस कार्य में लग जाओ और इस उच्च आदर्श को सभीके सामने रख दो। देखना, समय पर इसकी प्रभा से देश उज्ज्वल हो उठेगा।

शिष्य—महाराज, स्त्रियों के लिए किस प्रकार मठ बनाना चाहते हैं, कृपया विस्तार के साथ मुझे बतलाइए। मैं सुनने के लिए विशेष उत्कंठित हूँ।

स्वामी जी—गंगा जी के उस पार एक विस्तृत भूमिखण्ड लिया जायगा। उसमें अविवाहित कुमारियाँ रहेंगी। तथा विधवा ब्रह्मचारिणी भी रहेंगी। साथ ही गृहस्थ घर की भक्तिमती स्त्रियाँ भी बीच बीच में आकर ठहर सकेंगी। इस मठ से पुरुषों का किसी प्रकार सम्बन्ध न रहेगा। पुरुष-मठ के वृद्ध साधुगण दूर से स्त्री-मठ का काम चलायेंगे। स्त्री-मठ में लड़कियों का एक स्कूल रहेगा। उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण और साथ ही थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी भी सिखायी जायगी। सिलाई का काम, रसोई बनाना, घर-गृहस्थी के सभी नियम तथा शिशु-पालन के मोटे मोटे विषयों की शिक्षा भी दी जायगी। साथ ही जप, ध्यान, पूजा ये सब तो शिक्षा के अंग रहेंगे ही। जो स्त्रियाँ घर छोड़कर हमेशा के लिए यहीं रह सकेंगी, उनके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जायगा। जो ऐसा नहीं कर सकेंगी, वे इस मठ में दैनिक छात्राओं के रूप में आकर अध्ययन कर सकेंगी। यदि सम्भव होगा तो मठ के अध्यक्ष की अनुमति से वे यहाँ पर रहेंगी और जितने दिन रहेंगी, भोजन भी पा सकेंगी। स्त्रियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने

के लिए वृद्धा ब्रह्मचारिणी छात्राओं की शिक्षा का भार लेंगी। इस मठ में ५-७ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त लड़कियों का विवाह उनके अभिभावक कर सकेंगे। यदि कोई अधिकारिणी समझी जायगी तो अपने अभिभावकों की सम्मति लेकर वह वहाँ पर चिर कौमार्य व्रत का पालन करती हुई ठहर सकेगी। जो स्त्रियाँ चिर कौमार्य व्रत का अवलम्बन करेंगी, वे ही समय पर मठ की शिक्षिकाएँ तथा प्रचारिकाएँ वन जायँगी और गाँव गाँव, नगर नगर में शिक्षा-केन्द्र खोलकर स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार की चेष्टा करेंगी। चरित्रशीला एवं धर्मभावापन्ना प्रचारिकाओं द्वारा देश में यथार्थ स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा। वे स्त्री-मठ के सम्पर्क में जितने दिन रहेंगी, उतने दिन तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा। धर्मपरायणता, त्याग और संयम यहाँ की छात्राओं के अलंकार होंगे और सेवा-धर्म उनके जीवन का व्रत होगा। इस प्रकार आदर्श जीवन को देखकर कौन उनका सम्मान न करेगा? और कौन उन पर अविश्वास करेगा? देश की स्त्रियों का जीवन इस प्रकार गठित हो जाने पर ही तो तुम्हारे देश में सीता, सावित्री, गार्गी का फिर से आविर्भाव हो सकेगा? देशाचार के घोर वन्धन से प्राणहीन, स्पन्दनहीन वनकर तुम्हारी लड़कियाँ कितनी दयनीय वन गयी हैं, यह तू एक वार पाश्चात्य देशों की यात्रा करने पर ही समझ सकेगा। स्त्रियों की इस दुर्दशा के लिए तुम्हीं लोग जिम्मेदार हो। देश की स्त्रियों को फिर से जाग्रत करने का भार भी तुम्हीं पर है। इसलिए तो मैं कह रहा हूँ कि वस काम में लग जा; क्या होगा व्यर्थ में केवल कुल वेद-वेदान्त को रट कर?

शिष्य—महाराज, यहाँ पर शिक्षा प्राप्त करने के वाद भी यदि लड़कियाँ विवाह कर लेंगी तो फिर उनमें लोग आदर्श जीवन कैसे देख सकेंगे? क्या यह नियम अच्छा न होगा कि जो छात्राएँ इस मठ में शिक्षा प्राप्त करेंगी, वे फिर विवाह न कर सकेंगी?

स्वामी जी—ऐसा क्या एकदम ही होता है रे? शिक्षा देकर छोड़ देना होगा। उसके पश्चात् वे स्वयं ही सोच-समझकर जो उचित होगा, करेंगी। विवाह करके गृहस्थी में लग जाने पर भी वैसी लड़कियाँ अपने पतियों को उच्च भाव की प्रेरणा देंगी और वीर पुत्रों की जननी वनेंगी। परन्तु यह नियम रखना होगा कि स्त्री-मठ की छात्राओं के अभिभावक १५ वर्ष की अवस्था के पूर्व उनके विवाह का नाम नहीं लेंगे।

शिष्य—महाराज, फिर तो समाज उन सब लड़कियों की निन्दा करने लगेगा। उनसे कोई भी विवाह करना न चाहेगा।

स्वामी जी—क्यों नहीं? तू समाज की गति को अभी तक समझ नहीं सका।

इन सब विदुषी और कुशल लड़कियों को वरों की कमी न होगी। दशमे कन्यका-प्राप्ति—इन सब वचनों पर आजकल समाज नहीं चल रहा है—चलेगा भी नहीं। आज भी देख नहीं रहा है?

शिष्य—आप चाहे जो कहें, परन्तु पहले-पहल इनके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन अवश्य होगा।

स्वामी जी—आन्दोलन का क्या भय? सात्त्विक साहस से किये गये सत्कर्म में बाधा आने पर कार्य करनेवालों की शक्ति और भी जाग उठेगी। जिसमें बाधा नहीं, विरोध नहीं, वह मनुष्य को मृत्यु-पथ पर ले जाता है। संघर्ष ही जीवन का चिह्न है, समझा?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामी जी—परब्रह्म तत्त्व में लिंगभेद नहीं। हमें 'मैं-तुम' की भूमि में लिंगभेद दिखायी देता है। फिर मन जितना ही अन्तर्मुख होता जाता है, उतना ही वह भेद-ज्ञान लुप्त होता जाता है। अन्त में, जब मन एकरस ब्रह्म-तत्त्व में डूब जाता है, तब फिर यह स्त्री, वह पुरुष—आदि का ज्ञान बिल्कुल नहीं रह जाता। हमने श्री रामकृष्ण में यह भाव प्रत्यक्ष देखा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि स्त्री-पुरुषों में बाह्य भेद रहने पर भी स्वरूप में कोई भेद नहीं। अतः यदि पुरुष ब्रह्मज्ञ बन सके तो स्त्रियाँ क्यों न ब्रह्मज्ञ बन सकेंगी? इसलिए कह रहा था, स्त्रियों में समय आने पर यदि एक भी ब्रह्मज्ञ बन सकी तो उसकी प्रतिभा से हजारों स्त्रियाँ जाग उठेंगी और देश तथा समाज का कल्याण होगा, समझा?

शिष्य—महाराज, आपके उपदेश से आज मेरी आँखें खुल गयी हैं।

स्वामी जी—अभी क्या खुली हैं! जब सब कुछ उद्भासित करनेवाले आत्म-तत्त्व को प्रत्यक्ष करेगा, तब देखेगा, यह स्त्री-पुरुष भेद ज्ञान एकदम लुप्त हो गया है। तभी स्त्रियाँ ब्रह्मरूपिणी ज्ञात होंगी। श्री रामकृष्ण को देखा है—सभी स्त्रियों के प्रति मातृभाव, फिर वह किसी भी जाति की कैसी भी स्त्री क्यों न हो। मैंने देखा है न, इसीलिए इतना समझाकर तुम लोगों को वैसा ही बनने को कहता हूँ और लड़कियों के लिए गाँव गाँव में पाठशालाएँ खोलकर उन्हें शिक्षित बनाने के लिए कहता हूँ। स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी तभी तो उनकी सन्तानों द्वारा देश का मुख उज्ज्वल होगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेगी।

शिष्य—परन्तु महाराज, मैं जहाँ तक समझता हूँ, आधुनिक शिक्षा का ही विपरीत फल हो रहा है। लड़कियाँ थोड़ा-बहुत पढ़ लेती हैं और बस, कमीज़, गाऊन पहनना सीख जाती हैं। त्याग, संयम, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि ब्रह्मविद्या प्राप्त करने योग्य विषयों में क्या उन्नति हो रही है, यह समझ में नहीं आता।

स्वामी जी—पहले-पहल ऐसा ही हुआ करता है। देश में नये भाव का पहले-पहल प्रचार करते समय कुछ लोग उस भाव को ठीक ग्रहण नहीं कर सकते। इससे विराट् समाज का कुछ नहीं विगड़ता; परन्तु जिन लोगों ने आधुनिक साधारण स्त्री-शिक्षा के लिए भी प्रारम्भ में प्रयत्न किया था, उनकी महानता में क्या सन्देह। असल वात है, शिक्षा हो अथवा दीक्षा, धर्महीन होने पर उसमें त्रुटि रह ही जाती है। अव धर्म को केन्द्र वनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षाएँ गौण होंगी। धर्मशिक्षा, चरित्र-गठन तथा ब्रह्मचर्य पालन इन्हींके लिए तो शिक्षा की आवश्यकता है। वर्तमान काल में आज तक भारत में स्त्री-शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उसमें धर्म को ही गौण वनाकर रखा गया है। तूने जिन सव दोषों का उल्लेख किया, वे इसी कारण उत्पन्न हुए। परन्तु इसमें स्त्रियों का क्या दोष है, वोल? संस्कारक स्वयं ब्रह्मज्ञ न वनकर स्त्री-शिक्षा देने के लिए अग्रसर हुए थे, इसीलिए उसमें इस प्रकार की त्रुटियाँ रह गयीं। सभी सत्कार्यों के प्रवर्तकों को अभीप्सित कार्य के अनुष्ठान के पूर्व कठोर तपस्या की सहायता से आत्मज्ञ हो जाना चाहिए, नहीं तो उनके काम में ग़लतियाँ निकलेंगी ही। समझा?

शिष्य—जी हाँ। देखा जाता है, अनेक शिक्षित लड़कियाँ केवल नाटक, उपन्यास पढ़कर ही समय विताया करती हैं; परन्तु पूर्व वंग में लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करके भी नाना व्रतों का अनुष्ठान करती हैं। इस भाग में भी क्या वैसा ही करती हैं?

स्वामी जी—भले-बुरे लोग तो सभी देशों तथा सभी जातियों में हैं। हमारा काम है, अपने जीवन में अच्छे काम करके लोगों के सामने उदाहरण रखना। निन्दा करके कोई काम सफल नहीं होता। केवल लोग वहक जाते हैं। लोग जो चाहे कहें, विरुद्ध तर्क करके किसीको हराने की चेष्टा न करना। इस माया के जगत् में जो कुछ करेगा, उसमें दोष रहेगा ही—**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः** (धुआँ से आवृत अग्नि के समान सभी कार्य दोष युक्त होते हैं)—आग रहने से ही धुआँ उठेगा। परन्तु क्या इसीलिए निश्चेष्ट होकर वैठे रहना चाहिए? नहीं, शक्ति भर सत्कार्य करते ही रहना होगा।

शिष्य—महाराज, अच्छा काम क्या है?

स्वामी जी—जिससे ब्रह्म के विकास में सहायता मिलती है, वही अच्छा काम है। प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष न हो, परोक्ष रूप में आत्म-तत्त्व के विकास के सहायक रूप में किया जा सकता है। परन्तु ऋषियों द्वारा चलाये हुए पथ पर चलने से वह आत्म-ज्ञान शीघ्र ही प्रकट हो जाता है और जिन कार्यों को शास्त्रों ने अन्याय कहा है, उन्हें करने से आत्मा के लिए वन्धन होता है, जिससे कभी कभी तो जन्म-जन्मान्तर में भी

वह मोह बन्धन नहीं कटता। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जीव की मुक्ति सभी देशों तथा कालों में अवश्यम्भावी है, क्योंकि आत्मा ही जीव का वास्तविक स्वरूप है। अपना स्वरूप क्या कोई स्वयं छोड़ सकता है? अपनी छाया के साथ तू हज़ार वर्ष लड़कर भी क्या उसको भगा सकता है? वह तेरे साथ रहेगी ही।

शिष्य—परन्तु महाराज, आचार्य शंकर के मतानुसार कर्म भी ज्ञान का विरोधी है—उन्होंने ज्ञान-कर्म-समुच्चय का बार बार खण्डन किया है। अतः कर्म ज्ञान का प्रकाशक कैसे बन सकता है?

स्वामी जी—आचार्य शंकर ने वैसा कहकर फिर ज्ञान के विकास के लिए कर्म को आपेक्षिक सहायक तथा चित्तशुद्धि का उपाय बताया है; परन्तु विशुद्ध ज्ञान में कर्म का प्रवेश नहीं है। मैं भाष्यकार के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद नहीं कर रहा हूँ। जितने दिन मनुष्य को क्रिया, कर्ता और कर्म का ज्ञान रहेगा, उतने दिन क्या मजाल कि वह काम न करते हुए बैठा रहे? अतः जब कर्म ही जीव का सहायक सिद्ध हो रहा है तो जो सब कर्म इस आत्मज्ञान के विकास के लिए सहायक हैं, उन्हें क्यों नहीं करता रहे? कर्म मात्र ही भ्रमात्मक है—यह बात पारमार्थिक रूप से यथार्थ होने पर भी व्यावहारिक रूप में कर्म की विशेष उपयोगिता रही है। तू जब आत्म-तत्त्व को प्रत्यक्ष कर लेगा, तब कर्म करना या न करना तेरी इच्छा के अधीन बन जायगा। उस स्थिति में तू जो कुछ करेगा, वही सत्कर्म बन जायगा। इससे जीव और जगत् दोनों का कल्याण होगा। ब्रह्म का विकास होने पर तेरे श्वास प्रश्वास की तरंगें तक जीव की सहायक हो जायँगी। उस समय फिर किसी विशेष योजना पूर्वक कर्म करना नहीं पड़ेगा, समझा?

शिष्य—अहा! यह तो वेदान्त के कर्म और ज्ञान का समन्वय करनेवाली बड़ी सुन्दर मीमांसा है।

इसके पश्चात् नीचे प्रसाद पाने की घण्टी बजी और स्वामी जी ने शिष्य को प्रसाद पाने के लिए जाने को कहा। शिष्य ने भी स्वामी जी के चरण-कमलों में प्रणाम करके जाने के पूर्व हाथ जोड़कर कहा, "महाराज, आपके स्नेहाशीर्वाद से इसी जन्म में मुझे ब्रह्मज्ञान हो जाय।" स्वामी जी ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर कहा, "भय क्या बेटे? तुम लोग क्या अब भी इस जगत् के रह गये हो?—न गृहस्थ, न संन्यासी—यह एक नया ही रूप हो।"

३६

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०१ ई०]

स्वामी जी का शरीर कुछ अस्वस्थ है। स्वामी निरंजनानन्द के विशेष अनुरोध से स्वामी जी आज ५–७ दिन से वैद्य की दवा ले रहे हैं; इस दवा में जल पीना बिल्कुल मना है। केवल दूध पीकर प्यास बुझानी पड़ रही है।

शिष्य प्रातःकाल ही मठ में आया है। स्वामी जी के चरण-कमलों के दर्शन की इच्छा से वह ऊपर गया। वे उसे देखकर स्नेहपूर्वक बोले, "आ गया! अच्छा हुआ; तेरी ही बात सोच रहा था।"

शिष्य—महाराज, सुना है, आप पाँच-सात दिनों से केवल दूध पीकर ही रहते हैं?

स्वामी जी—हाँ, निरंजन के प्रबल आग्रह से वैद्य की दवा लेनी पड़ी। उनकी बात तो मैं टाल नहीं सकता।

शिष्य—आप तो घण्टे में पाँच छः बार जल पिया करते थे, उसे एकदम कैसे त्याग दिये?

स्वामी जी—जब मैंने सुना कि इस दवा का सेवन करने से जल बन्द कर देना होगा, तब दृढ़ संकल्प कर लिया कि जल न पिऊँगा। अब फिर जल की बात मन में भी नहीं आती।

शिष्य—दवा से रोग की शान्ति तो हो रही है न?

स्वामी जी—शान्ति आदि तो नहीं जानता। गुरुभाइयों की आज्ञा का पालन किये जा रहा हूँ।

शिष्य—सम्भव है, देशी आयुर्वेदिक दवाएँ हमारे शरीर के लिए अधिक उपयोगी होती हों।

स्वामी जी—परन्तु मेरी राय है कि किसी आधुनिक चिकित्सा-विशारद के हाथ से मरना भी अच्छा है। अनाड़ी लोग, जो वर्तमान शरीर-विज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते, केवल प्राचीन काल के पोथी-पत्रों की दुहाई देकर अँधेरे में दाँव लगा रहे हैं, यदि उन्होंने दो-चार रोगियों को अच्छा कर भी दिया तो भी उसके हाथ से रोगमुक्त होने की आशा करना व्यर्थ है।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने अपने हाथ से कुछ खाद्य द्रव्य पकाये। उसमें से एक सेमई थी। शिष्य ने इस जन्म में कभी सेमई नहीं खायी थी। पूछने पर स्वामी जी ने कहा, "ये सब विलायती केंचुवे हैं। मैं लन्दन से सुखाकर लाया हूँ!" मठ के संन्यासी सभी हँस पड़े। शिष्य यह हँसी न समझ कुछ झेंपा हुआ सा बैठा रहा।

वैद्यराज की दवा के साथ कठिन नियमों का पालन करने के लिए अव स्वामी जी का आहार अत्यन्त अल्प हो गया था और नींद तो वहुत दिनों से उन्हें एक प्रकार से छोड़ ही वैठी थी; परन्तु इस अनाहार, अनिद्रा में भी स्वामी जी को विश्राम नहीं है। कुछ दिन हुए, मठ में नया अंग्रेजी विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) खरीदा गया है। नयी चमकीली पुस्तकों को देखकर शिष्य ने स्वामी जी से कहा, "इतनी पुस्तकें एक जीवन में पढ़ना तो कठिन है।" उस समय शिष्य नहीं जानता था कि स्वामी जी ने उन पुस्तकों के दस खण्डों का इसी बीच में अध्ययन समाप्त करके ग्यारहवाँ खण्ड प्रारम्भ कर दिया है।

स्वामी जी—क्या कहता है? इन दस पुस्तकों में से मुझसे जो चाहे पूछ ले—सव वता दूंगा।

शिष्य ने विस्मित होकर पूछा, "क्या आपने इन सभी पुस्तकों को पढ़ लिया है?"

स्वामी जी—क्या विना पढ़े ही कह रहा हूँ?

इसके अनन्तर स्वामी जी का आदेश पाकर शिष्य उन सव पुस्तकों से चुन चुनकर कठिन विषयों को पूछने लगा। आश्चर्य है—स्वामी जी ने उन सव विपयों का मर्म तो कहा ही, पर स्थान स्थान पर पुस्तक की भाषा तक उद्धृत की। शिष्य ने उस विराट् दस खण्ड की पुस्तकों में से प्रत्येक खण्ड से दो-एक विपय पूछे और सभी स्वामी जी की असाधारण वुद्धि तथा स्मरण-शक्ति देख विस्मित होकर पुस्तकों को उठाकर रखते हुए उसने कहा, "यह मनुष्य की शक्ति नहीं।"

स्वामी जी—देखा, एकमात्र ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन कर सकने पर सभी विद्याएँ क्षण भर में याद हो जाती हैं—मनुष्य श्रुतिधर, स्मृतिधर वन जाता है। ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे देश का सव कुछ नष्ट हो गया।

शिष्य—महाराज, आप जो भी कहें, केवल ब्रह्मचर्य रक्षा के परिणाम से इस प्रकार अलौकिक शक्ति का स्फुरण कभी सम्भव नहीं, इसके लिए और भी कुछ चाहिए।

उत्तर में स्वामी जी ने कुछ भी नहीं कहा।

इसके वाद स्वामी जी सव दर्शनों के कठिन विपयों के विचार और सिद्धान्त शिष्य को सुनाने लगे। हृदय में उन सिद्धान्तों को प्रविष्ट करा देने के ही लिए मानो आज वे इन सिद्धान्तों की उस प्रकार विशद व्याख्या करके समझाने लगे। यह वार्तालाप हो ही रहा था कि स्वामी ब्रह्मानन्द ने स्वामी जी के कमरे में प्रवेश करके शिष्य से कहा, "तू तो अच्छा आदमी है! स्वामी जी का शरीर अस्वस्थ है; अपने सम्भाषण द्वारा स्वामी जी के मन को प्रफुल्लित करने के वदले, तू उन सव कठिन

प्रसंगों को उठाकर स्वामी जी से व्यर्थ की वात कर रहा है।" शिष्य लज्जित होकर अपनी भूल समझ गया। परन्तु स्वामी जी ने ब्रह्मानन्द महाराज से कहा, "ले रख दे अलग अपने वैद्य के नियम। ये लोग मेरी सन्तान हैं। इन्हें सदुपदेश देते देते यदि मेरी देह भी चली जाय तो क्या हानि !" परन्तु शिष्य उसके पश्चात् फिर कोई दार्शनिक प्रश्न न करके, पूर्व बंग की भाषा पर हँसी करने लगा। स्वामी जी भी शिष्य के साथ उसमें सम्मिलित हो गये। थोड़ी देर तक यही हुआ और फिर वंग साहित्य में भारतचन्द्र के स्थान के सम्वन्ध में चर्चा शुरू हुई। उस सम्वन्ध में थोड़ा-वहुत जो कुछ याद है, उसका यहाँ पर उल्लेख कर रहा हूँ।

पहले स्वामी जी ने भारतचन्द्र को लेकर हँसी करना शुरू की और उस समय के सामाजिक आचार, व्यवहार, विवाह-संस्कार आदि की भी अनेक प्रकार से हँसी उड़ाने लगे। उन्होंने कहा कि समाज में वाल विवाह-प्रथा को चलाने के पक्षपाती भारतचन्द्र की कुरुचि तथा उनके अश्लीलतापूर्ण काव्य आदि वंगदेश के सिवाय अन्य किसी देश के सभ्य समाज में ऐसे मान्य नहीं हुए। कहा कि लड़कों के हाथ में यह पुस्तक न पहुँचे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। फिर माइकेल मधुसूदन दत्त की वात चलाकर कहने लगे, "वह एक अपूर्व मनस्वी व्यक्ति तुम्हारे देश में पैदा हुए थे। 'मेघनाद-वध' की तरह दूसरा काव्य बंगला भाषा में तो है ही नहीं, समस्त यूरोप में भी वैसा कोई काव्य आजकल मिलना कठिन है।"

शिष्य ने कहा, "परन्तु महाराज, माइकेल को शायद शब्दाडम्बर वहुत प्रिय है।"

स्वामी जी—तुम्हारे देश में कोई कुछ नयी बात करे तो तुम लोग उसके पीछे पड़ जाते हो। पहले अच्छी तरह देखो कि वह आदमी क्या कह रहा है। पर ऐसा न करके ज्यों ही किसीमें कोई नयी वात दिखायी दी कि लोग उसके पीछे पड़ गये। वह 'मेघनाद-वध' जो तुम्हारी वंगला भाषा का मुकुटमणि है, उसे नीचा दिखाने के लिए एक 'छछूंदर-वध' काव्य लिखा गया! पर इससे हुआ क्या? करता रहे जो कोई जो कुछ चाहे? वही 'मेघनाद-वध' काव्य अव हिमालय की तरह अटल होकर खड़ा है; परन्तु उसमें दोष निकालने में जो लोग व्यस्त थे, उन सव समालोचकों के मत और लेख अव न जाने कहाँ वह गये! माइकेल नवीन छन्द और ओजपूर्ण भाषा में जिस काव्य की रचना कर गये, उसे साधारण लोग क्या समझेंगे! इसी प्रकार यह जो जी० सी० आजकल नये छन्दों में अनेकानेक उत्कृष्ट पुस्तकें लिख रहा है, उनकी भी तो तुम्हारे वुद्धिमान पण्डितगण कितनी समालोचना कर रहे हैं—दोष निकाल रहे हैं! पर क्या जी० सी० उसकी परवाह करता है? समय आने पर ही लोग उन सव पुस्तकों का मूल्य समझेंगे।

इस प्रकार माइकेल की बात चलते चलते उन्होंने कहा, "जा, नीचे लाइब्रेरी से 'मेघनाद-वध' काव्य तो ले आ।" शिष्य मठ की लाइब्रेरी से 'मेघनाद-वध' काव्य ले आया और उसे लेकर स्वामी जी ने कहा, "पढ़, देखूँ तो तू कैसा पढ़ता है।"

शिष्य पुस्तक खोलकर प्रथम सर्ग का कुछ अंश यथासाध्य पढ़ने लगा, परन्तु उसका पढ़ना स्वामी जी को रुचिकर न लगा। अतएव उन्होंने उस अंश को स्वयं पढ़कर बताया और शिष्य से फिर उसे पढ़ने के लिए कहा। अब शिष्य को बहुत कुछ सफल होते देख उन्होंने प्रसन्न होकर पूछा, "बोल तो, इस काव्य का कौन अंश सर्वोत्कृष्ट है?"

शिष्य उत्तर देने में असमर्थ होकर चुपचाप बैठा है, यह देखकर स्वामी जी ने कहा, "जहाँ पर इन्द्रजित् युद्ध में निहत हुआ है—मन्दोदरी शोक से कातर होकर रावण को युद्ध में जाने से रोक रही है, परन्तु रावण पुत्र-शोक को मन से ज़बरदस्ती हटा कर महावीर की तरह युद्ध में जाना निश्चय कर प्रतिहिंसा और क्रोध की आग में स्त्री-पुत्र सब भूल कर युद्ध के लिए बाहर जाने को तैयार है—वहीं है काव्य की श्रेष्ठ कल्पना! चाहे जो हो, पर मैं अपना कर्तव्य नहीं भूल सकता; फिर दुनिया रहे या जाय—यही है महावीर का वाक्य। माइकेल ने इसी भाव से अनुप्राणित होकर काव्य के उस अंश को लिखा था।"

ऐसा कहकर स्वामी जी ग्रंथ खोलकर उस अंश को पढ़ने लगे। स्वामी जी की वह वीर-दर्प व्यंजक पाठ-शैली आज भी शिष्य के मन में ज्वलन्त रूप में प्रत्यक्ष है।

३७

[स्थान: बेलूड़ मठ। वर्ष: १९०१ ई०]

स्वामी जी अभी भी कुछ अस्वस्थ हैं। कविराज की दवा से काफ़ी लाभ हुआ है। एक मास से अधिक समय तक केवल दूध पीकर रहने के कारण स्वामी जी के शरीर से आजकल मानो चन्द्रमा की सी कान्ति प्रस्फुटित हो रही है और उनके बड़े बड़े नेत्रों की ज्योति और भी अधिक बढ़ गयी है।

आज दो दिन से शिष्य मठ में ही है और शक्ति भर स्वामी जी की सेवा कर रहा है। आज अमावस्या है। निश्चित हुआ है कि शिष्य और स्वामी निर्भयानन्द जी रात को बारी बारी से स्वामी जी की सेवा का भार लेंगे। सन्ध्या हो रही है, स्वामी जी की चरण-सेवा करते करते शिष्य ने पूछा—"महाराज, जो आत्मा सर्वज्ञ

सर्वव्यापी, अणु-परमाणु में विद्यमान रहकर तथा जीव के प्राणों का प्राण बनकर उसके इतने निकट है, उसका अनुभव क्यों नहीं होता ?"

स्वामी जी—क्या तू जानता है कि तेरी आँखें है ? जब कोई आँख की बात करता है, उस समय 'मेरी आँख है' इस प्रकार की कोई धारणा होती है; परन्तु आँख में धूल पड़ने पर जब आँख किरकिराती है, तब यह ठीक ठीक समझा जाता है कि हाँ, आँख है। इसी प्रकार निकट से निकट होने पर भी यह विराट् आत्मा सरलता से समझ में नहीं आती। शास्त्र या गुरु के मुख से सुनकर कुछ कुछ धारणा अवश्य होती है। परन्तु जब संसार के तीव्र शोक-दुःख के कठोर आघात से हृदय व्यथित होता है, जब स्वजनों के वियोग द्वारा जीव अपने को अवलम्बनशून्य अनुभव करता है, जब भविष्य जीवन के अलंघ्य, दुर्भेद्य अंधकार में उसका प्राण घबड़ा उठता है, उसी समय जीव इस आत्मा के दर्शन के लिए उन्मुख होता है। दुःख आत्म-ज्ञान का सहायक इसीलिए है; परन्तु धारणा रहनी चाहिए। दुःख पाते पाते कुत्ते-बिल्लियों की तरह जो लोग मरते हैं, क्या वे भी मनुष्य हैं ? सच्चे मनुष्य वही हैं जो इस सुख-दुःख के द्वन्द्व-प्रतिघातों से तंग आकर भी विवेक के बल पर उन सभी को क्षणिक मान आत्म-प्रेम में मग्न रहते हैं। मनुष्य तथा दूसरे जीव-जानवरों में यही भेद है। जो चीज़ जितनी निकट होती है, उसकी उतनी ही कम अनुभूति होती है। आत्मा निकट से निकट है, इसीलिए असंयत चंचलचित्त जीव उसे समझ नहीं पाते। परन्तु जिनका मन वश में है, ऐसे शान्त और जितेन्द्रिय विचारशील जीव बहिर्जगत् की उपेक्षा करके अन्तर्जगत में प्रवेश करते करते समय पर इस आत्मा की महिमा की उपलब्धि कर गौरवान्वित हो जाते हैं। उसी समय वे आत्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं और 'मैं ही वह आत्मा हूँ', **तत्त्वमसि श्वेतकेतो** आदि वेद के महावाक्यों का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेते है। समझा ?

शिष्य—जी हाँ। परन्तु महाराज, इन दुःख, क्लेश और वेदनाओं के मार्ग से आत्म-ज्ञान को प्राप्त करने की व्यवस्था क्यों है ? इससे तो सृष्टि न होती, तभी अच्छा था। हम सभी तो एक समय ब्रह्म में लीन थे। ब्रह्म की इस प्रकार सृष्टि करने की इच्छा ही क्यों होती है ? और इस द्वन्द्वात्मक घात-प्रतिघात में साक्षात् ब्रह्मरूपी जीव का इस जन्म-मृत्यु के पथ से आना-जाना ही क्यों होता है ?

स्वामी जी—मतवाले बन जाने पर लोग कितनी बातें देखते हैं, परन्तु नशा दूर होते ही उन्हें मस्तिष्क का भ्रम समझ में आ जाता है। तू अनादि परन्तु सान्त सृष्टि के ये जो माया-प्रसूत खेल देख रहा है, वह तेरी मतवाली अवस्था के कारण है। इस मतवालेपन के दूर होते ही तेरे ये सब प्रश्न नहीं रहेंगे।

शिष्य—महाराज, तो क्या सृष्टि, स्थिति आदि कुछ भी नहीं है ?

स्वामी जी—हैं क्यों नहीं? जब तक तू इस देहबुद्धि को पकड़कर 'मैं मैं' कर रहा है, तब तक ये सभी कुछ हैं; और जब तू विदेह, आत्मरत और आत्म-क्रीड़ बन जायगा—तब तेरे लिए ये सब कुछ भी नहीं रहेंगे। सृष्टि, जन्म, मृत्यु आदि हैं या नहीं—इस प्रश्न का भी उस समय फिर अवसर नहीं रहेगा। उस समय तुझे कहना होगा—

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्॥

शिष्य—जगत् का ज्ञान यदि बिल्कुल न रहे तो 'कुत्र लीनमिदं जगत्' यह बात फिर कैसे कही जा सकती है?

स्वामी जी—भाषा में उस भाव को व्यक्त करके समझाना पड़ रहा है, इसीलिए वैसा कहा गया है। जहाँ पर भाव और भाषा के प्रवेश का अधिकार नहीं है, उस स्थिति को भाव और भाषा में व्यक्त करने की चेष्टा ग्रन्थकार ने की है। इसीलिए यह जगत् बिल्कुल मिथ्या है, इस बात को व्यावहारिक रूप में ही कहा है; पारमार्थिक सत्ता जगत् की नहीं है। वह केवल 'अवाङ्मनसगोचरम्' ब्रह्म की ही है। बोल, तेरा और क्या कहना है। आज तेरा तर्क शान्त कर दूंगा।

मन्दिर में आरती की घण्टी बजी। मठ के सभी लोग मन्दिर में चले। शिष्य को उसी कमरे में बैठे रहते देख स्वामी जी बोले, "मन्दिर में नहीं गया?"

शिष्य—मुझे यहीं रहना अच्छा लग रहा है।

स्वामी जी—तो रहने दे।

कुछ समय के बाद शिष्य ने कमरे के बाहर देखकर कहा, "आज अमावस्या है। चारों ओर अन्धकार छा गया है। आज काली-पूजा का दिन है।"

स्वामी जी शिष्य की उस बात पर कुछ न कहकर, खिड़की से पूर्वाकाश की ओर एकटक कुछ समय तक देखते रहे और बोले, "देख रहा है, अन्धकार की कैसी अद्भुत गम्भीर शोभा है!" और यह कहकर उस गम्भीर तिमिर-राशि को भेदन करती हुई दृष्टि से देखते स्तम्भित होकर खड़े रहे। अब सब कुछ शान्त है, केवल दूर मन्दिर के भक्तों का श्री रामकृष्ण-स्तव-पाठ शिष्य को सुनायी दे रहा है। शिष्य ने स्वामी जी में यह गम्भीरता पहले कभी नहीं देखी थी, और साथ ही गम्भीर अन्धकार से आवृत बाह्य प्रकृति का निस्तब्ध स्थिर भाव देखकर शिष्य का मन एक अपूर्व भय से आकुल हो उठा। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर स्वामी जी धीरे धीरे गाने लगे, 'निबिड़ आँधारे माँ, तोर चमके अरूपराशि' इत्यादि।

गीत समाप्त होने पर स्वामी जी कमरे के भीतर जाकर बैठ गये और बीच बीच में 'माँ' 'माँ', 'काली काली' कहने लगे। उस समय कमरे में औरं कोई न था, केवल शिष्य स्वामी जी की आज्ञा का पालन करने के लिए प्रस्तुत खड़ा था।

स्वामी जी का उस समय का मुख देख शिष्य को ऐसा लगा मानो वे किसी एक दूर देश में निवास कर रहे हैं। चंचल शिष्य ने उनका उस प्रकार का भाव देख व्यथित होकर कहा, "महाराज, अब बातचीत कीजिए।"

स्वामी जी मानो उसके मन के भाव को समझकर ही मृदु हास्य करते हुए बोले, "जिसकी लीला इतनी मधुर है, उस आत्मा की सुन्दरता और गम्भीरता कैसी होगी, सोच तो।" उनका वह गम्भीर भाव अभी भी उसी प्रकार देखकर शिष्य ने कहा, "महाराज, उन सब बातों की अब और आवश्यकता नहीं। मैंने भी न जाने क्यों आपसे अमावस्या और काली-पूजा की बात की? उस समय से आप में न जाने कैसा परिवर्तन हो गया है।" स्वामी जी शिष्य की मानसिक स्थिति को समझकर गाना गाने लगे--"कखन कि रंगे थाको माँ श्यामा सुधातरंगिणी" इत्यादि।

गाना समाप्त होने पर स्वामी जी ने कहा, "यह काली ही लीलारूपी ब्रह्म है। श्री रामकृष्ण का 'साँप का चलना और साँप का स्थिर भाव'--नहीं सुना?"

शिष्य--जी हाँ।

स्वामी जी--अबकी बार स्वस्थ होने पर हृदय का रक्त देकर माँ की पूजा करूँगा। रघुनन्दन ने कहा है, **नवम्यां पूजयेत् देवीं कृत्वा रुधिरकर्दमम्**--अब मैं वही करूँगा। माँ की पूजा छाती का रक्त देकर करनी पड़ती है, तभी वह प्रसन्न होती है और तभी माँ के पुत्र वीर होंगे--महावीर होंगे। निरानन्द में, दुःख में, प्रलय में, महालय में माँ के लड़के निडर बने रहेंगे।

यह बातचीत चल रही थी कि इसी समय नीचे प्रसाद पाने की घण्टी बजी। घण्टी सुनकर स्वामी जी बोले, "जा, नीचे प्रसाद पाकर जल्दी आना।" शिष्य नीचे उतर गया।

३८

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०१ ई०]

स्वामी जी आजकल मठ में ही ठहरे हुए हैं। शरीर अधिक स्वस्थ नहीं; परन्तु प्रातःकाल और सायंकाल घूमने निकलते हैं। आज शनिवार; शिष्य मठ

में आया है। स्वामी जी के चरण-कमलों में प्रणाम करके कुशल-प्रश्न पूछ रहा है।

स्वामी जी—इस शरीर की तो यही स्थिति है। तुममें से तो कोई भी मेरे काम में हाथ बँटाने के लिए अग्रसर नहीं हो रहा है। मैं अकेला क्या करूँगा, बोल? बंगाल की भूमि में यह शरीर जन्मा है। इस अस्वस्थ शरीर से क्या और अधिक काम-काज चल सकता है? तुम लोग सब यहाँ पर आते हो—शुद्ध पात्र हो—तुम लोग यदि मेरे इस काम में सहायक न बनोगे तो मैं अकेला क्या करूँगा, बोलो?

शिष्य—महाराज, ये सब ब्रह्मचारी, त्यागी पुरुष आपके पीछे खड़े हैं। मैं समझता हूँ, आपके काम में इनमें से प्रत्येक जीवन देने को भी तैयार है, फिर भी आप ऐसी बात क्यों कर रहे हैं?

स्वामी जी—वास्तव में मैं चाहता हूँ—युवक बंगालियों का एक दल। वे ही देश की आशा हैं। चरित्रवान, बुद्धिमान, दूसरों के लिए सर्वस्व त्यागी तथा आज्ञाकारी युवकों पर ही मेरा भविष्य का कार्य निर्भर है। उन्हीं पर मुझे भरोसा है, जो मेरे भावों को जीवन में परिणत कर अपना और देश का कल्याण करने में जीवन-दान कर सकेंगे। नहीं तो, झुण्ड के झुण्ड कितने ही लड़के आ रहे हैं और आयेंगे, पर उनके मुख का भाव तमोपूर्ण है। हृदय में उद्यम की आकांक्षा नहीं, शरीर में शक्ति नहीं और न मन में साहस।—इन्हें लेकर क्या काम होगा? नचिकेता की तरह श्रद्धावान दस-बारह लड़के पाने पर मैं देश की चिन्तन-धारा और प्रयत्न को नवीन पथ पर परिचालित कर सकता हूँ।

शिष्य—महाराज, इतने युवक आपके पास आ रहे हैं, उनमें से आप क्या इस प्रकार किसीको भी नहीं देख रहे हैं?

स्वामी जी—जिन्हें अच्छे आधार समझता हूँ, उनमें से किसीने विवाह कर लिया है, या कोई संसार में मान, यश, धन कमाने की इच्छा पर बिक गया है। किसीका शरीर ही कमज़ोर है। इसके अतिरिक्त अधिकांश युवक उच्च भाव ग्रहण करने में ही असमर्थ हैं। तुम लोग मेरा भाव ग्रहण करने योग्य हो अवश्य, परन्तु तुम लोग भी कार्यक्षेत्र में उस योग्यता को अभी तक प्रकट नहीं कर सक रहे हो। इन सब कारणों से समय समय पर मन में बड़ा दुःख होता है; ऐसा लगता है—दैव-विडम्बना से शरीर धारण कर कुछ भी कार्य न कर सका। अभी भी बिल्कुल निराश तो नहीं हुआ हूँ, क्योंकि श्री रामकृष्ण की इच्छा होने पर इन सब लड़कों में से ही समय पर ऐसे धर्मवीर और कर्मवीर निकल सकते हैं, जो भविष्य में मेरा अनुसरण कर कार्य कर सकेंगे।

शिष्य—मैं समझता हूँ, सभी को एक न एक दिन आपके उदार भावों को ग्रहण करना ही होगा! यह मेरा दृढ़ विश्वास है, क्योंकि साफ़ देख रहा हूँ—सभी

ओर, सभी विषयों में आप की ही भावधारा प्रवाहित हो रही है। क्या जीव-सेवा, क्या देश-कल्याण-व्रत, क्या ब्रह्मविद्या की चर्चा, क्या ब्रह्मचर्य, सभी क्षेत्रों में आपका भाव प्रविष्ट होकर सभी में कुछ नवीनता का संचार कर रहा है और देशवासियों में से कोई प्रकट में आपका नाम लेकर और कोई आपका नाम छिपाकर अपने नाम से आप के ही उस भाव और मत का सभी विषयों में सर्वसाधारण में प्रचार कर रहे हैं।

स्वामी जी—मेरा नाम न भी लें, मेरा भाव लेना ही पर्याप्त होगा। काम-कांचन त्याग करके भी निन्यानवे प्रतिशत साधु नाम-यश के मोह में आवद्ध हो जाते हैं। 'नाम की आकांक्षा ही उच्च अन्तःकरण की अन्तिम दुर्बलता है', पढ़ा है न? फल की कामना बिल्कुल छोड़कर काम किये जाना होगा। भला-बुरा तो लोग कहेंगे ही, परन्तु उच्च आदर्श को सामने रखकर हमें सिंह की तरह काम करना होगा। इस पर **निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु**—विद्वान् लोग निन्दा या स्तुति कुछ भी क्यों न करें।

शिष्य—हमारे लिए इस समय किस आदर्श को ग्रहण करना उचित है?

स्वामी जी—महावीर के चरित्र को ही तुम्हें इस समय आदर्श मानना पड़ेगा। देखो न, वे राम की आज्ञा से समुद्र लाँघकर चले गये!—जीवन-मृत्यु की परवाह कहाँ? महाजितेन्द्रिय, महाबुद्धिमान, दास्य भाव के उस महान् आदर्श से तुम्हें अपना जीवन गठित करना होगा। वैसा करने पर दूसरे भावों का विकास स्वयं ही हो जायगा। दुविधा छोड़कर गुरु की आज्ञा का पालन और ब्रह्मचर्य की रक्षा—यही है सफलता का रहस्य! **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** अवलम्बन करने योग्य और दूसरा पथ नहीं। एक ओर हनुमान जी के जैसा सेवाभाव और दूसरी ओर उसी प्रकार त्रैलोक्य को भयभीत कर देनेवाला सिंह जैसा विक्रम! राम के हित के लिए उन्होंने जीवन तक विसर्जन कर देने में कभी ज़रा भी संकोच नहीं किया। राम की सेवा के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के प्रति उपेक्षा, यहाँ तक कि ब्रह्मत्व, शिवत्व प्राप्ति के प्रति उपेक्षा! केवल रघुनाथ के उपदेश का पालन ही जीवन का एकमात्र व्रत—उसी प्रकार एकनिष्ठ होना चाहिए। खोल, मृदंग, करताल बजाकर उछल-कूद मचाने से देश पतन के गर्त में जा रहा है। एक तो यह पेट के रोगी मरीजों का दल और उस पर इतनी उछल-कूद? भला कैसे सहन होगी? कामगन्धविहीन उच्च साधना का अनुकरण करने जाकर देश घोर तमोगुण से भर गया है। देश-देश में, गाँव-गाँव में—जहाँ भी जायगा, देखेगा, खोल-करताल ही बज रहे हैं! दुन्दुभी-नगाड़े क्या देश में तैयार नहीं होते? तुरही-भेरी क्या भारत में नहीं मिलती? वही सब गुरु गम्भीर ध्वनि लड़कों को सुना। बचपन

से जनाने वाजे सुन सुनकर, कीर्तन सुन सुनकर, देश स्त्रियों का देश वन गया है। इससे अधिक और क्या अवःपतन होगा! कवि-कल्पना भी इस चित्र को चित्रित करने में हार मान गयी है। डमरू शृंग वजाना होगा, नगाड़े में ब्रह्मरुद्र ताल का दुन्दुभि नाद उठाना होगा, 'महावीर', 'महावीर' की ध्वनि तथा 'हर हर वम वम' शब्द से दिग्दिगन्त कम्पित कर देना होगा। जिन सव गीत-वाद्यों से मनुष्य के हृदय के कोमल भावसमूह उद्दीप्त हो जाते हैं, उन सवको थोड़े दिनों के लिए अव वन्द रखना होगा। ख्याल टप्पा वन्द करके ध्रुपद का गाना सुनने का अभ्यास लोगों को कराना होगा। वैदिक छन्दों के उच्चारण से देश में प्राण-सचार कर देना होगा। सभी विपयों में वीरता की कठोर महाप्राणता लानी होगी। इस प्रकार आदर्श का अनुसरण करने पर ही इस समय जीव का तथा देश का कल्याण होगा। यदि तू ही अकेला इस भाव के अनुसार अपने जीवन को तैयार कर सका तो तुझे देखकर हज़ारों लोग वैसा करना सीख जायँगे। परन्तु देखना, आदर्श से कभी एक पग भी न हटना! कभी साहस न छोड़ना! खाते, सोते, पहनते, गाते, वजाते, भोग में, रोग में सदैव तीव्र उत्साह एवं साहस का ही परिचय देना होगा, तभी तो महाशक्ति की कृपा होगी?

शिप्य—महाराज, कभी कभी न जाने कैसा साहसशून्य वन जाता हूँ।

स्वामी जी—उस समय ऐसा सोचकर—'मैं किसकी सन्तान हूँ—उनका आश्रय लेकर भी मेरी ऐसी दुर्वलता तथा साहसहीनता?' उस दुर्वलता और साहस-हीनता के मस्तक पर लात मारकर, 'मैं वीर्यवान हूँ—मैं मेवावान हूँ—मैं ब्रह्मविद् हूँ—मैं प्रज्ञावान हूँ'—कहता कहता उठ खड़ा हो। 'मैं अमुक का शिप्य हूँ—काम-कांचन जयी श्री रामकृष्ण के साथी का साथी हूँ'—इस प्रकार का अभिमान रखेगा तभी कल्याण होगा। जिसे यह अभिमान नहीं, उसके भीतर ब्रह्म नहीं जागता। रामप्रसाद का गाना नहीं सुना? वे कहा करते थे, 'मैं—जिसकी स्वामिनी हैं माँ महेश्वरी—वह मैं इस संसार में भला किससे डर सकता हूँ?' इस प्रकार अभिमान सदा मन में जाग्रत रखना होगा। तव फिर दुर्वलता, साहसहीनता पास न आयेगी। कभी भी मन में दुर्वलता न आने देना। महावीर का स्मरण किया कर, महामाया का स्मरण किया कर; देखेगा, सव दुर्वलता, सारी कापुरुपता उसी समय चली जायगी।

ऐसा कहते कहते स्वामी जी नीचे आ गये। मठ के विस्तीर्ण आँगन में जो आम का वृक्ष है, उसीके नीचे एक छोटी सी खटिया पर वे अक्सर बैठा करते थे, आज भी वहाँ आकर पश्चिम की ओर मुँह करके बैठ गये। उनकी आँखों से उस समय भी महावीर का भाव फूट रहा था। वहीं बैठे बैठे उन्होंने शिप्य से उपस्थित

संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को दिखाकर कहा—

"यह देख प्रत्यक्ष ब्रह्म! इसकी उपेक्षा करके जो लोग दूसरे विषय में मन लगाते हैं, उन्हें धिक्कार! हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह यह देख ब्रह्म! देख नहीं रहा है?—यही, यही!"

स्वामी जी ने ये बातें ऐसे हृदयस्पर्शी भाव से कहीं कि सुनते ही उपस्थित सभी लोग, **चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे**—तसवीर की तरह स्थिर खड़े रह गये। स्वामी जी भी एकाएक गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। अन्य सब लोग भी बिल्कुल शान्त है; किसीके मुँह से कोई बात नहीं निकलती! स्वामी प्रेमानन्द उस समय गंगा जी से कमण्डल में जल भरकर मन्दिर में आ रहे थे। उन्हें देखकर भी स्वामी जी "यही प्रत्यक्ष ब्रह्म—यही प्रत्यक्ष ब्रह्म" कहने लगे। यह बात सुनकर उस समय उनके भी हाथ का कमण्डलु हाथ में ही रह गया—एक गहरे नशे में डूब कर वे भी उसी समय ध्यानावस्थित हो गये। इस प्रकार क़रीब पन्द्रह-बीस मिनट व्यतीत हो गये। तब स्वामी जी ने प्रेमानन्द जी को बुलाकर कहा, "जा, अब श्री रामकृष्ण की पूजा में जा।" स्वामी प्रेमानन्द को तब चेतना हुई। धीरे धीरे सभी का मन फिर 'मैं-मेरे' के राज्य में उतर आया और सभी अपने अपने कार्य में लग गये।

उस दिन का वह दृश्य शिष्य अपने जीवन में कभी भूल न सका। स्वामी जी की कृपा से और शक्ति के बल से उसका चंचल मन भी उस दिन अनुभूति-राज्य के अत्यन्त निकट आ गया था। इस घटना के साक्षी रूप में बेलूड़ मठ के संन्यासी अभी भी मौजूद हैं। स्वामी जी की उस दिन की वह अपूर्व क्षमता देखकर उपस्थित सभी लोग विस्मित हो गये थे। क्षण भर में उन्होंने सभी के मन को समाधि के अतल जल में डुबो दिया था।

उस शुभ दिन का स्मरण कर शिष्य अभी भी भावाविष्ट हो जाता है और उसे ऐसा लगता है, पूज्यपाद आचार्य की कृपा से उसे भी एक दिन के लिए ब्रह्म-भाव को प्रत्यक्ष करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

थोड़ी देर बाद शिष्य के साथ स्वामी जी टहलने चले। जाते जाते शिष्य से बोले, "देखा, आज कैसा हुआ? सभी को ध्यानस्थ होना पड़ा। वे सब श्री राम-कृष्ण की सन्तान हैं न, इसीलिए कहने के साथ ही उन्हें अनुभूति हो गयी थी।"

शिष्य—महाराज, मेरे जैसे व्यक्तियों का मन भी उस समय जब निर्विषय बन गया तो संन्यासियों का फिर क्या कहना? आनन्द से मानो मेरा हृदय फटा जा रहा था। परन्तु अब उस भाव का कुछ भी स्मरण नहीं—मानो वह सब स्वप्न ही था।

स्वामी जी—समय पर सब हो जायगा; इस समय काम कर। इन महा मोहग्रस्त जीवों के कल्याण के लिए किसी न किसी काम में लग जा। फिर तू देखेगा, वह सब अपने आप हो जायगा।

शिष्य—महाराज, इतने कर्मों में प्रवेश करते भय होता है, उतना सामर्थ्य भी नहीं। शास्त्र में भी कहा है, **गहना कर्मणो गतिः।**

स्वामी जी—तुझे क्या अच्छा लगता है?

शिष्य—आप जैसे सर्वशास्त्र के ज्ञाता के साथ निवास तथा तत्त्व-विचार करना और श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा इसी शरीर में ब्रह्म-तत्त्व को प्रत्यक्ष करना। इसके अतिरिक्त किसी भी बात में मेरा मन नहीं लगता। ऐसा लगता है, मानो और दूसरा कुछ करने का सामर्थ्य ही मुझमें नहीं।

स्वामी जी—जो अच्छा लगे, वही करता जा। अपने सभी शास्त्र-सिद्धान्त लोगों को बता दे। इसीसे बहुतों का उपकार होगा। शरीर जितने दिन है, उतने दिन काम किये बिना तो कोई रह ही नहीं सकता। अतः जिस काम से दूसरों का उपकार हो, वही करना उचित है। तेरे अपने अनुभवों तथा शास्त्र के सिद्धान्त-वाक्यों से अनेक जिज्ञासुओं का उपकार हो सकता है और हो सके तो यह सब लिखता भी जा। उससे अनेक का कल्याण हो सकेगा।

शिष्य—पहले मुझे ही अनुभव हो, तब तो लिखूँगा। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'चपरास हुए बिना कोई किसीकी बात नहीं सुनता।'

स्वामी जी—तू जिन सब साधनाओं तथा विचार-भूमिकाओं में होकर अग्रसर हो रहा है, जगत् में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो अभी उन्हीं स्थितियों में पड़े हैं, उन्हें पार कर वे अग्रसर नहीं हो पा रहे हैं। तेरे अनुभव और विचार-प्रणाली लिखे होने पर उनका भी तो उपकार होगा। मठ में साधुओं के साथ जो 'चर्चा' करता है, उन विषयों को सरल भाषा में लिखकर रखने से बहुतों का उपकार हो सकता है।

शिष्य—आप जब आदेश दे रहे हैं तो चेष्टा करूँगा।

स्वामी जी—जिस साधन-भजन या अनुभूति से दूसरों का उपकार नहीं होता, महा-मोह में फँसे हुए जीवों का कल्याण नहीं होता, काम-कांचन की सीमा से मनुष्य को बाहर निकलने में सहायता नहीं मिलती, ऐसे साधन-भजन से क्या लाभ? क्या तू समझता है कि एक भी जीव के बन्धन में रहते हुए तेरी मुक्ति होगी? जितने दिन, जितने जन्म तक उसका उद्धार नहीं होगा, उतनी बार तुझे भी जन्म लेना पड़ेगा—उसकी सहायता करने तथा उसे ब्रह्म का अनुभव कराने के लिए। प्रत्येक जीव तो तेरा ही अंग है। इसीलिए दूसरों के लिए कर्म कर।

अपने स्त्री-पुत्रों को अपना जानकर जिस प्रकार तू उनके सभी प्रकार के मंगल की कामना करता है, उसी प्रकार प्रत्येक जीव के प्रति जब तेरा वैसा ही आकर्षण होगा, तब समझूँगा, तेरे भीतर ब्रह्म जाग्रत हो रहा है—उससे एक मिनट भी पहले नहीं। जाति-वर्ण का विचार छोड़कर इसी विश्व के मंगल की कामना जाग्रत होने पर ही समझूँगा कि तू आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है।

शिष्य—यह तो महाराज, बड़ी कठिन बात है कि सभी की मुक्ति हुए बिना व्यक्तिगत मुक्ति नहीं होगी। ऐसा विचित्र सिद्धान्त तो कभी नहीं सुना।

स्वामी जी—एक श्रेणी के वेदान्तियों का ऐसा ही मत है—वे कहते हैं, 'व्यष्टि की मुक्ति, मुक्ति का वास्तव स्वरूप नहीं है। समष्टि की मुक्ति ही मुक्ति है।' हाँ, इस मत के दोषगुण अवश्य दिखाये जा सकते हैं।

शिष्य—वेदान्त मत में व्यष्टि भाव ही तो बन्धन का कारण है। वही उपाधिगत चित् सत्ता काम्य कर्म आदि के कारण बद्ध सी प्रतीत होती है। विचार-बल से उपाधिरहित होने पर—निर्विषय हो जाने पर प्रत्यक्ष चिन्मय आत्मा का बन्धन रहेगा कैसे? जिसकी जीव-जगत् आदि की बुद्धि है, उसे ऐसा लग सकता है कि सभी की मुक्ति हुए बिना उसकी मुक्ति नहीं है; परन्तु श्रवण आदि के बल पर मन निरुपाधिक होकर जब प्रत्यक्-ब्रह्ममय होता है, उस समय उसकी दृष्टि में जीव ही कहाँ और जगत् ही कहाँ—कुछ भी नहीं रहता। उसके मुक्ति-तत्त्व को रोकनेवाला कोई नहीं हो सकता।

स्वामी जी—हाँ, तू जो कह रहा है, वह अधिकांश वेदान्तवादियों का सिद्धान्त है। वह निर्दोष भी है। उससे व्यक्तिगत मुक्ति रुकती नहीं, परन्तु जो व्यक्ति सोचता है कि मैं आब्रह्म समस्त जगत् को अपने साथ लेकर एक ही साथ मुक्त होऊँगा, उसकी महाप्राणता का एक बार चिन्तन तो कर!

शिष्य—महाराज, वह उदार भाव का परिचायक अवश्य है, परन्तु शास्त्र-विरुद्ध लगता है।

स्वामी जी शिष्य की बातें सुन न सके। ऐसा प्रतीत हुआ कि पहले से ही वे अन्यमनस्क हो किसी दूसरी बात को सोच रहे थे। कुछ समय बाद बोल उठे, "अरे हाँ, तो हम लोग क्या बात कर रहे थे? मैं तो मानो बिल्कुल भूल ही गया।" शिष्य ने जब उस विषय की फिर याद दिला दी तो स्वामी जी ने कहा, "दिन-रात ब्रह्म-विषय का अनुसन्धान किया कर। एकाग्र मन से ध्यान किया कर और शेष समय में या तो कोई लोकहितकर काम किया कर या मन ही मन सोचा कर कि 'जीवों का—जगत् का उपकार हो। सभी की दृष्टि ब्रह्म की ओर लगी रहे।' इस प्रकार लगातार चिन्ता की लहरों के द्वारा ही जगत् का उपकार होगा। जगत्

का कोई भी सदनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता, चाहे वह कार्य हो या चिन्तन। तेरे चिन्तन से ही प्रभावित होकर सम्भव है कि अमेरिका के किसी व्यक्ति को ज्ञान-प्राप्ति हो।"

शिष्य—महाराज, मेरा मन जिससे वास्तव में निर्विषय बने, मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिए—और इसी जन्म में ऐसा हो।

स्वामी जी—ऐसा होगा क्यों नहीं? तन्मयता रहने पर अवश्य होगा।

शिष्य—आप मन को तन्मय बना सकते हैं—आप में वह शक्ति है, मैं जानता हूँ। पर महाराज, मुझे भी वैसा कर दीजिए, यही प्रार्थना है।

इस प्रकार वार्तालाप होते होते शिष्य के साथ स्वामी जी मठ में आकर उपस्थित हुए। उस समय दशमी की चाँदनी में मठ का बगीचा मानो चाँदी के प्रवाह में स्नान कर रहा था। शिष्य उल्लसित मन से स्वामी जी के पीछे पीछे मठ-मन्दिर में उपस्थित होकर आनन्द से टहलने लगा। स्वामी जी ऊपर विश्राम करने चले गये।

३९

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०१ ई०]

बेलूड़ मठ स्थापित होते समय निष्ठावान हिन्दुओं में से अनेक व्यक्ति मठ के आचार-व्यवहार की तीव्र आलोचना किया करते थे। प्रधानतः इसी विषय पर कि विदेश से लौटे हुए स्वामी जी द्वारा स्थापित मठ में हिन्दुओं के आचार-नियमों का उचित रूप से पालन नहीं होता अथवा वहाँ खाद्य-अखाद्य का विचार नहीं। अनेकानेक स्थानों में चर्चा चलती थी और इस बात पर विश्वास करते हुए शास्त्र को न जाननेवाले हिन्दू नामधारी छोटे-बड़े अनेक लोग उस समय सर्वत्यागी संन्यासियों के कार्यों की व्यर्थ निन्दा किया करते थे। गंगा जी में नाव पर सैर करनेवाले अनेक लोग भी बेलूड़ मठ को देखकर अनेक प्रकार से व्यंग किया करते थे और कभी कभी तो मिथ्या अश्लील बातें करते हुए निष्कलंक स्वामी जी के स्वच्छ शुभ्र चरित्र की आलोचना करने से भी बाज़ न आते थे। नाव पर चढ़कर मठ में आते समय शिष्य ने कभी कभी ऐसी आलोचना अपने कानों से सुनी है। उसके मुख से उन सबको सुनकर स्वामी जी कभी कभी कहा करते थे, **हाथी चले बजार, कुत्ता भोंक हजार। साधुन को दुर्भाव नहिं, चाहे निन्दे संसार।** कभी कहते थे, "देश में किसी नवीन भाव के प्रचार के समय उसके विरुद्ध प्राचीन

पन्थियों का मोर्चा स्वभावतः ही रहता है। जगत् के सभी धर्मसंस्थापकों को इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ा है।" फिर कभी कहा करते थे, "अन्यायपूर्ण अत्याचार न होने पर जगत् के कल्याणकारी भावसमूह समाज के हृदय में आसानी से प्रविष्ट नहीं हो सकते।" अतः समाज के तीव्र कटाक्ष और समालोचना को स्वामी जी अपने नव भाव के प्रचार के लिए सहायक मानते थे—उसके विरुद्ध कभी प्रतिवाद न करते थे और न अपने शरणागत गृही तथा संन्यासियों को ही प्रतिवाद करने देते थे। सभी से कहते थे, "फल की आकांक्षा छोड़कर काम करता जा, एक दिन उसका फल अवश्य ही मिलेगा।" स्वामी जी के श्रीमुख से यह वचन सदा ही सुना जाता था, **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति**—(हे पुत्र, कल्याण करनेवाला व्यक्ति कभी दुःख का भागी नहीं होता)।

हिन्दू समाज की यह तीव्र आलोचना स्वामी जी के लीला संवरण से पूर्व किस प्रकार मिट गयी, आज उसी विषय में कुछ लिखा जा रहा है। १९०१ ई० के मई या जून मास में एक दिन शिष्य मठ में आया। स्वामी जी ने शिष्य को देखते ही कहा, "अरे, एक रघुनन्दन रचित 'अष्टाविंशति-तत्त्व' की प्रति मेरे लिए ले आना।"

शिष्य—बहुत अच्छा महाराज! परन्तु रघुनन्दन की स्मृति—जिसे आजकल का शिक्षित समाज कुसंस्कार की टोकरी बताया करता है, उसे लेकर आप क्या करेंगे?

स्वामी जी—क्यों? रघुनन्दन अपने समय के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे प्राचीन स्मृतियों का संग्रह करके हिन्दुओं के लिए कालोपयोगी नित्यनैमित्तिक क्रियाओं को लिपिबद्ध कर गये हैं। इस समय सारा बंगाल प्रान्त तो उन्हींके अनुशासन पर चल रहा है। यह बात अवश्य है कि उनके रचित हिन्दू जीवन के गर्भाधान से लेकर श्मशान तक के आचार-नियमों के कठोर बन्धन से समाज उत्पीड़ित हो गया था। अन्य विषयों की तो बात ही क्या, शौच-पेशाब के लिए जाते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक समय, सभी को नियमबद्ध कर डालने की चेष्टा उन्होंने की थी। समय के परिवर्तन से वह बन्धन दीर्घ काल तक स्थायी न रह सका। सभी देशों में, सभी काल में कर्मकाण्ड, सामाजिक रीति-नीति सदा ही परिवर्तित होते रहते हैं। एकमात्र ज्ञानकाण्ड ही परिवर्तित नहीं होता। वैदिक युग में भी देख, कर्मकाण्ड धीरे धीरे परिवर्तित हो गया, परन्तु उपनिषद् का ज्ञान-प्रकरण आज तक भी एक ही रूप में मौजूद है—सिर्फ़ उनकी व्याख्या करनेवाले अनेक हो गये हैं।

शिष्य—आप रघुनन्दन की स्मृति लेकर क्या करेंगे?

स्वामी जी—इस बार मठ में दुर्गा-पूजा करने की इच्छा हो रही है। यदि खर्च की व्यवस्था हो जाय तो महामाया की पूजा करूँगा। इसीलिए दुर्गोत्सव-विधि पढ़ने की इच्छा हुई है। तू अगले रविवार को जब आयेगा तो उस पुस्तक की एक प्रति लेते आना।

शिष्य—बहुत अच्छा।

दूसरे रविवार को शिष्य रघुनन्दनकृत 'अष्टाविंशति-तत्त्व' खरीद कर स्वामी जी के लिए मठ में ले आया। वह ग्रन्थ आज भी मठ के पुस्तकालय में मौजूद है। स्वामी जी पुस्तक को पाकर बहुत ही खुश हुए और उसी दिन से उसे पढ़ना प्रारम्भ करके चार-पाँच दिनों में उसे उन्होंने पूरा कर डाला। एक सप्ताह के बाद शिष्य के साथ साक्षात्कार होने पर कहने लगे, "मैंने तेरी दी हुई रघुनन्दन की स्मृति पूरी पढ़ डाली है। यदि हो सका तो इस बार माँ की पूजा करूँगा।"

शिष्य के साथ स्वामी जी की उपर्युक्त बातें दुर्गा-पूजा के दो-तीन मास पहले हुई थीं। उसके बाद उन्होंने उस सम्बन्ध में और कोई भी बात मठ के किसी भी व्यक्ति के साथ नहीं की। उनके उस समय के आचरण को देखकर शिष्य को ऐसा लगता था कि उन्होंने उस विषय में और कुछ भी नहीं सोचा। पूजा के १०-१२ दिन पहले तक शिष्य ने मठ में इस बात की कोई चर्चा नहीं सुनी कि इस वर्ष मठ में प्रतिमा लाकर पूजा होगी और न पूजा के सम्बन्ध में कोई आयोजन ही मठ में देखा। स्वामी जी के एक गुरुभाई ने इसी बीच एक दिन स्वप्न में देखा कि माँ दशभुजा दुर्गा गंगा जी के ऊपर से दक्षिणेश्वर की ओर से मठ की ओर चली आ रही हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल जब स्वामी जी ने मठ के सब लोगों के सामने पूजा करने का संकल्प व्यक्त किया, तब उन्होंने भी अपने स्वप्न की बात प्रकट की। स्वामी जी ने इस पर आनंदित होकर कहा, "जैसे भी हो, इस बार मठ में पूजा करनी होगी।" पूजा करने का निश्चय हुआ और उसी दिन एक नाव किराये पर लेकर स्वामी जी, स्वामी प्रेमानन्द एवं ब्रह्मचारी कृष्णलाल बागबाज़ार चले आये। उनके यहाँ आने का उद्देश्य यह था कि बागबाज़ार में ठहरी हुई श्री रामकृष्ण-भक्तों की जननी श्री माता जी के पास कृष्णलाल ब्रह्मचारी को भेजकर उस विषय में उनकी अनुमति ले लेना तथा उन्हें यह सूचित कर देना कि उन्हींके नाम पर संकल्प करके वह पूजा सम्पन्न होगी, क्योंकि सर्वत्यागी संन्यासियों को किसी प्रकार पूजा या अनुष्ठान 'संकल्पपूर्वक' करने का अधिकार नहीं है।

श्री माता जी ने स्वीकृति दे दी और ऐसा निश्चय हुआ कि 'माँ' की पूजा का 'संकल्प' उन्हींके नाम पर होगा। स्वामी जी भी इस पर विशेष आनंदित हुए और उसी दिन कुम्हार टोली में जाकर प्रतिमा बनाने के लिए पेशगी देकर मठ

में लौट आये। स्वामी जी की यह पूजा करने की बात सर्वत्र फैल गयी और श्री रामकृष्ण के गृही भक्तगण उस बात को सुनकर उस विषय में आनन्द के साथ सम्मिलित हुए।

स्वामी ब्रह्मानन्द को पूजा की सामग्री का संग्रह करने का भार सौंपा गया। निश्चित हुआ कि कृष्णलाल ब्रह्मचारी पुजारी बनेंगे। स्वामी रामकृष्णानन्द के पिता साधकश्रेष्ठ श्री ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महाशय तन्त्रधारक के पद पर नियुक्त हुए। मठ में आनन्द समाता नहीं था। जिस स्थान पर आजकल श्री रामकृष्ण का जन्म-महोत्सव होता है, उसी स्थान के उत्तर में मण्डप तैयार हुआ। षष्ठी के बोधन के दो-एक दिन पहले कृष्णलाल, निर्भयानन्द आदि संन्यासी तथा ब्रह्मचारीगण नाव पर माँ की मूर्ति मठ में ले आये। ठाकुर-घर के निचले मंजले में माँ की मूर्ति को रखने के साथ ही मानो आकाश टूट पड़ा—मूसलाधार पानी बरसने लगा। स्वामी जी यह सोचकर निश्चिन्त हुए कि माँ की प्रतिमा निर्विघ्न मठ में पहुँच गयी है। अब पानी बरसने से भी कोई हानि नहीं।

इधर स्वामी ब्रह्मानन्द के प्रयत्न से मठ द्रव्य-सामग्री से भर गया। यह देखकर कि पूजा की सामग्री में कोई कमी नहीं है, स्वामी जी स्वामी ब्रह्मानन्द आदि की प्रशंसा करने लगे। मठ के दक्षिण की ओर जो बगीचेवाला मकान है, जो पहले नीलाम्बर बाबू का था, वह एक महीने के लिए किराये पर ले लिया गया और पूजा के दिन से उसमें श्री माता जी को लाकर रखा गया। अधिवास की सायंकालीन पूजा स्वामी जी के समाधि-मन्दिर के सामनेवाले बिल्व वृक्ष के नीचे सम्पन्न हुई। उन्होंने उसी बिल्व वृक्ष के नीचे बैठकर एक दिन जो गाना गाया था, 'बिल्व वृक्ष के नीचे बोधन बिछाकर गणेश के लिए गौरी का आगमन' आदि, वह आज अक्षरशः पूर्ण हुआ।

श्री माता जी की अनुमति लेकर ब्रह्मचारी कृष्णलाल महाराज सप्तमी के दिन पुजारी के आसन पर विराजे। कौलाग्रणी तंत्र एवं मंत्रों के विद्वान् ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महाशय ने भी श्री माता जी के आदेशानुसार देवगुरु बृहस्पति की तरह तंत्रधारक का आसन ग्रहण किया। यथाविधि 'माँ' की पूजा समाप्त हुई। केवल श्री माता जी की अनिच्छा के कारण मठ में पशुबलि नहीं हुई। बली के रूप में शक्कर का नैवेद्य तथा मिठाइयों की ढेरियाँ प्रतिमा के दोनों ओर शोभायमान हुई।

ग़रीब-दुःखी दरिद्रों को साकार ईश्वर मानकर तृप्तिकर भोजन कराना इस पूजा का प्रधान अंग माना गया था। इसके अतिरिक्त बेलूड़, बालि और उत्तरपाड़ा के परिचित तथा अपरिचित अनेक ब्राह्मण पण्डितों को भी आमंत्रित किया गया था, जो आनन्द के साथ सम्मिलित भी हुए थे। तब से मठ के प्रति उन लोगों

का पूर्व विद्वेष दूर हो गया और उन्हें ऐसा विश्वास हुआ कि मठ के संन्यासी वास्तव में हिन्दू संन्यासी हैं।

कुछ भी हो, महासमारोह के साथ तीन दिनों तक महोत्सव के कलरव से मठ गूँज उठा। नौवत की सुरीली तान गंगा जी के दूसरे तट पर प्रतिध्वनित होने लगी। नगाड़े के रुद्रताल के साथ कलनादिनी भागीरथी नृत्य करने लगी। **दीयतां नीयतां भुज्यताम्**--इन वातों के अतिरिक्त मठ के संन्यासियों के मुख से उन तीनों दिनों तक अन्य कोई वात सुनने में नहीं आयी। जिस पूजा में साक्षात् श्री माता जी स्वयं उपस्थित हैं, जो स्वामी जी की संकल्पित है, देहधारी देवतुल्य महापुरुष-गण जिसके सम्पादक हैं, उस पूजा के निर्दोष होने में आश्चर्य की कौन सी बात! तीन दिनों की पूजा निर्विघ्न सम्पन्न हुई। गरीब-दुःखियों के भोजन-तृप्तिसूचक कलरव से मठ तीन दिन परिपूर्ण रहा।

महाष्टमी की पूर्व रात्रि में स्वामी जी को ज्वर आ गया था। इसलिए वे दूसरे दिन पूजा में सम्मिलित नहीं हो सके। वे सन्धिक्षण में उठकर बिल्वपत्र द्वारा महा-माया के श्री चरणों में तीन वार अंजलि देकर अपने कमरे में लौट आये थे। नवमी के दिन वे स्वस्थ हुए और उन्होंने, श्री रामकृष्ण देव नवमी की रात में जो अनेक गीत गाया करते थे, उनमें से दो-एक गीत स्वयं भी गाये। मठ में उस रात्रि आनन्द मानो उमड़ा पड़ता था।

नवमी के दिन पूजा के वाद श्री माता जी के द्वारा यज्ञ का दक्षिणान्त कराया गया। यज्ञ का तिलक धारण कर तथा सकल्पित पूजा समाप्त कर स्वामी जी का मुखमण्डल दिव्य भाव से परिपूर्ण हो उठा था। दशमी के दिन सायंकाल के वाद 'माँ' की प्रतिमा का गंगा जी में विसर्जन किया गया और उसके दूसरे दिन श्री माता जी भी स्वामी जी तथा संन्यासियों को आशीर्वाद देकर वाग़वाजार में अपने निवास-स्थान पर लौट गयीं।

दुर्गा-पूजा के वाद उसी वर्ष स्वामी जी ने मठ में प्रतिमा मँगवाकर श्री लक्ष्मी-पूजन तथा श्यामा-पूजन भी शास्त्र-विधि के अनुसार करवाया था। उन पूजाओं में भी श्री ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महाशय तंत्रधारक तथा कृष्णलाल महाराज पुजारी थे।

श्यामा-पूजा के अनन्तर स्वामी जी की जननी ने एक दिन मठ में कहला भेजा, "मैंने वहुत दिन पहले एक समय 'मनौती' की थी कि एक दिन स्वामी जी को साथ लेकर कालीघाट में जाकर मैं महामाया की पूजा करूँगी, अतएव उसे पूरा करना वहुत ही आवश्यक है।" जननी के आग्रहवश स्वामी जी मार्गशीर्ष मास के अन्त में शरीर अस्वस्थ होते हुए भी एक दिन कालीघाट गये थे। उस दिन कालीघाट

में पूजा करके मठ में लौटते समय शिष्य के साथ उनका साक्षात्कार हुआ था और वहाँ पर किस प्रकार पूजा आदि की गयी, यह वृत्तान्त शिष्य को रास्ते भर सुनाते आये थे । वही वृत्तान्त यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए उद्‌धृत किया जाता है—

वचपन में एक वार स्वामी जी वहुत अस्वस्थ हो गये थे। उस समय उनकी जननी ने 'मनौती' की थी कि पुत्र के रोगमुक्त होने पर वे उसे कालीघाट में ले जाकर 'माँ' की विशेष रूप से पूजा करेंगी और श्रीमन्दिर में उसे 'लोट-पोट' कराकर लायेंगी। उस 'मनौती' की वात इतने दिनों तक उन्हें भी याद न थी। इस समय स्वामी जी का शरीर अस्वस्थ होने से उनकी माता को उस वात का स्मरण हुआ; और वह उन्हें उसी भाव से कालीघाट में ले गयीं। कालीघाट में जाकर स्वामी जी काली-गंगा में स्नान करके जननी के आदेशानुसार भीगे वस्त्रों को पहने ही 'माँ' के मन्दिर में प्रविष्ट हुए और मन्दिर में श्री श्री काली माता के चरण-कमलों के सामने तीन वार लोट-पोट हुए। उसके वाद मन्दिर के वाहर निकलकर उन्होंने सात वार मन्दिर की प्रदक्षिणा की। फिर सभा-मंडप के पश्चिम ओर खुले चवूतरे पर बैठकर स्वयं ही हवन किया। अमित-वलशाली तेजस्वी सन्यासी के यज्ञ-सम्पादन को देखने के लिए 'माँ' के मन्दिर में उस दिन वड़ी भीड़ हुई थी। शिष्य के मित्र कालीघाट निवासी श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय भी, जो शिष्य के साथ अनेक वार स्वामी जी के पास आये थे, उस दिन वहाँ गये थे तथा उन्होंने उस यज्ञ को स्वय देखा था। गिरीन्द्र वावू आज भी उस घटना का वर्णन करते हुए कहा करते हैं कि जलते हुए अग्निकुण्ड में वार वार घृताहुति देते हुए उस दिन स्वामी जी दूसरे ब्रह्मा की तरह प्रतीत होते थे। जो भी हो, पूर्वोक्त रूप से शिष्य को घटना सुनाकर अन्त में स्वामी जी ने कहा, "कालीघाट में अभी भी कैसा उदार भाव देखा—मुझे विलायत से लौटा हुआ 'विवेकानन्द' जानकर भी मन्दिर के अध्यक्षों ने मन्दिर-प्रवेश में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की, वल्कि उन्होंने वड़े आदर के साथ मन्दिर के भीतर ले जाकर इच्छानुसार पूजा करने में सहायता की।"

इसी प्रकार जीवन के अन्तिम भाग में भी स्वामी जी ने हिन्दुओं की अनुष्ठेय पूजा-पद्धति के प्रति आन्तरिक एवं वाह्य विशेष सम्मान प्रदर्शित किया था। जो लोग उन्हें केवल वेदान्तवादी या ब्रह्मज्ञानी वताया करते हैं, उन्हें स्वामी जी के इन पूजानुष्ठान आदि पर विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए। 'मैं शास्त्र-मर्यादा को विनष्ट करने नहीं, पूर्ण करने के लिए ही आया हूँ'—कथन की सार्थकता को स्वामी जी इस प्रकार अपने जीवन में अनेक वार प्रतिपादित

कर गये हैं। वेदान्तकेसरी श्री शंकराचार्य ने वेदान्त के घोष से पृथ्वी को कम्पित करके भी जिस प्रकार हिन्दुओं के देव-देवियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने में कमी नहीं की, वरन् भक्ति से प्रेरित होकर नाना स्तोत्र एवं स्तुतियों की रचना की थी, उसी प्रकार स्वामी जी भी सत्य तथा कर्तव्य को समझ-कर ही पूर्वोक्त अनुष्ठानों के द्वारा हिन्दू धर्म के प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित कर गये हैं। रूप, गुण तथा विद्या में, भाषण-पटुता, शास्त्रों की व्याख्या, लोक-कल्याण-कारी कामना में तथा साधना एवं जितेन्द्रियता में स्वामी जी के समान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महापुरुष वर्तमान शताब्दी में और कोई भी पैदा नहीं हुआ। भारत के भावी वंशधर इस वात को धीरे धीरे समझ सकेंगे। उनकी संगति प्राप्त करके हम धन्य एवं मुग्ध हुए हैं। इसीलिए इस शंकरतुल्य महापुरुष को समझने के लिए तथा उनके आदर्श पर जीवन को गठित करने के लिए जाति-विचार छोड़कर हम भारत के सभी नर-नारियों का आह्वान कर रहे हैं। ज्ञान में शंकर, सहृदयता में बुद्ध, भक्ति में नारद, ब्रह्मज्ञता में शुकदेव, तर्क में बृहस्पति, रूप में कामदेव, साहस में अर्जुन और शास्त्रज्ञान में व्यास जैसे स्वामी जी को सम्पूर्ण रूप से समझने का समय उपस्थित हुआ है। इसमें अव सन्देह नहीं कि सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न श्री स्वामी जी का जीवन ही वर्तमान युग में आदर्श के रूप में एक मात्र अनुकरणीय है। इस महासमन्वय के आचार्य की सभी मतों में समता करा देनेवाली ब्रह्मविद्या के तमोविनाशक किरणसमूह द्वारा समस्त पृथ्वी आलोकित हुई है। वन्धुओ, पूर्वाकाश में इस तरुण अरुण छटा का दर्शन कर उठो, नव जीवन के प्राणस्पन्दन का अनुभव करो।

४०

[स्थान : वेलूड़ मठ। वर्ष : १९०२ ई०]

आज श्री रामकृष्ण देव का महामहोत्सव है—जिस उत्सव को स्वामी विवेकानन्द जी अन्तिम बार देख गये हैं। इस उत्सव के वाद वंगला आषाढ़ मास के २० वें दिन रात्रि के लगभग ९ वजे, उन्होंने इहलौकिक लीला समाप्त की। उत्सव के कुछ पहले से स्वामी जी का शरीर अस्वस्थ है। ऊपर से नीचे नहीं उतरते, चल नहीं सकते, पैर सूज गये हैं। डॉक्टरों ने अधिक वातचीत करने की मनाही की है।

शिष्य श्री रामकृष्ण के सम्बन्ध में संस्कृत भाषा में एक स्तोत्र की रचना करके उसे छपवाकर लाया है। आते ही स्वामी जी के पादपद्म का दर्शन करने के लिए ऊपर गया। स्वामी जी फ़र्श पर अर्द्धशायित स्थिति में बैठे थे। शिष्य ने आते ही स्वामी जी के पादपद्म पर अपना मस्तक रखा और धीरे धीरे पैरों पर हाथ फेरने लगा। स्वामी जी शिष्य रचित स्तव का पाठ करने के पूर्व उससे बोले, "बहुत धीरे धीरे पैरों पर हाथ फेर तो, पैरों में बहुत दर्द हो रहा है।" शिष्य वैसा ही करने लगा।

स्तव-पाठ से स्वामी जी ने प्रसन्न होकर कहा, "बहुत अच्छा बना है।"

हाय! शिष्य उस समय क्या जानता था कि उसकी रचना की प्रशंसा स्वामी जी इस जन्म में फिर न कर सकेंगे।

स्वामी जी की शारीरिक अस्वस्थता इतनी बढ़ी हुई जानकर शिष्य का मुख म्लान हो गया और वह रुआँसा हो आया।

स्वामी जी शिष्य के मन की बात समझकर बोले, "क्या सोच रहा है? शरीर धारण किया है तो नष्ट भी हो जायगा। तू यदि लोगों में मेरे भावों को कुछ कुछ भी प्रविष्ट करा सका तो समझूँगा कि मेरा शरीर धारण करना सार्थक हुआ।"

शिष्य––हम क्या आपकी दया के योग्य हैं? अपने गुणों के कारण आपने स्वयं दया करके जो कर दिया है, उसीसे अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ।

स्वामी जी––सदा याद रखना, 'त्याग' ही है मूल मंत्र! इस मंत्र में दीक्षा प्राप्त किये बिना, ब्रह्मा आदि की भी मुक्ति का उपाय नहीं।

शिष्य––महाराज, आपके श्रीमुख से यह बात प्रतिदिन सुनकर इतने दिनों में भी उसकी धारणा नहीं हुई। संसार के प्रति आसक्ति न गयी। क्या यह कम खेद की बात है? आश्रित दीन सन्तान को आशीर्वाद दीजिए, जिससे शीघ्र ही हृदय में उसकी धारणा हो जाय।

स्वामी जी––त्याग अवश्य आयेगा, परन्तु जानता है न––**कालेनात्मनि विन्दति**––समय आये बिना नहीं आता। पूर्व जन्म के सस्कार कट जाने पर ही त्याग प्रकट होगा।

इन बातों को सुनकर शिष्य बड़े कातर भाव से स्वामी जी के चरण-कमल पकड़कर कहने लगा, "महाराज, इस दीन दास को जन्म जन्म में अपने चरण-कमलों में शरण दें––यही ऐकान्तिक प्रार्थना है। आपके साथ रहने पर ब्रह्मज्ञान की भी मेरी इच्छा नहीं होती।"

उत्तर में स्वामी जी कुछ भी न कहकर, अन्यमनस्क होकर न जाने क्या सोचने लगे। मानो वे सुदूर भविष्य में अपने जीवन के चित्र को देखने लगे। कुछ

समय के बाद फिर उन्होंने कहा, "लोगों की भीड़ देखकर क्या होगा? आज मेरे पास ही ठहर। और निरंजन को बुलाकर द्वार पर बैठा दे ताकि कोई मेरे पास आकर मुझे तंग न करे।" शिष्य ने दौड़कर स्वामी निरंजनानन्द को स्वामी जी का आदेश बतला दिया। स्वामी निरंजनानन्द भी सभी काम छोड़, सिर पर पगड़ी बाँध हाथ में डण्डा लेकर स्वामी जी के कमरे के दरवाजे के सामने आकर बैठ गये।

इसके बाद कमरे का दरवाजा बन्द करके शिष्य फिर स्वामी जी के पास आया। जी भर स्वामी जी की सेवा कर सकेगा—ऐसा सोचकर आज उसका मन आनन्दित है। स्वामी जी की चरण-सेवा करते करते वह बालक की तरह मन की सभी बातें स्वामी जी के पास खोलकर कहने लगा। स्वामी जी भी हँसते हुए उसके प्रश्नों का उत्तर धीरे धीरे देने लगे।

स्वामी जी—मैं समझता हूँ, अब श्री रामकृष्ण का उत्सव आगे इस प्रकार न होकर दूसरे रूप में हो तो अच्छा होगा—एक ही दिन नहीं, बल्कि चार-पाँच दिन तक उत्सव रहे। पहले दिन शास्त्र आदि का पाठ तथा प्रवचन हो। दूसरे दिन वेद-वेदान्त आदि पर विचार एवं मीमांसा हो। तीसरे दिन प्रश्नोत्तर की बैठक हो। उसके पश्चात् चौथे दिन सम्भव हो तो व्याख्यान आदि हों और फिर अन्तिम दिन ऐसा ही महोत्सव हो। दुर्गा-पूजा जैसे चार दिन तक होती है, वैसे ही हो। वैसा उत्सव करने पर अन्तिम दिन को छोड़कर अन्य चार दिन सम्भव है, श्री रामकृष्ण की भक्तमण्डली के अतिरिक्त दूसरे लोग अधिक संख्या में न आयें। सो न भी आयें तो क्या! बहुत लोगों की भीड़ होने पर ही श्री रामकृष्ण के मत का प्रचार होगा, ऐसी बात तो है नहीं।

शिष्य—महाराज, आपकी यह बहुत अच्छी कल्पना है, अगले साल वैसा ही किया जायगा। आपकी इच्छा है तो सब हो जायगा।

स्वामी जी—अरे भाई, यह सब करने में मन नहीं लगता। अब से तुम लोग यह सब किया करो।

शिष्य—महाराज, इस बार कीर्तन के अनेक दल आये हैं।

यह बात सुनकर स्वामी जी उन्हें देखने के लिए कमरे की दक्षिणवाली खिड़की की रेलिंग पकड़कर उठ खड़े हुए और आये हुए अगणित भक्तों की ओर देखने लगे। थोड़ी देर देखकर वे फिर बैठ गये। शिष्य समझ गया कि खड़े होने से उन्हें कष्ट हुआ है। अतः वह उनके मस्तक पर धीरे धीरे पंखा झलने लगा।

स्वामी जी—तुम लोग श्री रामकृष्ण की लीला के अभिनेता हो! इसके बाद—हमारी बात तो छोड़ ही दो—तुम लोगों का भी संसार नाम लेगा। ये जो सब स्तव-

स्तोत्र लिख रहा है, इसके बाद लोग भक्ति-मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन्हीं सब स्तवों का पाठ करेंगे। याद रखना, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति ही परम साध्य है। अवतारी पुरुषरूपी जगद्‌गुरु के प्रति भक्ति होने पर समय आते ही वह ज्ञान स्वयं ही प्रकट हो जाता है।

शिष्य विस्मित होकर सुनने लगा।

शिष्य---तो महाराज, क्या मुझे भी उस ज्ञान की प्राप्ति हो सकेगी?

स्वामी जी---श्री रामकृष्ण के आशीर्वाद से तुझे अवश्य ज्ञान-भक्ति प्राप्त होगी। परन्तु गृहस्थाश्रम में तुझे कोई विशेष सुख न होगा।

शिष्य स्वामी जी की इस बात पर दुःखी हुआ और यह सोचने लगा कि फिर स्त्री-पुत्रों की क्या दशा होगी।

शिष्य---यदि आप दया करके मन के बन्धनों को काट दें तो उपाय है; नहीं तो इस दास के उद्धार का दूसरा कोई उपाय नहीं। आप श्री मुख से कह दीजिए, ताकि इसी जन्म में मुक्त हो जाऊँ।

स्वामी जी---भय क्या है? जब यहाँ पर आ गया है, तो अवश्य हो जायगा।

शिष्य स्वामी जी के चरण-कमलों को पकड़कर रोता हुआ कहने लगा, "प्रभो, अब मेरा उद्धार करना ही होगा।"

स्वामी जी---कौन किसका उद्धार कर सकता है, बोल? गुरु केवल कुछ आवरणों को हटा सकते हैं। उन आवरणों के हटते ही आत्मा अपनी महिमा में स्वयं ज्योतिष्मान होकर सूर्य की तरह प्रकट हो जाती है।

शिष्य---तो फिर शास्त्रों में कृपा की बात क्यों सुनते हैं?

स्वामी जी---कृपा का मतलब क्या है, जानता है? जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार किया है, उनके भीतर एक महाशक्ति खेलने लगती है। ऐसे महापुरुष को केन्द्र बनाकर थोड़ी दूर तक व्यासार्द्ध लेकर जो एक वृत्त बन जाता है, उस वृत्त के भीतर जो लोग आ पड़ते हैं, वे उनके भाव से अनुप्राणित हो जाते हैं। अर्थात् वे उस महापुरुष के भाव में अभिभूत हो जाते हैं। अतः साधन-भजन न करके भी वे अपूर्व आध्यात्मिक फल के अधिकारी बन जाते हैं। इसे यदि कृपा कहता है तो कह ले।

शिष्य---महाराज, क्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार कृपा नहीं होती?

स्वामी जी---वह भी है। जब अवतार आते हैं, तब उनकी लीला के साथ साथ मुक्त एवं मुमुक्षु पुरुषगण उनकी लीला में भाग लेने के लिए देह धारण करके आते हैं। करोड़ों जन्मों का अंधकार हटाकर अवतार केवल एक ही जन्म में मुक्त कर दे सकते हैं---इसीका अर्थ है कृपा। समझा?

शिष्य—जी हाँ; परन्तु जिन्हें उनका दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, उनके उद्धार का क्या उपाय है?

स्वामी जी—उनका उपाय है—उन्हें पुकारना। पुकार पुकारकर अनेक लोग उनका दर्शन पाते हैं—ठीक हमारे जैसे शरीर में उनका दर्शन करते हैं और उनकी कृपा प्राप्त करते हैं।

शिष्य—महाराज, श्री रामकृष्ण के शरीर छूट जाने के वाद क्या आपको उनका दर्शन प्राप्त हुआ था?

स्वामी जी—श्री रामकृष्ण के देह-त्याग के वाद मैंने कुछ दिन गाजीपुर में पवहारी वावा का संग किया था। उस समय पवहारी वावा के आश्रम के निकट एक वगीचे में मैं रहता था। लोग उसे भूत का वगीचा कहा करते थे, परन्तु मुझे भय नहीं लगता था। जानता तो है कि मैं ब्रह्मदैत्य, भूत-फूत से नहीं डरता। उस वगीचे में नीवू के अनेक पेड़ थे और वे फलते भी खूव थे। मुझे उस समय पेट की सख्त वीमारी थी, और इस पर वहाँ रोटी के अतिरिक्त और कुछ भिक्षा में भी नहीं मिलता था। इसलिए हाज़मे के लिए नीवू का रस खूव पीता था। पवहारी वावा के पास आना-जाना वहुत ही अच्छा लगता था। वे भी मुझे वहुत प्यार करने लगे। एक दिन मन में आया, श्री रामकृष्ण देव के पास इतने दिन रहकर भी मैंने इस रुग्ण शरीर को दृढ़ वनाने का कोई उपाय तो नहीं पाया। सुना है, पवहारी वावा हठयोग जानते हैं। उनसे हठयोग की क्रिया सीख कर देह को दृढ़ वनाने के लिए अव कुछ दिन साधना करूँगा। जानता तो है, मेरा पूर्व-बंगाली हठ—जो मन में आयेगा, उसे करूँगा ही। जिस दिन मैंने पवहारी वावा से दीक्षा लेने का इरादा किया, उसकी पहली रात एक खटिया पर सोकर पड़ा पड़ा सोच ही रहा था कि देखता हूँ, श्री रामकृष्ण मेरी दाहिनी ओर खड़े होकर एक दृष्टि से मेरी ओर टकटकी लगाये है; मानो वे विशेष दुःखी हो रहे हैं। जव मैंने उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण कर दिया है तो फिर किसी दूसरे को गुरु वनाऊँ? यह वात मन में आते ही लज्जित होकर मैं उनकी ओर ताकता रह गया। इसी प्रकार शायद दो-तीन घण्टे वीत गये। परन्तु उस समय मेरे मुख से कोई भी वात नहीं निकली। उसके वाद एकाएक वे अन्तर्हित हो गये। श्री रामकृष्ण को देखकर मन न जाने कैसा हो गया! इसीलिए उस दिन के लिए दीक्षा लेने का संकल्प स्थगित रखना पड़ा। दो-एक दिन वाद फिर पवहारी वावा से मंत्र लेने का संकल्प उठा। उस दिन भी रात को फिर श्री रामकृष्ण प्रकट हुए—ठीक पहले दिन की ही तरह। इस प्रकार लगातार इक्कीस दिन तक उनका दर्शन पाने के वाद दीक्षा लेने का संकल्प एकदम त्याग दिया। मन में सोचा, जव भी मंत्र लेने का विचार करता

हूँ, तभी इस प्रकार दर्शन होता है, तब मंत्र लेने पर तो इष्ट के बदले अनिष्ट ही हो जायगा।

शिष्य—महाराज, श्री रामकृष्ण के देह-त्याग के बाद क्या उनके साथ आपका कोई वार्तालाप भी हुआ था?

स्वामी जी इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर चुपचाप बैठे रहे। थोड़ी देर बाद शिष्य से बोले, "श्री रामकृष्ण का दर्शन जिन लोगों को प्राप्त हुआ है, वे धन्य हैं। **कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।** तुम लोग भी उनका दर्शन प्राप्त करोगे। अब जब तुम लोग यहाँ आ गये हो तो तुम लोग भी यहीं के आदमी हो गये हो! 'रामकृष्ण' नाम धारण करके कौन आया था, कोई नहीं जानता। ये जो उनके अंतरंग—संगी-साथी हैं—इन्होंने भी उनका पता नहीं पाया। किसी किसीने कुछ कुछ पाया है, पर बाद में सभी समझेंगे। ये राखाल आदि जो लोग उनके साथ आये हैं, इनसे भी कभी कभी भूल हो जाती है। दूसरों की फिर क्या कहूँ?"

इस प्रकार बात चल रही थी। इसी समय स्वामी निरंजनानन्द ने दरवाजा खटखटाया। शिष्य ने उठकर निरंजनानन्द स्वामी से पूछा, "कौन आया है?" स्वामी निरंजनानन्द ने कहा, "भगिनी निवेदिता और अन्य दो अंग्रेज महिलाएँ।" शिष्य ने स्वामी जी से यह बात कही। स्वामी जी ने कहा, "वह अलखल्ला दे तो।" जब शिष्य ने वह उन्हें ला दिया, तो वे सारा शरीर ढककर बैठे और शिष्य ने दरवाज़ा खोल दिया। भगिनी निवेदिता तथा अन्य अंग्रेज़ महिलाएँ प्रवेश करके फ़र्श पर ही बैठ गयीं और स्वामी जी का कुशल-समाचार आदि पूछकर साधारण वार्तालाप करके ही चली गयीं। स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "देखा, ये लोग कैसे सभ्य हैं? बंगाली होते तो अस्वस्थ देखकर भी कम से कम आधा घण्टा मुझे बकवाते!"

दिन के क़रीब ढाई बजे का समय है, लोगों की बड़ी भीड़ है। मठ की ज़मीन में तिल रखने का स्थान नहीं। कितना कीर्तन हो रहा है, कितना प्रसाद बाँटा जा रहा है—कुछ कहा नहीं जाता! स्वामी जी ने शिष्य के मन की बात समझकर कहा, "नहीं तो एक बार जाकर देख आ—बहुत जल्द लौटना मगर!" शिष्य भी आनन्द के साथ बाहर जाकर उत्सव देखने लगा। स्वामी निरंजनानन्द द्वार पर पहले की तरह बैठे रहे। लगभग दस मिनट के बाद शिष्य लौटकर स्वामी जी को उत्सव की भीड़ की बातें सुनाने लगा।

स्वामी जी—कितने आदमी होंगे?

शिष्य—कोई पचास हज़ार!

शिष्य की बात सुनकर, स्वामी जी उठकर खड़े हुए और उस जनसमूह को देखकर बोले, "नहीं बहुत होंगे तो क़रीब तीस हज़ार!"

उत्सव की भीड़ धीरे धीरे कम होने लगी। दिन के साढ़े चार बजे के करीब स्वामी जी के दरवाजे खिड़कियाँ आदि सब खोल दिये गये। परन्तु उनका शरीर अस्वस्थ होने के कारण उनके पास किसीको जाने नहीं दिया गया।

४१

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०२ ई०]

पूर्व बंग से लौटने के बाद स्वामी जी मठ में ही रहा करते थे और मठ के घरू कार्यों की देख-रेख करते तथा कभी कभी कोई कोई काम अपने हाथ से ही करते हुए समय बिताते थे। वे कभी अपने हाथ से मठ की जमीन खोदते, कभी पेड़, बेल, फल-फूलों के बीज बोया करते, और कभी कभी यदि कोई नौकर-चाकर अस्वस्थ हो जाने के कारण किसी कमरे में झाड़ू न लगा सका तो वे अपने हाथ से ही झाड़ू लेकर उस कमरे की झाड़-बुहार करने लगते थे। यदि कोई यह देखकर कहता, "महाराज, आप क्यों?"—तो उसके उत्तर में कहा करते थे, "इससे क्या?—गन्दगी रहने पर मठ के सभी लोगों को रोग हो जायगा!" उस समय उन्होंने मठ में कुछ गाय, हंस, कुत्ते और बकरियाँ पाल रखी थीं। एक बड़ी बकरी को 'हंसी' कहकर पुकारा करते और उसीके दूध से प्रातःकाल चाय पीते। बकरी के एक छोटे बच्चे को 'मटरू' कहकर पुकारते। उन्होंने प्रेम से उसके गले में घुंघरू पहना दिये थे। बकरी का वह बच्चा प्यार पाकर स्वामी जी के पीछे पीछे घूमा करता और स्वामी जी उसके साथ पाँच वर्ष के बच्चे की तरह दौड़ दौड़कर खेला करते थे। मठ देखने के लिए नये नये आये हुए व्यक्ति विस्मित होकर कहा करते थे, "क्या ये ही विश्व-विजयी स्वामी विवेकानन्द हैं!" कुछ दिन बाद 'मटरू' के मर जाने पर स्वामी जी ने दुःखी होकर शिष्य से कहा था, 'देख, मैं जिससे भी जरा प्यार करने जाता हूँ, वही मर जाता है।"

मठ की जमीन की सफाई तथा मिट्टी खोदने और बराबर करने के लिए प्रति वर्ष ही कुछ सन्थाल स्त्री-पुरुष कुली आया करते थे। स्वामी जी उनके साथ कितना हँसी-मजाक करते और उनके सुख-दुःख की बातें सुना करते थे। एक दिन कलकत्ते से कुछ विख्यात व्यक्ति मठ में स्वामी जी के दर्शन करने के लिए आये। उस दिन स्वामी जी उन सन्थालों के साथ बातचीत में ऐसे मग्न थे कि स्वामी सुबोधानन्द ने जब आकर उन्हें उन सब व्यक्तियों के आने का समाचार दिया, तब उन्होंने कहा,

"मैं इस समय मिल न सकूँगा, इनके साथ बड़े मज़े में हूँ।" और वास्तव में उस दिन स्वामी जी उन सब दीन-दुःखी सन्थालों को छोड़कर उन व्यक्तियों के साथ मिलने न गये।

सन्थालों में एक व्यक्ति का नाम था 'केष्टा'। स्वामी जी केष्टा को बड़ा प्यार करते थे। बात करने के लिए आने पर केष्टा कभी कभी स्वामी जी से कहा करता था, "अरे स्वामी बाप, तू हमारे काम के समय यहाँ पर न आया कर—तेरे साथ बात करने से हमारा काम बन्द हो जाता है और बूढ़ा बाबा आकर फटकार बताता है।" यह सुनकर स्वामी जी की आँखें भर आती थीं और वे कहा करते थे, "नहीं, बूढ़ा बाबा (स्वामी अद्वैतानन्द) फटकार नहीं बतायेगा, तू अपने देश की दो बातें बता।" और यह कहकर उसके पारिवारिक सुख-दुःखों की बातें छेड़ देते थे।

एक दिन स्वामी जी ने केष्टा से कहा, "अरे, तुम लोग हमारे यहाँ खाना खाओगे?" केष्टा बोला, "हम अब और तुम लोगों का छुआ नहीं खाते, ब्याह जो हो गया है। तुम्हारा छुआ नमक खाने से जात जायगी रे बाप।" स्वामी जी ने कहा, "नमक क्यों खायगा रे? बिना नमक डालकर तरकारी पका देंगे, तब तो खायगा न?" केष्टा उस बात पर राज़ी हो गया। इसके बाद स्वामी जी के आदेश से मठ में उन सब सन्थालों के लिए लूची, तरकारी, मिठाई, दही आदि का प्रबन्ध किया गया और वे उन्हें बिठाकर खिलाने लगे। खाते खाते केष्टा बोला, "हाँ रे, स्वामी बाप, तुमने ऐसी चीज़ें कहाँ से पायी हैं—हम लोगों ने कभी ऐसा नहीं खाया।" स्वामी जी ने उन्हें तृप्ति भर भोजन कराकर कहा, "तुम लोग तो नारायण हो—आज मैंने नारायण को भोग दिया।" स्वामी जी जो दरिद्र-नारायण की सेवा की बात कहा करते थे, उसे वे इसी प्रकार स्वयं करके दिखा गये हैं।

भोजन के बाद जब सन्थाल लोग आराम करने गये, तब स्वामी जी ने शिष्य से कहा, "इन्हें देखा, मानो साक्षात् नारायण हैं—ऐसा सरल चित्त—ऐसा निष्कपट सच्चा प्रेम कभी नहीं देखा था।"

इसके बाद मठ में संन्यासियों को सम्बोधित कर कहने लगे, "देखो, ये लोग कैसे सरल हैं। इनका दुःख थोड़ा बहुत दूर कर सकोगे? नहीं तो गेरुवे वस्त्र पहनने से फिर क्या हुआ? परहित के लिए सर्वस्व अर्पण—इसीका नाम वास्तविक संन्यास है। इन्हें कभी अच्छी चीज़ें खाने को नहीं मिलीं। मन में आता है—मठ आदि सब बेच दूँ, इन सब गरीब-दुःखी दरिद्र-नारायणों में बाँट दूँ। हमने वृक्षतल को ही तो आश्रय-स्थान बना रखा है। हाय! देश के लोग पेट भर भोजन भी नहीं पा रहे हैं, फिर हम किस मुँह से अन्न खाते हैं? उस देश में जब गया था तो माँ से कितना कहा, "माँ! यहाँ पर लोग फूलों की सेज पर सो रहे हैं, तरह तरह के खाद्य-

पेयों का उपभोग कर रहे हैं, इन्होंने कौन सा भोग बाक़ी रखा है ! और हमारे देश के लोग भूखों मर रहे हैं। माँ, उनके उद्धार का कोई उपाय न होगा ?" उस देश में धर्म-प्रचारार्थ जाने का मेरा एक यह भी उद्देश्य था कि मैं इस देश के लिए अन्न का प्रबन्ध कर सकूँ।

"देश के लोग दो वक़्त दो दाने खाने को नहीं पाते, यह देखकर कभी कभी मन में आता है, छोड़ दे शंख बजाना, घण्टी हिलाना, छोड़ दे लिखना-पढ़ना और स्वयं मुक्ति की चेष्टाएँ—हम सब मिलकर गाँव गाँव में घूमकर चरित्र और साधना के बल पर धनिकों को समझाकर, धन संग्रह करके ले आयें और दरिद्र-नारायण की सेवा करके जीवन बिता दें।

"देश इन ग़रीब-दु:खियों के लिए कुछ नहीं सोचता है रे ! जो लोग हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं, जिनके परिश्रम से अन्न पैदा हो रहा है, जिन मेहतर डोमों के, एक दिन के लिए भी, काम बन्द करने पर शहर भर में हाहाकार मच जाता है—हाय ! हम क्यों न उनके साथ सहानुभूति करें, सुख-दु:ख में उन्हें सान्त्वना दें ! क्या देश में ऐसा कोई भी नहीं है रे ! यह देखो न—हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर मद्रास प्रान्त में हज़ारों पैरिया ईसाई बने जा रहे हैं, पर ऐसा न समझना कि केवल पेट के लिए ईसाई बनते हैं। असल में हमारी सहानुभूति न पाने के कारण वे ईसाई बनते हैं। हम दिन-रात उनसे केवल यही कहते रहे हैं, 'छुओ मत, छुओ मत।' देश में क्या अब दया-धर्म है भाई ? केवल छुआछूत-पन्थियों का दल रह गया है ! ऐसे आचार के मुख पर मार झाड़ू, मार लात ! इच्छा होती है—तेरे छुआछूत-पन्थ की सीमा को तोड़कर अभी चला जाऊँ—'जहाँ कहीं भी पतित, ग़रीब, दीन, दरिद्र हों, आ जाओ' यह कह कहकर, उन सभी को श्री रामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ। इन लोगों के बिना उठे माँ नहीं जागेगी। हम यदि इनके लिए अन्न-वस्त्र की सुविधा न कर सके, तो फिर हमने क्या किया ? हाय ! ये लोग दुनियादारी कुछ भी नहीं जानते, इसीलिए तो दिन-रात परिश्रम करके भी अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर पाते। आओ, हम सब मिलकर इनकी आँखें खोल दें—मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ, इनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म—एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी भी देश को कभी उठते देखा है ? एक अंग के दुर्बल हो जाने पर, दूसरे अंग के सबल होने से भी उस देह से कोई बड़ा काम फिर नहीं होता, इस बात को निश्चित जान लेना।"

शिष्य—महाराज, इस देश के लोगों में कितने भिन्न भिन्न धर्म हैं, कितने विभिन्न भाव हैं—इन सबका आपस में मेल हो जाना तो बड़ा ही कठिन प्रतीत होता है।

स्वामी जी (कुछ रोषपूर्वक)—यदि किसी काम को कठिन मान लेगा तो फिर यहाँ न आना। श्री रामकृष्ण की इच्छा से सब कुछ ठीक हो जायगा। तेरा काम है—जाति-वर्ण का विचार छोड़कर दीन-दुःखियों की सेवा करना। 'उसका परिणाम क्या होगा, क्या न होगा, यह सोचना तेरा काम नहीं है। तेरा काम है, सिर्फ़ काम करते जाना—फिर सब अपने आप ही हो जायगा। मेरे काम की पद्धति है, गढ़कर खड़ा करना; जो है, उसे तोड़ना नहीं। जगत् का इतिहास पढ़कर देख, एक एक महापुरुष एक एक समय में एक एक देश के मानो केन्द्र के रूप में खड़े हुए थे। उनके भाव से अभिभूत होकर सैकड़ों-हज़ारों लोग जगत् का कल्याण कर गये हैं। तुम बुद्धिमान लड़के हो। यहाँ पर इतने दिनों से आ रहे हो, इतने दिन क्या किया, बोलो तो? दूसरों के लिए *क्या एक जन्म भी नहीं दे सकते?* दूसरे *जन्म में* आकर फिर वेदान्त आदि पढ़ लेना। इस जन्म में दूसरों की सेवा में यह देह दे जा, तब जानूँगा—मेरे पास आना सफल हुआ।

इन बातों को कहकर स्वामी जी फिर गम्भीर चिन्ता में मग्न हो गये। थोड़ा समय *बीतने के बाद वे बोले, "मैंने इतनी तपस्या करके यही सार समझा है कि जीव* जीव में वे अधिष्ठित हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं। जो जीवों पर दया करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है।"

अब सध्या हुई। स्वामी जी दूसरी मञ्ज़िल पर थे और बिस्तर पर लेटकर शिष्य से कहने लगे, "दोनों पैरों को जरा दबा तो दे।" शिष्य आज की बातचीत से भयभीत और स्तम्भित होकर स्वयं आगे नहीं बढ़ रहा था। अतएव अब साहस पाकर बड़ी खुशी से स्वामी जी की चरण-सेवा करने बैठा। थोड़ी देर बाद स्वामी जी ने उसे सम्बोधित कर कहा, "आज मैंने जो कुछ कहा है, उन बातों को मन में गूँथकर रखना; कहीं भूल न जाना।"

४२

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०२ ई० का प्रारम्भ]

आज शनिवार है। शिष्य सन्ध्या के पहले ही मठ में आ गया है। मठ में आजकल साधन-भजन, जप-तप का बहुत ज़ोर है। स्वामी जी ने आज्ञा दी है कि ब्रह्मचारी और संन्यासी सभी को खूब सवेरे उठकर मन्दिर में जाकर जप-ध्यान करना होगा। स्वामी जी की निद्रा तो एक प्रकार नहीं के ही बराबर है, प्रातःकाल

तीन वजे से ही विस्तर से उठकर वैठे रहते है। एक घण्टा खरीदा गया है—तड़के सभी को जगाने के लिए। मठ के प्रत्येक कमरे के पास जाकर ज़ोर ज़ोर से वह घण्टा वजाया जाता है।

शिष्य ने मठ में आकर स्वामी जी को प्रणाम किया। प्रणाम स्वीकार करते ही वे वोले, "ओ रे, मठ में आजकल कैसा साधन-भजन हो रहा है; सभी लोग तड़के और सायंकाल वहुत देर तक जप-ध्यान करते हैं। वह देख, घण्टा लाया गया है, उसीसे सवको जगाया जाता है। अरुणोदय से पहले सभी को नींद छोड़कर उठना पड़ता है। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'प्रातःकाल और सायंकाल मन सात्त्विक भावों से पूर्ण रहता है; उसी समय एकाग्र मन से ध्यान करना चाहिए।"

"श्री रामकृष्ण के देह-त्याग के वाद हम वराहनगर के मठ में कितना जप-ध्यान किया करते थे! सुवह तीन वजे सव जाग उठते थे। शौच आदि के वाद कोई स्नान करके और कोई कपड़े वदलकर मन्दिर में जाकर जप-ध्यान में डूव जाया करता था। उस समय हम लोगों में क्या वैराग्य का भाव था—दुनिया है या नहीं, इसका पता ही न था। शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द) चौवीस घण्टे श्री रामकृष्ण की सेवा करता रहता था—घर की गृहिणी की तरह। भिक्षा माँगकर श्री रामकृष्ण के भोग आदि की और हम लोगों के खिलाने-पिलाने की सारी व्यवस्था वह स्वयं करता था। ऐसे दिन भी गये हैं, जव सवेरे से चार-पाँच वजे शाम तक जप-ध्यान चलता रहता था। शशि फिर खाना लेकर वहुत देर तक वैठा रहता और अन्त में किसी तरह से घसीटकर हमें जप-ध्यान से उठा दिया करता था। अहा, शशि की कैसी निष्ठा देखी है!"

शिष्य—महाराज, मठ का खर्च उन दिनों कैसे चलता था?

स्वामी जी—कैसे चलता था, क्या प्रश्न किया तूने? हम ठहरे साधु-संन्यासी! भिक्षा माँगकर जो आता था, उसीसे सव चला करता था। आज सुरेश वावू, वलराम वावू नहीं हैं। वे दो व्यक्ति आज होते तो इस मठ को देखकर कितने आनन्दित होते! सुरेश वावू का नाम सुना है न? उन्हें एक प्रकार से इस मठ का संस्थापक ही कहना चाहिए। वे ही वराहनगर मठ का सारा खर्च चलाते थे। सुरेश मित्र उस समय हम लोगों के लिए वहुत सोचा करते थे। उनकी भक्ति और विश्वास की तुलना नहीं।

शिष्य—महाराज, सुना है, उनकी मृत्यु के समय आप लोग उनसे मिलने के लिए विशेष नहीं जाया करते थे।

स्वामी जी—उनके रिश्तेदार जाने देते, तव न? जाने दे, उसमें अनेक वातें हैं। परन्तु इतना जान लेना, संसार में तू जीवित है या मर गया है, इससे तेरे

स्वजनों को कोई विशेष हानि-लाभ नहीं। तू यदि कुछ धन-सम्पत्ति छोड़कर जा सका तो देखना तेरी मृत्यु से पहले ही उसे लेकर घर में डण्डेबाज़ी शुरू हो जायगी! तेरी मृत्यु-शय्या पर तुझे सान्त्वना देनेवाला कोई नहीं होगा—स्त्री-पुत्र तक नहीं। इसीका नाम संसार है।

मठ की पूर्व स्थिति के सम्बन्ध में स्वामी जी फिर कहने लगे—"पैसे की कमी के कारण कभी कभी तो मैं मठ उठा देने के लिए झगड़ा किया करता था; परन्तु शशि को इस विषय में किसी भी तरह सहमत न करा सकता था। शशि को हमारे मठ का केन्द्रस्वरूप समझना। एक दिन मठ में ऐसा अभाव हुआ कि कुछ भी नहीं रहा। भिक्षा माँगकर चावल लाया गया, तो नमक नहीं। कभी केवल नमक और चावल था, फिर भी कुछ परवाह नहीं, जप-ध्यान के प्रवल वेग में उस समय हम सब वह रहे थे। कुँदरू का पत्ता उबाला हुआ और नमक-भात, यही लगातार महीनों तक चला—ओह! वे कैसे दिन थे! परन्तु यह बात ध्रुव सत्य है कि तेरे अन्दर यदि कुछ तत्त्व रहे तो बाह्य परिस्थिति जितनी ही विपरीत होगी, भीतर की शक्ति का उतना ही उन्मेष होगा। परन्तु अब जो मठ में खाट, बिछौना, खाने-पीने आदि की अच्छी व्यवस्था की गयी है, इसका कारण है। उन दिनों हम लोग जितना सहन कर सके हैं, उतना क्या आजकल के लोग, जो सन्यासी बनकर यहाँ आ रहे हैं, सहन कर सकेंगे? हमने श्री रामकृष्ण का जीवन देखा है, इसीलिए हम दुःख या कष्ट की विशेष परवाह नहीं किया करते थे। आजकल के लड़के उतनी कठोर साधना नहीं कर सकेंगे। इसीलिए रहने के लिए थोड़ा स्थान और दो दाने अन्न की व्यवस्था की गयी है। मोटा भात, मोटा वस्त्र पाने पर लड़के सारा मन साधन-भजन में लगायेंगे और जीव के हित के लिए जीवनोत्सर्ग करना सीखेंगे।"

शिष्य—महाराज, मठ के ये सब खाट-बिछौने देखकर बाहर के लोग अनेक विरुद्ध बातें करते हैं।

स्वामी जी—करने दे न। हँसी उड़ाने के बहाने ही सही, यहाँ की बात एक बार मन में तो लायेंगे! शत्रुभाव से जल्द मुक्ति होती है। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'लोग पोक—लोग तो कीड़े-मकोड़े है।' इसने क्या कहा, उसने क्या कहा, क्या यही सुनकर चलना होगा? छिः छिः।

शिष्य—महाराज, आप कभी कहते हैं, 'सब नारायण हैं, दीन-दुःखी मेरे नारायण हैं' और फिर कभी कहते है, 'लोग तो कीड़े-मकोड़े है।' इसका मतलब मैं नहीं समझ पाता।

स्वामी जी—सभी जो नारायण हैं, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं, परन्तु सभी नारायण तो बदनाम नहीं करते न? बेचारे ग़रीब-दुःखी लोग मठ का इन्तज़ाम

आदि देखकर तो कभी बदनाम नहीं करते? हम सत्कार्य करते जायँगे—जो बदनाम करेंगे, उन्हें करने दो। हम उनकी ओर देखेंगे भी नहीं—इसी भाव से कहा गया है, 'लोग कीड़े-मकोड़े हैं।' जिसकी ऐसी उदासीन वृत्ति है, उसका सब कुछ सिद्ध हो जाता है—हाँ, किसी किसी का ज़रा विलम्ब से होता है, परन्तु होता है निश्चित! हम लोगों की ऐसी ही उदासीन वृत्ति थी, इसीलिए थोड़ा बहुत हो पाया। नहीं तो देखते ही हो, हमारे कैसे दुःख के दिन बीते हैं! एक बार तो ऐसा हुआ कि भोजन न पाकर रास्ते के किनारे एक मकान के बरामदे में बेहोश होकर पड़ा था। सिर पर थोड़ी देर वर्षा का जल गिरता रहा, तब होश में आया। एक दूसरे अवसर पर दिन भर खाने को न पाकर कलकत्ते में यह काम, वह काम करता हुआ घूम-घामकर रात को दस-ग्यारह बजे मठ में आया, तब कुछ खा सका और ऐसा सिर्फ़ एक दिन ही नहीं हुआ!

इन बातों को कहकर स्वामी जी अन्यमनस्क होकर थोड़ी देर बैठे रहे। बाद में फिर कहने लगे—

"ठीक ठीक संन्यास क्या आसानी से होता है रे? ऐसा कठिन आश्रम और दूसरा नहीं। ज़रा भी नीति-विरुद्ध पैर पड़े कि पहाड़ से एकदम खड्ड में गिरे—हाथ-पैर सब टकराकर चकनाचूर! एक दिन मैं आगरे से वृन्दावन पैदल जा रहा था। पास में एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी। वृन्दावन से क़रीब एक कोस की दूरी पर था—देखा, रास्ते के किनारे एक व्यक्ति बैठकर तम्बाकू पी रहा है। उसे देखकर मुझे भी तम्बाकू पीने की इच्छा हुई। मैंने उससे कहा, 'अरे भाई, ज़रा मुझे भी चिलम देगा?' वह मानो सकुचाता हुआ बोला, 'महाराज, हम भंगी हैं।' संस्कार तो है ही।—यह सुनकर मैं पीछे हट गया, और बिना तम्बाकू पिये ही फिर रास्ता चलने लगा। पर थोड़ी दूर जाकर मन में विचार आया, 'अरे, मैंने तो संन्यास लिया है; जाति, कुल, मान सब कुछ छोड़ दिया है, फिर भी उस व्यक्ति ने जब अपने को भंगी बताया तो मैं पीछे क्यों हट गया? उसका छुआ हुआ तम्बाकू भी न पी सका!' ऐसा सोचकर मन व्याकुल हो उठा। उस समय क़रीब दो फ़र्लांग रास्ता चल आया था। पर फिर लौटकर उसी मेहतर के पास आया, देखता हूँ, अब भी वह व्यक्ति वहीं पर बैठा है। मैंने जाकर जल्दी से कहा—'अरे भैया, एक चिलम तम्बाकू भरकर ले आ।' उसने फिर कहा कि वह मेहतर है। पर मैंने उसकी मनाही की कोई परवाह न की और कहा, 'चिलन में तम्बाकू देना ही पड़ेगा।' वह फिर क्या करता?—अन्त में उसने चिलम भरकर मुझे दे दी। फिर आनन्द से तम्बाकू पीकर मैं वृन्दावन आया। अतएव संन्यास लेने पर इस बात की परीक्षा लेनी होती है कि वह व्यक्ति स्वयं जाति-वर्ण के परे चला गया है या नहीं। ठीक

ठीक संन्यास-व्रत की रक्षा करना वड़ा ही कठिन है, कहने और करने में ज़रा भी फ़र्क होने की गुंजाइश नहीं है।"

शिष्य—महाराज, आप हमारे सामने कभी गृहस्थ का आदर्श और कभी त्यागी का आदर्श रखते हैं; हम जैसों को उनमें से किसका अवलम्वन करना उचित है?

स्वामी जी—सव सुनता जा, उसके बाद जो अच्छा लगे उसीमें चिपट जाना—फिर वुलडॉग की तरह दृढ़ता के साथ पकड़े पड़े रहना।

इस प्रकार वार्तालाप करते स्वामी जी शिष्य के साथ नीचे उतर आये और कभी बीच बीच में 'शिव-शिव' कहते और फिर कभी गुनगुनाकर 'कव किस रंग में रहती हो माँ तुम श्यामा सुधातरंगिनी'—आदि गीत गाते हुए टहलने लगे।

४३

[स्थान : वेलूड़ मठ। वर्ष : १९०२ ई०]

शिष्य पिछली रात को स्वामी जी के कमरे ही में सो गया था। रात्रि के चार वजे स्वामी जी शिष्य को जगाकर वोले, "जा, घण्टा लेकर सव साधु-ब्रह्मचारियों को जगा दे।" आदेश के अनुसार शिष्य ने पहले ऊपरवाले साधुओं के पास घण्टा बजाया। फिर उन्हें उठते देख नीचे जाकर घण्टा वजाकर सव साधु ब्रह्मचारियों को जगाया। साधुगण जल्दी ही शौच आदि से निवृत्त होकर, कोई कोई स्नान करके अथवा कोई कपड़ा वदलकर मन्दिर में जप-ध्यान करने के लिए प्रविष्ट हुए।

स्वामी जी के निर्देश से स्वामी ब्रह्मानन्द के कानों के पास वहुत जोर से घण्टा वजाने से वे वोल उठे, "इस 'वांगाल' की शरारत के कारण मठ में रहना कठिन हो गया है।" शिष्य ने जव स्वामी जी से वह वात कही तो स्वामी जी खूव हँसते हुए वोले, "तूने ठीक किया।"

इसके वाद स्वामी जी भी मुँह-हाथ धोकर शिष्य के साथ मन्दिर में प्रविष्ट हुए।

स्वामी ब्रह्मानन्द आदि संन्यासी-गण मन्दिर में ध्यानस्थ वैठे थे। स्वामी जी के लिए अलग आसन रखा हुआ था। वे उत्तर की ओर मुँह करके उस पर वैठते हुए सामने एक आसन दिखाकर शिष्य से वोले, "जा, वहाँ पर वैठकर ध्यान कर।" कोई ध्यान के लिए वैठकर मंत्र जपने लगे, तो कोई अन्तर्मुख होकर शान्त भाव से

बैठे रहे। मठ का वातावरण मानो स्तब्ध हो गया। अभी तक अरुणोदय नहीं हुआ। आकाश में तारे चमक रहे थे।

स्वामी जी आसन पर बैठने के थोड़ी ही देर बाद एकदम स्थिर, शान्त, निःस्पन्द होकर सुमेरु की तरह निश्चल हो गये और उनका श्वास बहुत धीरे धीरे चलने लगा। शिष्य विस्मित होकर स्वामी जी की वह निश्चल निवात-निष्कम्प दीप-शिखा की तरह स्थिति को एकटक देखने लगा। जब तक स्वामी जी न उठेंगे, तब तक किसीको आसन छोड़कर उठने की आज्ञा नहीं है। इसलिए थोड़ी देर बाद पैर में झुनझुनी आने पर तथा उठने की इच्छा होने पर भी वह स्थिर होकर बैठा रहा।

लगभग डेढ़ घण्टे के बाद स्वामी जी 'शिव हर' कहकर ध्यान समाप्त कर उठ गये। उस समय उनकी आँखें आरक्त हो उठी थीं, मुख गम्भीर, शान्त एवं स्थिर था। श्री रामकृष्ण को प्रणाम करके स्वामी जी नीचे उतरे और मठ के आँगन में टहलने लगे। थोड़ी देर बाद शिष्य से बोले, "देखा, साधुगण आजकल कैसा जप-ध्यान करते हैं? ध्यान गम्भीर होने पर कितने ही आश्चर्यजनक अनुभव होते हैं। मैंने वराहनगर के मठ में ध्यान करते करते एक दिन इड़ा-पिंगला नाड़ी देखी थी। ज़रा चेष्टा करने से ही देखा जा सकता है। उसके बाद सुषुम्ना का दर्शन पाने पर जो कुछ देखना चाहेगा, वही देखा जा सकता है। दृढ़ गुरुभक्ति होने पर साधन, भजन, ध्यान, जप सब स्वयं ही आ जाते हैं, चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती—**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।**

"भीतर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मारूपी सिंह विद्यमान है; ध्यान-धारणा करके उसका दर्शन पाते ही माया की दुनिया उड़ जाती है। सभी के भीतर वह समभाव से विद्यमान है। जो जितना साधन-भजन करता है उसके भीतर उतनी ही जल्द कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। वह शक्ति मस्तक में उठते ही दृष्टि खुल जाती है—आत्मदर्शन हो जाता है।"

शिष्य—महाराज, शास्त्र में उन बातों को केवल पढ़ा ही है। प्रत्यक्ष तो कुछ भी नहीं हुआ!

स्वामी जी—**कालेनात्मनि विन्दति**—समय पर अवश्य ही होगा। अन्तर इतना ही है कि किसीका जल्द और किसीका ज़रा देर में होता है। लगे रहना चाहिए—चिपके रहना चाहिए। इसीका नाम यथार्थ पुरुषकार है। तेल की धार की तरह मन को एक ओर लगाये रखना चाहिए। जीव का मन अनेकानेक विषयों से विक्षिप्त हो रहा है। ध्यान के समय भी पहले-पहल मन विक्षिप्त होता है। मन में जो चाहे भाव उठें, उन्हें उस समय स्थिर हो बैठकर देखना चाहिए। देखते देखते मन स्थिर हो जाता है और फिर मन में चिन्तन की तरंगें नहीं रहतीं। वह

तरंग-समूह ही है, मन की संकल्प-वृत्ति। इससे पूर्व जिन विषयों का तीव्र भाव से चिन्तन किया है, उनका एक मानसिक प्रवाह रहता है। इसीलिए वे विषय ध्यान के समय मन में उठते हैं। साधक का मन धीरे धीरे स्थिरता की ओर जा रहा है, उनका उठना या ध्यान के समय स्मरण होना ही उसका प्रमाण है कि मन कभी कभी किसी भाव को लेकर एकवृत्तिस्थ हो जाता है—उसीका नाम है सविकल्प ध्यान। और मन जिस समय सभी वृत्तियों से शून्य होकर निराधार एक अखण्ड बोधरूपी प्रत्यक् चैतन्य में लीन हो जाता है, उसका नाम है वृत्तिशून्य निर्विकल्प समाधि। हमने श्री रामकृष्ण में ये दोनों समाधियाँ बार बार देखी हैं। उन्हें ऐसी स्थितियों को कोशिश करके लाना नहीं पड़ता था। बल्कि अपने आप ही एकाएक वैसा हो जाया करता था। वह एक आश्चर्यजनक घटना होती थी! उन्हें देखकर ही तो यह सब ठीक समझ सका था। प्रतिदिन अकेले ध्यान करना, सब रहस्य स्वयं ही खुल जायगा। विद्यारूपिणी महामाया भीतर सो रही है, इसीलिए कुछ जान नहीं सक रहा है। यह कुण्डलिनी ही है वह शक्ति। ध्यान करने के पूर्व जब नाड़ी शुद्ध करेगा, तब मन ही मन मूलाधार स्थित कुण्डलिनी पर ज़ोर ज़ोर से आघात करना और कहना, 'जागो माँ! जागो माँ!' धीरे धीरे इन सबका अभ्यास करना होगा। भावप्रवणता को ध्यान के समय एकदम दबा देना। वही बड़ा भय है। जो लोग अधिक भावप्रवण हैं, उनकी कुण्डलिनी फड़फड़ाती हुई ऊपर तो उठ जाती है, परन्तु वह जितने शीघ्र ऊपर जाती है, उतने ही शीघ्र नीचे भी उतर जाती है। जब उतरती है तो साधक को एकदम गर्त में ले जाकर छोड़ती है। भाव-साधना के सहायक कीर्तन आदि में यही एक बड़ा दोष है। नाच-कूदकर सामयिक उत्तेजना से उस शक्ति की ऊर्ध्वगति अवश्य हो जाती है; परन्तु स्थायी नहीं होती। निम्नगामी होते समय जीव में प्रबल काम-प्रवत्ति की वृद्धि होती है। मेरे अमेरिका के भाषण सुनकर सामयिक उत्तेजना से स्त्री-पुरुषों में अनेक का यही भाव हुआ करता था। कोई तो जड़ की तरह बन जाते थे। मैंने पीछे पता लगाया था, उस स्थिति के बाद ही कई लोगों की काम-प्रवृत्ति की अधिकता होती थी। स्थिर ध्यान-धारणा का अभ्यास न होने के कारण ही वैसा होता है।

शिष्य—महाराज, ये सब गुप्त साधन-रहस्य किसी शास्त्र में मैंने नहीं पढ़े। आज नयी बात सुनी।

स्वामी जी—सभी साधन-रहस्य क्या शास्त्र में हैं! वे सब सुप्तभाव से गुरु-शिष्य परम्परागत चले आ रहे हैं। ख़ूब सावधानी के साथ ध्यान करना, सामने सुगन्धित फूल रखना, धूप जलाना। जिससे मन पवित्र हो, पहले-पहल वही करना। गुरु-इष्ट का नाम लेते लेते कहा कर, 'जीव जगत् सभी का मंगल हो।' उत्तर,

दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊर्ध्व, अधः सभी दिशाओं में शुभ संकल्प के विचारों को बिखेरकर ध्यान में बैठा कर। ऐसा पहले-पहल करना चाहिए। उसके बाद स्थिर बैठकर (किसी भी ओर मुँह करके बैठने से कार्य हो सकता है) मंत्र देते समय जैसा मैंने कहा है, उस प्रकार ध्यान किया कर। एक दिन भी क्रम न तोड़ना। काम-काज की झंझट रहे तो कम से कम पन्द्रह मिनट तो अवश्य ही कर लेना। एकनिष्ठ न रहने से कुछ नहीं होता।

स्वामी जी ऊपर जाते जाते कहने लगे—"अब तुम लोगों की थोड़े ही में आत्मदृष्टि खुल जायगी। जब तू यहाँ पर आ पड़ा है, तो मुक्ति-उक्ति तो तेरी मुट्ठी में है। इस समय ध्यान आदि करने के अतिरिक्त इस दुःखपूर्ण संसार के कष्टों को दूर करने के लिए भी कमर कसकर काम में लग जा। कठोर साधना करते करते मैंने इस शरीर का मानो नाश कर डाला है। इस हाड़-मांस के पिंजड़े में अब कुछ नहीं रहा। तुम लोग अब काम में लग जाओ; मैं जरा विश्राम करूँ। और कुछ नहीं कर सकता है तो ये सब जितने शास्त्र आदि पढ़े हैं, उन्हींकी बातें जीव को जाकर सुना। इससे बढ़कर और कोई दान नहीं। ज्ञान-दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।"

४४

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०२ ई०]

स्वामी जी अभी मठ में ही ठहरे हैं। शास्त्र-चर्चा के लिए मठ में प्रतिदिन प्रश्नोत्तर-कक्षा चल रही है। इस कक्षा में स्वामी शुद्धानन्द, विरजानन्द तथा स्वरूपानन्द प्रधान जिज्ञासु हैं। इस प्रकार शास्त्रालोचना का निर्देश स्वामी जी 'चर्चा' शब्द द्वारा किया करते थे और संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों को सदैव यह 'चर्चा' करने के लिए उत्साहित करते थे। किसी दिन गीता, किसी दिन भागवत, तो किसी दिन उपनिषद् या ब्रह्मसूत्र भाष्य की चर्चा हो रही है। स्वामी जी भी प्रायः प्रतिदिन वहाँ पर उपस्थित रहकर प्रश्नों की मीमांसा कर रहे हैं। स्वामी जी के आदेश पर एक ओर जैसी कठोर नियम के साथ ध्यान-धारणा चल रही है, दूसरी ओर उसी प्रकार शास्त्र-चर्चा के लिए प्रतिदिन उक्त कक्षा चल रही है। उनकी आज्ञा को मानते हुए सभी उनके चलाये हुए नियमों का पालन करके चला करते थे। मठवासियों के भोजन-शयन, पाठ, ध्यान आदि सभी

इस समय कठोर नियम द्वारा शासित हैं। कभी किसी दिन उस नियम का यदि कोई जरा भी उल्लंघन करता, तो नियम की मर्यादा तोड़ने की सज़ा में उस दिन के लिए उसे मठ में भिक्षा नहीं दी जाती थी। उस दिन उसे गाँव से स्वयं भिक्षा माँगकर लानी पड़ती और भिक्षा में प्राप्त अन्न को मठभूमि में स्वयं ही पकाकर खाना पड़ता था। फिर संघ-निर्माण के लिए स्वामी जी की दूरदृष्टि केवल मठ-वासियों के लिए दैनिक नियम वनाकर ही नहीं रुक गयी थी। वल्कि उन्होंने भविष्य में मठ में जो रीति-नीति तथा कार्यप्रणाली जारी रहेगी, उस पर भी भली भाँति विचार किया और उस सम्वन्ध में विस्तार के साथ अनुशासन-संहिता भी तैयार की थी। उसकी पांडुलिपि आज भी वेलूड़ मठ में यत्नपूर्वक रखी गयी है।

प्रतिदिन स्नान के वाद स्वामी जी मन्दिर में जाते हैं; श्री रामकृष्ण का चरणामृत पान करते हैं; उनकी श्री पादुकाओं को मस्तक से स्पर्श करते हैं और श्री रामकृष्ण की भस्मास्थिपूर्ण मंजूषा के सामने साष्टांग प्रणाम करते हैं। इस मंजूपा को वे वहुधा 'आत्माराम की मंजूपा' कहा करते थे। इसके कुछ दिन पूर्व उस आत्माराम की मंजूपा को लेकर एक विशेप घटना घटी है। एक दिन स्वामी जी उसे मस्तक से स्पर्श करके ठाकुर-घर से वाहर आ रहे थे। इसी समय एकाएक उनके मन में आया, वास्तव में क्या इसमें आत्माराम श्री राम-कृष्ण का वास है? परीक्षा करके देखूँगा। सोचकर मन ही मन उन्होंने प्रार्थना की, "हे प्रभो, यदि तुम राजधानी में उपस्थित अमुक महाराजा को आज से तीन दिन के भीतर आकर्षित करके मठ में ला सको तो समझूँगा कि तुम वास्तव में यहाँ पर हो।" मन ही मन ऐसा कहकर वे ठाकुर-घर से वाहर निकल आये और इस विषय में किसीसे कुछ भी न कहा। थोड़ी देर वाद वे उस वात को विल्कुल भूल गये। दूसरे दिन वे किसी काम से थोड़े समय के लिए कलकत्ता गये। तीसरे प्रहर मठ में लौटकर उन्होंने सुना कि सचमुच ही उन महाराजा ने मठ के निकटवर्ती ग्रॅण्ड ट्रंक रोड पर से जाते-जाते रास्ते में गाड़ी रोककर स्वामी जी की तलाश में मठ में आदमी भेजा था और यह जानकर कि वे मठ में उपस्थित नहीं है, मठदर्शन के लिए वे नहीं आये। यह समाचार सुनते ही स्वामी जी को अपने संकल्प की याद आ गयी और बड़े विस्मय से अपने गुरुभाइयों के पास उस घटना का वर्णन कर उन्होंने 'आत्माराम की मंजूषा' की विशेष यत्न के साथ पूजा करने का उन्हें आदेश दिया।

आज शनिवार है। शिष्य तीसरे प्रहर मठ में आते ही इस घटना के वारे में जान गया है। स्वामी जी को प्रणाम करके वैठते ही उसे ज्ञात हुआ कि वे उसी

समय घूमने निकलेंगे—स्वामी प्रेमानन्द को साथ चलने के लिए तैयार होने को कहा है। शिष्य की बहुत इच्छा है कि वह स्वामी जी के साथ जाय, परन्तु स्वामी जी की अनुमति पाये बिना जाना उचित नहीं है। यह सोचकर वह बैठा रहा। स्वामी जी अलखल्ला तथा गेरुआ कनटोप पहनकर एक मोटा डण्डा हाथ में लेकर बाहर निकले। पीछे स्वामी प्रेमानन्द चले। जाने के पहले शिष्य की ओर ताककर कहने लगे, "चल, चलेगा?" शिष्य कृतकृत्य होकर स्वामी प्रेमानन्द के पीछे पीछे चल दिया।

न जाने क्या सोचते सोचते स्वामी जी कुछ अनमने से होकर चलने लगे। धीरे धीरे ग्रॅण्ड ट्रंक रोड पर आ पहुँचे। शिष्य ने स्वामी जी का उक्त प्रकार का भाव देखकर कुछ बातचीत आरम्भ करके उनकी चिन्ता को भंग करने का साहस किया; पर उसमें सफलता न पाकर वह प्रेमानन्द महाराज के साथ अनेक प्रकार से वार्तालाप करते करते उनसे पूछने लगा, "महाराज, स्वामी जी के महत्त्व के बारे में श्री रामकृष्ण आप लोगों से क्या कहा करते थे—कृपया बतलाइए।" उस समय स्वामी जी थोड़ा आगे आगे चल रहे थे।

स्वामी प्रेमानन्द—बहुत कुछ कहा करते थे; तुझे एक दिन में क्या बताऊँ? कभी कहा करते थे, 'नरेन अखण्ड के घर से आया है।' कभी कहा करते थे, 'नरेन मेरी ससुराल है।' फिर कभी कहा करते थे, 'ऐसा व्यक्ति जगत् में न कभी आया है, न आयेगा।' एक दिन बोले, 'महामाया उनके पास जाते डरती है।' वास्तव में वे उस समय किसी देवी-देवता के सामने सिर न झुकाते थे। श्री रामकृष्ण ने एक दिन उन्हें सन्देश (एक प्रकार की मिठाई) के भीतर भरकर श्री जगन्नाथ देव का प्रसाद खिला दिया था। बाद में श्री रामकृष्ण की कृपा से सब देख सुनकर धीरे धीरे उन्होंने सब माना।

शिष्य—मेरे साथ रोज कितनी हँसी करते हैं, परन्तु इस समय ऐसे गम्भीर बने हैं कि बात करने में भी भय हो रहा है।

स्वामी प्रेमानन्द—असली बात तो यह है कि महापुरुष कब किस भाव में रहते हैं, यह समझना हमारी मन-बुद्धि के परे है। श्री रामकृष्ण के जीवित काल में देखा है, नरेन को दूर से देखकर वे समाधिमग्न हो जाते थे। जिन लोगों की छुई हुई चीज़ों को खाने से वे दूसरों को मना करते थे, उनकी छुई हुई चीज़ें अगर नरेन खा लेता तो कुछ न कहते थे। कभी कहा करते थे, 'माँ, उसके अद्वैत ज्ञान को दबाकर रख—मेरा बहुत काम है।' इन सब बातों को अब कौन समझेगा—और किससे कहूँ?

शिष्य—महाराज, वास्तव में कभी कभी ऐसा मालूम होता है कि वे मनुष्य

नहीं हैं, परन्तु फिर बातचीत, युक्ति-विचार करते समय मनुष्य जैसे लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी आवरण द्वारा उस समय वे अपने स्वरूप को समझने नहीं देते!

स्वामी प्रेमानन्द—श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'वह (नरेन) जब जान जायगा कि वह स्वयं कौन है, तो फिर इस शरीर में नहीं रहेगा, चला जायगा।' इसीलिए काम-काज में नरेन का मन लगा रहने पर हम निश्चिन्त रहते है। उसे अधिक ध्यान-धारणा करते देखकर हमें भय लगता है।

अब स्वामी जी मठ की ओर लौटने लगे। उस समय स्वामी प्रेमानन्द और शिष्य को पास पास देखकर उन्होंने पूछा, "क्यों रे, तुम दोनों की आपस में क्या बातचीत हो रही थी?" शिष्य ने कहा, "यही सब श्री रामकृष्ण के सम्बन्ध में नाना प्रकार की बातें हो रही थीं।" उत्तर सुनकर ही स्वामी जी फिर अनमने होकर चलते चलते मठ में लौट आये और मठ के आम के पेड़ के नीचे जो कैम्प खटिया उनके बैठने के लिए बिछी हुई थी, उस पर आकर बैठ गये। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद हाथ-मुँह धोकर वे ऊपर के बरामदे में गये और टहलते हुए शिष्य से कहने लगे, "तू अपने देश में वेदान्त का प्रचार क्यों नहीं करने लग जाता? वहाँ पर तांत्रिक मत का बड़ा जोर है। अद्वैतवाद के सिंहनाद से पूर्व बंगाल को हिला दे तो देखूँ। तब जानूँगा कि तू वेदान्तवादी है। उस देश में पहले-पहल एक वेदान्त की संस्कृत पाठशाला खोल दे—उसमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि सब पढ़ा। लड़कों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दे और शास्त्रार्थ करके तांत्रिक पण्डितों को हरा दे! सुना है, तुम्हारे देश में लोग केवल न्याय शास्त्र की किटिर-मिटिर पढ़ते हैं। उसमें है क्या? व्याप्ति-ज्ञान और अनुमान—इसी पर तो नैयायिक पण्डितों का महीनों तक शास्त्रार्थ चलता है। उससे आत्मज्ञान-प्राप्ति में क्या कोई विशेष सहायता मिलती है, बोल? वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म-तत्त्व का पठन-पाठन हुए बिना क्या देश के उद्धार का कोई उपाय है रे? तू अपने ही देश में या नाग महाशय के मकान पर ही सही एक चतुष्पाठी (पाठशाला) खोल दे। उसमें इन सब सत् शास्त्रों का पठन-पाठन होगा और श्री रामकृष्ण के जीवन-चरित्र की चर्चा होगी। ऐसा करने पर तेरे अपने कल्याण के साथ ही साथ कितने दूसरे लोगों का भी कल्याण होगा। तुझे कीर्ति-लाभ भी होगा।"

शिष्य—महाराज, मैं नाम-यश की आकांक्षा नहीं रखता। फिर भी आप जैसा कर रहे हैं, कभी कभी मेरी भी वैसी इच्छा अवश्य होती है। परन्तु विवाह करके घर-गृहस्थी में ऐसा जकड़ गया हूँ कि कहीं मन की बात मन ही में न रह जाय।

स्वामी जी—विवाह किया है तो क्या हुआ? माँ-बाप, भाई-बहन को अन्न-वस्त्र देकर जैसे पाल रहा है, वैसे ही स्त्री का पालन भी कर, बस। धर्मोपदेश देकर उसे भी अपने पथ में खींच ले। महामाया की विभूति मानकर उसे सम्मान की दृष्टि से देखा कर। धर्म-पालन में 'सहधर्मिणी' मान कर और दूसरे समय जैसे अन्य दस व्यक्ति देखते हैं, वैसे ही तू भी देखा कर। इस प्रकार सोचते सोचते देखेगा कि मन की चंचलता एकदम मिट जायगी। भय क्या है?

स्वामी जी की अभयवाणी सुनकर शिष्य को कुछ विश्वास हुआ।

भोजन के बाद स्वामी जी अपने बिस्तर पर जा बैठे। अन्य सब लोगों का अभी प्रसाद पाने का समय नहीं हुआ था; इसलिए शिष्य को स्वामी जी की चरण-सेवा करने का अवसर मिल गया।

स्वामी जी भी उसे मठ के सब निवासियों के प्रति श्रद्धावान बनने का आदेश देने के सिलसिले में कहने लगे, "ये जो सब श्री रामकृष्ण की सन्तानों को देख रहा है, वे सब अद्भुत त्यागी हैं। इनकी सेवा करके लोगों की चित्त-शुद्धि होगी—आत्म-तत्त्व प्रत्यक्ष होगा। परिप्रश्नेन सेवया—गीता का कथन सुना है न? इनकी सेवा किया कर। उससे ही सब कुछ हो जायगा। तुझ पर इनका कितना प्रेम है, जानता है?

शिष्य—परन्तु महाराज, इन लोगों को समझना बहुत ही कठिन मालूम होता है—एक एक व्यक्ति का एक एक भाव।

स्वामी जी—श्री रामकृष्ण कुशल बागवान थे न! इसीलिए तरह तरह के फूलों से संघरूपी गुलदस्ते को तैयार कर गये हैं। जहाँ का जो कुछ अच्छा है, सब इसमें आ गया है—समय पर और भी कितने आयेंगे। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'जिसने एक दिन के लिए भी निष्कपट चित्त से ईश्वर को पुकारा है, उसे यहाँ पर आना ही पड़ेगा।' जो लोग यहाँ पर हैं, वे एक एक महान् सिंह हैं। ये मेरे पास दबकर रहते हैं, इसीलिए कहीं इन्हें मामूली आदमी न समझ लेना। ये ही लोग जब निकलेंगे तो इन्हें देखकर लोगों को चैतन्य प्राप्त होगा। इन्हें अनन्त भावमय श्री रामकृष्ण के शरीर का अंश जानना। मैं इन्हें उसी भाव से देखता हूँ। वह जो राखाल है, उसके सदृश धर्मभाव मेरा भी नहीं है। श्री रामकृष्ण उसे मानस-पुत्र मानकर गोदी में लेते थे, खिलाते थे—एक साथ सोते थे। वह हमारे मठ की शोभा है—हमारा बादशाह है। बाबूराम, हरि, शारदा, गंगाधर, शरद, शशि, सुबोध आदि की तरह ईश्वर-पद विश्वासी लोग पृथ्वी भर में ढूँढ़ने पर भी शायद न पा सकेगा। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति धर्म-शक्ति का मानो एक एक केन्द्र है। समय आने पर उन सबकी शक्ति का विकास होगा।

शिष्य विस्मित होकर सुनने लगा। स्वामी जी ने फिर कहा, "परन्तु तुम्हारे देश से नाग महाशय के अतिरिक्त और कोई न आया। और दो-एक ने श्री रामकृष्ण को देखा था, पर वे उन्हें समझ न सके।" नाग महाशय की वात याद करके स्वामी जी थोड़ी देर के लिए स्थिर रह गये। स्वामी जी ने सुना था, एक समय नाग महाशय के घर में गंगा जी का फ़व्वारा निकल पड़ा था। उस वात का स्मरण कर वे शिष्य से कहने लगे, "अरे, वह घटना क्या थी, वोल तो?"

शिष्य—महाराज, मैंने भी उस घटना के वारे सुना है—पर आँखों नहीं देखी। सुना है, एक वार महावारुणी योग में अपने पिता जी को साथ लेकर नाग महाशय कलकत्ता आने के लिए तैयार हुए। परन्तु भीड़ में गाड़ी न पाकर तीन-चार दिन नारायणगंज में ही रहकर घर लौट आये। लाचार होकर नाग महाशय ने कलकत्ता जाने का इरादा छोड़ दिया और अपने पिता जी से कहा, 'यदि मन शुद्ध हो तो माँ गंगा यहीं पर आ जायँगी।' इसके वाद 'योग' के समय पर एक दिन मकान के आँगन की ज़मीन फोड़कर एक जल का फ़व्वारा फूट निकला था—ऐसा सुना है। जिन्होंने देखा था, उनमें से अनेक व्यक्ति अभी तक जीवित हैं। मुझे उनका संग प्राप्त होने के वहुत दिन पहले यह घटना हुई थी।

स्वामी जी—इसमें फिर आश्चर्य की क्या वात है? वे सिद्धसंकल्प महापुरुष थे—उनके लिए वैसा होने में मैं कुछ भी आश्चर्य नहीं मानता।

यह कहते कहते स्वामी जी ने करवट वदली और उन्हें नींद आने लगी। यह देख शिष्य प्रसाद पाने के लिए उठकर चला गया।

४५

[स्थान : कलकत्ते से मठ में जाते हुए नाव पर। वर्ष : १९०२ ई०]

शिष्य ने आज तीसरे प्रहर कलकत्ते के गंगा तट पर टहलते टहलते देखा कि थोड़ी दूरी पर एक संन्यासी आहीरी टोला घाट की ओर अग्रसर हो रहे हैं। वे जव पास आये तो देखा, वे साधु और कोई नहीं—उसीके गुरुदेव श्री स्वामी विवेकानन्द ही हैं।

स्वामी जी के वायें हाथ में शाल के पत्ते के दोने में भुना हुआ चनाचूर है। वालक की तरह खाते खाते वे आनन्द से चले आ रहे है। जगद्विख्यात स्वामी जी को उस रूप में रास्ते पर चनाचूर खाते हुए आते देख शिष्य विस्मित होकर उनकी

अहंकारशून्यता की बात सोचने लगा। वे जब समीप आये तो शिष्य ने उनके चरणों में प्रणत होकर उनके एकाएक कलकत्ता आने का कारण पूछा।

स्वामी जी—एक काम से आया था। चल, तू मठ में चलेगा! थोड़ा भुना हुआ चना खा न? अच्छा नमक-मसालेदार है।

शिष्य ने हँसते हँसते प्रसाद लिया और मठ में जाना स्वीकार किया।

स्वामी जी—तो फिर एक नाव देख।

शिष्य भागता हुआ किराये पर नाव लेने दौड़ा। किराये के सम्बन्ध में माझियों के साथ वातचीत चल रही है, इसी समय स्वामी जी भी वहाँ पर आ पहुँचे। नाववाले ने मठ पर पहुँचा देने के लिए आठ आने माँगे, शिष्य ने दो आने कहा। "इन लोगों के साथ क्या किराये के वारे में लड़ रहा है?" यह कहकर स्वामी जी ने शिष्य को चुप किया और माझी से कहा, "चल, आठ आने ही दूँगा" और नाव पर चढ़े। भाटे के प्रवल वेग के कारण नाव वहुत धीरे धीरे चलने लगी और मठ तक पहुँचते पहुँचते क़रीब डेढ़ घण्टा लग गया। नाव में स्वामी जी को अकेला पाकर शिष्य को निःसंकोच होकर सारी बातें उनसे पूछ लेने का अच्छा अवसर मिल गया। इसी वर्ष के २० आषाढ़ (वंगला) को स्वामी जी ने देहत्याग किया था। उस दिन गंगा जी पर स्वामी जी के साथ शिष्य का जो वार्तालाप हुआ, वही यहाँ पाठकों को उपहार के रूप में दिया जाता है।

श्री रामकृष्ण के गत जन्मोत्सव में शिष्य ने उनके भक्तों का 'महिमा-कीर्तन-स्तव' छपवाया था, उसका प्रसंग उठाकर स्वामी जी ने उससे पूछा, "तूने अपने रचित स्तव में जिन जिन का नाम लिया है, कैसे जाना कि वे सभी श्री रामकृष्ण के लीला-सहचर हैं?"

शिष्य—महाराज! श्री रामकृष्ण के संन्यासी और गृही भक्तों के पास इतने दिनों से आता-जाता रहा हूँ, उन्हींके मुख से सुना है कि वे सभी श्री रामकृष्ण के भक्त हैं।

स्वामी जी—श्री रामकृष्ण के भक्त हो सकते हैं, परन्तु सभी भक्त तो उनके लीला-सहचरों के अन्तर्गत नहीं। उन्होंने काशीपुर के वगीचे में हम लोगों से कहा था, 'माँ ने दिखा दिया, ये सभी लोग यहाँ के (मेरे) अन्तरंग नहीं है।' स्त्री तथा पुरुष दोनों प्रकार के भक्तों के सम्वन्ध में उन्होंने उस दिन ऐसा कहा था।

उसके वाद वे अपने भक्तों के सम्वन्ध में जिस प्रकार उच्च तथा इतर कोटि का निर्देश किया करते थे, वह वात कहते हुए धीरे धीरे स्वामी जी शिष्य को भली भाँति समझाने लगे कि गृहस्थ और संन्यासी जीवन में कितना अन्तर है।

स्वामी जी—कामिनी-कांचन का सेवन भी करेगा और श्री रामकृष्ण को भी समझेगा—ऐसा न कभी हुआ, न हो सकता है। इस बात पर कभी विश्वास न करना। श्री-रामकृष्ण के भक्तों में से अनेक व्यक्ति इस समय अपने को 'ईश्वर कोटि', 'अन्तरंग' आदि कहकर प्रचार कर रहे हैं। उनका त्याग-वैराग्य तो कुछ भी न ले सके, और कहते क्या हैं कि वे सब श्री रामकृष्ण के अन्तरंग भक्त हैं। उन सब बातों को झाड़ू मारकर दूर किया कर। जो त्यागियों के बादशाह हैं, उनकी कृपा प्राप्त करके क्या कोई कभी काम-कांचन के सेवन में जीवन व्यतीत कर सकता है?

शिष्य—तो क्या महाराज, जो लोग दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण के पास उपस्थित हुए थे, उनमें से सभी लोग उनके भक्त नहीं?

स्वामी जी—यह कौन कहता है? सभी लोग उनके पास आना-जाना करके धर्म की अनुभूति की ओर अग्रसर हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। वे सभी उनके भक्त हैं। परन्तु असली बात यह है कि सभी लोग उनके अन्तरंग नहीं। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'अवतार के साथ दूसरे कल्पों के सिद्ध ऋषिगण देह धारण कर जगत् में पधारते हैं। वे ही भगवान् के साक्षात् पार्षद है। उन्हींके द्वारा भगवान् कार्य करते हैं या जगत् में धर्मभाव का प्रचार करते हैं।' यह जान ले कि अवतार के संगी-साथी एकमात्र वे लोग हैं जो दूसरों के लिए सर्वत्यागी हैं—जो भोग-सुख को काक-विष्ठा की तरह छोड़कर 'जगद्धिताय', 'जीवहिताय' आत्मोत्सर्ग करते हैं। भगवान् ईसा के शिष्यगण सभी संन्यासी हैं। शंकर, रामानुज, श्री चैतन्य तथा बुद्धदेव की साक्षात् कृपा प्राप्त करनेवाले सभी साथी सर्व-त्यागी संन्यासी हैं। ये सर्वत्यागी ही गुरु-परम्परा के अनुसार जगत् मे ब्रह्म-विद्या का प्रचार करते आये हैं। कहीं कभी सुना है—काम-कांचन के दास बने रहकर भी कोई मनुष्य जनता का उद्धार करने या ईश्वर-प्राप्ति का उपाय बताने मे समर्थ हुआ है? स्वयं मुक्त न होने पर दूसरों को कैसे मुक्त किया जा सकता है? वेद, वेदान्त, इतिहास, पुराण सर्वत्र देख सकेगा—संन्यासी-गण ही सर्व काल में सभी देशों में लोक-गुरु के रूप में धर्म का उपदेश देते रहे हैं। यही इतिहास भी बतलाता है। इतिहास अपने को दुहराता है—**यथा पूर्वं तथा परम्**। अब भी वही होगा। महासमन्वयाचार्य श्री रामकृष्ण की संन्यासी सन्तान ही लोकगुरु के रूप में जगत् में सर्वत्र पूजित हो रही है और होगी। त्यागी के अतिरिक्त दूसरों की बात कोरी आवाज़ की तरह शून्य में विलीन हो जायगी। मठ के यथार्थ त्यागी संन्यासीगण ही धर्मभाव की रक्षा और प्रचार के महा केन्द्रस्वरूप बनेंगे। समझा?

शिष्य—तो फिर क्या श्री रामकृष्ण के गृहस्थ भक्तगण उनकी बातों का भिन्न भिन्न प्रकार से जो प्रचार कर रहे हैं, वह सत्य नहीं?

स्वामी जी—एकदम झूठा नहीं कहा जा सकता; परन्तु वे श्री रामकृष्ण के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, वह सब आंशिक सत्य है। जिसमें जितनी क्षमता है, वह श्री रामकृष्ण का उतना अंश ही लेकर चर्चा कर रहा है। वैसा करना बुरा नहीं; परन्तु उनके भक्तों में यदि ऐसा किसीने समझा हो कि वह जो समझा है अथवा कह रहा है, वही एकमात्र सत्य है, तो वह बेचारा दया का पात्र है। श्री रामकृष्ण को कोई कह रहे हैं—तांत्रिक कौल; कोई कहते हैं—चैतन्य देव नारदीय भक्ति का प्रचार करने के लिए पैदा हुए थे; कोई कहते हैं—श्री रामकृष्ण की साधना उनके अवतारत्व में विश्वास की विरोधी है; कोई कहते हैं—संन्यासी बनना श्री रामकृष्ण की राय में ठीक नहीं—आदि आदि। इसी प्रकार की कितनी ही बातें गृही भक्तों के मुख से सुनेगा। उन सब बातों पर ध्यान न देना। श्री रामकृष्ण क्या है, वे कितने पूर्व अवतारों के जमे हुए भाव-राज्य के अधिराज हैं—इस बात को प्राण-पण से तपस्या करके भी मैं रत्ती भर नहीं समझ सका। इसलिए उनके सम्बन्ध में संयत होकर ही बात करना उचित है। जो जैसा पात्र है, उसे वे उतना ही देकर पूर्ण कर गये हैं। उनके भाव-समुद्र की एक बूंद को भी यदि धारण कर सके तो मनुष्य देवता बन सकता है। सब भावों का इस प्रकार का समन्वय, जगत् के इतिहास में क्या और कहीं भी ढूंढ़ने पर मिल सकता है? इसीसे समझ ले, उनके रूप में कौन देह धारण कर आये थे। अवतार कहने से तो उन्हें छोटा कर दिया जाता है। जब वे अपने संन्यासी सन्तानों को उपदेश दिया करते थे, तब बहुधा वे स्वयं उठकर चारों ओर खोज करके देख लेते थे कि वहाँ पर कोई गृहस्थ तो नहीं है। और जब देख लेते कि कोई नहीं है, तभी ज्वलन्त भाषा में त्याग और तपस्या की महिमा का वर्णन करते थे। उसी संसार-वैराग्य की प्रचण्ड उद्दीपना से ही तो हम संसार-त्यागी उदासीन हैं।

शिष्य—महाराज, वे गृहस्थ और संन्यासियों के बीच इतना अन्तर रखते थे?

स्वामी जी—यह उनके गृही भक्तों से पूछकर देख। देखकर समझ क्यों नहीं लेता—उनकी जो सब सन्तान ईश्वर-प्राप्ति के लिए ऐहिक जीवन के सभी भोगों का त्याग करके पहाड़, पर्वत, तीर्थ तथा आश्रम आदि में तपस्या करते हुए देह-क्षय कर रही हैं वे बड़ी हैं, अथवा वे लोग जो उनकी सेवा, वन्दना, स्मरण, मनन कर रहे हैं और साथ ही संसार के माया-मोह में भी ग्रस्त हैं? जो लोग आत्मज्ञान में, जीव-सेवा में जीवन देने को अग्रसर हैं, जो बचपन से ऊर्ध्वरेता हैं, जो त्याग, वैराग्य के मूर्तिमान चल विग्रह हैं वे बड़े हैं, अथवा वे, जो मक्खी की तरह एक बार फूल पर बैठते हैं और दूसरे ही क्षण विष्ठा पर बैठ जाते हैं? यह सब स्वयं ही समझकर देख।

शिष्य--परन्तु महाराज, जिन्होंने उनकी (श्री रामकृष्ण की) कृपा प्राप्त कर ली है, उनकी फिर गृहस्थी कैसी? वे घर पर रहें या संन्यास ले लें—दोनों ही बराबर हैं। मुझे तो ऐसा ही लगता है।

स्वामी जी--जिन्हें उनकी कृपा प्राप्त हुई है, उनकी मन-बुद्धि फिर किसी भी तरह संसार में आसक्त नहीं हो सकती। कृपा की परीक्षा तो है, काम-कांचन में अनासक्ति। वही यदि किसीकी न हुई तो उसने श्री रामकृष्ण की कृपा कभी ठीक ठीक प्राप्त नहीं की।

पूर्व प्रसंग इसी प्रकार समाप्त होने पर शिष्य ने दूसरी बात उठाकर स्वामी जी से पूछा, "महाराज, आपने जो देश-विदेश में इतना परिश्रम किया, उसका क्या परिणाम हुआ?"

स्वामी जी—क्या हुआ? इसका केवल थोड़ा ही भाग तुम लोग देख सकोगे। समय पर समस्त संसार को श्री रामकृष्ण का उदार भाव ग्रहण करना पड़ेगा। इसका अभी प्रारम्भ मात्र हुआ है। इस प्रबल बाढ़ के वेग में सभी को बह जाना पड़ेगा।

शिष्य—आप श्री रामकृष्ण के बारे में और कुछ कहिए। उनका प्रसंग आपके मुख से सुनने में अच्छा लगता है।

स्वामी जी--यही तो कितना दिन-रात सुन रहा है। उनकी उपमा वे ही है। उनकी तुलना का क्या कोई है रे?

शिष्य--महाराज, हम तो उन्हें देख नहीं सकते। हमारे उद्धार का क्या उपाय है?

स्वामी जी—साक्षात् उनकी कृपा-प्राप्त इन सब साधुओं का सत्संग कर रहा है, तो फिर उन्हें कैसे नहीं देखा, बोल? वे अपनी त्यागी सन्तानों में विराजमान है। उनकी सेवा-वन्दना करने पर, वे कभी न कभी अवश्य प्रकट होंगे। समय आने पर सब देख सकेगा।

शिष्य—अच्छा महाराज, आप श्री रामकृष्ण की कृपा-प्राप्त दूसरे सभी की बात कहते है, परन्तु आपके सम्बन्ध में वे जो कुछ कहा करते थे, वह तो कभी भी नहीं कहते?

स्वामी जी—अपनी बात और क्या कहूँगा? देख तो रहा है—मैं उनके दैत्य-दानवों में से कोई एक होऊँगा। उनके सामने ही कभी कभी उन्हें भला-बुरा कह देता था। वे सुनकर हँस देते थे।

यह कहते कहते स्वामी जी का मुखमण्डल गम्भीर हो गया। गंगा जी की ओर शून्य मन से देखते हुए कुछ देर तक स्थिर होकर बैठे रहे। धीरे धीरे शाम

हो गयी। नाव भी धीरे धीरे मठ पर आ गयी। स्वामी जी उस समय एकाग्रचित्त हो गाना गा रहे थे--'(केवल) आशार आशा भवे आसा, आसा मात्र सार हल। एखन सन्ध्यावेलाय घरेर छेले घरे निये चल।' (केवल आशा की आशा में दुनिया में आना हुआ, (और) आना भर ही सार हुआ। अब साँझ के समय (मुझे) घर के लड़के को घर ले चलो।)

गाना सुनकर शिष्य स्तम्भित होकर स्वामी जी के मुख की ओर देखता रह गया।

गाना समाप्त होने पर स्वामी जी कहने लगे, "तुम्हारे पूर्वी बंगाल में सुकण्ठ गायक पैदा नहीं होते। माँ गंगा का जल पेट में गये विना कोई सुकण्ठ गायक नहीं होता।"

किराया चुकाकर स्वामी जी नाव से उतरे और कुरता उतारकर मठ के पश्चिमी बरामदे में बैठ गये। स्वामी जी के गौर वर्ण और गेरुए वस्त्र ने सायंकाल के दीपों के आलोक में अपूर्व शोभा धारण की है।

४६

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०२ ई०]

आज १३ आषाढ़ (बंगाल सौर) है। शिष्य बाली से सायंकाल के पूर्व मठ में आ गया है। उस समय उसके कार्य का स्थान बाली में ही है। आज वह ऑफ़िस-वाली पोशाक पहनकर ही आया है, कपड़ा बदलने का समय उसे नही मिला। आते ही स्वामी जी के श्री चरणों में प्रणाम करके उसने उनका कुशल-समाचार पूछा। स्वामी जी बोले--"अच्छा हूँ। (शिष्य की पोशाक देखकर) तू कोट-पैण्ट पहनता है, कॉलर क्यों नहीं लगाया?" ऐसा कहने के बाद पास में खड़े स्वामी सारदानन्द को बुलाकर कहा, "मेरे जो कॉलर हैं, उनमें से दो कॉलर कल (प्रातःकाल) इसे दे देना तो।" स्वामी सारदानन्द जी ने उनके आदेश को शिरोधार्य कर लिया।

उसके पश्चात् शिष्य मठ के एक दूसरे कमरे में उस पोशाक को उतारकर मुँह-हाथ धोकर स्वामी जी के पास आया। स्वामी जी ने उस समय उससे कहा, "आहार, पोशाक और जातीय आचार-व्यवहार का परित्याग करने पर, धीरे धीरे जातीयता लुप्त हो जाती है। विद्या सभी से सीखी जा सकती है, परन्तु जिस

शिष्य—परन्तु महाराज, जिन्होंने उनकी (श्री रामकृष्ण की) कृपा प्राप्त कर ली है, उनकी फिर गृहस्थी कैसी? वे घर पर रहें या संन्यास ले लें—दोनों ही बराबर हैं। मुझे तो ऐसा ही लगता है।

स्वामी जी—जिन्हें उनकी कृपा प्राप्त हुई है, उनकी मन-बुद्धि फिर किसी भी तरह संसार में आसक्त नहीं हो सकती। कृपा की परीक्षा तो है, काम-कांचन में अनासक्ति। वही यदि किसीकी न हुई तो उसने श्री रामकृष्ण की कृपा कभी ठीक ठीक प्राप्त नहीं की।

पूर्व प्रसंग इसी प्रकार समाप्त होने पर शिष्य ने दूसरी बात उठाकर स्वामी जी से पूछा, "महाराज, आपने जो देश-विदेश में इतना परिश्रम किया, उसका क्या परिणाम हुआ?"

स्वामी जी—क्या हुआ? इसका केवल थोड़ा ही भाग तुम लोग देख सकोगे। समय पर समस्त संसार को श्री रामकृष्ण का उदार भाव ग्रहण करना पड़ेगा। इसका अभी प्रारम्भ मात्र हुआ है। इस प्रबल बाढ़ के वेग में सभी को बह जाना पड़ेगा।

शिष्य—आप श्री रामकृष्ण के बारे में और कुछ कहिए। उनका प्रसंग आपके मुख से सुनने में अच्छा लगता है।

स्वामी जी—यही तो कितना दिन-रात सुन रहा है। उनकी उपमा वे ही है। उनकी तुलना का क्या कोई है रे?

शिष्य—महाराज, हम तो उन्हें देख नहीं सकते। हमारे उद्धार का क्या उपाय है?

स्वामी जी—साक्षात् उनकी कृपा-प्राप्त इन सब साधुओं का सत्संग कर रहा है, तो फिर उन्हें कैसे नहीं देखा, बोल? वे अपनी त्यागी सन्तानों में विराजमान हैं। उनकी सेवा-वन्दना करने पर, वे कभी न कभी अवश्य प्रकट होंगे। समय आने पर सब देख सकेगा।

शिष्य—अच्छा महाराज, आप श्री रामकृष्ण की कृपा-प्राप्त दूसरे सभी की बात कहते हैं, परन्तु आपके सम्बन्ध में वे जो कुछ कहा करते थे, वह तो कभी भी नहीं कहते?

स्वामी जी—अपनी बात और क्या कहूँगा? देख तो रहा है—मैं उनके दैत्य-दानवों मे से कोई एक होऊँगा। उनके सामने ही कभी कभी उन्हें भला-बुरा कह देता था। वे सुनकर हँस देते थे।

यह कहते कहते स्वामी जी का मुखमण्डल गम्भीर हो गया। गंगा जी की ओर शून्य मन से देखते हुए कुछ देर तक स्थिर होकर बैठे रहे। धीरे धीरे शाम

हो गयी। नाव भी धीरे धीरे मठ पर आ गयी। स्वामी जी उस समय एकाग्रचित्त हो गाना गा रहे थे—'(केवल) आशार आशा भवे आसा, आसा मात्र सार हल। एखन सन्ध्यावेलाय घरेर छेले घरे निये चल।' (केवल आशा की आशा में दुनिया में आना हुआ, (और) आना भर ही सार हुआ। अब साँझ के समय (मुझे) घर के लड़के को घर ले चलो।)

गाना सुनकर शिष्य स्तम्भित होकर स्वामी जी के मुख की ओर देखता रह गया।

गाना समाप्त होने पर स्वामी जी कहने लगे, "तुम्हारे पूर्वी बंगाल में सुकण्ठ गायक पैदा नहीं होते। माँ गंगा का जल पेट में गये बिना कोई सुकण्ठ गायक नहीं होता।"

किराया चुकाकर स्वामी जी नाव से उतरे और कुरता उतारकर मठ के पश्चिमी बरामदे में बैठ गये। स्वामी जी के गौर वर्ण और गेरुए वस्त्र ने सायंकाल के दीपों के आलोक में अपूर्व शोभा धारण की है।

४६

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०२ ई०]

आज १३ आषाढ़ (बंगाल सौर) है। शिष्य बाली से सायंकाल के पूर्व मठ में आ गया है। उस समय उसके कार्य का स्थान बाली में ही है। आज वह ऑफ़िस-वाली पोशाक पहनकर ही आया है, कपड़ा बदलने का समय उसे नही मिला। आते ही स्वामी जी के श्री चरणों में प्रणाम करके उसने उनका कुशल-समाचार पूछा। स्वामी जी बोले—"अच्छा हूँ। (शिष्य की पोशाक देखकर) तू कोट-पैण्ट पहनता है, कॉलर क्यों नहीं लगाया?" ऐसा कहने के बाद पास में खड़े स्वामी सारदानन्द को बुलाकर कहा, "मेरे जो कॉलर हैं, उनमें से दो कॉलर कल (प्रातःकाल) इसे दे देना तो।" स्वामी सारदानन्द जी ने उनके आदेश को शिरोधार्य कर लिया।

उसके पश्चात् शिष्य मठ के एक दूसरे कमरे में उस पोशाक को उतारकर मुँह-हाथ धोकर स्वामी जी के पास आया। स्वामी जी ने उस समय उससे कहा, "आहार, पोशाक और जातीय आचार-व्यवहार का परित्याग करने पर, धीरे धीरे जातीयता लुप्त हो जाती है। विद्या सभी से सीखी जा सकती है, परन्तु जिस

विद्या की प्राप्ति से जातीयता का लोप होता है, उससे उन्नति नहीं होती—अधःपतन ही होता है।

शिष्य—महाराज, ऑफ़िस में आजकल अधिकारियों द्वारा निश्चित पोशाक आदि न पहनने से काम नहीं चलता।

स्वामी जी—इसे कौन रोकता है? ऑफ़िस में काम करने के लिए वैसी पोशाक तो पहननी ही पड़ेगी। परन्तु घर जाकर ठीक बंगाली बाबू बन जा। वही धोती, बदन पर कमीज़ या कुरता और कन्धे पर चादर। समझा?

शिष्य—जी हाँ!

स्वामी जी—तुम लोग केवल शर्ट (कमीज़) पहनकर ही इसके-उसके घर चले जाते हो—उस (पाश्चात्य) देश में वैसी पोशाक पहनकर लोगों के घर जाना बड़ी असभ्यता समझी जाती है। बिना कोट पहने कोई सभ्य व्यक्ति अपने घर में घुसने ही न देगा। उस पोशाक के बारे में तुम लोगों ने क्या अधूरा अनुकरण करना सीखा है! आजकल के लड़के जो पोशाक पहनते हैं, वह न तो देशी है और न विलायती, एक अजीब मिलावट है।

इस प्रकार बातचीत के बाद स्वामी जी गंगा जी के किनारे थोड़ी देर टहलने लगे। साथ में केवल शिष्य ही था। वह स्वामी जी से साधना के सम्बन्ध में एक प्रश्न पूछने में संकोच कर रहा था।

स्वामी जी—क्या सोच रहा है? कह डाल न। (मानो मन की बात ताड़ गये हों!)

शिष्य लज्जित भाव से कहने लगा, "महाराज, सोच रहा था कि यदि आप ऐसा कोई उपाय सिखा दें, जिससे मन बहुत जल्द स्थिर हो जाय—जिससे बहुत जल्द ध्यान-मग्न हो सकूँ—तो बड़ा ही उपकार हो। संसार के चक्र में पड़कर साधन-भजन के समय मन स्थिर करना बड़ा कठिन होता है।"

ऐसा मालूम हुआ कि शिष्य की उस प्रकार की दीनता को देख स्वामी जी बहुत ही प्रसन्न हुए। उत्तर में वे स्नेहपूर्वक शिष्य से बोले, "थोड़ी देर बाद जब ऊपर मैं अकेला रहूँगा, तब आना। तब उस विषय पर बातचीत होगी।"

शिष्य आनन्द से अधीर होकर बार बार स्वामी जी को प्रणाम करने लगा। स्वामी जी 'रहने दे, रहने दे' कहने लगे।

थोड़ी देर बाद स्वामी जी ऊपर चले गये।

शिष्य इस बीच नीचे एक साधु के साथ वेदान्त की चर्चा करने लगा और धीरे धीरे द्वैताद्वैत मत के वितण्डावाद से मठ कोलाहलपूर्ण हो गया। हल्ला सुनकर शिवानन्द महाराज ने उससे कहा, "अरे, धीरे धीरे चर्चा कर, ऐसा चिल्लाने से

स्वामी जी के ध्यान में विघ्न होगा।" उस बात को सुनकर शिष्य शान्त हुआ और चर्चा समाप्त कर ऊपर स्वामी जी के पास चला गया।

शिष्य ने ऊपर पहुँचते ही देखा, स्वामी जी पश्चिम की ओर मुँह करके फ़र्श पर बैठे हुए ध्यान-मग्न हैं। मुख अपूर्व भाव से पूर्ण है, मानो चन्द्रमा की कान्ति फूटकर निकल रही है। उनके सभी अंग एकदम स्थिर—मानो **चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे**। स्वामी जी की वह ध्यानमग्न मूर्ति देखकर वह विस्मित हो पास ही खड़ा रहा और बहुत देर तक खड़े रहकर भी स्वामी जी के बाह्य ज्ञान का कोई चिह्न न देख चुपचाप उसी स्थान पर बैठ गया। क़रीब आध घण्टा बीत जाने पर स्वामी जी के पार्थिव राज्य के सम्बन्ध में ज्ञान का मानो थोड़ा थोड़ा आभास दीखने लगा। शिष्य ने देखा, उनका मुट्ठीबन्द हाथ काँप रहा है। उसके पाँच-सात मिनट बाद ही स्वामी जी ने आँखें खोलकर शिष्य से कहा, "यहाँ पर कब आया ?"

शिष्य—यही थोड़ी देर पहले।

स्वामी जी—अच्छा, एक गिलास जल तो ले आ।

शिष्य तुरन्त स्वामी जी के लिए रखी हुई ख़ास सुराही से जल ले आया। स्वामी जी ने थोड़ा जल पीकर गिलास जगह पर रखने के लिए शिष्य से कहा। शिष्य ने गिलास रख दिया और स्वामी जी के पास आकर बैठ गया।

स्वामी जी—आज ध्यान बहुत जमा था।

शिष्य—महाराज, ध्यान करते समय बैठने पर मन जिससे पूर्ण रूप से डूब जाय, वह मुझे सिखा दीजिए।

स्वामी जी—तुझे सब उपाय तो पहले ही बता दिये हैं; प्रतिदिन उसी प्रकार ध्यान किया कर। समय पर सब मालूम होगा। अच्छा, बोल तो तुझे क्या अच्छा लगता है ?

शिष्य—महाराज, आपने जैसा कहा था, वैसा करता हूँ, परन्तु फिर भी मेरा अभी तक अच्छी तरह से ध्यान नहीं जमता। फिर कभी कभी मन में आता है—ध्यान करके क्या होगा ? इसलिए, ऐसा लगता है कि मेरा ध्यान नहीं जमेगा। अब हमेशा आपके पास रहना ही मेरी एकमात्र इच्छा है।

स्वामी जी—यह सब मानसिक दुर्बलता का चिह्न है। सदा नित्य प्रत्यक्ष आत्मा में तन्मय हो जाने की चेष्टा किया कर। आत्मदर्शन एक बार होने पर, सब कुछ हुआ ही समझना; जन्म-मृत्यु का जाल तोड़कर चला जायगा।

शिष्य—आप कृपा करके वही कर दीजिए। आपने आज एकान्त में आने के लिए कहा था, इसलिए आया हूँ। जिससे मेरा मन स्थिर हो, ऐसा कुछ कर दीजिए।

स्वामी जी—समय पाते ही ध्यान किया कर। सुषुम्ना के पथ पर मन यदि एक वार चला जाय, तो अपने आप ही सव कुछ ठीक हो जायगा। फिर अधिक कुछ करना न होगा।

शिष्य—आप तो कितना उत्साह देते हैं; परन्तु मुझे सत्य वस्तु प्रत्यक्ष होगी क्या? यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो सकूँगा क्या?

स्वामी जी—अवश्य होगा! समय पर कीट से ब्रह्मा तक सभी मुक्त हो जायँगे—और तू नहीं होगा? उन सब दुर्वलताओं को मन में स्थान न दिया कर।

इसके वाद स्वामी जी ने कहा, "श्रद्धावान वन, वीर्यवान वन, आत्मज्ञान प्राप्त कर—और परहित के लिए जीवन का उत्सर्ग कर दे—यही मेरी इच्छा और आशीर्वाद है।"

इसके वाद प्रसाद की घण्टी वजने पर स्वामी जी ने शिष्य से कहा—"जा, प्रसाद की घण्टी बज गयी है।"

शिष्य ने स्वामी जी के चरणों में प्रणाम करके कृपा की भिक्षा माँगी। स्वामी जी ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और कहा, "मेरे आशीर्वाद से तेरा यदि कोई उपकार है तो कहता हूँ, 'भगवान् श्री रामकृष्ण तुझ पर कृपा करें।' इससे वढ़कर आशीर्वाद और मैं तुझे क्या दूँ।"

शिष्य ने आनन्दित होकर, नीचे उतरकर शिवानन्द जी महाराज से स्वामी जी के आशीर्वाद की वात कही। शिवानन्द स्वामी ने उस वात को सुनकर कहा, "जा वांगाल! तेरा सव कुछ वन गया। इसके वाद स्वामी जी के आशीर्वाद का परिणाम जान सकेगा?"

भोजन के वाद शिष्य उस रात्रि को फिर ऊपर न गया, क्योंकि आज स्वामी जी जल्दी सोने के लिए लेट गये थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही शिष्य को कार्यवश कलकत्ता लौटना था। अतः जल्द हाथ-मुँह धोकर वह ऊपर स्वामी जी के पास पहुँचा।

स्वामी जी—अभी जायगा?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामी जी—अगले रविवार को तो आयेगा न?

शिष्य—अवश्य, महाराज।

स्वामी जी—तो जा, वह एक नाव आ रही है, उसी पर चला जा।

शिष्य ने स्वामी जी के चरण-कमलों से इस जन्म के लिए विदा ली। वह उस समय भी नहीं जानता था कि इष्टदेव के साथ स्थूल शरीर में उसका यही

अन्तिम साक्षात्कार था। स्वामी जी प्रसन्न मुख से उसे विदा देकर फिर बोले, "रविवार को आना।" शिष्य भी 'आऊँगा' कहकर नीचे उतर गया।

स्वामी सारदानन्द जी ने उसे जाते देखकर कहा "अरे, वे दो कॉलर तो लेता जा। नहीं तो मुझे स्वामी जी की बात सुननी पड़ेगी।"

शिष्य ने कहा, "आज बहुत जल्दी है—और किसी दिन ले जाऊँगा। आप स्वामी जी से कह दीजिएगा।"

नाव का मल्लाह पुकार रहा था। इसलिए शिष्य उन बातों को कहते कहते नाव की ओर भागा। शिष्य ने नाव पर से ही देखा, स्वामी जी ऊपर के बरामदे में धीरे धीरे टहल रहे हैं। वह उन्हें वहीं से प्रणाम करके नाव के भीतर जाकर बैठ गया। नाव भाटे के ज़ोर से आध घण्टे में ही अहीरीटोला के घाट पर आ पहुँची।

इसके सात दिन बाद ही स्वामी जी ने अपना पांचभौतिक शरीर त्याग दिया। शिष्य को उस घटना से पूर्व कुछ भी मालूम नहीं हुआ। उनकी महासमाधि के दूसरे दिन समाचार पाकर, वह मठ में आया, पर स्थूल शरीर में स्वामी जी का दर्शन फिर उसके भाग्य में नहीं था।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप—८

१. ज्ञानयोग पर

ज्ञानयोग (१)

सभी जीवात्माएँ खेल रही हैं---कोई जानते हुए तो कोई विना जाने। धर्म हमें जानते हुए खेलना सिखलाता है।

जो नियम हमारे सांसारिक जीवन में लागू होता है, वही हमारे धार्मिक जीवन तथा विश्व-जीवन में भी लागू होता है। वह एक और सार्वभौम है। यह बात नहीं कि धर्म एक नियम द्वारा परिचालित होता हो और संसार एक दूसरे द्वारा। मानव और दानव---ये दोनों ही भगवान् के रूप हैं---भेद है केवल परिमाण के तारतम्य में।

पाश्चात्य देशों के धर्मज्ञ, दार्शनिक और वैज्ञानिक यह सिद्ध करने के लिए कि मृत्यु के वाद जीवन होता है, बाल की खाल खींच रहे हैं। छोटी सी बात के लिए कितनी उछल-कूद मचा रहे हैं! सोचने के लिए इससे ऊँची और भी कितनी वातें हैं! 'मेरी मृत्यु होगी'---यह सोचना कितना मूर्खतापूर्ण अंधविश्वास है! हमें यह बतलाने के लिए कि हम नहीं मरेंगे, किसी पुजारी, देव या दानव की आवश्यकता नहीं। यह तो एक प्रत्यक्ष सत्य है---सभी सत्यों से सर्वाधिक प्रत्यक्ष है। कोई भी मनुष्य अपने स्वयं के नाश की कल्पना नहीं कर सकता। अमरत्व का भाव प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्निहित है।

जहाँ कहीं जीवन है, वहाँ मृत्यु भी है। जीवन मृत्यु की छाया है, और मृत्यु जीवन की। जीवन और मृत्यु के बीच की अत्यंत सूक्ष्म रेखा का निश्चय ग्रहण और धारण कर सकना दुःसाध्य है।

मैं शाश्वत उन्नति-क्रम में विश्वास नहीं करता, मैं यह नहीं मानता कि हम निरन्तर एक सीधी रेखा में वढ़ते चले जा रहे हैं। यह वात इतनी अर्थहीन है कि उस पर विश्वास किया ही नहीं जा सकता। गति कभी एक सरल रेखा में नहीं होती। यदि एक सरल रेखा अनन्त रूप से वढ़ा दी जाय तो वह वृत्त वन जाती है। कोई भी शक्ति-निक्षेप वृत्त पूरा करके प्रारम्भ ही के स्थान पर लौट आता है।

कोई भी उन्नति सरल रेखा में नहीं होती। प्रत्येक जीवात्मा मानो एक वृत्त में भ्रमण करती है, और उसे वह मार्ग तय करना ही पड़ता है। कोई भी जीवात्मा

इतनी अधोगामी नहीं हो सकती, उसे एक न एक दिन ऊपर उठना ही होगा। भले ही वह पहले एकदम नीचे जाती दिखे, पर वृत्त-पथ को पूरा करने के लिए उसे ऊपर की दिशा में उठना ही पड़ेगा। हम सभी एक साधारण केन्द्र से निक्षिप्त हुए हैं—और यह केन्द्र है परमात्मा। अपना अपना वृत्त पूरा करने के बाद हम सब उसी केन्द्र में वापस चले जायँगे जहाँ से हमने प्रारम्भ किया था।

प्रत्येक आत्मा एक वृत्त है। इसका केन्द्र वहाँ होता है जहाँ शरीर, और वहीं उसका कार्य प्रकट होता है। तुम सर्वव्यापी हो, यद्यपि तुम्हें जान पड़ता है कि तुम एक ही विन्दु में केन्द्रित हो। तुम्हारे उस केन्द्र ने अपने चारों ओर पंच-भूतों का एक पिण्ड (शरीर) बना लिया है, जो उसकी अभिव्यक्ति का यन्त्र है। जिसके माध्यम से आत्मा अपने को प्रकट या प्रकाशित करती है, वह शरीर कहलाता है। तुम सर्वत्र विद्यमान हो। जब एक यन्त्र या शरीर काम के योग्य नहीं रह जाता तो केन्द्र वहाँ से हटकर पहले की अपेक्षा सूक्ष्मतर अथवा स्थूलतर पंचभूतकणों को एकत्र करके दूसरा शरीर निर्माण कर लेता है और उसके द्वारा अपना कार्य करता है। यह तो हुआ जीवात्मा का वृत्तान्त—और परमात्मा क्या है? परमात्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है और केन्द्र सर्वत्र है। उस वृत्त का प्रत्येक विन्दु सजीव, चैतन्य और समान रूप से क्रियाशील है। हमारी बद्ध आत्माओं के लिए केवल एक ही विन्दु चैतन्य है, और वही आगे या पीछे बढ़ता या घटता रहता है।

आत्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, पर जिसका केन्द्र किसी शरीर में है। मृत्यु केन्द्र का स्थानान्तर मात्र है। परमात्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है और जिसका केन्द्र सर्वत्र है। जब हम शरीर के इस ससीम केन्द्र से बाहर निकलने में समर्थ हो सकेंगे, तभी हम परमात्मा की—अपने वास्तविक स्वरूप की—उपलब्धि कर सकेंगे।

एक प्रचण्ड धारा सागर की ओर प्रवाहित हो रही है, जिसके ऊपर यत्र-तत्र काग़ज़ और तृण के छोटे छोटे टुकड़े बहते चले जा रहे है। ये टुकड़े भले ही लौट जाने का प्रयत्न करें, पर अन्त में उन सबको सागर में मिल जाना ही होगा। इसी प्रकार, तुम, मैं और यह समस्त प्रकृति जीवन-प्रवाह की मतवाली तरंगों पर बहते हुए तिनकों की भाँति हैं, जो चैतन्य-सागर—पूर्णस्वरूप भगवान् की ओर खिंचे चले जा रहे हैं। हम भले ही पीछे जाने की कोशिशें करें, प्रवाह की गति के विरुद्ध हाथ पटकें और अनेक प्रकार के उत्पात करें, पर अन्त में हमें जीवन और आनन्द के उस महासागर में जाकर मिलना ही होगा।

ज्ञान मतवादविहीन होता है; पर इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान मतवादों

से घृणा करता है। इसका मतलब केवल इतना ही है कि ज्ञान मतवादों से परे की अवस्था है। यथार्थ ज्ञानी किसी का नाश करना नहीं चाहता, प्रत्युत् वह सबकी सहायता के लिए प्रस्तुत रहता है। जिस प्रकार सभी नदियाँ सागर में बहकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार समस्त मतवादों को ज्ञान में पहुँचकर एक हो जाना चाहिए। ज्ञान संसार को त्याग देने की शिक्षा देता है, पर वह यह नहीं कहता कि उसको तिलांजलि दे दो—वह कहता है, उसमें रहो पर निर्लिप्त होकर। संसार में रहना, पर उसका होकर नहीं—यही त्याग की सच्ची कसौटी है।

मेरी धारणा है कि प्रारम्भ से ही हममें समस्त ज्ञान संचित है। मैं यह नहीं समझ सकता कि इसका विपरीत कैसे सत्य हो सकता है। यदि तुम और मैं सागर की लघु तरंगें हैं तो वह सागर ही हमारी पृष्ठभूमि है।

जड़ पदार्थ, मन और आत्मा में सचमुच कोई अन्तर नहीं। वे उस 'एक' की अनुभूति के विभिन्न स्तर मात्र हैं। इस संसार को ही लो—पंचेन्द्रियों को यह पंचभूतमय दिखता है, दुष्टों को नरक, पुण्यात्माओं को स्वर्ग और पूर्णत्व-प्राप्त ज्ञानियों को ब्रह्ममय।

हम इन्द्रियों द्वारा यह प्रत्यक्ष नहीं करा सकते कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है; पर हम यह कह सकते हैं कि इसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक वस्तु में—यहाँ तक कि साधारण चीजों में भी—इस एकत्व का होना आवश्यक है। जैसे, 'मानवीय सामान्यीकरण' (human generalisation) है। हम कहते हैं कि समस्त विभिन्नता नाम और रूप से सृष्ट हुई है; पर जब हम चाहते हैं कि इस विभिन्नता को पकड़ें, अलग करें तो यह कहीं दिखती नहीं। नाम या रूप या कारणों को हम कभी भी अपना अलग अस्तित्व रखते हुए नहीं देख सकते—बिना किसी आधार के उनका अस्तित्व रह ही नहीं सकता। यही प्रपंच या विकार 'माया' कहलाता है, जिसका अस्तित्व निर्विकार (ब्रह्म) पर निर्भर रहता है और जिसकी (इससे ब्रह्म से) पृथक् कोई सत्ता नहीं। सागर की एक लहर को लो। उस लहर का अस्तित्व तभी तक है जब तक सागर का उतना पानी एक लहर के रूप में है; और ज्योंही वह रूप नीचे सिमटकर सागर में मिल जाता है, त्योंही लहर का अस्तित्व मिट जाता है। किन्तु सागर का अस्तित्व उस लघु लहर के रूप पर उतना निर्भर नहीं रहता। केवल सागर ही यथार्थ रूप में बच रहता है, लहर का रूप तो मिटकर एकदम शून्य हो जाता है।

एकं सत्—'सत्य' केवल एक है। मन के ही कारण वह 'एक' बहु रूपों में प्रतिभासित होता है। जब हमें बहुत्व का बोध होता है, तब एकत्व हमारे लिए नहीं रहता और ज्योंही हम एकत्व को देखने लगते हैं, बहुत्व अदृश्य हो

जाता है। दैनिक जीवन का ही उदाहरण लो--जब तुम्हें एकता का बोध होता है, तब तुम्हें अनेकता नहीं दीख पड़ती। प्रारम्भ में तुम एकता ही को लेकर चलते हो। यह एक अनोखी बात है कि चीन का मनुष्य अमेरिकानिवासियों की आकृति के अन्तर को नहीं पहचान पाता, और तुम लोग चीननिवासियों की आकृति के अन्तर को नहीं जान सकोगे।

यह प्रमाणित किया जा सकता है कि मन ही के द्वारा हमें वस्तुओं का ज्ञान होता है। केवल गुणविशिष्ट वस्तुएँ ही ज्ञात और ज्ञेय की परिधि के भीतर आ सकती है। जिसका कोई गुण नहीं, जिसकी कोई विशेषता नहीं, वह अज्ञात है। उदाहरण के लिए, मान लो, एक बाह्य जगत् है 'क', जो अज्ञात और अज्ञेय है। जब मैं उसकी ओर देखता हूँ तो वह हो जाता है 'क'+ (मेरा) मन। जब मैं उसे जानना चाहता हूँ तो उसका तीन-चौथाई मेरा मन ही निर्माण कर देता है। अतः बाह्य जगत् है 'क' + मन, और उसी प्रकार अन्तर्जगत् है 'ख' + मन। बाह्य या अन्तर्जगत् में हमें जितने भी विभेद दीख पड़ते है, वे सब मन ही की सृष्टि हैं। जिसका यथार्थ में अस्तित्व है, वह तो अज्ञात और अज्ञेय है— वह ज्ञान की सीमा से परे है, और जो ज्ञान के क्षेत्र के अतीत है, उसमें विभेद हो ही नहीं सकता, वहाँ विभिन्नता रह ही नहीं सकती। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि बाह्य 'क' और आन्तरिक 'ख' दोनों एक ही हैं, और इसीलिए 'सत्य' केवल एक है।

ईश्वर तर्क नहीं करता। यदि तुम्हें किसी वस्तु का ज्ञान है तो तुम उसके लिए तर्क क्यों करोगे ? यह तो दुर्बलता का लक्षण है कि हमें कुछ तथ्यों के संग्रह के लिए कीड़ों के समान इधर-उधर रेंगना पड़ता है—बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, और बाद में हमारे सब प्रयत्न धूल में मिल जाते हैं। आत्मा ही मन तथा प्रत्येक वस्तु में प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा का प्रकाश ही मन को चैतन्य प्रदान करता है। प्रत्येक वस्तु आत्मा का ही प्रकाश है; मन विभिन्न दर्पणों के समान है। जिन्हें तुम प्रेम, भय, घृणा, सद्गुण और दुर्गुण कहते हो, वे सब आत्मा ही के प्रतिबिम्ब हैं। जब दर्पण मैला रहता है तो प्रतिबिम्ब भी बुरा आता है।

वास्तविक सत्ता (ब्रह्म) अव्यक्त है। हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि कल्पना हमें मन से करनी पड़ती है और मन स्वयं एक अभिव्यक्ति है। वह कल्पनातीत है, यही उसकी महिमा है। हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि जीवन में हम न तो प्रकाश का उच्चतम स्पन्दन ही देख पाते हैं, न निम्नतम; वे सत्ता के दो विरोधी ध्रुव हैं। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें हम आज नहीं जानते, पर जिनका ज्ञान हमें हो सकता है। अपने अज्ञान के कारण ही हम उन्हें

आज नहीं जानते। परन्तु कुछ ऐसी भी बातें हैं जिनका ज्ञान हमें कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वे ज्ञान के उच्चतम स्पन्दनों से भी उच्च हैं। हम सदा ही वही 'सनातन पुरुष' हैं, यद्यपि हम इसे जान नहीं सकते। उस अवस्था में ज्ञान असम्भव है। विचार की ससीमता ही उसके अस्तित्व का आधार है। उदाहरणार्थ, मुझमें अपनी आत्मा के अस्तित्व से अधिक निश्चित और कुछ भी नहीं है; फिर भी, यदि मैं आत्मा के बारे में सोचना चाहूँ तो केवल यही सोच सकता हूँ कि वह या तो शरीर है या मन, सुखी है या दुःखी, अथवा स्त्री है या पुरुष। यदि मैं उसे उसके यथार्थ स्वरूप में जानना चाहूँ तो प्रतीत होता है कि इसके लिए उसे निम्न स्तर पर खींच लाने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है। फिर भी, आत्मा के यथार्थ अस्तित्व के बारे में मुझे पूर्ण निश्चय है। "हे प्रिये, कोई स्त्री पति को पति के लिए प्रेम नहीं करती, किन्तु इसलिए कि वही आत्मा पति में भी अवस्थित है। हे प्रिये, कोई मनुष्य पत्नी को पत्नी के लिए प्यार नहीं करता, किन्तु इसलिए कि वही आत्मा पत्नी में भी अवस्थित है। आत्मा के द्वारा और आत्मा के लिए ही प्रेम किया जाता है।" और आत्मा ही एकमात्र ऐसी सत्ता है जिसे हम जानते हैं, क्योंकि उसीमें से और उसीके द्वारा हमें अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान होता है; परन्तु फिर भी हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते। **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्?**—ज्ञाता को हम कैसे जान सकते हैं ? यदि हम उसे जान जायँ तो वह ज्ञाता न रह जायगा—ज्ञेय हो जायगा; वह विषय हो जायगा।

जिसे सर्वोच्च अनुभूति हो गयी है, वह कह उठता है, "मैं राजाधिराज हूँ; मुझसे बड़ा राजा और कोई नहीं है। मैं देवदेव हूँ, मुझसे बड़ा देवता और कोई नहीं है! केवल मैं ही वर्तमान हूँ—**एकमेवाद्वितीयम्**।" वेदान्त का यह अद्वैत भाव बहुतों को बड़ा भयानक दिखता ज़रूर है, परन्तु वह केवल अंधविश्वास के कारण है।

हम आत्मा हैं, सर्वदा शान्त और निष्क्रिय हैं। हमें रोना नहीं चाहिए। आत्मा के लिए रोना कैसा! हम अपनी कल्पना में सोचते हैं कि भगवान् करुणाभिभूत हो अपने सिंहासन पर बैठे हुए रो रहे हैं। ऐसे भगवान् की प्राप्ति से क्या लाभ? भगवान् रोयें ही क्यों! रोना तो दुर्बलता का चिह्न है—बन्धन का लक्षण है।

सर्वोच्च को खोजो, सर्वदा सर्वोच्च को ही खोजो, क्योंकि सर्वोच्च में ही शाश्वत आनन्द है। यदि मुझे शिकार खेलना ही हो तो मैं शेर का शिकार करूँगा। यदि मुझे डाका डालना ही हो तो राजा के खज़ाने में डाका डालूँगा। सदा सर्वोच्च को ही ढूंढ़ो।

अहा! जिन्हें सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता, मन और वाणी जिनका वर्णन नहीं कर सकती, हृदय के हृदय में ही जिनका अनुभव किया जा सकता है, जो समस्त तुलना से परे हैं, सीमा के अतीत हैं और नीलाकाश की भाँति अपरिवर्तनशील हैं, हे साधो, उन्हीं सर्वस्वरूप को—उन्हीं 'एक' को जानो, और कुछ न खोजो!

हे साधो, प्रकृति के परिणाम जिन्हें स्पर्श नहीं कर सकते, जो विचार से भी परे हैं, जो अचल और अपरिवर्तनशील हैं, समस्त शास्त्र जिनका निर्देश कर रहे हैं और जो ऋषि-मुनियों के आराध्य हैं, केवल उन्हींको खोजो!

वे अनन्त एकरस हैं, तुलनातीत हैं। वहाँ कोई तुलना सम्भव नहीं। ऊपर जल, नीचे जल, दायीं ओर जल, बायीं ओर जल, सर्वत्र जल ही जल है; उस जल में एक भी तरंग नहीं, एक भी लहर नहीं, सब शान्त—नीरव, सब शाश्वत आनन्द! ऐसी ही अनुभूति तुम्हारे हृदय में होगी। अन्य किसीकी चाह न रखो!

तू क्यों रोता है, भाई? तेरे लिए न मृत्यु है, न रोग। तू क्यों रोता है, भाई? तेरे लिए न दुःख है, न शोक। तू क्यों रोता है, भाई? तेरे विषय में परिणाम या मृत्यु की बात कही ही नहीं गयी। तू तो सत्स्वरूप है।

मैं जानता हूँ कि ईश्वर क्या है—पर मैं तुम्हें बतला नहीं सकता। मैं नहीं जानता कि परमात्मा क्या है—अतः मैं तुम्हें उसके विषय में कैसे बतला सकता हूँ? पर भाई, क्या तू नहीं देखता कि तू 'वही' है, तू 'वही' है—**तत्त्वमसि**? परमात्मा को तू इधर-उधर ढूँढ़ता क्यों फिर रहा है? खोज बन्द कर, और वही परमात्मा है—अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा।

तू ही हमारा पिता, माता एवं प्रिय मित्र है। तू ही संसार का भार वहन करता है। अपने जीवन का भार वहन करने में हमें तू सहायता दे। तू ही हमारा मित्र है, हमारा प्रियतम है, हमारा पति है—तू ही 'हम' है!

ज्ञानयोग (२)

पहले, ध्यान निषेधात्मक प्रकार का होना चाहिए। हर वस्तु को विचारों से निकाल बाहर करो! मन में आनेवाली हर वस्तु का मात्र इच्छा की क्रिया द्वारा विश्लेषण करो।

तदुपरान्त आग्रहपूर्वक उसका स्थापन करो, जो हम वस्तुतः हैं—सत्, चित्, आनन्द और प्रेम।

ध्यान, विषय और विषयी के एकीकरण का साधन है। ध्यान करो:

ऊपर वह मुझसे परिपूर्ण है, नीचे वह मुझसे परिपूर्ण है, मध्य में वह मुझसे परिपूर्ण है। मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं। ॐ तत् सत्, मैं वह हूँ। मैं मन के ऊपर की सत्ता हूँ। मैं विश्व की एकात्मा हूँ। मैं सुख हूँ न दुःख।

शरीर खाता है, पीता है इत्यादि। मैं शरीर नहीं हूँ। मैं मन नहीं हूँ। मैं वह हूँ। मैं द्रष्टा हूँ। मैं देखता जाता हूँ। जब स्वास्थ्य आता है, मैं द्रष्टा होता हूँ। जब रोग आता है, मैं द्रष्टा होता हूँ!

मैं सत्, ज्ञान, आनन्द हूँ।

मैं ज्ञान का अमृत और सार-तत्त्व हूँ। चिरन्तन काल तक मैं परिवर्तित नहीं होता। मैं शान्त, देदीप्यमान और अपरिवर्तनीय हूँ।
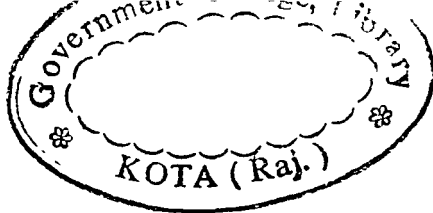
ज्ञानयोग का परिचय

यह योग का वौद्धिक और दार्शनिक पक्ष है और वहुत कठिन है, किन्तु मैं आपको इससे धीरे धीरे अवगत कराऊँगा।

योग का अर्थ है, मनुष्य और ईश्वर को जोड़ने की पद्धति। इतना समझ लेने के वाद आप मनुष्य और ईश्वर की अपनी परिभाषाओं के अनुसार चल सकते हैं। और आप देखेंगे कि योग शब्द हर परिभाषा के साथ ठीक वैठ जाता है। सदा याद रखिए कि विभिन्न मानसों के लिए विभिन्न योग हैं और यदि एक आपके अनुकूल नहीं होता तो दूसरा हो सकता है। सभी धर्म, सिद्धान्त और व्यवहार में विभाजित हैं। पाश्चात्य मानस ने सिद्धान्त पक्ष को छोड़ दिया है और वह शुभ कर्मों के रूप में धर्म के केवल व्यावंहारिक भाग को ही ग्रहण करता है।. योग धर्म का व्यावहारिक भाग है और प्रदर्शित करता है कि धर्म शुभ कर्मों के अतिरिक्त एक व्यावहारिक शक्ति भी है।

उन्नीसवीं शताव्दी के प्रारम्भ में मनुष्य ने वुद्धि के द्वारा ईश्वर को पाने की चेष्टा की और फलस्वरूप ईश्वरवाद की उत्पत्ति हुई। इस प्रक्रिया से जो कुछ थोड़ा-वहुत ईश्वर वचा, उसको डार्विनवाद और मिलवाद ने नष्ट कर दिया। लोगों को तव तुलनात्मक और ऐतिहासिक धर्म की शरण में जाना पड़ा। वे समझते थे कि धर्म की उत्पत्ति तत्त्वों की पूजा से हुई। (द्र० सूर्य सम्वन्धी कथाओं आदि पर मैक्समूलर)। दूसरे लोगों की धारणा थी कि धर्म पूर्वजों की पूजा से निकला है। (द्र० हर्वर्ट स्पेन्सर)। किन्तु सम्पूर्णतः ये पद्धतियाँ असफल सिद्ध हुई। मनुष्य वाह्य पद्धतियों से सत्य तक नहीं पहुँच सकता।

'यदि मैं मिट्टी के एक टुकड़े को जान लूँ तो मैं मिट्टी की सम्पूर्ण राशि को जान लूँगा।' सारा विश्व इसी योजना पर वना है। व्यक्ति तो मिट्टी के एक टुकड़े के समान केवल एक अंश है। यदि हम मानव आत्मा के, जो कि एक अणु है, प्रारम्भ और सामान्य इतिहास को जान लें तो हम सम्पूर्ण प्रकृति को जान लेंगे। जन्म, वृद्धि, विकास, जरा, मृत्यु—सम्पूर्ण प्रकृति में यही क्रम है और वनस्पति तथा मनुष्य में समान रूप से विद्यमान है। भिन्नता केवल समय की है। पूरा चक्र एक दृष्टांत में एक दिन में पूर्ण हो सकता है और दूसरे में ७० वर्ष में, पर ढंग एक ही है। विश्व के विश्वसनीय विश्लेषण तक पहुँचने का एकमात्र

मार्ग स्वयं हमारे मन का विश्लेषण है। अपने धर्म को समझने के लिए एक सम्यक् मनोविज्ञान आवश्यक है। केवल बुद्धि से ही सत्य तक पहुँचना असम्भव है, क्योंकि अपूर्ण बुद्धि स्वयं अपने मौलिक आधार का अध्ययन नहीं कर सकती। इसलिए मन को अध्ययन करने का एकमात्र उपाय तथ्यों तक पहुँचने का है, तभी बुद्धि उन्हें विन्यस्त करके उनसे सिद्धान्तों को निकाल सकेगी। बुद्धि को घर बनाना पड़ता है, पर बिना ईटों के वह ऐसा नहीं कर सकती, और वह ईटें बना नहीं सकती। ज्ञानयोग तथ्यों तक पहुँचने का सबसे निश्चित मार्ग है।

मन के शरीर-विज्ञान को लें। हमारी इन्द्रियाँ हैं, जिनका वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में किया जाता है। इन्द्रियों से मेरा अभिप्राय बाह्य इन्द्रिय-यन्त्रों से नहीं है। मस्तिष्क में नेत्र सम्बन्धी केन्द्र दृष्टि का अवयव है, केवल आँख नहीं। यही बात हर अवयव के सम्बन्ध में है, उसकी क्रिया आभ्यंतरिक होती है, केवल मन में प्रतिक्रिया होने पर ही विषय का वास्तविक प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्षीकरण के लिए पेशीय और संवेद्य नाड़ियाँ आवश्यक हैं।

उसके बाद स्वयं मन है। वह एक स्थिर जलाशय के समान है, जो कि आघात किये जाने पर, जैसे पत्थर द्वारा, स्पन्दित हो उठता है। स्पन्दन एकत्र होकर पत्थर पर प्रतिक्रिया करते हैं, जलाशय भर में वे फैलते हुए अनुभव किये जा सकते हैं। मन एक झील के समान है, उसमें निरन्तर स्पंदन होते रहते हैं, जो उस पर एक छाप छोड़ जाते हैं। और अहं या व्यक्तिगत स्व या मैं का विचार इन स्पन्दनों का परिणाम होता है। इसलिए यह 'मैं' शक्ति का अत्यन्त द्रुत संप्रेषण मात्र है, वह स्वयं सत्य नहीं है।

मस्तिष्क का निर्मायक पदार्थ एक अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक यन्त्र है, जो प्राण धारण करने में प्रयुक्त होता है। मनुष्य के मरने पर शरीर मर जाता है, किन्तु अन्य सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद मन का थोड़ा भाग, उसका बीज बच जाता है। यही नये शरीर का बीज होता है, जिसे सन्त पॉल ने 'आध्यात्मिक शरीर' कहा है। मन की भौतिकता का यह सिद्धान्त सभी आधुनिक सिद्धान्तों से मेल खाता है। जड़ व्यक्ति में बुद्धि कम होती है, क्योंकि उसका मस्तिष्क पदार्थ-आहत होता है। बुद्धि भौतिक पदार्थ में नहीं हो सकती और न वह पदार्थ के किसी संघात द्वारा उत्पन्न की जा सकती है। तब बुद्धि कहाँ होती है? वह भौतिक पदार्थ के पीछे होती है, वह जीव है, भौतिक यन्त्र के माध्यम से कार्य करनेवाली आत्मा है। बिना पदार्थ के शक्ति का संप्रेषण सम्भव नहीं है, और चूंकि जीव एकाकी यात्रा नहीं कर सकता, मृत्यु के द्वारा और सब कुछ ध्वस्त हो जाने पर मन का एक अंश संप्रेषण के माध्यम के रूप में बच जाता है।

प्रत्यक्ष कैसे होता है? सामने की दीवार एक प्रभाव-चित्र मुझे भेजती है, किन्तु जब तक कि मेरा मन प्रतिक्रिया नहीं करता, मैं दीवार नहीं देखता। अर्थात् मन केवल दृष्टि मात्र से दीवार को नहीं जान सकता। जो प्रतिक्रिया मनुष्य को दीवार के प्रत्यक्ष की क्षमता देती है, वह एक बौद्धिक प्रक्रिया है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व हमारी आँखों और मन (प्रत्यक्षीकरण की आंतरिक शक्ति) द्वारा देखा जाता है; वह हमारी अपनी व्यक्तिगत वृत्तियों द्वारा निश्चित रूप से रँग जाता है। वास्तविक दीवार या वास्तविक विश्व, मस्तिष्क के बाहर होता है और अज्ञात तथा अज्ञेय होता है। इस विश्व को 'क' कहिए और हमारा कहना है कि दृश्य जगत् होगा 'क'+मन।

जो बाह्य जगत् के लिए सत्य है, वही आभ्यंतर जगत् पर भी अवश्य लागू होना चाहिए। मन भी अपने को जानना चाहता है, किन्तु यह आत्मा केवल मन के माध्यम से जानी जा सकती है और दीवार की ही तरह अज्ञात है। इस आत्मा को हम 'ख' कह सकते हैं और तब कथन इस प्रकार होगा कि 'ख'+मन आभ्यन्तर अहं है। सर्वप्रथम काण्ट मस्तिष्क के इस विश्लेषण पर पहुँचे थे, किन्तु वेदों में यह बहुत पहले कहा जा चुका था। इस प्रकार चाहे जैसा भी वह हो, हमारे पास 'क' और 'ख' के बीच में मन उपस्थित है और दोनों पर प्रतिक्रिया कर रहा है।

यदि 'क' अज्ञात है तो जो भी गुण हम प्रदान करते हैं, वे हमारे अपने ही मस्तिष्क से उद्भूत होते हैं। देश, काल और कारणता वे तीन उपाधियाँ हैं, जिनके मध्य मन को प्रत्यक्ष होता है। काल विचार के संप्रेषण की उपाधि है और देश अधिक स्थूल पदार्थ के स्पन्दन के लिए है, कारणता वह अनुक्रम है, जिसमें वे स्पन्दन आते हैं। मन को केवल इन्हींके द्वारा बोध हो सकता है। अतएव मन से परे की कोई भी वस्तु देश, काल और कारणता से परे अवश्य होगी।

अन्धे व्यक्ति को जगत् का प्रत्यक्ष स्पर्श और ध्वनि द्वारा होता है। हम पंचेन्द्रियवाले लोगों के लिए यह एक भिन्न ही जगत् है। यदि हममें से कोई विद्युत् संवेदना का विकास करे और विद्युत् लहरों को देखने की योग्यता प्राप्त कर ले तो संसार भिन्न दिखायी देगा। तथापि 'क' के रूप में जगत् है, इन सबके लिए समान है। चूँकि हर एक अपना पृथक् मन लाता है, वह अपने विशेष संसार को ही देखता है। 'क'+एक इन्द्रिय, 'क'+दो इन्द्रियाँ और इसी प्रकार, जैसा कि हम मनुष्य को जानते हैं, पाँच तक हैं। परिणाम निरन्तर विविधतापूर्ण होता है, किन्तु 'क' सदैव अपरिवर्तित रहता है। 'ख' भी हमारे मानसों से निरन्तर परे होता है और देश, काल तथा कारणता से परे है।

पर आप पूछ सकते हैं, 'हम कैसे जानते हैं कि दो वस्तुएँ हैं (क और ख), जो देश, काल और कारणता से परे हैं?' बिल्कुल सत्य है कि काल विभेदीकरण करता है जिससे यदि दोनों वास्तव में काल से परे हैं, तो उन्हें वास्तव में अवश्य ही एक होना चाहिए। जब मन इस एक को देखता है, वह उसे भिन्न नाम से पुकारता है, 'क' जब वह बाह्य जगत् होता है और 'ख' जब वह आभ्यन्तर जगत् होता है। इस इकाई का अस्तित्व है और उसे मन के लैंस से देखा जाता है।

हमारे समक्ष सर्वत्र व्यापक रूप से प्रकट होनेवाली परिपूर्ण सत्ता ईश्वर, ब्रह्म है। विभेदीकरण रहित दशा ही पूर्णता की दशा है, अन्य सब अस्थायी और निम्नतर होती हैं।

विभेदरहित सत्ता मन को विभेदयुक्त क्यों प्रतीत होती है? यह उसी प्रकार का प्रश्न है, जैसा यह कि अशुभ और इच्छा-स्वातन्त्र्य का स्रोत क्या है? प्रश्न स्वयं आत्मविरोधी और असम्भव है, क्योंकि प्रश्न कार्य और कारण को स्वयंसिद्ध मान लेता है। *अविभेद में कारण और कार्य नहीं होता, प्रश्न यह मान लेता है* कि अविभेद उसी स्थिति में है, जिसमें कि विभेदयुक्त 'क्यों' और 'कहाँ से' केवल मन में होते हैं। आत्मा कारणता से परे है और केवल वही स्वतन्त्र है। यह उसीका प्रकाश है, जो मन के हर रूप से झरता रहता है। हर कार्य के साथ मैं कहता हूँ कि मैं स्वतंत्र हूँ, किन्तु हर कार्य सिद्ध करता है कि मैं बद्ध हूँ। वास्तविक आत्मा स्वतन्त्र है, किन्तु मस्तिष्क और शरीर के साथ मिश्रित होने पर वह स्वतंत्र नहीं रह जाती। संकल्प या इच्छा इस वास्तविक आत्मा की प्रथम अभिव्यक्ति है, अतएव इस वास्तविक आत्मा का प्रथम सीमाकरण संकल्प या इच्छा है। इच्छा, आत्मा और मस्तिष्क का एक मिश्रण है। किन्तु कोई मिश्रण स्थायी नहीं हो सकता। इसलिए जब हम जीवित रहने की इच्छा करते हैं, हमें अवश्य मरना चाहिए। अमर जीवन परस्पर विरोधी शब्द हैं, क्योंकि जीवन एक मिश्रण होने से स्थायी नहीं हो सकता। सत्य सत्ता अभेद और शाश्वत है। यह पूर्ण सत्ता सभी दूषित वस्तुओं, इच्छा, मस्तिष्क और विचार से किस प्रकार संयुक्त हो जाती है? वह कभी संयुक्त या मिश्रित नहीं हुई है। तुम्हीं वास्तविक तुम हो (हमारे पूर्वकथन के 'ख'), तुम कभी इच्छा न थे, तुम कदापि नहीं बदले हो, एक व्यक्ति के रूप में कभी तुम्हारा अस्तित्व न था: यह भ्रम है। तब आप कहेंगे कि भ्रम के गोचर पदार्थ किस पर आश्रित हैं? यह एक कुप्रश्न है। भ्रम कभी सत्य पर आश्रित नहीं होता, भ्रम तो भ्रम पर ही आश्रित होता है। इन भ्रमों के पूर्व जो था, उसी पर लौटने के लिए, सचमुच स्वतन्त्र होने के लिए, हर वस्तु

संघर्ष कर रही है। तब जीवन का मूल्य क्या है? वह हमें अनुभव देने के निमित्त है। क्या यह विचार विकासवाद की अवहेलना करता है? नहीं, इसके विपरीत वह उसे स्पष्ट करता है। विकास वस्तुतः भौतिक पदार्थ के सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया है, जिससे वास्तविक आत्मा को अपनी अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। वह हमारे और किसी अन्य वस्तु के बीच किसी पर्दे या आवरण जैसा है। पर्दे के क्रमशः हटने पर, वस्तु स्पष्ट हो जाती है। प्रश्न केवल उच्चतर आत्मा की अभिव्यक्ति का है।

ज्ञानयोग पर प्रवचन[1]

[१]

ॐ तत् सत्! ॐ का ज्ञान विश्व के रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना है। ज्ञानयोग का उद्देश्य वही है जो भक्तियोग और राजयोग का है, किन्तु प्रक्रिया भिन्न है। यह योग दृढ़ साधकों के लिए है; उनके लिए है जो न तो रहस्यवादी, न भक्तिमान, अपितु बौद्धिक हैं। जिस प्रकार भक्तियोगी प्रेम और भक्ति के द्वारा उस सर्वोपरि परम से पूर्ण एकता की सिद्धि का अपना मार्ग ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार ज्ञानयोगी विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार का अपना मार्ग प्रशस्त करता है। उसे सभी पुरानी मूर्तियों को, सभी पुराने विश्वासों और अंधविश्वासों को और ऐहिक या पारलौकिक सभी कामनाओं को निकाल फेंकने के लिए तत्पर रहना चाहिए और केवल मोक्ष-लाभ के लिए कृतनिश्चय होना चाहिए। ज्ञान के बिना मोक्ष-लाभ नहीं हो सकता है। वह तो इस उपलब्धि में निहित है कि हम यथार्थतः क्या हैं और यह कि हम भय, जन्म तथा मृत्यु से परे हैं। आत्मा का साक्षात्कार ही सर्वोत्तम श्रेयस् है। वह इन्द्रियों और विचार से परे है। वास्तविक 'मैं' का तो ज्ञान नहीं हो सकता। वह तो नित्य ज्ञाता (विषयी) है और कभी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान सापेक्ष का होता है, निरपेक्ष पूर्ण का नहीं। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सभी ज्ञान ससीम है—वह कार्य और कारण की एक अन्तहीन श्रृंखला है। यह संसार एक सापेक्ष संसार है, यथार्थ सत्य की एक छाया या आभास मात्र है; तथापि चूँकि यह (ससार) संतुलन का ऐसा स्तर है कि जिस पर सुख-दुःख प्रायः समान रूप से संतुलित हैं, इसलिए यही एक स्तर है जहाँ मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात् कर सकता है और जान सकता है कि वह ब्रह्म है।

---

१. मूलतः ये प्रवचन स्वामी जी की एक प्रमुख अमेरिकन शिष्या कुमारी एस० ई० वाल्डो द्वारा लेखबद्ध किये गये थे। जिस समय स्वामी सारदानन्द अमेरिका में थे, (१८९६) उन्होंने उनकी नोटबुक से इनकी प्रतिलिपि कर ली।
—संपादक

यह संसार 'प्रकृति का विकास और ईश्वर की अभिव्यक्ति है'। वह माया या नाम-रूप के माध्यम से देखे हुए परमात्मा या ब्रह्म की हमारी व्याख्या है। संसार शून्य नहीं है, उसमें कुछ वास्तविकता है। संसार केवल इसीलिए 'प्रतीयमान' होता है कि इसके पीछे ब्रह्म का 'अस्तित्व' है।

विज्ञाता को हम कैसे जान सकते हैं?[1] वेदान्त कहता है, "हम वह (विज्ञाता) हैं, किन्तु हम कभी उसे विषयतया जान नहीं सकते, क्योंकि वह कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।" आधुनिक विज्ञान भी कहता है कि 'वह' कभी जाना नहीं जा सकता। फिर भी समय समय पर हम उसकी झलक पा सकते हैं। संसार-भ्रम एक बार टूट जाने पर वह हमारे पास पुनः लौट आता है, किन्तु तब हमारे लिए उसमें कोई वास्तविकता नहीं रह जाती। हम उसे एक मृगतृष्णा के रूप में ही ग्रहण करते हैं। इस मृगतृष्णा के परे पहुँचना ही सभी धर्मों का लक्ष्य है। वेदों ने निरन्तर यही उपदेश दिया है कि मनुष्य और ईश्वर एक है, किन्तु बहुत कम लोग इस पर्दे (माया) के पीछे प्रवेश कर पाते और परम सत्य की उपलब्धि कर पाते हैं।

जो ज्ञानी बनना चाहे, उसे सर्वप्रथम भय से मुक्त होना चाहिए। भय हमारे सबसे बुरे शत्रुओं में से एक है। इसके बाद, जब तक किसी बात को 'जान न लो' उस पर विश्वास न करो। अपने से निरन्तर कहते रहो, "मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं विचार नहीं हूँ, मैं चेतना भी नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ।" जब तुम सब छोड़ दोगे तब यथार्थ आत्म-तत्त्व रह जायगा। ज्ञानी का ध्यान दो प्रकार का होता है: (१) हर ऐसी वस्तु से विचार हटाना और उसको अस्वीकार करना जो हम 'नहीं हैं'। (२) केवल उसी पर दृढ़ रहना जो कि वास्तव में हम 'हैं' और वह है आत्मा—केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा। सच्चे विवेकी को आगे बढ़ना चाहिए और अपने विवेक की सुदूरतम सीमाओं तक निर्भयतापूर्वक उसका अनुसरण करना चाहिए। मार्ग में कहीं रुक जाने से काम नहीं बनेगा। जब हम अस्वीकार करना प्रारम्भ करें तो, जब तक हम उस विषय पर न पहुँच जायँ जिसे अस्वीकार किया या हटाया नहीं जा सकता—जो कि यथार्थ 'मैं' है, शेष सब हटा ही देना चाहिए। वही 'मैं' विश्व का द्रष्टा है, वह अपरिवर्तनशील, शाश्वत और असीम है। अभी अज्ञान के परत पर चढ़े परत ही उसे हमारी दृष्टि से ओझल किये हुए हैं, पर वह सदैव वही रहता है।

एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे थे। शिखर पर बैठा हुआ पक्षी शान्त, महिमा-

---

१. विज्ञातारमरे केन विजानीयात्॥ बृ० उप० ॥२।४।१४॥

न्वित, सुन्दर और पूर्ण था। नीचे बैठा हुआ पक्षी बार बार एक टहनी से दूसरी पर फुदक रहा था और कभी मधुर फल खाकर प्रसन्न तथा कभी कड़वे फल खाकर दुःखी होता था। एक दिन उसने जब सामान्य से अधिक कटु फल खाया तो उसने ऊपरवाले शान्त तथा महिमान्वित पक्षी की ओर देखा और सोचा, "उसके सदृश हो जाऊँ तो कितना अच्छा हो!" और वह उसकी ओर फुदक कर थोड़ा बढ़ा भी। जल्दी ही वह ऊपर के पक्षी के सदृश होनेकी अपनी इच्छा को भूल गया और पूर्ववत मधुर या कटु फल खाता एवं सुखी तथा दुःखी होता रहा। उसने फिर ऊपर की ओर दृष्टि डाली और फिर शान्त तथा महिमान्वित पक्षी के कुछ निकटतर पहुँचा। अनेक बार इसकी आवृत्ति हुई और अन्ततः वह ऊपर के पक्षी के बहुत समीप पहुँच गया। उसके पंखों की चमक से वह (नीचे का पक्षी) चौंधिया गया और वह उसे आत्मसात् करता सा जान पड़ा। अन्त में उसे यह देखकर बड़ा विस्मय और आश्चर्य हुआ कि वहाँ तो केवल एक ही पक्षी है और वह स्वयं सदैव ऊपरवाला ही पक्षी था। पर इस तथ्य को वह केवल अभी समझ पाया?[१] मनुष्य नीचेवाले पक्षी के समान है, लेकिन यदि वह अपनी सर्वश्रेष्ठ कल्पना के अनुसार किसी सर्वोच्च आदर्श तक पहुँचने के प्रयत्न में निरन्तर लगा रहे तो वह भी इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि वह सदैव आत्मा ही था, अन्य सब मिथ्या या स्वप्न। भौतिक तत्त्व और उसकी सत्यता में विश्वास से अपने को पूर्णतया पृथक् करना ही यथार्थ ज्ञान है। ज्ञानी को अपने मन में निरन्तर रखना चाहिए—ॐ **तत् सत्**, अर्थात् ॐ ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। तात्त्विक एकता ज्ञानयोग की नींव है। उसे ही अद्वैतवाद (द्वैत से रहित) कहते हैं। वेदान्त दर्शन की यह आधारशिला है, उसका आदि और अन्त। "केवल ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब मिथ्या और मैं ब्रह्म हूँ।" जब तक हम उसे अपने अस्तित्व का एक अंश न बना लें, तब तक अपने से केवल यही कहते रहने से हम समस्त द्वैत भाव से, शुभ तथा अशुभ से, सुख और दुःख से, कष्ट और आनन्द दोनों ही से, ऊपर उठ सकते हैं। और अपने को शाश्वत, अपरिवर्तनशील, असीम, 'एक अद्वितीय' ब्रह्म के रूप में जान सकते हैं।

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
—मु० उप०॥ ३।१।१-२॥

ज्ञानयोगी को अवश्य ही उतना प्रखर अवश्य होना चाहिए, जितना कि संकीर्णतम सम्प्रदायवादी किन्तु उतना ही विस्तीर्ण भी जितना कि आकाश। उसे अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए, बौद्ध या ईसाई होने का सामर्थ्य रखना चाहिए तथा अपने को इन विभिन्न विचारों में सचेतन रूप से विभक्त करते हुए चिरंतन सामंजस्य में दृढ़ रहना चाहिए। सतत अभ्यास ही हमें ऐसा नियन्त्रण प्राप्त करने का सामर्थ्य दे सकता है। सभी विविधताएँ उसी एक में हैं, किन्तु हमें यह सीखना चाहिए कि जो कुछ हम करें उससे अपना तादात्म्य न कर दें, और जो अपने हाथ में हो, उसके अतिरिक्त, अन्य कुछ न देखें, न सुनें और न उसके विषय में बात करें। हमें अपने पूरे जी-जान से जुट जाना और प्रखर बनना चाहिए। दिन-रात अपने से यही कहते रहो—**सोऽहं, सोऽहं।**

[२]

वेदान्त दर्शन के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक शंकराचार्य थे। ठोस तर्क द्वारा उन्होंने वेदान्त के सत्यों को वेदों से निकाला और उनके आधार पर उन्होंने ज्ञान के उस आश्चर्यजनक दर्शन का निर्माण किया जो कि उनके भाष्यों में उपदिष्ट है। उन्होंने ब्रह्म के सभी परस्पर विरोधी वर्णनों का सामंजस्य किया और यह दिखाया कि केवल एक ही असीम सत्ता है। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि मनुष्य ऊर्ध्व मार्ग का आरोहण शनैः शनैः ही कर सकता है। इसलिए विभिन्न उपस्थापनाओं की आवश्यकता उसकी क्षमता की विविधता के अनुसार पड़ती है। ईसा की वाणी में भी हमें कुछ ऐसा ही प्राप्त है। उन्होंने अपने श्रोताओं की क्षमता की विभिन्नता के अनुरूप अपने उपदेश को स्पष्ट ही समायोजित किया है। पहले उन्होंने उनके एक स्वर्गस्थ परम पिता के विषय में और फिर उससे प्रार्थना करने की शिक्षा दी। आगे चल कर वह एक पग और ऊपर उठे और उनसे कहा कि, 'मैं अंगूर की लता हूँ और तुम सब उसकी शाखाएँ हो', और अन्त में उन्होंने परम सत्य का उपदेश दिया—'मैं और मेरे पिता एक हैं' और 'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है।' शंकर ने शिक्षा दी कि ये तीन बातें ईश्वर के महान् वरदान हैं: (१) मानव शरीर (२) ईश्वर-लाभ की प्यास और (३) ऐसा गुरु जो हमें ज्ञानालोक दिखा सके। जब ये तीन महान् वरदान हमारे अपने हो जाते हैं, तब हमें समझना चाहिए कि हमारी मुक्ति निकट है। केवल ज्ञान हमें मुक्त कर सकता है और हमारा परित्राण भी कर सकता है, लेकिन ज्ञान होते ही शुभ को भी अवश्य हट जाना चाहिए।

वेदान्त का सार है कि सत् केवल एक ही है और प्रत्येक आत्मा पूर्णतया

वही सत् है, उस सत् का अंश नहीं। ओस की हर बूँद में 'सम्पूर्ण' सूर्य प्रतिविम्बित होता है। देश, काल और निमित्त द्वारा आभासित ब्रह्म ही मनुष्य है, जैसा हम उसे जानते हैं; किन्तु सभी नाम-रूप या आभासों के पीछे एक ही सत्य है। निम्न अथवा आभासिक स्व की अस्वीकृति ही निःस्वार्थता है। हमें अपने को इस दुःखद स्वप्न से मुक्त करना है कि हम यह देह हैं। हमें यह 'सत्य' जानना ही चाहिए कि 'मैं वह हूँ।' हम विन्दु नहीं जो महासागर में मिलकर खो जायँ, हममें प्रत्येक 'सम्पूर्ण' सीमाहीन सिन्धु है, और इसकी सत्यता की उपलब्धि हमें तब होगी, जब हम माया की बेड़ियों से मुक्त हो जायँगे। असीम को विभक्त नहीं किया जा सकता, द्वैतरहित एक का द्वितीय नहीं हो सकता, सब कुछ वही एक 'है'। यह ज्ञान सभी को प्राप्त होगा, किन्तु हमें उसे अभी प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना चाहिए; क्योंकि जब तक हम उसे प्राप्त नहीं कर लेते, हम मानव जाति की वस्तुतः उत्तम सहायता नहीं कर सकते। जीवन्मुक्त (जीवित रहते हुए मुक्त अथवा ज्ञानी) ही केवल यथार्थ प्रेम, यथार्थ दान, यथार्थ सत्य देने में समर्थ होता है और सत्य ही हमें मुक्त करता है। कामना हमें दास बनाती है, मानो वह एक अतृप्य अत्याचारी शासिका है जो अपने शिकार को चैन नहीं लेने देती; किन्तु जीवन्मुक्त व्यक्ति इस ज्ञान तक पहुँचकर कि वह अद्वितीय ब्रह्म है और उसे अन्य कुछ काम नहीं है, सभी कामनाओं को जीत लेता है।

मन हमारे समक्ष—देह, लिंग, संप्रदाय, जाति, बन्धन—आदि सभी भ्रमों को उपस्थित करता है; इसलिए जब तक मन को सत्य की उपलब्धि न हो जाय, तब तक उससे निरन्तर सत्य कहते रहना है। हमारा असली स्वरूप आनन्द है, और संसार में जो कुछ सुख हमें मिलता है, वह उस परमानन्द का केवल प्रतिबिम्ब, उसका अणुमात्र भाग है, जो हम अपने असली स्वरूप के स्पर्श से पाते हैं। 'वह' सुख और दुःख दोनों से परे है, वह विश्व का 'द्रष्टा' है, ऐसा अपरिवर्तनीय पाठक है, जिसके समक्ष जीवन-ग्रन्थ के पृष्ठ खुलते चले जाते हैं।

अभ्यास से योग, योग से ज्ञान, ज्ञान से प्रेम और प्रेम से परमानन्द की प्राप्ति होती है। 'मुझे और मेरा' एक अन्धविश्वास है; हम उसमें इतने समय रह चुके हैं कि उसे दूर करना प्रायः असम्भव है। परन्तु यदि हमें सर्वोच्च स्तर पर पहुँचना है तो हमें इससे अवश्य मुक्त होना चाहिए। हमें सुखी और प्रसन्न होना चाहिए; मुँह लटकाने से धर्म नहीं बनता। धर्म संसार में सर्वाधिक आनन्द की वस्तु होना चाहिए, क्योंकि वही सर्वोत्तम वस्तु है। तपस्या हमें पवित्र नहीं बना सकती। जो व्यक्ति भगवत्-प्रेमी और पवित्र है, वह दुःखी क्यों होगा? उसे तो एक सुखी बच्चे के समान होना चाहिए, क्योंकि वह तो सचमुच भगवान की ही एक

सन्तान है। धर्म में सर्वोपरि बात चित्त को निर्मल करने की है। स्वर्ग का राज्य हमारे भीतर है, पर केवल निर्मल चित्त व्यक्ति ही राजा के दर्शन कर सकता है। जब हम संसार का चिन्तन करते हैं, तब हमारे लिए संसार ही होता है, किन्तु यदि हम उसके पास इस भाव से जायँ कि वह ईश्वर है तो हमें ईश्वर की प्राप्ति होगी। हमारा ऐसा चिन्तन प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति होना चाहिए— माता, पिता, बच्चे, पति, पत्नी, मित्र और शत्रु, सबके प्रति। सोचो तो, हमारे लिए समग्र विश्व कितना बदल जाय, यदि हम चेतनापूर्वक उसे ईश्वर से भर सकें! ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ न देखो। तब हमारे सभी दुःख, सभी संघर्ष, सभी कष्ट सदैव के लिए हमसे छूट जायँगे।

ज्ञान 'मतवादविहीन' है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह मतों से घृणा करता है। इसका अर्थ सिर्फ़ यह है कि (ज्ञान द्वारा) मतों से परे और ऊपर की स्थिति को प्राप्त कर लिया गया है। ज्ञानी विनाश करने की इच्छा नहीं रखता, अपितु सभी की सहायता करता है। जिस प्रकार सभी नदियाँ अपना जल सागर में प्रवाहित करती हैं और उससे एकीभूत हो जाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न संप्रदायों से ज्ञान की उपलब्धि होना चाहिए और उन्हें एक हो जाना चाहिए।

प्रत्येक वस्तु की सत्यता ब्रह्म पर निर्भर है और इस सत्य की यथार्थतः उपलब्धि करने पर ही हम किसी सत्य को प्राप्त कर पाते हैं। जब हम कोई भेद-दर्शन नहीं करते, तभी हम अनुभव करते हैं कि, 'मैं और मेरे पिता एक हैं।'

भगवद्गीता में कृष्ण ने ज्ञान का अतीव स्पष्ट उपदेश किया है। यह महान् काव्य समस्त भारतीय साहित्य का मुकुटमणि माना जाता है। यह वेदों पर एक प्रकार का भाष्य है। वह हमें दिखाता है कि आध्यात्मिक संग्राम इसी जीवन में लड़ा जाना चाहिए; अतः हमें उससे भागना नहीं चाहिए, अपितु उसको विवश करना चाहिए कि जो कुछ उसमें है, वह उसे हमें प्रदान करे। चूँकि गीता उच्चतर वस्तुओं के लिए इस संघर्ष का प्रतिरूप है, इसलिए उसके दृश्य को रणक्षेत्र के मध्य प्रस्तुत करना अतीव काव्यमय हो गया है। विरोधी सेनाओं में से एक के नेता अर्जुन के सारथी के वेष में कृष्ण उसे दुःखी न होने और मृत्यु से न डरने की प्रेरणा देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वह वस्तुतः अमर है, और मनुष्य के प्रकृत स्वरूप में किसी भी विकारशील वस्तु का स्थान नहीं है। अध्याय के बाद अध्याय में कृष्ण दर्शन और धर्म की उच्च शिक्षा अर्जुन को देते हैं। यही शिक्षाएँ इस काव्य को इतना अद्भुत बनाती हैं, वस्तुतः समस्त वेदान्त दर्शन उसमें समाविष्ट है। वेदों का उपदेश है कि आत्मा असीम है और किसी प्रकार भी शरीर की मृत्यु

से प्रभावित नहीं होती; आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है और जिसका केन्द्र किसी देह में होता है। मृत्यु (तथाकथित) केवल इस केन्द्र का परिवर्तन है। ईश्वर एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं नहीं है और जिसका केन्द्र सर्वत्र है और जब हम देह के संकीर्ण केन्द्र से निकल सकेंगे, हम ईश्वर को प्राप्त कर लेंगे जो हमारा वास्तविक आत्मा है।

वर्तमान, भूत और भविष्य के बीच एक सीमा-रेखा मात्र है; अतः हम विवेक-पूर्वक यह नहीं कह सकते कि हम केवल वर्तमान की ही चिन्ता करते हैं, क्योंकि भूत और भविष्य से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। वे सब एक पूर्ण हैं; काल की कल्पना तो एक उपाधि मात्र है, जिसे हमारी विचार-शक्ति ने हम पर आरोपित किया है।

[३]

ज्ञान हमें शिक्षा देता है कि संसार को त्यागना चाहिए, किन्तु इसी कारण से उसे छोड़ना नहीं चाहिए। संन्यासी की सच्ची कसौटी है, संसार में रहना किन्तु संसार का न होना। त्याग की यह भावना सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में सामान्यतः रही है। ज्ञान का दावा है कि हम सभी को समान भाव से देखें—केवल 'समत्व' का ही दर्शन करें। निन्दा-स्तुति, भला-बुरा और शीत-उष्ण सभी हमें समान रूप से ग्राह्य होना चाहिए। भारत में ऐसे अनेक महात्मा हैं जिनके विषय में यह अक्षरशः सत्य है। वे हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों पर अथवा मरुभूमि की प्रदाहमयी बालुका पर पूर्ण विवस्त्र और तापमान के अंतरों से पूर्ण अचेतन जैसे विचरण करते हैं।

सर्वप्रथम हमें देह रूप कुसंस्कार को त्यागना है। हम देह नहीं हैं। इसके बाद इस कुसंस्कार को भागना चाहिए कि हम मन हैं। हम मन नहीं हैं, यह केवल 'रेशमी देह' है, आत्मा का कोई अंश नहीं। लगभग सभी चीज़ों में लागू होनेवाले 'देह' शब्द में ऐसा कुछ निहित है जो सभी देहों में सामान्यतः विद्यमान है। यह 'सत्ता' है। हमारे शरीर उन विचारों के प्रतीक हैं जो उनके पीछे हैं और वे विचार भी अपने क्रम में अपने पीछे की किसी वस्तु के प्रतीक हैं, वही एक वास्तविक सत्ता है—हमारी आत्मा की आत्मा, विश्व की आत्मा, हमारे जीवन का जीवन, हमारी वास्तविक आत्मा। जब तक हममें विश्वास है कि हम ईश्वर से किंचित् भी भिन्न हैं, भय हमारे साथ रहता है।[1] किन्तु एकत्व का

---

१. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते।
अथ तस्य भयं भवति।। तै० उप० २।६।।

ज्ञान हो जाता है तो नहीं रहता। हम डरें किससे? ज्ञानी केवल इच्छा-शक्ति से जगत् को मिथ्या बनाते हुए शरीर और मन से अतीत हो जाता है। इस प्रकार वह अविद्या का नाश करता है और वास्तविक आत्मा को जान लेता है। सुख और दुःख केवल इन्द्रियों में हैं, वे हमारे प्रकृत स्वरूप का स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मा देश, काल और निमित्त से परे है और इसीलिए सीमातीत तथा सर्वव्यापी है।

ज्ञानी को सभी नाम-रूपों से छुटकारा पाना ही है। उसे सभी नियमों और शास्त्रों से परे होना है एवं स्वयं अपना शास्त्र बनना है। नाम-रूप के बंधन से ही हम जीव भाव को प्राप्त होते और मरते हैं। तथापि ज्ञानी को कभी उसे निन्दनीय न समझना चाहिए, जो अब भी नामरूप के परे नहीं हो सका है। उसे कभी दूसरे के विषय में ऐसा सोचना भी न चाहिए कि 'मैं तुझसे अधिक पवित्र हूँ।'

सच्चे ज्ञानयोगी के ये लक्षण हैं—(१) वह ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ कामना नहीं करता। (२) उसकी सभी इन्द्रियाँ पूर्ण नियन्त्रण में रहती हैं, वह चुपचाप सभी कष्ट सहन कर लेता है। उन्मुक्त आकाश के नीचे नग्न वसुन्धरा पर उसकी शय्या हो या वह राजमहल में निवास करे, वह समानरूपेण सन्तुष्ट रहता है। वह किसी कष्ट का परिहार नहीं करता, वरन् उसे बरदाश्त और सहन कर लेता है। वह आत्मा के अतिरिक्त और सभी वस्तु छोड़ देता है। (३) वह जानता है कि एक ब्रह्म को छोड़कर अन्य सब मिथ्या है। (४) उसे मुक्ति की तीव्र इच्छा होती है। प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा वह अपने मन को उच्चतर वस्तुओं पर दृढ़ रखता है और इस प्रकार शान्ति प्राप्त करता है। यदि हम शान्ति को प्राप्त न कर सकें तो हम पशुओं से किस प्रकार बढ़ कर हैं? वह (ज्ञानी) सब कुछ दूसरों के लिए, प्रभु के लिए करता है; वह सभी कर्मफलों का त्याग करता है और इहलौकिक तथा पारलौकिक फलों की आशा नहीं करता। हमारी आत्मा से अधिक विश्व हमें क्या दे सकता है? उस आत्मा को प्राप्त करने से हम 'सब' प्राप्त कर लेते हैं। वेदों की शिक्षा है कि आत्मा या सत्य एक अविभक्त सत् वस्तु है। वह मन, विचार या चेतना, जैसा कि हम उसे जानते हैं, इनसे भी परे है। सभी वस्तुएँ उसीसे हैं। वह वही है, जिसके माध्यम से (अथवा जिसके कारण से) हम देखते, सुनते, अनुभव करते और सोचते हैं। विश्व का लक्ष्य ॐ या एकमात्र सत्ता से एकत्व प्राप्त करना है। ज्ञानी को सभी रूपों से मुक्त होना पड़ता है; न तो वह हिन्दू है, न बौद्ध, न ईसाई, अपितु वह तीनों ही है। जब सभी कर्मफलों का त्याग किया जाता है, प्रभु को अर्पित किया जाता है, तब किसी कर्म में बंधन की शक्ति नहीं रह जाती। ज्ञानी अत्यन्त बुद्धिवादी होता है, वह हर वस्तु अस्वीकार कर देता है। वह दिन-रात अपने से कहता है, "कोई आस्था नहीं है, कोई पवित्र

में परदा मोटा होता है और वे इस सत्य को नहीं देख पाते कि आत्मा वहाँ भी है, जैसे कि संतों के पीछे।

केवल एकत्व में पहुँचकर ही सब तर्क समाप्त हो जाते हैं। इसलिए हम पहले विश्लेषण करते हैं, फिर संश्लेषण। विज्ञान के जगत् में एक आधार-शक्ति की खोज में दूसरी शक्तियाँ धीरे धीरे संकीर्ण होती जाती हैं। जब भौतिक विज्ञान अंतिम एकत्व को पूर्णतया समझ जायगा तो वह एक अंत पर जा पहुँचेगा, क्योंकि एकत्व प्राप्त करके हम विश्रान्ति या अंतिम को पाते हैं। ज्ञान ही अन्तिम बात है।

सभी विज्ञानों में सर्वाधिक अनमोल विज्ञान, धर्म ने बहुत पहले ही उस अंतिम एकत्व को खोज लिया था, जिसे प्राप्त करना ज्ञानयोग का लक्ष्य है। विश्व में केवल एक ही आत्मा है, अन्य निम्न स्तर की जीवात्माएँ उसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं। लेकिन आत्मा अपनी सभी अभिव्यक्तियों से **महतो महीयान्** है। सभी कुछ आत्मा अथवा ब्रह्म ही है। साधु, पापी, शेर, भेड़, हत्यारे भी यथार्थतः सिवा ब्रह्म के अन्य कुछ नहीं हो सकते। क्योंकि अन्य कुछ है ही नहीं। **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**।—'सद्वस्तु एक है, ब्रह्मविद् उसे तरह तरह से वर्णन करते हैं।' इस ज्ञान से उच्चतर कुछ नहीं हो सकता और योग द्वारा लोगों के शुद्ध अन्तःकरण में वह ज्ञान अचानक ही स्फुरित होता है। कोई जितना ही अधिक योग और ज्ञान द्वारा शुद्ध और योग्य हो चुका है, उतना ही अनुभूति-स्फुरण स्पष्टतर होता है। ४००० वर्ष पूर्व इस योग का आविष्कार हुआ था, किन्तु अब तक भी यह ज्ञान मानव जाति की सम्पत्ति नहीं हो सका है। अब भी यह कुछ व्यक्तियों की ही सम्पत्ति है।

[४]

मनुष्य नामधारी सभी लोग अब भी यथार्थ मनुष्य नहीं हैं। प्रत्येक को इस संसार का निर्णय अपने मन से करना होता है। उच्चतर बोध अत्यधिक कठिन है। अधिकतर लोगों को साकार वस्तु भावात्मक वस्तु से अधिक जँचती है! इसके उदाहरण के रूप में एक दृष्टान्त है। एक हिन्दू और एक जैन बम्बई के किसी धनी व्यापारी के घर में शतरंज खेल रहे थे। घर समुद्र के निकट था, खेल लम्बा था, जिस छज्जे पर वे बैठे थे, उसके नीचे जल-प्रवाह ने खिलाड़ियों का ध्यान आकृष्ट किया। एक ने उसे एक पौराणिक कथा द्वारा समझाया कि देवगण अपने खेल में जल को एक बड़े गढ़े में डाल देते हैं और फिर उसे वापस फेंक देते हैं। दूसरे ने कहा, "नहीं, देवता उसे एक ऊँचे पहाड़ पर उपयोग के लिए खींचते हैं और जब उनका काम हो जाता है, वे उसे फिर नीचे फेंक देते हैं।" एक नवयुवक विद्यार्थी, जो वहाँ उपस्थित था, उन पर हँसने लगा और बोला, "क्या

आप नहीं जानते कि चन्द्रमा का आकर्षण ज्वार-भाटा उत्पन्न करता है ?" इस पर वे दोनों व्यक्ति, उससे क्रोधपूर्वक भिड़ गये और बोले कि क्या वह उन्हें मूर्ख समझता है ? क्या वह मानता है कि चन्द्रमा के पास ज्वार-भाटे को खींचने के लिए कोई रस्सी है अथवा वह इतनी दूर पहुँच भी सकता है ? उन्होंने इस प्रकार की किसी भी मूर्खतापूर्ण व्याख्या को मानना अस्वीकार कर दिया। इसी अवसर पर उनका मेज़वान कमरे में आया और दोनों पक्षों ने उससे पुनर्विचार की प्रार्थना की। वह एक शिक्षित व्यक्ति था और सचमुच सत्य क्या है, यह जानता था, किन्तु यह देखकर कि शतरंज खेलनेवालों को यह समझाना अवश्य है, उसने विद्यार्थी को इशारा किया और तब ज्वार-भाटे की ऐसी व्याख्या की जो उसके अज्ञ श्रोताओं को पूर्णतया सन्तोषजनक मालूम हुई। उसने शतरंज खेलनेवाले से कहा, "आपको जानना चाहिए कि बहुत दूर महासागर के बीच एक विशाल स्पंज का पहाड़ है। आप दोनों ने स्पंज देखा होगा और जानते होंगे, मेरा आशय क्या है! स्पंज का यह पर्वत बहुत सा जल सोख लेता है और तब समुद्र घट जाता है। धीरे धीरे देवता उतरते हैं और स्पंज पर्वत पर नृत्य करते हैं। उनके भार से सब जल निचुड़ जाता है और समुद्र फिर बढ़ जाता है। सज्जनो! ज्वार-भाटे का यही कारण है और आप स्वयं आसानी से समझ सकते हैं कि यह व्याख्या कितनी युक्तिपूर्ण और सरल है। जो दोनों व्यक्ति ज्वार-भाटा उत्पन्न करने में चन्द्रमा की शक्ति का उपहास करते थे, उन्हें ऐसे स्पंज पर्वत में, जिस पर देवता नृत्य करते हैं, कुछ भी अविश्वसनीय न लगा, देवता उनके लिए सत्य थे और उन्होंने सचमुच स्पंज भी देखा था। तब उन दोनों का संयुक्त प्रभाव समुद्र पर होना भी क्या असंभव था ?

आराम सत्य की कसौटी नहीं है, प्रत्युत् सत्य आरामदायक होने से बहुत दूर है। यदि कोई सचमुच सत्य की खोज का इरादा करे तो उसे आराम के प्रति आसक्त न होना चाहिए। सब कुछ छोड़ देना कठिन काम है, किन्तु ज्ञानी को यह अवश्य करना पड़ता है। उसे पवित्र बनना ही होगा, सभी कामनाओं को मारना होगा और अपने को शरीर के साथ तादात्म्य से रोकना होगा। केवल तभी उसके अन्तःकरण में उच्चतर सत्य प्रकाशित हो सकेगा। बलिदान आवश्यक है और निम्नतर जीवात्मा का यह बलिदान ऐसा आधारभूत सत्य है, जिसने आत्मत्याग को सभी धर्मों का एक अंग बना दिया है। देवताओं के प्रति की जानेवाली सभी प्रसादक आहुतियाँ आत्म-त्याग की ही, जिसका कि कुछ वास्तविक मूल्य है, अस्पष्ट रूप से समझी जानेवाली अनुकरण हैं और अयथार्थ आत्म-समर्पण से ही हम यथार्थ आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं। ज्ञानी को शरीर-धारण के निमित्त चेष्टा न करनी चाहिए और न इच्छा करनी चाहिए। चाहे संसार गिर पड़े,

उसे दृढ़ होकर परम सत्य का अनुसरण करना चाहिए। जो 'धुनों' का अनुसरण करते हैं, वे ज्ञानी कभी नहीं बन सकते। यह तो जीवन भर का कार्य है; नहीं, सौ जीवनों का कार्य है। बहुत थोड़े लोग ही अपने भीतर ईश्वर के साक्षात्कार करने का साहस करते हैं और स्वर्ग, साकार ईश्वर तथा पुरस्कार की सभी आशाओं का त्याग करने का साहस रखते हैं। उसे सिद्ध करने के लिए, दृढ़ इच्छा की आवश्यकता होती है, आगा-पीछा करना भी भारी दुर्बलता का चिह्न है। मनुष्य सदैव पूर्ण है, अन्यथा वह कभी ऐसा न बन पाता। किन्तु उसे यह प्राप्त करना है। यदि मनुष्य कार्य-कारणों से बद्ध हो तो वह केवल मरणशील हो सकता है। अमरत्व तो केवल निरुपाधिक के लिए ही सत्य हो सकता है। आत्मा पर किसी वस्तु की क्रिया नहीं हो सकती---यह विचार सिर्फ़ भ्रम है; किन्तु मनुष्य को उस 'तत्' के साथ अपना तादात्म्य, स्वात्मनि क्रियाभाव, करना ही होगा, शरीर या मन से नहीं। उसे यह बोध होना चाहिए कि वह विश्व का द्रष्टा है, तब वह उस अद्भुत अस्थायी दृश्यावली का आनन्द ले सकता है, जो उसके सामने निकल रही है। उसे स्वयं से यह भी कहना चाहिए कि 'मैं विश्व हूँ, मैं ब्रह्म हूँ।' जब मनुष्य 'वास्तव में' स्वयं का उस एक आत्मा के साथ तादात्म्य कर लेता है, उसके लिए सभी कुछ सम्भव हो जाता है और सभी पदार्थ उसके सेवक हो जाते हैं। जैसा श्री रामकृष्ण ने कहा है---जब मक्खन निकाल लिया जाता है तो वह दूध या पानी में रखा जा सकता है और दोनों में से किसीमें न मिलेगा; इसी प्रकार मनुष्य जब आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है तो वह संसार द्वारा दूषित नहीं किया जा सकता।

एक गुब्बारे से नीचे की स्वल्प भिन्नताएँ परिलक्षित नहीं होतीं; इसी प्रकार जब मनुष्य अध्यात्म क्षेत्र में पर्याप्त ऊँचा उठ जाता है, वह भले और बुरे लोगों का भेद नहीं देख पाता; एक बार घट पका दिये जाने पर उसका आकार नहीं बदला जा सकता। इसी प्रकार, जिसने एक बार प्रभु का स्पर्श कर लिया और जिसे अग्नि की दीक्षा मिल गयी, उसे बदला नहीं जा सकता। संस्कृत में दर्शन का अर्थ है, सम्यक् दर्शन और धर्म व्यावहारिक दर्शन है। भारत में केवल सैद्धान्तिक और आनुमानिक दर्शन का बहुत आदर नहीं है। वहाँ कोई संप्रदाय, मत और पंथ (dogma) नहीं है। दो मुख्य विभाग हैं---द्वैतवादी और अद्वैतवादी। पहले पक्ष के लोग कहते है, "मुक्ति का मार्ग ईश्वर की दया से लभ्य है, कार्य-कारण का नियम एक बार चालू हो जाने पर कभी तोड़ा नहीं जा सकता; केवल ईश्वर, जो नियम से बद्ध नहीं है, अपनी दया से, हमें इसे तोड़ने में सहायता देता है।" दूसरे पक्ष का कहना है, "इस सारी प्रकृति के पीछे कुछ है, जो मुक्त है और उस वस्तु के मिलने से, जो सभी नियमन से परे है, हम स्वतंत्र हो जाते हैं और स्वतंत्रता

ही मुक्ति है। द्वैतवाद केवल एक अवस्था है, लेकिन अद्वैतवाद अंत तक ले जाता है। पवित्रता ही मुक्ति का सबसे सीधा मार्ग है। जो हम कमायेंगे, वही हमारा है। कोई शास्त्र या कोई आस्था हमें नहीं बचा सकती। यदि कोई ईश्वर है तो 'सभी' उसे पा सकते हैं। किसीको यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि गर्मी है, प्रत्येक उसे स्वयं जान सकता है। ऐसा ही ईश्वर के लिए होना चाहिए। वह सभी की चेतना में एक तथ्य होना चाहिए। हिन्दू 'पाप' को वैसा नहीं मानते, जैसा कि पाश्चात्य विचार से समझा जाता है। बुरे काम पाप नहीं हैं, उन्हें करके हम किसी शासक को (परम पिता को) अप्रसन्न नहीं करते, हम स्वयं अपने को हानि पहुँचाते हैं और हमें दण्ड भी सहना होगा। आग में किसीका अँगुली रखना पाप नहीं है, किन्तु जो कोई रखेगा, उसे उतना ही दुःख उठाना होगा। सभी कर्म कोई न कोई फल देते हैं और 'प्रत्येक कर्म कर्ता के पास लौटता है।' एकेश्वरवाद का ही पूर्ववर्ती रूप त्रिमूर्तिवाद (जो कि द्वैतवाद है अर्थात् मनुष्य और ईश्वर सदैव के लिए पृथक्) है। ऊपर (परमार्थ) की ओर पहला क़दम तब होता है, जब हम अपने को ईश्वर की सन्तान मान लेते हैं और तब अन्तिम क़दम होता है, जब हम अपने को केवल एक आत्मा के रूप में अनुभव कर लेते हैं।

[५]

यह प्रश्न कि नित्य शरीर क्यों नहीं हो सकते, स्वयं ही अर्थहीन है, क्योंकि 'शरीर' एक ऐसा शब्द है, जो मौलिक द्रव्य के एक विशेष संघात के प्रति प्रयुक्त होता है, जो परिवर्तनशील है और जो स्वभाव से ही अस्थायी है। जब हम परिवर्तनों के बीच नहीं गुज़रते, हम तथाकथित शरीरधारी जीव नहीं होते। 'जड़-पदार्थ' जो देश, काल और निमित्त की सीमा के परे हो, जड़ हो ही नहीं सकता। स्थान और क़ाल केवल हममें विद्यमान हैं; लेकिन हम तो यथार्थतः एक और नित्य आत्मा ही हैं। सभी नाम-रूप परिवर्तनशील हैं, इसीलिए सब धर्म कहते हैं, 'ईश्वर का कोई आकार नहीं है।' मिलिन्द एक यूनानी बैक्ट्रियन राजा था, वह लगभग १५० वर्ष ईसा पूर्व एक बौद्ध धर्म प्रचारक संन्यासी द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया गया और उनके द्वारा उसे 'मिलिन्द' कहा गया। उसने अपने गुरु एक तरुण संन्यासी से पूछा, "क्या (बुद्ध जैसे) सिद्ध मनुष्य कभी भूल कर सकते हैं?" तरुण संन्यासी का उत्तर था, "सिद्ध मनुष्य ऐसी साधारण बातों में अज्ञान में रह सकते हैं, जो उसके अनुभव में न आवें, किन्तु वह ऐसी बातों में भूल 'नहीं' कर सकते, जो कि उसकी अन्तर्दृष्टि ने सचमुच प्रत्यक्ष पा ली हों। वह तो अब और यहाँ पूर्णतया सिद्ध है, वे विश्व का सारा रहस्य या मूल तत्त्व स्वयं जानते

हैं, किन्तु वे केवल वाह्य भिन्नताओं को नहीं जान सकते हैं, जिनके माध्यम से वह तत्त्व स्थान और काल में प्रकट होता है। वे स्वयं मृत्तिका को जानते हैं, पर जिन जिन रूपों में उसे परिणत किया जा सकता है, उनमें से प्रत्येक का अनुभव नहीं रखते। सिद्ध मनुष्य स्वयं आत्मा को तो जानता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के प्रत्येक रूप और संघात को नहीं। जैसा कि हम कहते हैं, उन्हें भी इसके लिए ऐसा और अधिक सापेक्षिक ज्ञान प्राप्त करना होगा, यद्यपि अपनी महान् आध्यात्मिक शक्ति के कारण वे उसे अत्यधिक शीघ्रता से सीख लेंगे।

पूर्णतया संयत मन का प्रकाशपुंज (सर्च लाइट) जब किसी विषय पर डाला जाता है तो वह उसे शीघ्र ही आयत्त कर लेता है। इसे समझना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे इस प्रकार की अत्यन्त मूर्खतापूर्ण व्याख्या का निरसन होगा कि एक बुद्ध या ईसा साधारण सापेक्षिक (जागतिक) ज्ञान के संबंध में क्यों भूल में थे, जो कि वे थे, जैसा कि हम भली भाँति जानते हैं। उनके उपदेशों को ग़लत ढंग से प्रस्तुत करने का दोष उनके शिष्यों पर नहीं मढ़ा जा सकता। उनके वक्तव्यों में यह कहना कि एक बात सत्य है और दूसरी असत्य, निरर्थक है। या तो पूर्ण विवरण स्वीकार करो या अस्वीकार करो। 'हम' असत्य में सत्य को कैसे ढूँढ़कर निकालेंगे?

एक घटना यदि एक बार घटती है, तो वह फिर भी घट सकती है। यदि किसी मनुष्य ने कभी पूर्णता प्राप्त की है तो हम भी ऐसा कर सकते हैं। यदि हम यहाँ अभी पूर्ण नहीं हो सकते, तो हम किसी स्थिति में या स्वर्ग में या ऐसी दशा में, जिसकी कि हम कल्पना कर सकें, पूर्ण नहीं हो सकते हैं। यदि ईसा मसीह पूर्ण नहीं थे तो जो धर्म उनके नाम पर चल रहा है, वह भूमिसात हो जाता है। यदि वे पूर्ण थे तो हम भी पूर्ण बन सकते हैं। पूर्ण व्यक्ति उसी प्रकार से तर्क नहीं करते या 'जानते' हैं, जैसा हम 'जानने' का अर्थ समझते हैं। क्योंकि हमारा सारा ज्ञान तुलना पर आधारित है और असीम वस्तु में कोई तुलना, कोई वर्गीकरण सम्भव नहीं है। बुद्धि की अपेक्षा मूल प्रवृत्ति कम भूल करती है, किन्तु बुद्धि का स्तर उससे उच्च है, और बुद्धि स्वस्फुरित ज्ञान की ओर ले जाती है। प्राणियों में तीन स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं,—(१) अवचेतन—यंत्रवत, भूल न करनेवाले; (२) चेतन—जाननेवाले, भूल करनेवाले; (३) अतिचेतन—अतीन्द्रिय-ज्ञान-सम्पन्न, भूल न करनेवाले और उनका दृष्टान्त पशु, मनुष्य और ईश्वर में है। जो मनुष्य पूर्ण हो चुका है, उसके लिए अपने ज्ञान-प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ करना शेष नहीं रह जाता। वह केवल संसार की सहायता करने के लिए जीवित रहता है, अपने लिए वह कुछ कामना नहीं करता। जिससे

भेद उत्पन्न होता है, वह तो निषेधात्मक है। भावात्मक तो सदैव अधिक से अधिकतर विस्तृत होता जाता है। जो हममें सामान्य रूप से विद्यमान है, वह सबसे अधिक विस्तृत है और वह है 'सत्' या अस्तित्व।

'नियम घटनाओं की एक माला की व्याख्या के लिए एक मानसिक शार्ट-हैण्ड या सांकेतिक लिपि है', किन्तु एक सत्ता के रूप में, ऐसा कहना चाहिए, नियम का कोई अस्तित्व नहीं है। गोचर संसार में कतिपय घटनाओं के नियमित क्रम को व्यक्त करने के लिए हम इस (नियम) शब्द का प्रयोग करते हैं। हमें नियम को एक अन्धविश्वास न बन जाने देना चाहिए, कुछ ऐसे अपरिहार्य सिद्धान्त न बनने देना चाहिए, जो हमें मानना ही पड़े। बुद्धि से भूल तो अवश्य होती है, किन्तु भूल को जीतने का संघर्ष ही तो हमें देवता बनाता है। शरीर के दोष को निकालने के लिए रोग प्रकृति का एक प्रकार से संघर्ष है, और हमारे भीतर से पशुत्व को निकालने के लिए पाप हमारे भीतर के देवत्व का संघर्ष है। हमें ईश्वरत्व तक पहुँचने के लिए कभी कभी भूल या पाप करना होगा।

किसी पर दया न करो। सबको अपने समान देखो। अपने को असाम्य रूप आदिम पाप से मुक्त करो। हम सब समान हैं और हमें यह न सोचना चाहिए, 'मैं भला हूँ और तुम बुरे हो और मैं तुम्हारे पुनरुद्धार का प्रयत्न कर रहा हूँ।' साम्य भाव मुक्त पुरुष का लक्षण है। ईसा मसीह नाकेदारों और पापियों के पास गये थे और उनके पास रहे थे। उन्होंने कभी अपने को ऊँचा नहीं समझा। केवल पापी ही पाप देखता है। मनुष्य को न देखो, केवल प्रभु को देखो। हम स्वयं अपना स्वर्ग बनाते हैं और नरक में भी स्वर्ग बना सकते हैं। पापी केवल नरक में मिलते हैं, और जब तक हम उन्हें अपने चारों ओर देखते हैं—हम स्वयं वहाँ (नरक में) होते हैं। आत्मा न तो काल में है और न देश में है। अनुभव करो, 'मैं पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द हूँ—**सोऽहमस्मि, सोऽहमस्मि।**

जन्म पर प्रसन्न हो, मृत्यु पर प्रसन्न हो, सदैव ईश्वर के प्रेम में आनन्द मनाओ, शरीर के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करो। हम उसके दास हो गये हैं और हमने अपनी शृंखलाओं को हृदय से लगाना और अपनी दासता से प्रेम करना सीख लिया है—इतना अधिक कि हम उसे चिरंतन करना चाहते हैं और सदा सदा के लिए 'शरीर' के साथ चलना चाहते हैं। देह-बुद्धि से आसक्त न होना और भविष्य में दूसरा शरीर धारण करने की आशा न रखना। उन लोगों के शरीर से भी प्रेम न करो और न उनके शरीर की इच्छा करो, जो हमें प्रिय हैं। यह जीवन हमारा शिक्षक है और इसकी मृत्यु द्वारा केवल नये शरीर धारण करने या अवसर

होता है। शरीर हमारा शिक्षक है किन्तु आत्मघात करना मूर्खता है, क्योंकि इससे 'शिक्षक' ही मर जायगा और उसका स्थान दूसरा शरीर ग्रहण कर लेगा। इस प्रकार जब तक हम शरीर-बुद्धि से मुक्त होना नहीं सीख लेते, हमें उसे रखना ही होगा। अन्यथा एक को खोने पर हम दूसरा प्राप्त करेंगे। तथापि हमें शरीर से तादात्म्य भाव न रखना चाहिए, अपितु उसे केवल एक साधन के रूप में देखना चाहिए, जिसका पूर्णता प्राप्त करने में उपयोग किया जाता है। श्री रामभक्त हनुमान जी ने इन शब्दों में अपने दर्शन का सारांश कहा, "मैं जब देह से अपना तादात्म्य करता हूँ तो मैं आपका दास हूँ, आपसे सदैव पृथक् हूँ। जब मैं अपने को जीव समझता हूँ तो मैं उसी दिव्य प्रकाश या आत्मा की चिनगारी हूँ, जो कि तू है। किन्तु जब अपने को आत्मा से तदाकार करता हूँ तो मैं और तू एक हो ही जाते हैं।"[1]

इसलिए ज्ञानी केवल आत्मा के साक्षात्कार का ही प्रयत्न करता है और कुछ नहीं।

[६]

विचार बहुत महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि 'जो कुछ हम सोचते हैं, वही हम हो जाते हैं।' एक समय एक संन्यासी एक पेड़ के नीचे बैठता था और लोगों को पढ़ाया करता था। वह केवल दूध पीता था और फल खाता था और असंख्य प्राणायाम किया करता था। फलतः अपने को बहुत पवित्र समझता था। उसी गाँव में एक कुलटा स्त्री रहती थी। प्रतिदिन संन्यासी उसके पास जाता था और उसे चेतावनी देता था कि उसकी दुष्टता उसे नरक में ले जायगी। बेचारी स्त्री अपने जीवन का ढंग नहीं बदल पाती थी, क्योंकि वही उसकी जीविका का एकमात्र उपाय था, फिर भी वह उस भयंकर भविष्य की कल्पना से सहम जाती थी, जिसे संन्यासी ने उसके समक्ष चित्रित किया था। वह रोती थी और प्रभु से प्रार्थना करती थी कि वे उसे क्षमा करें क्योंकि वह अपने को रोक न पाती थी। कालान्तर में कुलटा स्त्री और संन्यासी दोनों ही मरे। स्वर्ग-दूत आये और उसे स्वर्ग ले गये, जब कि संन्यासी की आत्मा को यमदूतों ने पकड़ा। वह चिल्लाया, "ऐसा क्यों? क्या मैंने पवित्रतम जीवन नहीं बिताया है और प्रत्येक मनुष्य को पवित्र होने की शिक्षा नहीं दी है? मैं नरक में क्यों ले जाया जाऊँ, जब कि यह कुलटा स्त्री स्वर्ग ले जायी जा रही है।" यमदूतों ने उत्तर दिया, "क्योंकि जब वह अपवित्र

---

१. देहबुद्ध्या दासोऽस्मि जीवबुद्ध्या तदंशकम्।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः ॥

कार्य करने को विवश थी, उसका मन सदैव भगवान् में लगा रहता था और वह मुक्ति माँगती थी, जो अब उसे मिली है। किन्तु इसके विपरीत तुम यद्यपि पवित्र कार्य ही करते थे, परन्तु अपना मन सदैव दूसरों की दुष्टता पर ही रखते थे, तुम केवल पाप देखते थे और केवल पाप का ही विचार करते थे और इसलिए अब तुम्हें उस स्थान को जाना पड़ रहा है, जहाँ केवल पाप ही पाप है। इस कहानी की शिक्षा स्पष्ट है। बाह्य जीवन कम महत्त्व का होता है, हृदय शुद्ध होना चाहिए और शुद्ध हृदय केवल शुभ को ही देखता है, अशुभ को कभी नहीं। हमें मनुष्य जाति के अभिभावक बनने की कभी चेष्टा न करनी चाहिए, न कभी पापियों का सुधार करनेवाले संत के रूप में वक्तृता-मंच पर खड़े होना चाहिए। अच्छा हो, यदि हम अपने को पवित्र करें, और फलस्वरूप हम दूसरे की यथार्थ सहायता भी करेंगे।

भौतिक विज्ञान की दोनों सीमाएँ (प्रारम्भ और अन्त) अध्यात्म विद्या द्वारा आवेष्टित हैं। यही बात तर्क के विषय में है। वह अतर्क से प्रारम्भ होकर फिर अतर्क में ही समाप्त होता है। यदि हम जिज्ञासा को इन्द्रियजन्य बोध के क्षेत्र में बहुत दूर तक ले जायँ तो हम बोध से परे के एक स्तर पर पहुँच जायँगे। तर्क तो वास्तव में स्मृति द्वारा सुरक्षित, संगृहीत और वर्गीकृत बोध ही है। हम अपने इन्द्रिय-बोध से परे न तो कल्पना कर सकते हैं और न तर्क कर सकते हैं। तर्क से परे कोई भी वस्तु इन्द्रिय-ज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। हम तर्क के सीमाबद्ध रूप को अनुभव करते हैं, फिर भी वह हमें एक ऐसे स्तर पर ले जाता है, जहाँ हम उससे कुछ परे की वस्तु की भी झलक पाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य के पास तर्कोपरि कोई साधन है? यह बहुत सम्भव है कि मनुष्य में तर्क से परे पहुँचाने की सामर्थ्य हो, वास्तव में सभी युगों में संतों ने अपने इस सामर्थ्य की अवस्थिति निश्चित रूप से कही है। किन्तु वस्तुओं के स्वभावानुसार आध्यात्मिक विचारों तथा अनुभव को तर्क की भाषा में अनूदित करना असम्भव है और इन सभी संतों ने अपने आध्यात्मिक अनुभव को प्रकट करने में अपनी असमर्थता घोषित की है। सचमुच भाषा उन्हें शब्द नहीं दे सकती, ताकि केवल यह कहा जा सके कि ये वास्तविक अनुभव हैं और सभी के द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। केवल इसी प्रकार वे (अनुभव) जाने जा सकते है, किन्तु वे कभी वर्णित नहीं किये जा सकते। धर्म वह विज्ञान है जो मनुष्य में स्थित अतीन्द्रिय माध्यम से प्रकृति में स्थित अतीन्द्रिय का ज्ञान प्राप्त करता है। अब भी हम मनुष्य के विषय में बहुत कम जानते है, फलतः विश्व के सम्बन्ध में भी बहुत कम जानते हैं। जब हम मनुष्य के विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त करेंगे, तब हम विश्व

के विषय में सम्भवतः और अधिक जान जायँगे। मनुष्य सभी वस्तुओं का सार-संग्रह है और उसमें संपूर्ण ज्ञान निहित है। विश्व के केवल उस अति क्षुद्र भाग के विषय में, जो हमारे इन्द्रिय-बोध में आता है, हम कोई तर्क ढूंढ़ सकते हैं, हम किसी मूलभूत सिद्धान्त के लिए कोई तर्क कभी नहीं उठा सकते। किसी वस्तु के लिए तर्क उठाना केवल मात्र उस वस्तु का वर्गीकरण करना और दिमाग़ के एक दरबे में उसे डाल लेना है। जब हम किसी नये तथ्य को पाते हैं तो हम तुरन्त उसे किसी प्रचलित प्रवर्ग में डालने की चेष्टा करते हैं और इसी प्रयत्न का नाम तर्क है। जब हम उस तथ्य को किसी वर्ग विशेष में रख पाते हैं तो कुछ संतोष मिलता है, किन्तु इस वर्गीकरण के द्वारा हम भौतिक स्तर से ऊपर कभी नहीं जा सकते। मनुष्य इन्द्रियों की सीमा के परे पहुँच सकता है, यह बात प्राचीन युगों में निश्चित रूप से प्रमाणित हुई थी। ५००० वर्ष पूर्व उपनिषदों ने बताया था कि ईश्वर का साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहाँ तक तो आधुनिक अज्ञेयवाद स्वीकार करता है, किन्तु वेद इस नकारात्मक पक्ष से और परे जाते हैं और स्पष्टतम शब्दों में दृढ़ता के साथ कहते हैं कि मनुष्य इस इन्द्रिय-बद्ध जड़ जगत् के परे पहुँच सकता है एवं अवश्य पहुँचता है। वह मानो इस विशाल हिमराशि रूप जगत् में एक रंध्र पा सकता है और उसके द्वारा निकल कर जीवन के पूर्ण महासागर तक पहुँच सकता है। इन्द्रिय सम्बन्धी संसार का इस प्रकार अतिक्रमण करके ही वह अपने सत् स्वरूप तक पहुँच सकता है और उसका साक्षात्कार कर सकता है।

ज्ञान कभी इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता। हम ब्रह्म को विषयतया 'जान' नहीं सकते, किन्तु हम पूर्णतया ब्रह्म ही हैं, उसके एक खंड मात्र नहीं। अशरीरी वस्तु कभी विभाजित नहीं की जा सकती। आभासिक नानात्व काल और देश में दृष्टिगत होनेवाला है, जैसा हम सूर्य को लाखों ओस-बिन्दुओं में प्रतिबिम्बित देखते हैं, यद्यपि हम जानते हैं सूर्य एक है, अनेक नहीं। ज्ञान में हमें नानात्व त्यागना होता है और केवल एकत्व का अनुभव करना होता है। यहाँ विषयी, विषय, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय, तू, वह अथवा मैं नहीं है, केवल एक पूर्ण एकत्व ही है! हम सदैव वही हैं, सदैव मुक्त। मनुष्य कार्य-कारण द्वारा यथार्थतः 'नहीं' बँधा है। दुःख और कष्ट मनुष्य में नहीं हैं, वे तो भागते हुए बादल के समान होते है जो सूर्य पर अपनी परछाईं डालता है। बादल हट जाता है, पर सूर्य अपरिवर्तित रहता है, और यही बात मनुष्य के विषय में है। वह उत्पन्न नहीं होता, वह मरता नहीं, वह देश और काल में नहीं है। ये सब विचार केवल मन ही के प्रतिबिम्ब हैं, किन्तु हम उन्हें भ्रमवश यथार्थ समझ लेते हैं और इस

प्रकार उस महिमान्वित प्रकृत सत्य को जो विचारों से आच्छादित हुआ है, हम नहीं प्राप्त कर सकते। काल तो हमारे चिन्तन की प्रक्रिया है, परन्तु हम तो यथार्थतः नित्य वर्तमान काल ही हैं। शुभ और अशुभ का अस्तित्व केवल हमारे सम्बन्ध से है। एक के बिना दूसरा नहीं प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि दोनों में से किसीका भी दूसरे से पृथक् न तो अस्तित्व है और न अर्थ। जब तक हम द्वैतवाद को मान्यता देते हैं अथवा ईश्वर और मनुष्य को पृथक् करके मानते हैं, तब तक हमें शुभ और अशुभ—दोनों ही देखने पड़ेंगे, केवल केन्द्र में जाकर ही, केवल ईश्वर से एकीकृत होकर ही, हम इन्द्रियों के मोह-जाल से बच सकते हैं।

जब हम कामना के अनन्त ज्वर को, उस अनन्त तृष्णा को, जो हमें चैन नहीं लेने देती, त्याग देंगे, जब हम सदा के लिए कामना को जीत लेंगे, तब हम शुभ-अशुभ—दोनों से छूट पायेंगे, क्योंकि तब हम उन दोनों का अतिक्रमण कर जायेंगे। कामना की पूर्ति उसे केवल और अधिक बढ़ाती है, जैसे कि अग्नि में डाला हुआ घी, उसे और भी तीव्रता से प्रज्वलित कर देता है। चक्र जितना ही केन्द्र से दूर होगा, उतना ही तीव्र चलेगा, और उतना ही उसे कम विश्राम मिलेगा। केन्द्र के निकट जाओ, कामना का दमन करो, उसे निकाल बाहर करो, मिथ्या अहं को त्याग दो, तब हमारी दिव्य दृष्टि खुल जायगी और हम ईश्वर का दर्शन करेंगे, इहलौकिक और पारलौकिक जीवन के त्याग द्वारा ही हम उस अवस्था पर पहुँचेंगे, जहाँ कि हम वास्तविक आत्म-तत्त्व पर दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो सकेंगे। जब तक हम किसी वस्तु की आकांक्षा करते हैं, तब तक कामना हमारा शासन करती है। केवल एक क्षण के लिए वास्तव में 'आशा-हीन' हो जाओ और कुहरा साफ़ हो जायगा। चूंकि जब कोई स्वयं सत्स्वरूप है तो वह किसकी आशा करे? ज्ञान का रहस्य है सब कुछ का त्याग और स्वयं में ही परिपूर्ण हो जाना। 'नहीं' कहो, और तुम 'नहीं' रह जाओगे, और 'है' कहो तो तुम 'है' बन जाओगे। अंतःस्थ आत्मा की उपासना करो, और कुछ तो है ही नहीं, जो कुछ हमें बन्धन में डालता है, वह माया है, भ्रम-जाल है।

[७]

विश्व में आत्मा सभी का अधिष्ठान है, किन्तु वह स्वयं कभी उपाधि-विशिष्ट नहीं हो सकती। जब हम जानते हैं कि 'हम वह हैं, हम मुक्त हो जाते हैं। मर्त्य के रूप में हम न कभी मुक्त थे और न हो सकते हैं। मुक्त मरणशीलता परस्पर विरोधी है। क्योंकि मरणशीलता में परिवर्तन निहित है और केवल अपरिवर्तनशील ही मुक्त हो सकता है। आत्मा ही मुक्त है और वही

हमारा यथार्थ सार-तत्त्व है। सभी सिद्धान्तों और विश्वासों के बावजूद, हम इस आंतरिक मुक्ति का अनुभव करते हैं, हम उसके अस्तित्व को जानते हैं और हर कार्य यह सिद्ध करता है कि हम उसे जानते है। इच्छा स्वतंत्र नहीं है, उसकी आपातदृष्ट स्वतंत्रता आत्मा की एक प्रतिविम्व मात्र है। यदि संसार कार्य और कारण की एक अनंत शृंखला होती तो उसके हितार्थ कोई कहाँ खड़ा होता ? रक्षक को खड़े होने के लिए सूखी भूमि का एक टुकड़ा तो होना ही चाहिए, अन्यथा वह किसीको कार्य-कारण रूप तीव्र धारा से खींचकर कैसे वाहर करेगा और उसे डूबने से वचायेगा। वह हठवर्मी भी, जो सोचता है, मैं एक कीड़ा हूँ,समझता है कि वह एक संत वनने के मार्ग पर है। वह कीड़े में भी संत को देखता है।

मानव-जीवन के दो उद्देश्य या लक्ष्य हैं—विज्ञान और आनन्द। विना मुक्ति के ये दोनों असम्भव हैं। वे समस्त जीवन की कसौटी हैं। हमें शाश्वत एकत्व का इतना अविक अनुभव करना चाहिए कि यह समझते हुए कि हम ही पाप कर रहे हैं, हम सभी पापियों के लिए रोयें। शाश्वत नियम आत्म-त्याग है, आत्म-प्रतिष्ठापन नहीं। जव सभी एक हैं तो प्रतिष्ठापन किस आत्मा का? कोई 'अविकार' नहीं है, सभी प्रेम है। ईसा ने जिन महान् सत्यों का उपदेश दिया, उनको कभी जीवन में नहीं उतारा गया। आओ, हम उनके मार्ग पर चलकर देखें, क्या संसार को वचाया जा सकता है या नहीं। विपरीत मार्ग ने संसार को लगभग नष्ट कर दिया है। मात्र स्वार्थहीनता ही प्रश्न को हल कर सकती है, स्वार्थपरता नहीं। 'अधिकार' का विचार एक सीमाकरण है। वास्तव में 'मेरा और तेरा' है ही नहीं, क्योंकि मैं तू हूँ और तू मैं है। हमारे पास 'दायित्व' है, 'अधिकार' नहीं। हमें कहना चाहिए, 'मैं विश्व हूँ' न कि 'मैं जॉन हूँ' या 'मैं मेरी हूँ'। ये समस्त सीमाएँ भ्रमजाल है जो हमें वन्धन में डाले हुए हैं, क्योंकि जैसे ही मैं समझता हूँ, 'मैं जॉन हूँ' मैं कुछ वस्तुओं पर अपवर्जित विशेषाधिकार चाहता हूँ, 'मुझे' और 'मेरा' कहने लगता हूँ और ऐसा करने में निरन्तर नये भेदों का सर्जन करता जाता हूँ। इस प्रकार हर नये भेद के साथ हमारा वन्धन वढ़ता जाता है और हम केन्द्रीय एकत्व और अविभक्त असीम से दूरातिदूर होते जाते हैं। व्यक्ति तो केवल एक है और हममें से प्रत्येक वही है। केवल एकत्व ही प्रेम है और निर्भयता है, पार्थक्य हमें घृणा और भय की ओर ले जाता है। एकत्व ही नियम का प्रतिपालन करता है। यहाँ पृथ्वी पर हम छोटे छोटे स्थानों को घेर लेने तथा अन्य लोगों को अपवर्जित करने की चेष्टा करते हैं, पर हम आकाश में ऐसा नहीं कर सकते। किन्तु संप्रदायवादी धर्म, जव वह यह कहता है कि 'केवल यही मुक्ति का मार्ग है और अन्य सव मिथ्या है' तो ऐसा ही करने

की चेष्टा करता है। हमारा लक्ष्य इन छोटे घरौंदों को हटाने का, सीमा को इतना विस्तृत करने का है कि वह दिखायी ही न दे, और यह समझने का होना चाहिए कि सभी धर्म ईश्वर की ओर ले जाते हैं। इस छोटे तुच्छ अहं का बलिदान अवश्य होना चाहिए। बपतिस्मा के प्रतीक द्वारा एक नये जीव में इसी सत्य को लक्षित किया जाता है––पुराने आदमी की मृत्यु और नये का जन्म, मिथ्या अहं का नाश और आत्मा, विश्व की एक आत्मा का साक्षात्कार।

वेदों के दो प्रधान भाग हैं, कर्मकांड––कर्म या कार्य सम्बन्धी भाग और ज्ञानकांड––जानने के, सत्य ज्ञान के विषय का भाग। वेदों में हम धार्मिक विचारों के विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्राप्त कर सकते हैं। यह इसलिए है कि उच्चतर सत्य की प्राप्ति होने पर, उस तक पहुँचानेवाली निम्नतर अनुभूति को भी सुरक्षित रखा गया। ऐसा ऋषियों ने यह अनुभव करके किया कि सृष्टिजन्य यह संसार शाश्वत है, अतः उसमें सदा ऐसे लोग रहेंगे जिन्हें ज्ञान के प्रथम सोपानों की आवश्यकता रहेगी; सर्वोच्च दर्शन यद्यपि सभी के लिए सुलभ है, पर सभी उसे ग्रहण तो नहीं कर सकते। प्रायः अन्य सभी धर्मों में सत्य के केवल अन्तिम अथवा उच्चतम साक्षात्कार को ही सुरक्षित रखा गया, जिसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि प्राचीनतर धारणाएँ विलुप्त हो गयीं । नवीन को केवल थोड़े से लोग ही समझ पाते हैं और शनैः शनैः अधिकांश जन के निकट उनका कोई अर्थ नहीं रह जाता। हम इस फल को प्राचीन परम्पराओं और अधिकारियों के विरुद्ध बढ़ते हुए विद्रोह के रूप में स्पष्ट देखते हैं। उन्हें स्वीकार करने के स्थान पर आज का मनुष्य साहसपूर्वक उन्हें चुनौती देता है कि वे अपने दावे के कारण बताये और उन आधारों को स्पष्ट करें, जिन पर कि वे उनकी स्वीकृति की माँग करते हैं। ख्रीष्ट धर्म में बहुत कुछ तो प्राचीन मूर्तिपूजकों की आस्थाओं और रीतियों को नये नाम और अर्थ देना मात्र है। यदि प्राचीन स्रोत सुरक्षित रक्खे गये होते और परिवर्तन के कारणों की व्याख्या पूर्ण रूप से कर दी गयी होती तो बहुत सी बातें अधिक स्पष्ट हो जातीं। वेदों ने पुराने विचारों को सुरक्षित रक्खा, और इस तथ्य ने उनकी व्याख्या तथा वे क्यों सुरक्षित रक्खे गये, यह स्पष्ट करने के निमित्त विशाल टीकाओं की आवश्यकता उत्पन्न कर दी । उनके अर्थ के विलुप्त हो जाने के बाद भी उनसे, पुराने रूपों से, चिपके रहने के कारण अनेक अंधविश्वासियों की उत्पत्ति हुई। अनेक अनुष्ठानों में ऐसे शब्द दुहराये गये हैं जो कि एक विस्मृत भाषा के अवशेष हैं और जिनका अब कोई सच्चा अर्थ नहीं किया जा सकता। विकासवाद का विचार वेदों में ख्रीष्ट युग से बहुत पूर्व पाया जाता है, पर जब तक डारविन ने उसे सत्य नहीं माना, तब तक उसे केवल हिन्दू अंधविश्वास माना जाता था।

कर्मकांड में बाह्य प्रार्थना और उपासना के सभी रूप सम्मिलित हैं। यदि इन्हें निःस्वार्थ भाव से संपन्न किया जाय और उन्हें मात्र रूढ़ि न बना दिया जाय तो वे उपयोगी हैं। वे हृदय को निर्मल करते हैं। कर्मयोगी स्वयं अपनी मुक्ति के पूर्व अन्य सबकी मुक्ति चाहता है। उसकी मुक्ति दूसरों की मुक्ति में सहायता देने मात्र में है। 'कृष्ण के सेवकों की पूजा ही सर्वोच्च पूजा है।' एक महान् सन्त की यह प्रार्थना रहती थी, 'मैं समस्त संसार के पाप लेकर नरक में चला जाऊँ, किन्तु संसार मुक्त हो जाय।' यह सच्ची पूजा तीव्र आत्म-त्याग का मार्ग दिखाती है। एक महात्मा के विषय में कहा जाता है कि वह अपने सब सद्गुण अपने कुत्ते को दे देना चाहते थे, जिससे वह स्वर्ग जा सके। वह कुत्ता दीर्घ काल तक उनका स्वामिभक्त रहा था, और वे स्वयं नरक जाने में भी संतुष्ट थे।

ज्ञानकांड यह शिक्षा देता है कि केवल ज्ञान ही मुक्ति दे सकता है, अर्थात् उसे मुक्ति-प्राप्ति की पात्रता की सीमा तक ज्ञानी होना चाहिए। ज्ञान, ज्ञाता का स्वयं अपने को जानना, पहला लक्ष्य है। एक मात्र विषयी आत्मा, अपने व्यक्त रूप में केवल स्वयं को ही खोज रही है। जितना ही अच्छा दर्पण होता है, वह उतनी ही अच्छी प्रतिच्छाया प्रदान करता है। इस प्रकार मनुष्य सर्वोत्तम दर्पण है और जितना निर्मल मनुष्य होगा, उतना ही स्वच्छता से वह ईश्वर को प्रतिबिम्बित कर सकेगा। मनुष्य अपने को ईश्वर से पृथक् करने और देह से अपने को अभिन्न मानने की भूल करता है। यह भूल माया से होती है, जो एकदम भ्रमजाल तो नहीं है, पर उसे सत्य को जैसा कि वह है वैसा न देखकर किसी अन्य रूप में देखना कहा जा सकता है। अपने को शरीर से अभिन्न मानने से असमता का मार्ग खुलता है, जिससे अनिवार्यतया ईर्ष्या और संघर्ष की उत्पत्ति होती है। और जब तक हम असमता देखते रहेंगे, हम सुख नहीं पा सकते। ज्ञान कहता है कि अज्ञान और असमता ही समस्त दुःख के स्रोत हैं।

जब मनुष्य संसार की पर्याप्त ठोकरें खा चुकता है, तब वह मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा के प्रति जाग्रत होता है और पार्थिव अस्तित्व के निरानन्द चक्र से बचने के साधनों को खोजता हुआ वह ज्ञान खोजता है, इस बात को जान जाता है कि वह वस्तुतः क्या है और मुक्त हो जाता है। उसके बाद वह संसार को एक विशाल यंत्र के रूप में देखता है, किन्तु उसके चक्कों से अपनी अँगुलियों को बाहर रखने के प्रति काफ़ी सावधान रहता है। जो मुक्त है, उसके लिए कर्तव्य समाप्त हो जाता है। मुक्त प्राणी को कौन शक्ति विवश कर सकती है? वह शुभ करता है, क्योंकि यह उसका स्वभाव है न कि इसलिए कि कोई काल्पनिक कर्तव्य उसे आदेश देता है। यह उन पर लागू नहीं होता, जो कि अब भी इन्द्रियों के

वन्धन में है। यह मुक्ति उसीके लिए, केवल उसीके लिए है जो अपने निम्नतर अहं से ऊँचा उठ चुका है। वह अपनी आत्मा में ही प्रतिष्ठित है, कोई नियम नहीं मानता, स्वतन्त्र और पूर्ण है। उसने पुराने अंधविश्वासों को उच्छिन्न कर डाला है। वह चक्र के बाहर निकल आया है। प्रकृति तो हमारे अपने स्व का दर्पण है। मनुष्य की कार्यशक्ति की एक सीमा है, किन्तु कामनाओं की नहीं; इसलिए हम दूसरों की कार्यशक्ति को हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं और स्वयं काम करने से बचकर उनके श्रम के फल का उपभोग करते हैं। हमारे निमित्त कार्य करने के लिए यंत्रों का आविष्कार कल्याण की मात्रा में वृद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि कामना की तुष्टि में हम केवल कामना ही पाते हैं, और तब अधिक तथा और भी अधिक की अनन्त कामना करते हैं। अतृप्त कामनाओं से भरे हुए मरने पर, उनकी परितुष्टि की निरर्थक खोज में वारम्वार जन्म लेना पड़ता है। हिन्दू कहते हैं कि मानव शरीर पाने के पूर्व हम ८० लाख वार शरीर धारण कर चुके हैं। ज्ञान कहता है, 'कामना का हनन करो और इस प्रकार उससे छुटकारा पाओ'। यही एकमात्र मार्ग है। सभी प्रकार की कारणता को निकाल फेंको और आत्मा का साक्षात्कार करो। केवल मुक्ति ही सच्ची नैतिकता उत्पन्न कर सकती है। यदि कारण और कार्य की एक अनन्त शृंखला मात्र का ही अस्तित्व होता तो निर्वाण हो ही नहीं सकता था। वह तो इस शृंखला से जकड़े आभासी अहं का उच्छेद करना है। यही है वह जिससे मुक्ति का निर्माण होता है और वह है कारणता के परे जाना।

हमारा वास्तविक स्वरूप शुभ है, मुक्त है, विशुद्ध सत् है, जो न तो कभी अशुद्ध हो सकता है और न अशुद्ध कर सकता है। जब हम अपनी आँखों और मस्तिष्क से ईश्वर को पढ़ते हैं तो हम उसे यह या वह कहते हैं, पर वास्तव में केवल एक है, सभी विविधताएँ उसी एक की हमारी व्याख्या हैं। हम 'हो' कुछ भी नहीं जाते, हम अपनी वास्तविक आत्मा को पुनः प्राप्त करते हैं। बुद्ध के द्वारा दुःख को 'अविद्या और जाति' (असमता) के फल से उत्पन्न मानने के निदान को वेदान्तियों ने अपना लिया है; क्योंकि वह अव तक ऐसे किये गये प्रयत्नों में सर्वोत्कृष्ट है। उससे मनुष्यों में इस महानतम व्यक्ति की आश्चर्यजनक अन्तर्दृष्टि व्यक्त होती है। तो हम सव वीर और सच्चे वनें। जो भी मार्ग हम श्रद्धापूर्वक अपनायें, हमें निश्चय ही मुक्ति की ओर ले जायगा। शृंखला की एक कड़ी पकड़ लो और धीरे धीरे क्रमशः पूरी शृंखला अवश्य आती जायगी। पेड़ की जड़ को जल देने से पूरे पेड़ को जल मिलता है, हर पत्ती को जल देने में समय खराव करने से कोई लाभ नहीं। अर्थात्, हम प्रभु को खोजें और उसे पाकर हम

सब पा जायँगे। गिरजे, सिद्धान्त, रूप ये सब तो धर्म के सुकुमार पौधे की रक्षार्थ झाड़ियों के घेरों के सदृश हैं, किन्तु आगे चलकर उनको तोड़ना ही पड़ेगा, जिससे वह छोटा पौधा पेड़ बन सके। इस प्रकार विभिन्न धार्मिक संप्रदाय, धर्म-ग्रन्थ, वेद और धर्म-शास्त्र इस छोटे पौधे के केवल 'गमले' मात्र हैं; किन्तु उसे गमले से निकलना और संसार को भरना ही होगा।

जैसे हम अपने को यहाँ अनुभव करते हैं, वैसे ही सूर्य और नक्षत्रों में अनुभव करना हमें सीखना चाहिए। आत्मा तो देश-काल से परे है, हर देखनेवाली आँख मेरी आँख है, प्रभु की स्तुति करनेवाला प्रत्येक मुख मेरा मुख है, हर पापी मैं हूँ। हम कहीं भी परिसीमित नहीं हैं, हम शरीर नहीं हैं। विश्व हमारा शरीर है। हम तो केवल वह शुद्ध स्फटिक हैं, जो अन्य सभी को प्रतिबिम्बित करता है, किन्तु स्वयं सदैव वही रहता है। हम तो जादूगर हैं जो जादू के डंडे हिलाते हैं और इच्छानुसार अपने समक्ष दृश्य प्रस्तुत कर लेते हैं, किन्तु हमें इन आभासों के पीछे जाना है और आत्मा को जानना है। यह संसार एक ऐसी बटलोई में जल के समान है जो उबलनेवाली हो। उसमें पहले एक बुलबुला उठता है, फिर दूसरा और फिर बहुत से, और अंततः सब उबल उठता और वाष्प रूप में निकल जाता है। महान् धर्मोपदेशक आरम्भ में उठनेवाले बुलबुलों के रूप में होते हैं, एक यहाँ, एक वहाँ; किन्तु अन्त में हर जीव को बुलबुला होना है और निकल भागना है। नित्य नूतन सृष्टि नया जल लाती रहेगी और सारी प्रक्रिया की आवृत्ति फिर होगी। बुद्ध और ईसा संसार द्वारा ज्ञात दो महत्तम 'बुलबुले' हैं। वे महान् आत्माएं थीं, जिन्होंने स्वयं मुक्ति प्राप्त करके, दूसरों को बच निकलने में सहायता दी। दोनों में से कोई पूर्ण नहीं था, किन्तु उन पर निर्णय उनके गुणों से करना है, उनकी कमियों से नहीं। ईसा कुछ छोटे पड़ते हैं, क्योंकि वह सदैव अपने सर्वोच्च आदर्श के अनुरूप नहीं रह सके और सबसे अधिक इसलिए कि उन्होंने स्त्री को पुरुष के साथ बराबर स्थान नहीं दिया। स्त्री ने उनके लिए सब कुछ किया, किन्तु एक को भी धर्मदूत नहीं बनाया गया। उनका सेमेटिक होना ही निस्सन्देह इसका कारण था। महान् आर्यो ने तथा शेष में बुद्ध ने स्त्री को सदैव पुरुष के बराबर स्थान में रखा है। उनके लिए धर्म में लिंगभेद का अस्तित्व न था। वेदों और उपनिषदों में स्त्रियों ने सर्वोच्च सत्यों की शिक्षा दी है और उनको वही श्रद्धा प्राप्त हुई है, जैसी कि पुरुषों को।

[८]

सुख और दुःख दोनों ही जंजीरें हैं, एक स्वर्णिम और दूसरी लौह; किन्तु दोनों ही हमें बाँधने के लिए एक समान दृढ़ हैं और अपने वास्तविक स्वरूप के

साक्षात्कार करने में हमें रोकती हैं। आत्मा दुःख या सुख नहीं जानती। ये तो केवल स्थितियाँ हैं और स्थितियाँ अवश्य सदैव बदलती रहती हैं। आत्मा का स्वभाव आनन्द और अपरिवर्तनीय शान्ति है। हमें इसे 'पाना' नहीं है, वह हमें 'प्राप्त' है। आओ, हम अपनी आँखों से कीचड़ धो डालें और उसे देखें। हमें आत्मा में सदैव प्रतिष्ठित रहकर पूर्ण शान्ति के साथ संसार की दृश्यावली को देखना चाहिए। वह तो केवल शिशु का खेल मात्र है और उससे हमें कभी क्षुब्ध न होना चाहिए। यदि मन प्रशंसा से प्रसन्न हो तो वह निंदा से दुःखी होगा। इन्द्रियों के या मन के भी सभी आनन्द क्षणभंगुर हैं, किन्तु हमारे अन्तर में एक सच्चा असम्बद्ध आनन्द है, जो किसी बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं है। 'यह आत्मा का आनन्द ही है, जिसे संसार धर्म कहता है।' जितना ही अधिक हमारा आनन्द हमारे अन्तर में होगा, उतने ही अधिक आध्यात्मिक हम होंगे। हम आनन्द के लिए संसार पर निर्भर न हों।

कुछ दीन मछुआ स्त्रियों ने भीषण तूफ़ान में फँसकर एक सम्पन्न व्यक्ति के बगीचे में शरण पायी। उसने उनका दयापूर्वक स्वागत किया, उन्हें भोजन दिया और जिनके सुवास से वायुमंडल परिपूर्ण था, ऐसे पुष्पों से घिरे हुए एक सुन्दर ग्रीष्मावास में विश्राम करने के लिए छोड़ दिया। स्त्रियाँ इस सुगन्धित स्वर्ग में लेटीं तो, किन्तु सो न सकीं। उन्हें अपने जीवन से कुछ खोया हुआ सा जान पड़ा और उसके बिना वे सुखी न हो सकीं। अन्त में एक स्त्री उठी और उस स्थान को गयी जहाँ कि वे अपनी मछली की टोकरियाँ छोड़ आयी थीं। वह उन्हें ग्रीष्मावास में ले आयीं और तब एक बार फिर परिचित बास से सुखी होकर वे सब शीघ्र ही गहरी नींद में सो गयीं।

संसार मछली की हमारी वह टोकरी न बन जाय, जिस पर हमें आनन्द के लिए निर्भर होना पड़े। यह तामसिक या तीनों (गुणों) में से निम्नतम द्वारा बँधना है। इनके बाद वे अहंवादी आते हैं जो सदैव 'मैं', 'मैं' की बात करते हैं। कभी कभी वे अच्छा काम करते हैं और आध्यात्मिक बन सकते हैं। ये राजसिक या सक्रिय हैं। सर्वोच्च अन्तर्मुख स्वभाववाले (सात्त्विक) हैं, जो आत्मा में ही रहते हैं। ये तीन गुण हर मनुष्य में भिन्न अनुपात में हैं और विभिन्न गुण विभिन्न अवसरों पर प्रधानता प्राप्त करते हैं। हमें तमस् और रजस् को जीतने का और तब उन दोनों को सत्त्व में मिला देने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

सृष्टि कुछ 'बना देना' नहीं है, वह तो सम-संतुलन पुनः प्राप्त करने का एक संघर्ष है, जैसे किसी कॉर्क के परमाणु एक जल-पात्र की पेंदी में डाल दिये जाने

पर, वे पृथक् पृथक् और गुच्छों में ऊपर की ओर झपटते हैं और जब सब ऊपर आ जाते हैं और सम-संतुलन पुनः प्राप्त हो जाता है तो समस्त गति या 'जीवन' एक हो जाता है। यही बात सृष्टि की है; यदि सम-संतुलन प्राप्त हो जाय तो सब परिवर्तन रुक जायँगे, जीवन नामधारी वस्तु समाप्त हो जायगी। जीवन के साथ अशुभ अवश्य रहेगा, क्योंकि संतुलन पुनः प्राप्त हो जाने पर संसार अवश्य समाप्त हो जायगा, क्योंकि समत्व और नाश एक ही बात है। सदैव बिना दुःख के आनन्द ही पाने की कोई सम्भावना नहीं है या बिना अशुभ के शुभ पाने की, क्योंकि जीवन स्वयं ही तो खोया हुआ सम-संतुलन है। जो हम चाहते हैं, वह मुक्ति है, जीवन नहीं, न आनन्द, न शुभ। सृष्टि शाश्वत है, अनादि, अनंत, एक असीम सरोवर में सदैव गतिशील लहर। उसमें अब भी ऐसी गहराइयाँ हैं, जहाँ कोई नहीं पहुँचा और जहाँ अन्य ऐसी निस्पन्दता पुनः स्थापित हो गयी है; किन्तु लहर सदैव प्रगति कर रही है, संतुलन पुनः स्थापित करने का संघर्ष शाश्वत है। जीवन और मृत्यु उसी तथ्य के विभिन्न नाम हैं, वे एक सिक्के के दो पक्ष हैं। दोनों ही माया हैं, एक बिन्दु पर जीवित रहने के प्रयत्न की अगम्य स्थिति और एक क्षण बाद मृत्यु। इस सबसे परे सच्चा स्वरूप है, आत्मा। हम सृष्टि में प्रविष्ट होते हैं और तब वह हमारे लिए जीवन हो जाती है। वस्तुएँ स्वयं तो मृत हैं, केवल हम उन्हें जीवन देते हैं; और तब मूर्खों के सदृश हम घूमते हैं और या तो उनसे डरते हैं या उनका उपभोग करते हैं। संसार न तो सत्य है न असत्य, वह सत्य की छाया है।

कवि कहता है कि 'कल्पना सत्य की स्वर्णाच्छादित छाया' है। आभ्यन्तर जगत्, सत्य जगत् बाह्य से असीम रूप से बड़ा है। बाह्य जगत् तो वास्तविक जगत् का छायात्मक प्रक्षेप मात्र है। जब हम 'रस्सी' देखते हैं, 'सर्प' नहीं देखते, और जब 'सर्प' होता है, 'रस्सी' नहीं होती, दोनों का अस्तित्व एक साथ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब हम संसार देखते हैं, हम आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते, वह केवल एक बौद्धिक कल्पना रहती है। ब्रह्म के साक्षात्कार में व्यक्तिगत अहं और संसार की सब चेतना नष्ट हो जाती है। प्रकाश अन्धकार को नहीं जानता, क्योंकि उसका प्रकाश में कोई अस्तित्व नहीं है; इसी प्रकार ब्रह्म ही सब है। जब हम किसी ईश्वर को मानते हैं तो वास्तव में वह हमारी अपनी आत्मा ही होती है, जिसे हम अपने से पृथक् कर देते हैं और उसकी इस प्रकार पूजा करते हैं, जैसे कि वह हमसे बाहर हो; किन्तु वह सदैव हमारी अपनी आत्मा ही होती है, तथा वही एक और अद्वितीय ईश्वर है। पशु का स्वभाव, जहाँ वह है, वहीं रहने का; मनुष्य का शुभ खोजने और अशुभ से बचने का, और ईश्वर का न तो खोजने का और न बचने का, अपितु सदैव आनन्दमय रहने का है। आओ, हम ईश्वर बनें,

हम अपने हृदय महासागर जैसे बनायें, ताकि हम संसार की छोटी छोटी बातों से परे जा सकें और उसे केवल एक चित्र की भाँति देखें। तब हम इससे बिना किसी प्रकार प्रभावित हुए इसका आनन्द ले सकेंगे। संसार में शुभ को क्यों खोजें, हम वहाँ क्या पा सकते हैं? सर्वोच्च वस्तुएँ जो वह दे सकता है, उन काँच की गोलियों के समान हैं, जो बच्चे कीचड़ के पोखरे में खेलते हुए पा जाते हैं। वे उन्हें फिर खो देते हैं और नये सिरे से उन्हें अपनी खोज प्रारम्भ करनी होती है। असीम शक्ति ही धर्म और ईश्वर है। यदि हम मुक्त हों, तभी हम आत्मा हैं; अमरता केवल तभी है, जब कि हम मुक्त हों; ईश्वर तभी है, जब वह मुक्त हो।

जब तक हम अहं भाव द्वारा निर्मित संसार का त्याग नहीं करते, हम स्वर्ग के राज्य में कभी प्रविप्ट नहीं हो सकते। न तो कभी कोई प्रविष्ट हुआ, न कोई कभी होगा। संसार के त्याग का अर्थ है, अहं भाव को पूर्णतया भूल जाना, उसे बिल्कुल न जानना; शरीर में रहना, पर उसके द्वारा शासित न होना। इस दुष्ट अहं भाव को अवश्य ही मिटाना होगा। मनुष्य जाति की सहायता करने की शक्ति उन शांत व्यक्तियों के हाथ में है, जो केवल जीवित हैं और प्रेम करते हैं तथा जो अपना व्यक्तित्व पूर्णतः पीछे हटा लेते हैं। वे 'मेरा' या 'मुझे' कभी नहीं कहते, वे दूसरों की सहायता करने में, उपकरण बनने में ही धन्य हैं। वे पूर्णतया ईश्वर से अभिन्न हैं, न तो कुछ माँगते हैं और न सचेतन रूप से कोई काम करते हैं। वे सच्चे जीवन्मुक्त हैं, पूर्णतः स्वार्थरहित; उनका छोटा व्यक्तित्व पूर्णतया उड़ गया होता है, महत्त्वाकांक्षा का अस्तित्व नहीं रहता। वे व्यक्तित्व रहित, पूर्णतया तत्त्व मात्र हैं। जितना अधिक हम छोटे से अहं को डुबोते हैं, उतना ही अधिक ईश्वर आता है। आओ, हम इस छोटे से अहं से छुटकारा लें और केवल बड़े अहं को अपने में रहने दें। हमारा सर्वोत्तम कार्य और सर्वोच्च प्रभाव तब होता है, जब हम अहं के विचार मात्र से रहित हो जाते हैं। केवल निष्काम लोग ही बड़े बड़े परिणाम घटित करते हैं। जब लोग तुम्हारी निन्दा करें तो उन्हें आशीर्वाद दो। सोचो तो, वे झूठे अहं को निकाल बाहर करने में सहायता देकर कितनी भलाई कर रहे हैं। यथार्थ आत्मा में दृढ़ता से स्थिर होओ, केवल शुद्ध विचार रखो और तुम उपदेशकों की एक पूरी सेना से अधिक काम कर सकोगे। पवित्रता और मौन से शक्ति की वाणी निकलती है।

९

अभिव्यक्ति अनिवार्य विकृति है, क्योंकि आत्मा केवल 'अक्षर' से व्यक्त की जा सकती है, और जैसा कि सन्त पॉल ने कहा था, 'अक्षर हत्या कर डालता है।

अक्षर केवल प्रतिच्छाया मात्र है, उसमें जीवन नहीं हो सकता। तथापि 'जाना' जाने के निमित्त तत्त्व का भौतिक जामा पहनाना आवश्यक है। हम आवरण में ही वास्तविक को दृष्टि से खो बैठते हैं और उसे प्रतीक के रूप में मानने के स्थान पर उसीको वास्तविक समझने लगते है। यह लगभग एक विश्वव्यापी भूल है। प्रत्येक महान् धर्मोपदेशक यह जानता है और उससे सावधान रहने का प्रयत्न करता है, किन्तु साधारणतया मानवता अदृष्ट की अपेक्षा दृष्ट की पूजा करने को अधिक उन्मुख रहती है। इसीलिए व्यक्तित्व के पीछे निहित तत्त्व की ओर बारम्बार इंगित करके और उसे समय के अनुरूप एक नया आवरण देने के लिए पैग़म्बरों की परम्परा संसार में चली आयी है। सत्य सदैव अपरिवर्तित रहता है, किन्तु उसे एक 'रूपाकार' में ही प्रस्तुत किया जा सकता है, इसलिए समय समय पर सत्य को एक ऐसा नया रूप या अभिव्यक्ति दी जाती है जिसे मानव जाति अपनी प्रगति के फलस्वरूप ग्रहण करने में समर्थ होती है। जब हम अपने को नाम और रूप से मुक्त कर लेते हैं, विशेषतया जब हमें अच्छे या बुरे, सूक्ष्म या स्थूल किसी भी प्रकार के शरीर की आवश्यकता नहीं रह जाती, तभी हम बन्धन से छुटकारा पाते हैं। शाश्वत प्रगति शाश्वत बन्धन होगी। हमें समस्त विभेदीकरण से परे होना ही होगा और शाश्वत एकत्व या एकरूपता अथवा ब्रह्म तक पहुँचना ही होगा। आत्मा सभी व्यक्तियों की एक है और अपरिवर्तनीय है—'एक और अद्वितीय है।' वह जीवन नहीं है, अपितु वह जीवन में रूपांतरित कर ली जाती है। वह जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ से परे है। वह निरपेक्ष एकता है। नरक के बीच भी सत्य को खोजने का साहस करो। नाम और रूप की, सापेक्ष की मुक्ति कभी यथार्थ नहीं हो सकती। कोई रूप नहीं कह सकता 'मैं रूप की स्थिति में मुक्त हूँ।' जब तक रूप का संपूर्ण भाव नष्ट नहीं होता, मुक्ति नहीं आती। यदि हमारी मुक्ति दूसरों पर आघात करती है तो हम मुक्त नहीं हैं। हमें दूसरों को आघात नहीं पहुँचाना चाहिए। वास्तविक अनुभव केवल एक होता है, किन्तु सापेक्ष अनुभव अवश्य ही अनेक होते हैं। समस्त ज्ञान का स्रोत हममें से प्रत्येक में है—चींटी में तथा सर्वोच्च देवदूत में। वास्तविक धर्म एक है, सारा झगड़ा रूपों का, प्रतीकों का और दृष्टान्तों का है। सतयुग खोज लेनेवालों के लिए सतयुग पहले से ही विद्यमान है। सत्य यह है कि हमने अपने को खो दिया है और संसार को खोया हुआ समझते हैं। 'मूर्ख! क्या तू नहीं सुनता? तेरे अपने ही हृदय में रात-दिन वह शाश्वत संगीत हो रहा है, सच्चिदानन्द सोऽहम्, सोऽहम्!'

मनोकल्पना को वर्जित करके विचार करना असम्भव को सम्भव बनाना है। हर विचार के दो भाग होते हैं, विचारणा और शब्द, और हमें दोनों को

आवश्यकता है। जगत् की व्याख्या न तो आदर्शवादी (idealist) कर पाते हैं, न भौतिकवादी। इसके लिए हमें विचार और अभिव्यक्ति दोनों को लेना होगा। समस्त ज्ञान प्रतिबिम्बित का ज्ञान है, जैसे हम अपने ही मुख को एक दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते हैं। अतः कोई अपनी आत्मा या ब्रह्म को नहीं जान सकता, किन्तु प्रत्येक वही आत्मा है और उसे ज्ञान का विषय बनाने के लिए, उसे उसको प्रतिबिम्बित देखना आवश्यक है। अदृश्य तत्त्व के चित्रों का यह दर्शन ही तथाकथित मूर्ति-पूजा की ओर ले जाता है। मूर्तियों या प्रतिमाओं का क्षेत्र जितना समझा जाता है, उससे कहीं अधिक विस्तृत है। लकड़ी और पत्थर से लेकर वे ईसा या बुद्ध जैसे महान् व्यक्तियों तक फैली है। भारत में प्रतिमाओं का प्रारम्भ बुद्ध का एक वैयक्तिक ईश्वर के विरुद्ध अनवरत प्रचार का परिणाम है। वेदों में प्रतिमाओं की चर्चा भी नहीं है, किन्तु स्रष्टा और सखा के रूप में ईश्वर के लोप की प्रतिक्रिया ने महान् धर्मोपदेशकों की प्रतिमाएँ निर्मित करने का मार्ग दिखलाया और बुद्ध स्वयं मूर्ति बन गये, जिनकी करोड़ों लोग पूजा करते हैं। सुधार के दुर्धर्ष प्रयत्नों का अंत सदैव सच्चे सुधार को अवरुद्ध करने में होता है। उपासना करना, हर मनुष्य के स्वभाव में अंतर्निहित है; केवल उच्चतम दर्शन शास्त्र ही विशुद्ध अमूर्त विचारणा तक पहुँच सकता है। इसलिए अपने ईश्वर की पूजा करने के लिए मनुष्य उसे सदैव एक व्यक्ति का रूप देता रहेगा। जब तक प्रतीक की पूजा—वह चाहे जो कुछ हो—उसके पीछे स्थित ईश्वर के प्रतीक रूप में होती है, स्वयं प्रतीक की और प्रतीक के लिए ही नहीं, वह बहुत अच्छी चीज़ है। सर्वोपरि हमें अपने को, किसी बात पर, केवल इसलिए कि वह ग्रन्थों में है, विश्वास करने के अंधविश्वास से मुक्त करने की आवश्यकता है। हर वस्तु—विज्ञान, धर्म, दर्शन तथा अन्य सबको, जो किसी पुस्तक में लिखा हो उसके समरूप बनाना एक भीषणतम अत्याचार है। ग्रन्थ-पूजा मूर्ति-पूजा का निकृष्टतम रूप है। एक बारहसिंगा था, गर्वीला और स्वतंत्र। एक राजा के सदृश उसने अपने बच्चे से कहा, "मेरी ओर देखो, मेरे शक्तिशाली सींग देखो। एक चोट से मैं आदमी मार सकता हूँ। बारहसिंगा होना कितना अच्छा है।" ठीक तभी आखेटक के बिगुल की ध्वनि दूर पर सुनायी पड़ी और बारहसिंगा अपने चकित बच्चे द्वारा अनुचरित एकदम भाग पड़ा। जब वे एक सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये तो उसने पूछा, "हे मेरे पिता, जब तुम इतने बलवान और वीर हो तो तुम मनुष्य के सामने से क्यों भागते हो?" बारह-सिंगे ने उत्तर दिया, "मेरे बच्चे, मैं जानता हूँ कि मैं बलवान और शक्तिशाली हूँ, किन्तु जब मैं वह ध्वनि सुनता हूँ तो मुझ पर कुछ ऐसा छा जाता है, जो मुझे भगाता है, मैं चाहूँ या न चाहूँ।" ऐसा ही हमारे साथ है। हम ग्रन्थों में वर्णित नियमों

के 'बिगुल की ध्वनि' सुनते हैं, आदतें और पुराने अंधविश्वास हमें जकड़े रहते हैं; इसका ज्ञान होने के पूर्व ही हम दृढ़ता से बँध जाते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं, जो कि मुक्ति है।

ज्ञान का अस्तित्व शाश्वत है। जो व्यक्ति किसी आध्यात्मिक सत्य को खोज लेता है, उसे हम 'ईश्वर-प्रेरित' कहते हैं और जो कुछ वह संसार में लाता है, वह दिव्य ज्ञान या श्रुति है। किन्तु श्रुति भी शाश्वत है, और उसका अंतिम रूप निर्धारित करके उसका अंधानुसरण नहीं किया जा सकता। दिव्य ज्ञान की उपलब्धि ऐसे हर व्यक्ति को हो सकती है, जिसने अपने को उसे पाने के योग्य बना लिया हो। पूर्ण पवित्रता सबसे आवश्यक बात है; क्योंकि 'पवित्र हृदयवाला ही ईश्वर के दर्शन पा सकेगा।' समस्त प्राणियों में मनुष्य सर्वोच्च है, और यह जगत् सबसे महान्, क्योंकि यहाँ मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की जो सर्वोच्च कल्पना हम कर सकते हैं, वह मानवीय है। जो भी गुण हम उसमें आरोपित करते हैं, वे मनुष्य में हैं—केवल अल्प परिणाम में। जब हम ऊँचे उठते हैं और ईश्वर की इस कल्पना से निकलना चाहते हैं, हमें शरीर, मन और कल्पना के बाहर निकलना पड़ता है और इस जगत् को दृष्टि से परे करना होता है। जब हम ब्रह्म होने के लिए ऊँचे उठते हैं, हम संसार में नहीं रह जाते; सभी कुछ विषय रहित विषयी हो जाता है। जिस एकमात्र संसार को हम जान सकते हैं, मनुष्य उसका शिखर है। जिन्होंने एकत्व या पूर्णता प्राप्त कर ली है, 'उनको ईश्वर में निवास करनेवाला' कहा जाता है। समस्त घृणा 'अपने का अपने द्वारा हनन' है। अतः प्रेम ही जीवन का धर्म है। इस भूमिका तक उठना पूर्ण होना है, किन्तु जितने ही अधिक 'पूर्ण' हम होंगे, उतना ही कम काम हम कर सकेंगे। सात्त्विक जानते हैं कि यह संसार केवल बच्चों का खेल है और उसके विषय में चिन्ता नहीं करते। जब हम दो पिल्लों को लड़ते और एक दूसरे को काटते हुए देखते हैं तो हम बहुत उद्विग्न नहीं होते। हम जानते हैं, यह कोई गम्भीर बात नहीं है। पूर्ण व्यक्ति जानता है, यह संसार माया है। जीवन ही संसार कहा जाता है—वह हम पर क्रिया करनेवाली परस्पर विरोधी शक्तियों का परिणाम है। भौतिकवाद कहता है, 'मुक्ति की ध्वनि एक भ्रम मात्र है'; आदर्शवाद (idealist) कहता है, 'जो ध्वनि बन्धन के विषय में कहती है, स्वप्न मात्र है।' वेदान्त कहता है, 'हम एक ही साथ मुक्त हैं और मुक्त नहीं भी।' इसका अर्थ यह होता है कि हम पार्थिव स्तर पर कभी मुक्त नहीं होते, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में सदैव मुक्त हैं। आत्मा मुक्ति और बन्धन दोनों से परे है। हम ब्रह्म हैं, हम अमर ज्ञान हैं, इन्द्रियों से परे हैं, हम पूर्ण परमानन्द हैं।

सत्य और छाया (१)

जो एक वस्तु को दूसरी से भिन्न करता है, वह है देश, काल और कारणता। विभेद रूप में है, तत्त्व में नहीं।

तुम रूप को नष्ट कर सकते हो और वह सदा के लिए अंतर्धान हो जाता है। किन्तु तत्त्व जैसा का तैसा रहता है। तुम तत्त्व को कभी नष्ट नहीं कर सकते।

विकास प्रकृति में है, आत्मा में नहीं—प्रकृति का विकास, आत्मा की अभिव्यक्ति। माया की प्रायः जैसी व्याख्या की जाती है, वह भ्रमजाल नहीं है। माया सत्य है, किन्तु फिर भी सत्य नहीं होती। वह सत्य इसलिए है कि सत्य वस्तु उसके पीछे है और वह उसे सत्यता का आभास प्रदान करती है। माया में जो सत्यता है, वह माया के मध्य और माया में रहनेवाली सत्य वस्तु है। तथापि सत्य वस्तु कभी दिखायी नहीं पड़ती; और इसलिए जो दिखायी पड़ता है, वह असत्य है, उसका अपना कोई सत्य और स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, अपितु अपने अस्तित्व के निमित्त वह सत्य वस्तु पर निर्भर है।

तब माया एक विरोधाभास है, वह सत् है, फिर भी सत् नहीं है; एक भ्रम है, किन्तु फिर भी भ्रम नहीं है।

जो सत्य वस्तु को जान लेता है, वह माया में भ्रम नहीं वरन् सत्यता देखता है। जो सत्य वस्तु नहीं जानता, वह माया में भ्रम देखता है और उसे सत्य समझता है।

सत्य और छाया (२)

(ओकलैण्ड में ८ मार्च, १९०० को दिये गये एक भाषण का 'ओकलैण्ड ट्रिब्यून' की टिप्पणियों सहित विवरण)

हिन्दू दार्शनिक स्वामी विवेकानन्द ने कल संध्या वेंड्ट हॉल में दूसरा भाषण दिया। उनका विषय था 'सत्य और छाया।' उन्होंने कहा:

'मनुष्य की आत्मा किसी ध्रुव वस्तु की खोज में, किसी ऐसी वस्तु को पाने के लिए, जो परिवर्तित न होती हो, सदैव प्रयत्नशील रहती है। वह कभी संतुष्ट नहीं होती। धन, महत्त्वाकांक्षा या भूख की तुष्टि, सब परिवर्तनशील हैं। एक बार इन्हें प्राप्त करके मनुष्य संतुष्ट नहीं होता। धर्म वह विज्ञान है, जो हमें यह सिखाता है कि अपरिवर्तनशील की यह आकांक्षा कहाँ से पूरी हो। स्थानीय रंगों और व्युत्पत्ति के होते हुए भी वे एक ही बात सिखाते है कि सत्य केवल मनुष्य की आत्मा में ही है।

'वेदान्त दर्शन यह शिक्षा देता है कि दो जगत् है, बाह्य या गोचर और आन्तरिक या भीतरी––विचार-जगत्।

'वह देश, काल और कारणता के तीन मूलभूत प्रत्ययों की स्थापना करता है। इन्हींसे माया का निर्माण होता है, जो मानव विचार की आधार भूमि है, विचार का उत्पाद्य नहीं। महान् जर्मन दार्शनिक कांट भी आगे चलकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था।

'प्रकृति और ईश्वर की तथा मेरी वास्तविकता एक ही है, अन्तर केवल अभिव्यक्ति के रूप में है। विभेदीकरण माया द्वारा उत्पन्न होता है। जिस प्रकार तटवर्ती परिधि रेखा, महासागर को जल-संयोजक, खाड़ी या छोटी खाड़ी बना देती है, किन्तु जब रूप देनेवाली शक्ति या माया हटा ली जाती है, पृथक् रूप अंतर्हित हो जाता है, विभेदीकरण नष्ट हो जाता है और फिर सब महासागर हो जाता है।'

इसके उपरान्त स्वामी जी विकासवाद के सिद्धान्त का मूल वेदान्त दर्शन में पाया जाता है, इस विषय पर बोले। वक्ता ने भाषण जारी रखते हुए कहा:

'सभी आधुनिक धर्म इस विचार से प्रारम्भ होते हैं कि मनुष्य एक समय पवित्र था, उसका पतन हुआ और वह पुनः पवित्र होगा। मैं नहीं समझता, उनको

यह विचार कहाँ से प्राप्त हुआ। ज्ञान का स्थान आत्मा है, वाह्य वातावरण केवल आत्मा को उद्दीप्त करता है; ज्ञान आत्मा की शक्ति है। शताब्दियों से वह शरीर निर्माण करती रही है। अवतार के विभिन्न रूप, आत्मा की जीवन-कथा के केवल क्रमगत अध्याय हैं। हम निरन्तर अपने शरीर का निर्माण कर रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व प्रवाह, परिवर्तन, प्रसार और आकुंचन की स्थिति में है। वेदान्त मानता है कि तत्त्वतः आत्मा कभी नहीं वदलती, किन्तु वह माया द्वारा रूपान्तरित होती है। प्रकृति, मन द्वारा सीमित ईश्वर है। प्रकृति का विकास आत्मा का रूपान्तर है। सभी प्रकार के जीवों में आत्मा वही है। उसकी अभिव्यक्ति शरीर द्वारा रूपान्तरित होती है। आत्मा की यह एकता, मानवता का यह सामान्य तत्त्व नीति शास्त्र और नैतिकता का आवार है। इस अर्थ में सव एक हैं और अपने भाई को चोट पहुँचाना स्वयं अपने को चोट पहुँचाना है।

'प्रेम केवल इस असीम एकता की एक अभिव्यक्ति है। किस द्वैत प्रणाली पर आप प्रेम की व्याख्या कर सकते हैं? एक यूरोपीय दार्शनिक कहता है कि चुम्वन, नरमांस भक्षण का ही अवशेप है और यह व्यक्त करने का एक ढंग है कि 'आपका स्वाद कैसा अच्छा है।' मैं इसमें विश्वास नहीं करता।

'वह क्या है, जो हम सव खोजते हैं? मुक्ति। जीवन का सारा प्रयत्न और संघर्प मुक्ति के लिए है। वह महाजातियों, संसारों और प्रणालियों की विश्वव्यापी यात्रा है।

'यदि हम वद्ध हैं तो हमें किसने वाँवा? असीम को स्वयं उसीके अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं वाँध सकती।'

भापण के वाद भाषणकर्ता से प्रश्न करने का अवसर दिया गया, उन्होंने उनका उत्तर देने में आव घंटे का समय लगाया।

एकता

(जून १९०० में वेदान्त सोसाइटी, न्यूयार्क में दिये गये एक भाषण के अनुलेख)

भारत के विभिन्न सम्प्रदाय द्वैत या अद्वैत की केन्द्रीय धारणा से उद्भूत हुए हैं।

वे सभी वेदान्त के अन्तर्गत हैं और सबकी व्याख्या उनके द्वारा की गयी है। उनका अन्तिम सार एकत्व या अद्वैत की शिक्षा है। यह जिसे हम अनेक के रूप में देखते हैं, ईश्वर है। हम भौतिक द्रव, जगत् तथा विविध संवेद्यों का प्रत्यक्ष करते हैं। किन्तु है केवल एक ही सत्ता।

ये विविध नाम, उस एक की अभिव्यक्ति में केवल परिमाण की भिन्नता को प्रकट करते हैं। आज का कीट कल का ईश्वर है। ये भिन्नताएँ, जिनसे हम इतना प्रेम करते हैं, एक असीम तथ्य के अंश हैं और उनमें भिन्नता केवल अभिव्यक्ति के परिमाण में ही है। वह एक असीम तथ्य है—मुक्ति की उपलब्धि।

प्रणाली के विषय में हम चाहे जितनी भूल में क्यों न हों, हमारा सारा संघर्ष वास्तव में मुक्ति के लिए है। मनुष्य की अतृप्त पिपासा का रहस्य यही लक्ष्य है। हिन्दू कहता है, बौद्ध कहता है कि मनुष्य की पिपासा की एक जलती हुई अतृप्ति तथा अधिकाधिक के लिए है। आप अमरीकी लोग सदैव अधिक सुख, अधिक भोग की खोज में रहते हैं। आप संतुष्ट नहीं किये जा सकते, यह सत्य है; पर अंतराल में, जो आप खोजते हैं, वह मुक्ति ही है।

कामना का यह विस्तार वास्तव में मनुष्य की अपनी ही असीमता का चिह्न है। चूंकि वह असीम है, इसलिए वह केवल तभी संतुष्ट किया जा सकता है, जब उसकी कामना असीम हो और उसकी परितुष्टि भी असीम हो।

तब मनुष्य को क्या संतुष्ट कर सकता है? स्वर्ण नहीं। भोग नहीं। सौन्दर्य नहीं। उसे केवल एक असीम ही संतुष्ट कर सकता है और वह असीम वह स्वयं है। जब वह यह अनुभव कर लेता है, तभी मुक्ति मिलती है।

'यह बाँसुरी, जिसके सुरों के छेद इन्द्रियाँ हैं, अपनी समस्त उत्तेजनाओं, प्रत्यक्षों और गीतों में केवल एक ही वस्तु गा रही है। वह उस लकड़ी में पुनः जाना चाहती है, जिससे वह काटी गयी थी। तू अपना अपने ही द्वारा उद्धार कर। अरे, तू

अपने को डूबने न दे। क्योंकि तू स्वयं ही अपना सर्वोत्तम मित्र है और तू ही अपना महत्तम शत्रु।'

असीम की कौन सहायता कर सकता है! वह हाथ भी, जो तुम्हारे पास अंधकार के बीच से आयेगा, तुम्हारा अपना ही हाथ होगा।

इन सबके दो कारण, भय और कामना हैं और कौन उनकी सृष्टि करता है? हम स्वयं। हमारा जीवन केवल एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को जाना ही तो है। असीम स्वप्नद्रष्टा मानव ससीम स्वप्न देख रहा है। अहा, उसकी महिमा है कि कुछ भी बाह्य वस्तु शाश्वत नहीं हो सकती! जिनके हृदय यह सुनकर हिल जाते हैं कि इस सापेक्ष संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं हो सकता, उनका आशय क्या है, यह वे बहुत कम जानते हैं।

मैं असीम नीलाकाश हूँ। मेरे ऊपर से ये विभिन्न रंगों के बादल निकलते हैं, एक क्षण रहते हैं, अंतर्धान हो जाते हैं। मैं वही शाश्वत नील हूँ। मैं द्रष्टा हूँ, सबका वही शाश्वत द्रष्टा। मैं देखता हूँ, इसलिए प्रकृति का अस्तित्व है। मैं नहीं देखता, इसलिए उसका अस्तित्व नहीं है। यदि यह असीम एकता एक क्षण के लिए भी भंग हो जाय तो हममें से एक भी देख और बोल नहीं पायेगा।

माया का क्या कारण है ?

माया (भ्रम) का क्या कारण है—यह प्रश्न गत तीन सहस्र वर्षों से पूछा जा रहा है। इसका केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है, और वह यह है कि जब संसार इस संबंध में एक तर्कसंगत प्रश्न उठा सकेगा, तभी हम इसका उत्तर देंगे। उपर्युक्त प्रश्न तो एक विरोधाभास है। हमारा कहना है कि निरपेक्ष केवल आपाततः सापेक्ष बना दीख पड़ता है, निरुपाधिक केवल माया में ही सोपाधिक बना प्रतीत होता है। निरुपाधिक को स्वीकार करने से ही हमें मानना पड़ता है कि निरपेक्ष पर अन्य किसी की क्रिया नहीं हो सकती। वह कारणरहित है, तात्पर्य यह कि उस पर किसी बाह्य वस्तु की क्रिया नहीं हो सकती। सर्वप्रथम यदि वह निरुपाधिक है—तो अन्य किसीकी क्रिया उस पर नहीं हुई है। असीम में देश, काल और निमित्त नहीं हो सकते। यदि यह मान लिया जाय तो तुम्हारा प्रश्न यह रूप ले लेता है: 'कारणरहित वस्तु (ब्रह्म) के इस रूप में परिवर्तित होने का क्या कारण है?' तुम्हारा प्रश्न केवल ससीम में ही सम्भव है; पर तुम उसे ससीम या सापेक्ष की परिधि से बाहर निकाल कर असीम या निरपेक्ष के सम्बन्ध में प्रयुक्त करना चाहते हो। निरपेक्ष जब सापेक्ष बन जाय और देश-काल-निमित्त-रूप उपाधियाँ आ जायँ, तभी यह प्रश्न पूछा जा सकता है। यह प्रश्न असम्भव है। हम केवल इतना ही कह सकते है कि अज्ञान भ्रम का कारण है। निरपेक्ष पर किसीका कार्य नही हो सकता। कोई कारण नहीं था। बात यह नहीं कि हम उसके विषय में जानते न हों, अथवा हम अज्ञानी हों; पर सच बात तो यह है कि वह ज्ञान से परे है, और उसे ज्ञान के स्तर पर नही लाया जा सकता। 'मैं नहीं जानता', यह वाक्य हम दो अर्थो में प्रयुक्त कर सकते है। पहला तो यह कि हम ज्ञान के स्तर से नीचे हैं; और दूसरा यह कि जिसे हम जानना चाहते हैं, वह वस्तु ज्ञान से ऊपर है—परे है। आज हमें 'एक्स-रे' नामक किरणें ज्ञात हैं। उनके कारणों के संबंध मे अभी विवाद है, पर कभी न कभी हम उसे जान ही लेंगे, ऐसा हम निश्चित मानते है। यहाँ हम कह सकते हैं कि हम एक्स-रे के बारे में नहीं जानते। पर निरपेक्ष के संबंध में हम नहीं जान सकते। हम एक्स-रे को नहीं जानते, यद्यपि वह ज्ञान की सीमा के भीतर है; बात केवल इतनी ही है कि अभी तक हम उन्हें जान नहीं पाये हैं। पर निरपेक्ष के संबंध में यह बात लागू नहीं होती, वह तो ज्ञान के स्तर से इतना ऊँचा है—इतना परे है कि वह जानने का विषय ही नहीं रह जाता।

विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?—ज्ञाता को कैसे जाना जा सकता है ? तुम सदा 'तुम' ही हो, तुम अपने आपको विषय नहीं बना सकते। अमरत्व को सिद्ध करने के लिए हमारे दार्शनिकों के हाथ में अनेक युक्तियों में से यह एक थी। यदि मैं सोचने का प्रयत्न करूँ कि मैं मरा पड़ा हूँ तो मुझे क्या कल्पना करनी होगी ? यही कि मैं खड़ा हूँ और अपने आपको—किसी एक मृत शरीर को देख रहा हूँ। अतएव मैं अपने आपको विषय नहीं बना सकता।

बहु रूप में प्रतीयमान एक सत्ता

(न्यूयार्क, १८९६ ई० में दिया हुआ भाषण)

हमने देखा है, वैराग्य अथवा त्याग ही इन समस्त विभिन्न योगों की धुरी है। कर्मी कर्मफल त्याग करता है। भक्त उन सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी प्रेम-स्वरूप के लिए समस्त क्षुद्र प्रेमों का त्याग करता है; योगी जो कुछ अनुभव करता है, उसका परित्याग करता है; क्योंकि उसके दर्शन की शिक्षा यही है कि प्रकृति यद्यपि आत्मा की अभिज्ञता के लिए है, वह अन्त में उसे समझा देती है कि वह प्रकृति में अवस्थित नहीं है, किन्तु प्रकृति से नित्य पृथक् है। ज्ञानी सब कुछ त्याग करता है, क्योंकि उसके दर्शन शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि भूत, भविष्यत्, वर्तमान किसी काल में भी प्रकृति का अस्तित्व नहीं है। हमने यह भी देखा है, इन सब उच्चतर विषयों में उपयोगिता का प्रश्न किया ही नहीं जा सकता। यह प्रश्न उठाना ही निरर्थक है, और यदि उसे पूछा ही जाय तो हम इस प्रश्न का सम्यक् विश्लेषण करके क्या पाते हैं? उपयोगिता का अर्थ क्या है?—सुख। सुख का आदर्श, वह जिससे मनुष्य को अधिक सुख प्राप्त होता है, उसके लिए इन उच्चतर वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी हैं, जिनसे उसकी भौतिक परिस्थिति में कोई उन्नति नहीं होती। समग्र विज्ञान इसी एक लक्ष्य-साधन में अर्थात् मनुष्य जाति को सुखी करने के लिए यत्न कर रहा है, तथा जिससे अधिक परिमाण में सुख उत्पन्न होता है, मनुष्य उसे ही ग्रहण करके जिसमें अल्प सुख है उसे त्याग देता है। हमने देखा है, कैसे सुख देह में अथवा मन में अथवा आत्मा में अवस्थित है। पशुओं का एवं पशुप्राय निम्नतम मनुष्यों का समस्त सुख देह में है। भूख से आर्त एक कुत्ता अथवा भेड़िया जिस प्रकार सुखपूर्वक आहार करता है, कोई मनुष्य उस प्रकार नहीं कर सकता। अतः कुत्ते अथवा भेड़िये के सुख का आदर्श सम्पूर्ण रूप से देहगत है। मनुष्य में हम एक उच्चतर स्तर का, विचार-स्तर का, सुख देखते हैं। सर्वोच्च स्तर का सुख ज्ञानी का है—वे आत्मानन्द में विभोर रहते है। आत्मा ही उनके सुख का एकमात्र उपकरण है। अतएव ज्ञानी के पक्ष में यह आत्मज्ञान ही परम उपयोगिता है; क्योंकि इससे ही वे परम सुख प्राप्त करते हैं। इन्द्रियचरितार्थता उनके लिए सर्वोच्च उपयोगिता का विषय हो नहीं सकता, क्योंकि वे ज्ञान में जिस प्रकार का सुख प्राप्त करते है, विषयसमूह अथवा इन्द्रिय-भोग

से उस प्रकार नहीं पाते। तथा वास्तव में ज्ञान ही सवका एकमात्र लक्ष्य है, तथा हम जितने प्रकार के सुख के विषयों से परिचित हैं, उनमें से ज्ञान ही सर्वोच्च सुख है। जो अज्ञान में कार्य किया करते हैं, वे 'देवगण के जलवाहक पशुओं के सदृश हैं।' यहाँ देव शब्द का प्रयोग ज्ञानी व्यक्ति के अर्थ में किया गया है। वे सव जो व्यक्ति यंत्रवत कार्य अथवा परिश्रम करते रहते हैं, वे वास्तव में जीवन का उपभोग नहीं करते, ज्ञानी व्यक्ति ही जीवन का उपभोग करते हैं। एक धनी व्यक्ति एक लाख रुपये व्यय करके एक चित्र मोल लेता है, किन्तु जो शिल्प समझ सकता है, वही उसका रसास्वादन कर सकता है; और धनी व्यक्ति यदि शिल्पज्ञानशून्य हो तो उसके लिए वह चित्र निरर्थक है, वह केवल उसका मालिक मात्र है। जगत् में सर्वत्र ज्ञानी व्यक्ति ही जगत् का सुख-भोग करते हैं। अज्ञानी व्यक्ति कभी सुख-भोग कर नहीं सकता, उसे अज्ञात अवस्था में भी दूसरे के लिए परिश्रम करना होता है।

यहाँ तक हमने अद्वैतवादियों के सिद्धांतों को देख लिया, हमने देखा—उनके मत के अनुसार आत्मा केवल एक है, दो आत्माएँ नहीं हो सकतीं। हमने देखा—समग्र जगत् में केवल एक ही सत्ता विद्यमान है, तथा वही एक सत्ता इन्द्रियों के माध्यम से दिखायी पड़ने पर जगत् कहलाती है। मन के माध्यम से देखे जाने पर भाव-जगत् कहते हैं तथा उसके यथार्थ स्वरूप को जानने पर वह एक अनन्त सत् के रूप में प्रतीत होती है। इस विषय को तुम विशेष रूप से स्मरण रखोगे—यह कहना ठीक नहीं है कि मनुष्य के भीतर एक आत्मा है, यद्यपि समझाने के लिए पहले हमें इस प्रकार मान लेना पड़ा था। वास्तव में केवल एक सत्ता विद्यमान है एवं वह सत्ता आत्मा है—और वह जव इन्द्रियों और इन्द्रिय-बिम्व-विधानों के माध्यम से अनुभूत होती है, तव उसे ही देह कहते हैं; जब वह विचार के द्वारा अनुभूत होती है, तव उसे ही मन कहते हैं तथा जव वह अपने स्व-स्वरूप में उपलब्ध होती है, तव वह आत्मा के रूप में—उसी एक अद्वितीय सत्ता के रूप में प्रतीत होती है। अतएव ऐसा नहीं है कि एक स्थान में देह, मन और आत्मा—ये तीनों वस्तुएँ विद्यमान हैं—यद्यपि इस प्रकार की व्याख्या करके समझाना सुविधाजनक था—किन्तु सव वही आत्मा है तथा वह एक सत् ही विभिन्न दृष्टियों के अनुसार कभी देह, कभी मन अथवा कभी आत्मा रूप में अभिहित हुआ करता है। सत् तो केवल मात्र एक है, अज्ञानी लोग उसे ही जगत् कहा करते हैं। जव वह व्यक्ति ज्ञान में अपेक्षाकृत उन्नत होता है, तव वह उस सत् को ही भाव-जगत् कहने लगता है। तथा जव पूर्ण ज्ञान का उदय होता है तो सारा भ्रम उड़ जाता है, और तव मनुष्य देखता है कि यह सव आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' मैं वही एक सत्ता हूँ।' यही अंतिम निष्कर्ष है। जगत् में दो-तीन सत्ताएँ

नहीं हैं, सब ही एक हैं। वह एक सत्ता ही माया के प्रभाव से वहु रूप में दिखायी पड़ रही है, जिस प्रकार अज्ञान वश रस्सी में साँप का भ्रम हो जाता है। वह रस्सी ही साँप के समान दिखायी पड़ती है। यहाँ रस्सी अलग और साँप अलग—दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। कोई यहाँ दो वस्तुएँ नहीं देखता। द्वैतवाद, अद्वैतवाद अत्यन्त सुन्दर दार्शनिक शव्द हो सकते हैं, किन्तु पूर्ण उपलव्धि की प्रक्रिया में हम एक समय में ही सत्य और मिथ्या कभी देख नहीं पाते। हम सव जन्म से ही अद्वैतवादी हैं, इस वात से भागने का उपाय नहीं है। हम सव समय एक को ही देखते हैं। जव हम रस्सी देखते हैं, तव साँप विल्कुल नहीं देखते, और जव साँप देखते हैं, तव रस्सी विल्कुल नहीं देखते—वह उस समय विलुप्त हो जाती है। जव तुमको भ्रम-दर्शन होता है, तव तुम सत्य नहीं देखते। मान लो, दूर से मार्ग में तुम्हारे एक वन्वु आ रहे हैं। तुम उनसे वहुत अच्छी तरह परिचित हो, किन्तु तुम्हारे सम्मुख कुहरा और धुंघ होने के कारण तुम उन्हें अन्य व्यक्ति समझ रहे हो। जव तुम अपने वन्वु को अन्य व्यक्ति समझ रहे हो, तव तुम अपने वन्वु को नहीं देखते, वे ग़ायव हो जाते हैं। तुम केवल एक को देख रहे हो। मान लो, तुम्हारे वन्वु को 'क' कहकर अभिहित किया गया। तव तुम जव 'क' को 'ख' के रूप में देखते हो, तव तुम 'क' को विल्कुल ही नहीं देखते। इस प्रकार सव स्थानों में तुमको एक की ही उपलव्धि होती है। जव तुम अपने को देहरूप में देखते हो, तव तुम देह मात्र हो, और कुछ नहीं हो, तथा जगत् के अविकांश मनुष्यों को ही इसी प्रकार की उपलव्धि होती है। वे आत्मा, मन आदि वातें मुँह से कह सकते हैं, किन्तु देखते हैं, यह स्थूल भौतिक आकृति ही—स्पर्श, दर्शन, आस्वाद इत्यादि। कोई कोई व्यक्ति अपनी ज्ञानभूमि की विशेष प्रकार की अवस्था में अपने को विचार या भावरूप में अनुभव किया करते हैं। सर हम्फ़्री डेवी के सम्वन्ध में जो कथा है, उससे तुम परिचित ही होगे। वे अपनी कक्षा में 'हास्यजनक गैस' (Laughing Gas) लेकर प्रयोग कर रहे थे। हठात् एक नली टूट जाने के कारण वह गैस वाहर निकल आयी और निःश्वास के संयोग से उन्होंने उसे ग्रहण किया। कुछ क्षणों तक वे पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल भाव से खड़े रहे। अन्त में उन्होंने कक्षा के विद्यार्थियों से कहा, जव हम उस अवस्था में थे, हम अनुभव कर रहे थे कि समस्त जगत् भावों अथवा प्रत्ययों से निर्मित है। उस गैस की शक्ति से कुछ क्षणों के लिए उन्हें अपना देह-ज्ञान विस्मृत हो गया था, और जिसे पहले वे शरीर के रूप में देख रहे थे, उसे ही इस समय विचार अथवा भावसमूह के रूप में देख सके। जव चेतना और भी उच्चतर अवस्था में जाती है, जव यह क्षुद्र चेतना सदा के लिए नष्ट हो जाती है, तव सवके पीछे जो सत्य वस्तु विद्यमान है, वह प्रकाशित होने लगती है। उसका तव हम अखण्ड सच्चिदा-

नन्दरूप में—उस एक आत्मा के रूप में—अनन्त सर्वव्यापी रूप में दर्शन करते हैं। 'वह जो स्वयं ज्ञानरूप है, वह जो स्वयं आनन्दरूप है, तुलनातीत, सीमातीत, नित्य मुक्त, सर्वदा अबद्ध, गगन सदृश असीम, गगनवत नित्य है, वह पूर्ण समाधि की अवस्था में तुम्हारे हृदय में अपने को प्रकट करेगा।'[1]

अद्वैत सिद्धांत स्वर्गों और नरकों की विविध अवस्थाओं तथा सभी धर्मों में मिलनेवाली इस प्रकार की विविध कल्पनाओं की किस प्रकार व्याख्या करता है? जब मनुष्य की मृत्यु होती है, कहा जाता है कि वह स्वर्ग में अथवा नरक में जाता है, यहाँ-वहाँ नाना स्थानों में जाता है अथवा स्वर्ग में या अन्य किसी लोक में देह धारण करके जन्म ग्रहण करता है। यह सब मिथ्या कल्पना है। वास्तव में कोई उत्पन्न भी नही होता, मरता भी नहीं है। वस्तुतः स्वर्ग भी नहीं है, नरक भी नहीं है और इहलोक भी नहीं है। इन तीनों का ही किसी काल में अस्तित्व नहीं है। एक बालक को अनेक भूतों की कहानियाँ सुनाकर सन्ध्या के समय उसे बाहर जाने को कहो। वहाँ कटे हुए पेड़ का एक छोटा सा तना है। बालक क्या देखता है? वह देखता है—एक भूत हाथ बढ़ाकर उसे पकड़ने को आ रहा है! मान लो, एक व्यक्ति मार्ग के एक कोने से अपनी प्रेमिका के दर्शन करने के लिए आ रहा है—वह उस पेड़ के तने को अपनी प्रणयिनी समझ लेता है। एक पुलिसवाला उसे चोर समझेगा, तथा चोर उसे पुलिसवाला ठहरायेगा। वह एक ही तना विभिन्न रूप में दिखायी पड़ रहा है। पेड़ का वही तना विभिन्न रूपों में दिखलायी पड़ा। सत्य तो पेड़ का तना ही है, उसके विविध रूप विविध मानसों के अध्यास। एक मात्र सत्—यह आत्मा ही विद्यमान है। वह न कहीं जाती है, न आती है। अज्ञानी मनुष्य स्वर्ग अथवा उस प्रकार के स्थान में जाने की वासना करता है, समस्त जीवन उसने लगातार केवल उसकी ही चिन्ता की है। जब उसका इस पृथ्वी का स्वप्न नष्ट हो जाता है, तब वह इस जगत् को ही स्वर्गरूप में देखता है—जिसमें देवतागण हैं, और देवदूत इधर-उधर उड़ रहे हैं, इत्यादि इत्यादि। यदि कोई व्यक्ति जीवन भर अपने पूर्व पितरों को देखना चाहता रहा हो तो वह आदम से आरम्भ करके सबको ही देख लेता है, क्योंकि, वह स्वयं ही उन सबकी सृष्टि करता है। यदि कोई और

---

१. किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम्।
निरवधि गगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ।

—विवेकचूड़ामणि ॥४१०॥

भी अधिक अज्ञानी हो और धर्मान्धों ने चिर काल तक उसे नरक का भय दिखाया हो तो वह मृत्यु के पश्चात् इस जगत् को ही नरक के रूप में देखता है। मृत्यु अथवा जन्म का अर्थ केवल दृष्टि का परिवर्तन है। तुम न कहीं जाते हो, न वह जिसके ऊपर अपना दृष्टिक्षेप करते हो। तुम तो नित्य और अपरिणामी हो। तुम्हारा फिर जाना-आना क्या है? यह असम्भव है। तुम तो सर्वव्यापी हो। आकाश कभी गमन नहीं करता, किन्तु उसके ऊपर से मेघ इस दिशा से उस दिशा की ओर जाया करते हैं—हम समझते हैं, आकाश ही गतिशील हुआ है। रेलगाड़ी में चढ़कर यात्रा करते समय जैसे पृथिवी गतिशील प्रतीत होती है, यह भी ठीक उसी प्रकार है। वास्तव में तो पृथिवी डिग नहीं रही है, रेलगाड़ी ही चल रही है। इसी प्रकार तुम जहाँ थे, वहीं हो, केवल ये सब विभिन्न स्वप्न हैं, मेघसमूह के समान इस-उस दिशा में जा रहे हैं। एक स्वप्न के पश्चात् और एक स्वप्न आ रहा है—उनमें परस्पर कोई सम्वन्ध नहीं है। इस जगत् में नियम अथवा सम्वन्ध जैसा कुछ भी नहीं है, किन्तु हम सोच रहे हैं, परस्पर प्रचुर सम्वन्ध है। तुम सवने ही सम्भवतः 'आश्चर्य-लोक में एलिस' (Alice in Wonderland) नामक ग्रन्थ पढ़ा है। वालकों के लिए इस शताब्दी में लिखी यह पुस्तक सवसे अद्भुत है। मैंने उस पुस्तक को पढ़कर वहुत आनन्द लाभ किया था—मेरे मन में वरावर वालकों के लिए उस प्रकार की पुस्तक लिखने की इच्छा थी। हमें उसमें सवसे अधिक अच्छा यह लगा था कि आप जिसे सवसे अधिक असंगत समझते हैं, वही उसमें है—किसीके साथ किसीका कोई सम्वन्ध नहीं है। एक भाव आकर मानो दूसरे में कूद पड़ रहा है—उनमें परस्पर कोई सम्वन्ध नहीं है। जव तुम लोग शिशु थे, तुम सोचते थे, उनमें परस्पर अद्भुत सम्वन्ध विद्यमान है। उस व्यक्ति ने अपनी शैशवावस्था के विचारों को—शैशवावस्था में जो जो उसे सम्पूर्ण सम्वन्धयुक्त प्रतीत होता था, उन्हें ही लेकर शिशुओं के लिए उस पुस्तक की रचना की है। किन्तु वे सारी पुस्तकें व्यर्थ हैं जिन्हें वयस्क व्यक्ति लिखते हैं और जिनमें वे अपने वयस्क विचारों को वच्चों के गले के नीचे उतार देना चाहते हैं। हम भी वयःप्राप्त शिशु मात्र हैं, वस। हमारा जगत् भी उसी प्रकार की असम्वद्ध वस्तु मात्र है—वह सव एलिस का अद्भुत लोक है—किसीके साथ किसीका किसी प्रकार का सम्वन्ध नहीं है। हम जव अनेक वार कुछ घटनाओं को एक निर्दिष्ट अनुक्रम में घटित होते देखते हैं, हम उन्हें ही कार्य-कारण के नाम से अभिहित करते हैं, और कहते हैं कि वे फिर भी घटित होंगी। जव यह स्वप्न वदल जायगा तो उसका स्थान ग्रहण करनेवाला दूसरा स्वप्न भी इसके ही समान सम्वन्धयुक्त प्रतीत होगा। स्वप्न-दर्शन के समय हम जो कुछ देखते हैं, वह सव परस्पर सम्वन्धयुक्त प्रतीत होता है, स्वप्न की अवस्था में हमें वह

कभी असम्बद्ध अथवा असंगत नहीं लगता—केवल जब हम जाग उठते हैं, तभी सम्बन्ध का अभाव देख पाते हैं। इसी प्रकार जब हम इस जगद्रूपी स्वप्न-दर्शन से जाग उठकर इस स्वप्न की सत्य के साथ तुलना करके देखेंगे, तब वह सब असम्बद्ध और निरर्थक प्रतीत होगा—असंगति की ऐसी राशि जो हमारे सम्मुख चली जा रही है, जिसके विषय में हम नहीं जानते कि वह कहाँ से आयी, कहाँ जा रही है, किन्तु हम यह जानते हैं कि उसका अन्त होगा। इसे ही माया कहते हैं और वह दल के दल गतिशील मेघजालों के समान है। यह इस परिवर्तनशील का प्रतिनिधि है और वह अपरिणामी सूर्य तुम स्वयं हो। जब तुम उस अपरिणामी सत्ता को बाहर से देखते हो, तब उसे तुम ईश्वर कहते हो और भीतर से देखने पर उसे तुम निज की आत्मा अथवा स्वरूप कहते हो। वह है, केवल एक ही। तुमसे पृथक् ईश्वर नहीं है, तुमसे—यथार्थतः जो तुम हो—उससे श्रेष्ठतर ईश्वर नहीं है—सब ईश्वर या देवता ही तुम्हारी तुलना में क्षुद्रतर हैं; ईश्वर और स्वर्गस्थ पिता आदि की समस्त धारणा तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब मात्र है। ईश्वर स्वयं ही तुम्हारा प्रतिबिम्ब या प्रतिमा-स्वरूप है। 'ईश्वर ने मानव की अपने प्रतिबिम्ब के रूप में सृष्टि की'—यह भूल है। मनुष्य ईश्वर की निज के प्रतिबिम्ब के अनुसार सृष्टि करता है—यह बात ही सत्य है। समस्त जगत् में ही हम अपने प्रतिबिम्ब के अनुसार ईश्वर अथवा देवगण की सृष्टि करते हैं। हम देवता की सृष्टि करते हैं, उनके पदतल पर गिरकर उसकी उपासना करते हैं, और ज्योंही यह स्वप्न हमारे निकट आता है, तब हम उससे प्रेम करने लगते हैं।

यह बात समझ लेना उत्तम होगा कि आज सुबह की वक्तृता का सार यह है कि, मात्र एक ही सत्ता है तथा वह एक सत्ता ही विभिन्न मध्यवर्ती वस्तुओं के मध्य से होकर दिखायी पड़ने पर, वही पृथिवी अथवा स्वर्ग अथवा नरक अथवा ईश्वर अथवा भूत-प्रेत अथवा मानव अथवा दैत्य अथवा जगत् अथवा वह सब कुछ प्रतीत होती है। किन्तु इन सब विभिन्न वस्तुओं में—'जो इस मृत्यु के सागर में उस एक का दर्शन करता है, जो इस संतरणशील विश्व में उस एक जीवन का दर्शन करता है, जो उस अपरिवर्तनशील का साक्षात्कार करता है, उसीको चिरंतन शांति की उपलब्धि होगी, किसी अन्य को नहीं, किसी अन्य को नहीं।"[1] उसी एक सत्ता का साक्षात्कार करना होगा। किस प्रकार—यह प्रश्न आगे का है। किस प्रकार उसकी सिद्धि हो ? किस प्रकार यह स्वप्न भंग हो कि हम क्षुद्र क्षुद्र नर-नारी हैं आदि। यह जो स्वप्न है—इससे किस प्रकार हम जागेंगे ? हम ही समस्त जगत् के वे अनन्त सत् हैं तथा हमने

---

१. कठोपनिषद् ॥५।१३॥

जड़भावापन्न होकर यह क्षुद्र क्षुद्र नर-नारीरूप धारण किया है—हम एक व्यक्ति की मधुर वात से गल जाते हैं तथा दूसरे एक व्यक्ति की कड़ी वात से गरम हो उठते हैं। कितनी भयानक निर्भरता है—कितना भयानक दासत्व है! मैं—जो सकल सुख-दुःख के अतीत हूँ, समस्त जगत् ही जिसका प्रतिविम्ब-स्वरूप है—सूर्य, चन्द्र, तारा, जिसके प्राणों के लघु कण मात्र हैं—वह मैं इस प्रकार भयानक दास-भावापन्न हो गया हूँ! हमारी देह में तुम्हारे एक चिमटी के काटने पर हमें कष्ट होता है। कोई यदि एक मीठी बात करता है, त्योंही हमें आनन्द होने लगता है। हमारी कैसी दुर्दशा है, देखो—हम देह के दास, मन के दास, जगत् के दास, एक अच्छी वात के दास, एक वुरी बात के दास, वासना के दास, सुख के दास, जीवन के दास, मृत्यु के दास—हम सव वस्तुओं के दास हैं! यह दासत्व हटाना होगा कैसे? 'इस आत्मा के सम्वन्ध में पहले सुनना होगा, तत्पश्चात् उसे लेकर मनन अर्थात् विचार करना होगा, तत्पश्चात् उसका निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करना होगा।'[1] अद्वैतज्ञानी की यही साधना-प्रणाली है। सत्य को पहले सुनना होगा, फिर उस पर मनन करना होगा, उसके पश्चात् उसे निरन्तर दृढ़ करते रहना होगा। सर्वदा ही सोचो, 'हम ब्रह्म हैं'। अन्य सव विचारों को दुर्वलताजनक मानकर दूर कर देना होगा। जिस किसी विचार से तुमको अपने नर-नारी होने का ज्ञान होता है, उसे दूर कर दो। देह जाय, मन जाय, देवता भी जायँ, भूत-प्रेत आदि भी जायँ, उस एक सत्ता के अतिरिक्त सव जायँ। "जहाँ एक व्यक्ति अन्य को देखता है, एक व्यक्ति अन्य कुछ सुनता है, एक व्यक्ति अन्य कुछ जानता है, वह क्षुद्र अथवा ससीम है; तथा जहाँ एक व्यक्ति अन्य को देखता नहीं, एक व्यक्ति अन्य कुछ सुनता नहीं, एक व्यक्ति अन्य कुछ जानता नहीं, वही भूमा अर्थात् महान् अथवा अनन्त है।'[2] वही सर्वोत्तम वस्तु है, जहाँ विषयी और विषय एक हो जाते हैं। जव हम ही श्रोता और हम ही वक्ता हैं, जव हम ही आचार्य और हम ही शिष्य हैं, जव हम ही स्रष्टा और हम ही सृष्ट हैं, केवल तभी भय का नाश होता है, क्योंकि हमें भयभीत करनेवाला और कोई अथवा कुछ नहीं है। हमारे अतिरिक्त जव और कुछ भी नहीं है, तव हमें भय दिखायेगा कौन? दिन-प्रतिदिन यही तत्त्व सुनना होगा। अन्य सव विचारों को दूर कर दो—और सव दूर तोड़कर फेंक दो, निरन्तर उसकी आवृत्ति

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ॥५।६॥

२. यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा।
अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्॥
—छान्दोग्योपनिषद् ॥७।२४।१॥

करो। जब तक वह हृदय में न पहुँचे, जब तक प्रत्येक स्नायु, प्रत्येक मांस-पेशी, यहाँ तक कि प्रत्येक शोणित-बिंदु तक हम ही वह हैं, हम ही वह हैं, इस भाव से पूर्ण न हो जाय, तब तक कान के भीतर से यह तत्त्व क्रमशः भीतर प्रवेश कराना होगा। यहाँ तक कि मृत्यु के सामने होकर भी कहो—हम ही वह हैं। भारत में एक संन्यासी थे—वे शिवोऽहं,शिवोऽहं की आवृत्ति करते थे। एक दिन एक बाघ आकर उनके ऊपर कूद पड़ा और खींच ले जाकर उसने उन्हें मार डाला। जब तक वे जीवित रहे, तब तक शिवोऽहं, शिवोऽहं ध्वनि सुनी गयी थी! मृत्यु के द्वार में, घोरतर विपद् में, रणक्षेत्र में, समुद्रतल में, उच्चतम पर्वत शिखर में, गंभीरतर अरण्य में, चाहे जहाँ क्यों न पड़ जाओ, सर्वदा अपने से कहते रहो—'मैं वह हूँ, मैं वह हूँ,' दिन-रात बोलते रहो, 'मैं वह हूँ।' यह सर्वोत्कृष्ट बल है, यही धर्म है। 'दुर्बल व्यक्ति कभी आत्मा को लाभ नहीं कर सकता।'[1] कभी मत कहो 'हे प्रभो! मैं अति अधम पापी हूँ।' कौन तुम्हारी सहायता करेगा? तुम जगत् के साहाय्य-कर्ता हो—तुम्हारी इस बात में फिर कौन सहायता कर सकता है? तुम्हारी सहायता करने में कौन मानव, कौन देवता अथवा कौन दैत्य सक्षम है? तुम्हारे ऊपर और किसकी शक्ति काम करेगी? तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो—तुम फिर कहाँ सहायता ढूंढ़ोगे? तुमने जो कुछ सहायता पायी है, अपने निज के अतिरिक्त और किसी से नहीं पायी। तुमने प्रार्थना करके जिसका उत्तर पाया है, उसे अज्ञातावश तुमने सोचा है कि अन्य किसी पुरुष ने उसका उत्तर दिया है, किन्तु अनजान में तुमने स्वयं ही उस प्रार्थना का उत्तर दिया है। तुमसे ही सहायता आयी थी, किन्तु तुमने आग्रह के सहित कल्पना कर ली थी कि अन्य कोई तुमको सहायता भेज रहा है। तुम्हारे बाहर तुम्हारा साहाय्य-कर्ता और कोई नहीं है—तुम ही जगत् के स्रष्टा हो। रेशम के कीड़े के समान तुम्हीं अपने चहुँओर जाल का निर्माण कर रहे हो। कौन तुम्हारा उद्धार करेगा? तुम यह जाल काट फेककर सुन्दर तितली के रूप में—मुक्त आत्मा-रूप में बाहर होकर आओ। तभी, केवल तभी—तुम सत्य का दर्शन करोगे। सर्वदा अपने मन से कहते रहो, 'मैं वह हूँ।' ये शब्द तुम्हारे मन के कूड़ा-करकट को भस्म कर देंगे, उससे ही तुम्हारे भीतर पहले से ही जो महाशक्ति अवस्थित है, वह प्रकाशित हो जायगी, उससे ही तुम्हारे हृदय में जो अनन्त शक्ति सुप्त भाव से विद्यमान है, वह जग जायगी। सर्वदा ही सत्य—केवल मात्र सत्य—सुनकर ही इस महाशक्ति का उद्बोधन करना होगा। जिस स्थान में दुर्बलता की चिन्ता विद्यमान है, उस स्थान

---

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्या॥मुण्डकोपनिषद्॥ ३।२।४॥

की ओर दृष्टिपात तक मत करो। यदि ज्ञानी होना चाहते हो तो सब प्रकार की दुर्वलता का परिहार करो।

सावना आरम्भ करने के पहले मन में जितने प्रकार के सन्देह आ सकते हैं, सब का निराकरण कर लो। युक्ति, तर्क, विचार जहाँ तक कर सको, करो। इसके पश्चात् जब तुमने मन में दृढ़ निश्चय किया कि यही, एवं केवल मात्र यही सत्य है, और कुछ नहीं है, तब फिर तर्क न करो, तब मुंह एकदम वन्द करो। तब फ़िर तर्क-युक्ति न सुनो, स्वतः भी तर्क न करो। फिर तर्क-युक्ति का प्रयोजन क्या? तुमने तो विचार करके तृप्ति-लाभ किया है, तुमने तो समस्या का समाधान कर लिया है, अब तो फिर शेष क्या है? अब सत्य का साक्षात्कार करना होगा। फिर वृथा तर्क में अधिक अमूल्य कालहरण से फल क्या है? अब उस सत्य का ध्यान करना होगा, तथा जो कोई विचार तुमको तेजस्वी बनाये, उसे ही ग्रहण करना होगा एवं जो दुर्वल बनाये, उसका ही परित्याग करना होगा। भक्त मूर्ति-प्रतिमा आदि और ईश्वर का ध्यान करते हैं। यही स्वाभाविक साधना-प्रणाली है, किन्तु उसकी गति मन्द होती है। योगी अपनी देह के अभ्यन्तर के विभिन्न केन्द्र अथवा चक्र पर ध्यान करते हैं और मन के भीतर के शक्तिसमूह की परिचालना करते हैं। ज्ञानी कहते हैं, मन का भी अस्तित्व नहीं है; देह का भी अस्तित्व नहीं है। इस देह और मन के विचार को दूर कर देना होगा, अतएव उनका विचार करना अज्ञानोचित कार्य है। वह मानो एक रोग को लाकर दूसरे रोग को आरोग्य करने के समान है। अतएव उनका ध्यान ही सवकी अपेक्षा कठिन है—नेति, नेति; वे सकल वस्तु के अस्तित्व का ही निरास करते हैं, तथा जो शेप रहता है, वही आत्मा है। यही सवकी अपेक्षा अधिक विश्लेषणात्मक सावन है। ज्ञानी केवल मात्र विश्लेपण के वल से जगत् को आत्मा से विच्छिन्न करना चाहते हैं। 'हम ज्ञानी है' यह वात कहना अत्यन्त सहज है, किन्तु यथार्थ ज्ञानी होना वड़ा ही कठिन है। वेद कहते हैं—

'पथ अत्यन्त दीर्घ है, यह मानो छुरे की तीक्ष्ण धार के ऊपर से चलना है; किन्तु निराश मत हो। उठो, जागो, जब तक उस चरम लक्ष्य को न प्राप्त कर लो, न रुको।'[१]

अतएव ज्ञानी का ध्यान किस प्रकार हुआ? ज्ञानी देह-मन विपयक सब प्रकार के विचारों को दूर करना चाहते हैं और वे इस विचार को निकाल वाहर करना

---

१. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निवोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ कठोपनिषद् ॥१।३।१४॥

चाहते हैं कि हम शरीर हैं। दृष्टांतस्वरूप देखो, ज्योंही हम कहते हैं, हम अमुक स्वामी हैं, उसी क्षण देह का भाव आ जाता है। तब क्या करना होगा? मन पर वलपूर्वक आघात करके कहना होगा, 'हम देह नहीं हैं, हम आत्मा हैं।' रोग ही आये अथवा अत्यन्त भयावह आकार में मृत्यु आकर ही उपस्थित हो, कौन चिन्ता करता है? हम देह नहीं हैं। देह को सुन्दर रखने का यत्न क्यों है? भ्रम को एक वार फिर भोग करने के लिए! इस दासत्व को जारी रखने के लिए? देह जाय, हम देह नहीं हैं। यही ज्ञानी की साधना-प्रणाली है। भक्त कहते हैं, "प्रभु ने हमें इस जीवन-समुद्र को सहज ही लाँघने के लिए यह देह दी है, अतएव जितने दिनों तक यात्रा शेष नहीं होती, उतने दिनों तक इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी होगी।" योगी कहते हैं, "हमें देह का यत्न अवश्य ही करना होगा, जिससे हम धीरे धीरे साधना-पथ पर आगे बढ़कर अन्त में मुक्तिलाभ कर सकें।" ज्ञानी सोचते हैं, हम अधिक विलम्ब नहीं कर सकते। हम इसी क्षण चरम लक्ष्य पर पहुँचेंगे। वे कहते हैं, "हम नित्य-मुक्त हैं, किसी काल में ही हम वद्ध नहीं हैं; हम अनन्त काल से इस जगत् के ईश्वर हैं। हमें तव पूर्ण कौन करेगा? हम नित्य पूर्णस्वरूप हैं।" जव कोई मानव स्वयं पूर्णता को प्राप्त होता है, तव वह दूसरे में भी पूर्णता देखने लगता है। लोग जव दूसरे में अपूर्णता देखते हैं, तव यह समझना होगा कि अपने निज के मन की छाप दूसरे पर पड़ने के कारण ही वे इस प्रकार देखते हैं। उनके निज के भीतर यदि अपूर्णता न रहे तो वे किस प्रकार अपूर्णता देखेंगे? अतएव ज्ञानी पूर्णता-अपूर्णता की कुछ भी चिंता नहीं करते। उनके पक्ष में उनमें से किसीका भी अस्तित्व नहीं है। ज्योंही वे मुक्त होते हैं, वे फिर भला-बुरा नहीं देखते। भला-बुरा कौन देखता है? वही जिसके निज के भीतर भला-बुरा होता है। दूसरे की देह कौन देखता है? जो अपने को देह समझता है। जिस क्षण तुम देहभावरहित होगे, उसी क्षण फिर तुम जगत् नहीं देखने पाओगे। वह चिर काल के लिए अन्तर्हित हो जायगा। ज्ञानी केवल बौद्धिक विचार स्वीकृति के वल से इस जड़-बन्धन से अपने को विच्छिन्न करते हैं। यही 'नेति' 'नेति' या नकारात्मक मार्ग है।

पत्रावली–६

पत्रावली

(श्रीमती ओलि वुल को लिखित)

आलमवाज़ार मठ,
कलकत्ता,
२५ फ़रवरी, १८९७

प्रिय श्रीमती वुल,

भारत के दुर्भिक्ष-निवारण के लिए सारदानन्द ने २० पौंड भेजा है। किन्तु इस समय उसके घर में ही दुर्भिक्ष है, अतः पुरानी कहावत के अनुसार पहले उसीको दूर करना मैंने अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझा। इसलिए उस धन का प्रयोग उसी रूप से किया गया है।

जुलूस, वाजे-गाजे तथा स्वागत-समारोहों के मारे, जैसा कि लोग कहते हैं, मुझे मरने की भी फ़ुर्सत नहीं है—इन सबसे मैं मृतप्राय हो चुका हूँ। जन्मोत्सव समाप्त होते ही मैं पहाड़ की ओर भागना चाहता हूँ। 'केम्ब्रिज सम्मेलन' तथा 'ब्रुकलिन नैतिक समिति' की ओर से मुझे एक एक मानपत्र प्राप्त हुआ है। डॉ० जेन्स ने 'न्यूयार्क वेदान्त एसोसिएशन' के जिस मानपत्र का उल्लेख किया है, वह अभी तक नहीं आया है।

डॉ० जेन्स का एक पत्र और भी आया है, जिसमें उन्होंने आप लोगों के सम्मेलन के अनुरूप भारत में भी कार्य करने का परामर्श दिया है। किन्तु इन बातों की ओर ध्यान देना मेरे लिए प्रायः असम्भव है। मैं इतना अधिक थका हुआ हूँ कि यदि मुझे विश्राम न मिले तो अगले छः माह तक मैं जीवित रह सकूँगा भी या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है।

इस समय मुझे दो केन्द्र खोलने हैं—एक कलकत्ते में तथा दूसरा मद्रास में। मद्रासियों में गम्भीरता अधिक है और वे लोग ईमानदार भी खूब हैं और मेरा यह विश्वास है कि मद्रास से ही वे लोग आवश्यक धन एकत्र कर लेंगे। कलकत्ते के लोग, खासकर आभिजात्य वर्ग के लोग, अधिकांश देश-भक्ति के क्षेत्र में ही उत्साही हैं और उनकी सहानुभूति कभी कार्य में परिणत नहीं होगी। दूसरी ओर इस देश

में ईर्ष्यालु तथा निष्ठुर प्रकृति के लोगों की संख्या अत्यन्त अधिक है, जो मेरे तमाम कार्यों को तहस-नहस कर धूल में मिलाने में कोई क़सर नहीं उठा रखेंगे।

आप तो यह अच्छी तरह से जानती हैं कि बाधा जितनी अधिक होती है, मेरे अन्दर की भावना भी उतनी ही बलवती हो उठती है। संन्यासियों तथा महिलाओं के लिए पृथक् पृथक् एक एक केन्द्र स्थापित करने के पूर्व ही यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो मेरे जीवन का व्रत असमाप्त ही रह जायगा।

मुझे इंग्लैण्ड से ५०० पौण्ड तथा श्री स्टर्डी से ५०० पौण्ड के लगभग प्राप्त हुए हैं। उसके साथ आपके दिये हुए धन को जोड़ने से मुझे विश्वास है कि मैं दोनों केन्द्रों का कार्य प्रारम्भ कर सकूँगा। अतः यह उचित प्रतीत होता है कि आप यथासम्भव शीघ्र अपना रुपया भेज दें। सबसे सुरक्षित उपाय यह है कि अमेरिका के किसी बैंक में आप अपने तथा मेरे संयुक्त नाम से रुपया जमा कर दें, जिससे हममें से कोई भी उसे निकाल सके। यदि रुपया निकालने के पूर्व ही मेरी मृत्यु हो जाय तो आप सम्पूर्ण रुपयों को निकालकर मेरी अभिलाषा के अनुसार व्यय कर सकेंगी। इससे मेरी मृत्यु के बाद मेरे बन्धु-बान्धवों में से कोई भी उस धन को लेकर किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं कर सकेंगे। इंग्लैण्ड का रुपया भी उसी प्रकार मेरे तथा श्री स्टर्डी के नाम से बैंक में जमा किया जा चुका है।

सारदानन्द को मेरा प्यार कहना तथा आप भी मेरा असीम प्यार तथा चिरकृतज्ञता ग्रहण करें!

आपका,
विवेकानन्द

(श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

दार्जिलिंग,
१९ मार्च, १८९७

शुभमस्तु। आशीर्वादप्रेमालिंगनपूर्वकमिदं भवतु तव प्रीतये। पाञ्चभौतिकं मे पिंजरमधुना किंचित्सुस्थतरम्। अचलगुरोर्हिमनिमण्डितशिखराणि पुनरुज्जीवयन्ति मृतप्रायानपि जनानिति मन्ये। श्रमबाधापि कथञ्चिद्दूरीभूतेत्यनुभवामि। यत्ते हृदयोद्वेगकरं मुमुक्षुत्वं लिपिभङ्ग्या व्यञ्जितं, तन्मया अनुभूतं पूर्वम्। तदेव शाश्वते ब्रह्मणि मनः समाधातुं प्रसरति। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' ज्वलतु सा भावना अधिकमधिकं यावन्नाविगतानामेकान्तक्षयः कृताकृतानाम्। तदनु सह-

सैव ब्रह्मप्रकाशः सह समस्तविषयप्रध्वंसैः। आगामिनी सा जीवन्मुक्तिस्तव हिताय तवानुरागदार्ढ्येनैवानुमेया। याचे पुनस्तं लोकगुरुं महासमन्वयाचार्यं श्री १०८ रामकृष्णं आविर्भवितुं तव हृदयोद्देशं येन वै कृतकृतार्थस्त्वं आविष्कृतमहाशौर्यः लोकान् समुद्धर्तुं महामोहसागरात् सम्यग्यतिष्यसे। भव चिराधिष्ठित ओजसि। वीराणामेव करतलगता मुक्तिर्न कापुरुषाणाम्। हे वीराः, बद्धपरिकराः भवत; सम्मुखे शत्रवः महामोहरूपाः। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति निश्चितेऽपि समधिकतरं कुरुत यत्नम्। पश्यत इमान् लोकान् मोहग्राहग्रस्तान्। श्रृणुत अहो तेषां हृदयदभेद-करं कारुण्यपूर्णं शोकनादम्। अग्रगाः भवत अग्रगाः हे वीराः, मोचयितुं पाशं बद्धानाम्, श्लथयितुं क्लेशभारं दीनानाम्, द्योतयितुं हृदयान्धकूपं अज्ञानाम् अभीरभीरिति घोषयति वेदान्तडिण्डिमः। भूयात् स भेदाय हृदयग्रन्थीनां सर्वेषां जगन्निवासिनामिति।

तवैकान्तशुभभावुकः विवेकानन्दः।

(हिन्दी अनुवाद)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय।

शुभ हो। आशीर्वाद तथा प्रेमालिंगनपूर्ण यह पत्र तुम्हें सुख प्रदान करे। इस समय मेरा पांचभौतिक देहपिंजर पहले की अपेक्षा कुछ ठीक है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वतराज हिमालय का बर्फ़ से आच्छादित शिखर-समूह मृतप्राय मानवों को भी सजीव बना देता है। मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि रास्ते की क्लान्ति भी कुछ घट चुकी है। तुम्हारे हृदय में मुमुक्षुत्व के प्रति जो उत्कण्ठा है, जो तुम्हारे पत्र से व्यक्त होती है, मैंने उसे पहले से ही अनुभव कर लिया है। यह मुमुक्षुत्व ही क्रमशः नित्यस्वरूप ब्रह्म में एकाग्रता की सृष्टि करता है। 'मुक्ति-लाभ करने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।' जब तक तुम्हारे समूचे कर्म का पूर्ण रूप से क्षय न हो, तब तक तुम्हारी यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जाय। अनन्तर तुम्हारे हृदय में सहसा ब्रह्म का प्रकाश होगा तथा उसके साथ ही साथ सारी विषय-वासनाएँ नष्ट हो जायँगी। तुम्हारे अनुराग की दृढ़ता से ही यह स्पष्ट है कि तुम शीघ्र ही अपनी कल्याणप्रद उस जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त करोगे। अब मैं उस जगद्गुरु महासमन्वयाचार्य श्री १०८ रामकृष्ण देव से प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे हृदय में वे आविर्भूत हों, जिससे तुम कृतकृत्य तथा दृढ़चित्त होकर महामोहसागर से लोगों के उद्धार के लिए प्रयत्न कर सको। तुम चिर तेजस्वी बनो। वीरों के लिए मुक्ति करतलगत है, कापुरुषों के लिए नहीं। हे वीरो, कटिबद्ध हो, तुम्हारे सामने महामोहरूप शत्रु-समूह उपस्थित है। 'श्रेय-प्राप्ति में अनेक विघ्न हैं'—यह निश्चित है,

फिर भी अधिकाधिक प्रयत्न करते रहो। महामोह के ग्राह से ग्रस्त लोगों की ओर दृष्टिपात करो, हाय, उनके हृदयवेधक करुणापूर्ण आर्तनाद को सुनो। हे वीरो, बद्धों को पाशमुक्त करने के लिए, दरिद्रों के कष्टों को कम करने के लिए तथा अज्ञजनों के अन्तर का असीम अंधकार दूर करने के लिए आगे बढ़ो। बढ़ते जाओ—सुनो, वेदान्त-दुन्दुभि बजाकर निडर बनने की कैसी उद्‌घोषणा कर रहा है। वह दुन्दुभि-घोष समस्त जगद्वासियों की हृदय-ग्रन्थियों को विच्छिन्न करने में समर्थ हो।

तुम्हारा परम शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

('भारती' की सम्पादिका श्रीमती सरला घोषाल को लिखित)

ॐ तत् सत्

रोज बैंक,
बर्दवान राजभवन,
दार्जिलिंग,
६ अप्रैल, १८९७

मान्यवर महोदया,

आपके द्वारा प्रेषित 'भारती' की प्रति पाकर बहुत अनुगृहीत हूँ। जिस उद्देश्य के लिए मैंने अपना नगण्य जीवन अर्पित कर दिया है, उसके लिए आप जैसी गुणज्ञ महिलाओं का साधुवाद पाकर मैं अपने को धन्य समझता हूँ।

इस जीवन-संग्राम में ऐसे विरले ही पुरुष हैं, जो नये भावों के प्रवर्तकों का समर्थन करें, महिलाओं की तो बात ही दूर है। हमारे अभागे देश में यह बात विशेष रूप से देखने में आती है। अतएव बंगाल की एक विदुषी नारी से साधुवाद मिलने का मूल्य सारे भारत के पुरुष वर्ग की तुमुल प्रशंसा ध्वनि से कहीं बढ़कर है।

भगवान् करें, इस देश में आप जैसी अनेक महिलाएँ जन्म लें और स्वदेश की उन्नति में अपने जीवन का उत्सर्ग करें।

'भारती' पत्रिका में आपने मेरे सम्बन्ध में जो लेख लिखा है, उसके विषय में मुझे कुछ कहना है जो यह है: भारत के मंगल के लिए ही पाश्चात्य देशों में धर्म प्रचार हुआ है और आगे भी होगा। यह मेरी चिर धारणा है कि पश्चिमी देशों की सहायता के बिना हम लोगों का अभ्युत्थान नहीं हो सकेगा। इस देश में

न तो गुणों का सम्मान है और न आर्थिक वल, और सर्वाधिक शोचनीय बात है कि व्यावहारिकता लेश मात्र नहीं है।

इस देश में साध्य तो अनेक हैं, किन्तु साधन नहीं। मस्तिष्क तो है, परन्तु हाथ नहीं। हम लोगों के पास वेदान्त मत है, लेकिन उसे कार्य रूप में परिणत करने की क्षमता नहीं है। हमारे ग्रन्थों में सार्वभौम साम्यवाद का सिद्धान्त है, किन्तु कार्यों में महा भेद वृत्ति है। महा निःस्वार्थ निष्काम कर्म भारत में ही प्रचारित हुआ, परन्तु हमारे कर्म अत्यन्त निर्मम और अत्यन्त हृदयहीन हुआ करते हैं; और मांस-पिण्ड की अपनी इस काया को छोड़कर, अन्य किसी विषय में हम सोचते ही नहीं।

फिर भी प्रस्तुत अवस्था में ही हमें आगे वढ़ते चलना है, दूसरा कोई उपाय नहीं। भले-बुरे के निर्णय की शक्ति सवमें है, किन्तु वीर तो वही है जो भ्रम-प्रमाद तथा दुःखपूर्ण संसार-तरंगों के आघात से अविचल रहकर एक हाथ से आँसू पोंछता है और दूसरे अकम्पित हाथ से उद्धार का मार्ग प्रदर्शित करता है! एक ओर प्राचीनपंथी जड़ पिण्ड जैसा समाज है और दूसरी ओर चपल, अधीर, आग उगलनेवाले सुधारक वृन्द हैं; इन दोनों के बीच का मध्यम मार्ग ही कल्याण-कारी है। मैंने जापान में सुना कि वहाँ की लड़कियों को यह विश्वास है कि यदि उनकी गुड़ियों को हृदय से प्यार किया जाय तो वे जीवित हो उठेंगी। जापानी वालिका अपनी गुड़िया को कभी नहीं तोड़ती। हे महाभागे! मेरा भी विश्वास है कि यदि हतश्री, अभागे, निर्बुद्धि, पददलित, चिर बुभुक्षित, झगड़ालू और ईर्ष्यालु भारतवासियों को भी कोई हृदय से प्यार करने लगे तो भारत पुनः जाग्रत हो जायगा। भारत तभी जागेगा जव विशाल हृदयवाले सैंकड़ों स्त्री-पुरुष भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वचन और शरीर से उन करोड़ों भारतीयों के कल्याण के लिए सचेष्ट होंगे जो दरिद्रता तथा मूर्खता के अगाध सागर में निरन्तर नीचे डूवते जा रहे हैं। मैंने अपने जैसे क्षुद्र जीवन में अनुभव कर लिया है कि उत्तम लक्ष्य, निष्कपटता और अनन्त प्रेम से विश्व-विजय की जा सकती है। ऐसे गुणों से सम्पन्न एक भी मनुष्य करोड़ों पाखण्डी एवं निर्दयी मनुष्यों की दुर्वुद्धि को नष्ट कर सकता है।

पाश्चात्य देशों में मेरा फिर जाना अभी अनिश्चित है। यदि जाऊँ तो यही समझिएगा कि भारत की भलाई के उद्देश्य से ही। इस देश में जन-वल कहाँ है? अर्थ-वल कहाँ है? पाश्चात्य देशों के अनेक स्त्री-पुरुष भारत के कल्याण के निमित्त अति नीच चाण्डाल आदि की सेवा भारतीय भाव से और भारतीय धर्म के माध्यम से करने के लिए तैयार हैं। देश में ऐसे कितने आदमी हैं? और आर्थिक वल!!

मेरे स्वागत में जो व्यय हुआ, उसके लिए धन-संग्रह करने में कलकत्तावासियों ने मेरे व्याख्यान की व्यवस्था की और टिकट बेचा, फिर भी कमी रह गयी और खर्च चुकाने के लिए तीन सौ रुपये का एक बिल मेरे सामने पेश किया गया !! इसके लिए मैं किसीको दोष नहीं दे रहा हूँ और न किसीकी निन्दा कर रहा हूँ, किन्तु मैं केवल यही बताना चाहता हूँ कि पश्चिमी देशों से जन-बल और धन-बल की सहायता मिले बिना हम लोगों का कल्याण होना असम्भव है। इति।

चिर कृतज्ञ तथा प्रभु से आपके कल्याण का आकांक्षी,

विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

एम० एन० बनर्जी का मकान,
दार्जिलिंग,
२० अप्रैल, १८९७

प्रिय शशि,

अब तक तुम लोग निश्चय ही मद्रास पहुँच चुके होगे। बिलगिरि अवश्य ही तुम लोगों की आवभगत करता होगा तथा सदानन्द सेवा में लगा होगा। मद्रास में पूर्ण सात्त्विकता के साथ अर्चनादि करने होंगे। रजोगुण उनमें लेश मात्र भी न हो। आलासिंगा शायद अब तक मद्रास पहुँच चुका होगा। किसी भी व्यक्ति के साथ वाद-विवाद न करना—सदा शान्त भाव अपनाना। इस समय बिलगिरि के भवन में ही श्री रामकृष्ण की स्थापना कर पूजादि करते रहो। किन्तु ध्यान रहे कि पूजा बहुत लम्बी तथा आडम्बरयुक्त न होने पाये। उस बचे हुए समय का उपयोग कक्षा चलाने तथा व्याख्यानादि में होना चाहिए। इस दिशा में जितना कर सको उतना ही अच्छा है। दोनों पत्रों की देख-रेख तथा जहाँ तक हो सके उनकी सहायता करते रहना। बिलगिरि की दो विधवा कन्याएँ हैं। उनको शिक्षा प्रदान करना तथा इसका विशेष ध्यान रखना कि उनके द्वारा उसी प्रकार की और भी विधवाएँ अपने धर्म की पक्की जानकारी और थोड़ी-बहुत संस्कृत तथा अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर सकें। किन्तु यह काम अपने को सदा दूर रखते हुए ही करना। युवतियों के सम्मुख अत्यन्त सावधान रहना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि एक बार पतन होने पर और कोई गति नहीं है तथा उस अपराध के लिए क्षमा भी नहीं है।

गुप्त (स्वामी सदानन्द) को कुत्ते ने काटा है—इस समाचार से अत्यन्त चिन्तित हूँ; किन्तु मैंने सुना है कि वह पागल कुत्ता नहीं है, अतः खतरे की कोई

वात नहीं। जो कुछ भी हो, गंगाधर ने जो दवा भेजी है, उसका प्रयोग अवश्य होना चाहिए; प्रातःकाल पूजादि संक्षेप में सम्पन्न कर बिलगिरि को सपरिवार बुलाकर कुछ गीता तथा अन्य धार्मिक पुस्तकों का पाठ करना। दिव्य राधा-कृष्ण प्रेम सम्बन्धी किसी भी प्रकार की शिक्षा की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। केवल सीता-राम तथा महादेव-पार्वती विषयक शिक्षा प्रदान करना। इस विषय में किसी प्रकार की भूल न होनी चाहिए। याद रखो कि युवक-युवतियों के अपरिपक्व मन के लिए राधा-कृष्ण के अपार्थिव सम्बन्ध की लीला एकदम अनुपयुक्त है। खासकर बिलगिरि तथा अन्य रामानुजी लोग रामोपासक हैं, उनके विशुद्ध भाव नष्ट न होने पावें।

अपराह्न में साधारण लोगों के लिए उसी प्रकार कुछ आध्यात्मिक प्रवचन देते रहना। इसी तरह धीरे धीरे **पर्वतमपि लङ्घयेत्।**

परम विशुद्ध भावों की सदा रक्षा होनी चाहिए। किसी भी तरह से 'वामाचार' का प्रवेश न हो। आगे प्रभु स्वयं ही बुद्धि प्रदान करेंगे—डरने का कोई कारण नहीं है। बिलगिरि को मेरा सादर नमस्कार तथा सप्रेम अभिवादन कहना। अन्यान्य भक्तों से भी मेरा नमस्कार कहना।

मेरा रोग पहले की अपेक्षा अब कुछ शान्त है—एकदम दूर भी हो सकता है—प्रभु की इच्छा पर ही सब कुछ निर्भर है। तुम्हें मेरा प्यार, नमस्कार तथा आशीर्वाद। किमधिकमिति।

विवेकानन्द

पुनश्च—डॉक्टर नन्जुन्दा राव को मेरा विशेष प्रेमाभिवादन तथा आशीर्वाद कहना तथा जहाँ तक हो सके उनकी सहायता करना। ब्राह्मणेतर जाति में संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी पूरी चेष्टा करना।

वि०

(श्रीमती सरला घोषाल को लिखित)

दार्जिलिंग,
द्वारा श्रीयुत एम० एन० बनर्जी,
२४ अप्रैल, १८९७

महाशया,

आपने मेरी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में जो पूछा है, उस विषय में सबसे आवश्यक बात यह कहनी है कि काम उसी पैमाने पर शुरू करना चाहिए जो अपेक्षित परिणामों के अनुरूप हो। अपनी मित्र कुमारी मूलर के मुँह से आपकी उदार

बुद्धि, स्वदेश-प्रेम और दृढ़ अध्यवसाय की बहुत सी बातें मैं सुन चुका हूँ और आपकी विद्वत्ता का प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही है। आप मेरे क्षुद्र जीवन की नगण्य चेष्टा के विषय में जानना चाहती हैं, मैं इसको अपना बहुत बड़ा सौभाग्य मानकर इस छोटे से पत्र में यथासम्भव निवेदन करने का प्रयत्न करूँगा। परन्तु पहले मैं आपके विचार-चिन्तन के लिए अपनी परिपक्व मान्यताओं को आपके सम्मुख रखता हूँ।

हम लोग सदा पराधीन रहे हैं, अर्थात् इस भारतभूमि में जनसमुदाय को कभी भी अपनी आत्म-स्वत्व बुद्धि को उद्दीप्त करने का मौक़ा नहीं दिया गया। पश्चिमी देश आज कई सदियों से स्वाधीनता की ओर बड़े वेग से बढ़ रहे हैं। इस भारत में कौलीन्य-प्रथा से लेकर खान-पान तक सभी विषय राजा ही निपटाते आये हैं। परन्तु पश्चिमी देशों में सभी कार्य जनता अपने-आप करती है।

अब राजा किसी सामाजिक विषय में हाथ नहीं डालते, तो भी भारतीय जनता में अब तक आत्म-निर्भरता तो दूर रही, थोड़ा सा आत्मविश्वास भी पैदा नहीं हुआ। जो आत्मविश्वास वेदान्त की नींव है, वह किंचित् भी यहाँ व्यवहार में परिणत नहीं हुआ है। इसीलिए पश्चिमी प्रणाली—अर्थात् पहले उद्देश्य की चर्चा, और तब तमाम शक्तियों के साथ उसे पूरा करना—इस देश में अभी तक सफल नहीं हुई है और इसीलिए हम विदेशी शासन के अधीन इतने अधिक स्थितिशील (conservative) दिखायी पड़ते हैं। यदि यह सत्य हो तो जनता में चर्चा या सार्वजनिक वाद-विवाद के द्वारा किसी बड़े काम को सिद्ध करने की चेष्टा करना वृथा है। 'जब सिर ही नहीं तो सिर में दर्द कैसा?' जनता कहाँ है? इसके सिवा हम ऐसे शक्तिहीन हैं कि यदि हम किसी विषय की चर्चा शुरू करते हैं तो उसीमें हमारा सारा बल लग जाता है और कोई काम करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। शायद इसीलिए हम बंगाल में 'बड़ी बड़ी तैयारियाँ और छोटा सा फल' सदा देखा करते हैं। दूसरी बात, जैसा मैं पहले ही लिख चुका हूँ, यह है कि भारतवर्ष के धनिकों से हमें कुछ भी आशा नहीं है। इसलिए उत्तम यही है कि हम भविष्य की आशा रूप अपने युवकों के बीच धैर्यपूर्वक, दृढ़ता से चुपचाप काम करें।

अब कार्य के विषय में कहता हूँ : वर्तमान सभ्यता—जैसे कि पश्चिमी देशों की है—और प्राचीन सभ्यता—जैसे कि भारत, मिश्र और रोम आदि देशों की रही है—इनके बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ जब से शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे धीरे नीच जातियों में फैलने लगी। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस जाति की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह जाति उतनी ही उन्नत है। भारत के सत्यानाश का मुख्य कारण यही है कि देश की सम्पूर्ण

विद्या-बुद्धि, राज-शासन और दम्भ के बल से मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी है। यदि हमें फिर से उन्नति करनी है तो हमको उसी मार्ग पर चलना होगा, अर्थात् जनता में विद्या का प्रसार करना होगा। आधी सदी से समाज-सुधार की धूम मच रही है। मैंने दस वर्षों तक भारत के विभिन्न स्थानों में घूमकर देखा कि देश में समाज-सुधारक संस्थाओं की बाढ़ सी आयी है। परन्तु जिनका रक्त शोषण करके हमारे 'भद्र लोगों' ने अपना यह खिताब प्राप्त किया और कर रहे हैं, उन बेचारों के लिए एक भी संस्था नज़र न आयी! मुसलमान कितने सिपाही लाये थे? यहाँ अंग्रेज कितने हैं? चाँदी के छः सिक्कों के लिए अपने बाप और भाई के गले पर चाकू फेरनेवाले लाखों आदमी सिवा भारत के और कहाँ मिल सकते हैं? सात सौ वर्षों के मुसलमान शासन में छः करोड़ मुसलमान, और सौ वर्षों के ईसाई राज्य में बीस लाख ईसाई क्यों बने? मौलिकता ने देश को क्यों बिल्कुल त्याग दिया है? क्यों हमारे सुदक्ष शिल्पी यूरोपवालों के साथ बराबरी करने में असमर्थ होकर दिनोंदिन लोप होते जा रहे हैं? लेकिन तब वह कौन सी शक्ति थी जिससे जर्मन कारीगरों ने अंग्रेज़ कारीगरों के कई सदियों से जमे हुए दृढ़ आसन को हिला दिया?

केवल शिक्षा! शिक्षा! शिक्षा! यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमकर और वहाँ के ग़रीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर अपने ग़रीब देशवासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर में पाया कि शिक्षा से। शिक्षा और आत्मविश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग गया है, जब कि हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित—संकुचित होता जा रहा है। न्यूयार्क में मैं आइरिश उपनिवेशवासी को आते हुए देखा करता था—पददलित, कान्तिहीन, निःसम्बल, अति दरिद्र और महामूर्ख, साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी सी गठरी। उसकी चाल में भय और आँख में शंका होती थी। छः ही महीने के बाद यही दृश्य बिल्कुल दूसरा हो जाता। अब वह तनकर चलता था, उसका वेश बदल गया था, उसकी चाल और चितवन में पहले का वह डर दिखायी नहीं पड़ता। ऐसा क्यों हुआ? हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारों तरफ़ घृणा से घिरा हुआ रहता था—सारी प्रकृति एक स्वर से उससे कह रही थी कि 'बच्चू, तेरे लिए और कोई आशा नहीं है; तू ग़ुलाम ही पैदा हुआ और सदा ग़ुलाम ही बना रहेगा।' आजन्म सुनते सुनते बच्चू को उसीका विश्वास हो गया। बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अति नीच है। इससे उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया। परन्तु जब उसने अमेरिका में पैर रखा तो चारों ओर से ध्वनि उठी

कि 'बच्चू, तू भी वही आदमी है जो हम लोग हैं। आदमियों ने ही सब काम किये हैं; तेरे और मेरे समान आदमी ही सब कुछ कर सकते हैं। धीरज धर।' बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि बात तो ठीक ही है—बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्म जाग उठा, मानों स्वयं प्रकृति ही ने कहा हो, 'उठो, जागो, रुको मत, जब तक मंज़िल पर न पहुँच जाओ।'

वैसे ही हमारे लड़के जो शिक्षा पा रहे हैं, वह बड़ी निषेधात्मक है। स्कूल के लड़के कुछ भी नहीं सीखते, बल्कि जो कुछ अपना है उसका भी नाश हो जाता है, और इसका परिणाम होता है—श्रद्धा का अभाव। जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूल मन्त्र है, जिस श्रद्धा ने नचिकेता को प्रत्यक्ष यम के पास जाकर प्रश्न करने का साहस दिया, जिस श्रद्धा के बल से यह संसार चल रहा है—उसी श्रद्धा का लोप! गीता में कहा है, **अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति**—अज्ञ तथा श्रद्धाहीन और संशययुक्त पुरुष का नाश हो जाता है। इसीलिए हम मृत्यु के इतने समीप हैं। अब उपाय है—शिक्षा का प्रसार। पहले आत्मज्ञान। इससे मेरा मतलब जटा-जूट, दण्ड, कमण्डलु और पहाड़ों की कन्दराओं से नहीं जो इस शब्द के उच्चारण करते ही याद आते हैं। तो मेरा मतलब क्या है? जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य संसार-बन्धन तक से छुटकारा पा जाता है, उससे क्या तुच्छ भौतिक उन्नति नहीं हो सकेगी? अवश्य ही हो सकेगी। मुक्ति, वैराग्य, त्याग—ये सब उच्चतम आदर्श हैं, परन्तु गीता के अनुसार **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**, अर्थात् इस धर्म का थोड़ा सा भाग भी महाभय (जन्म-मरण) से त्राण करता है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शैवसिद्धान्त, वैष्णव, शाक्त, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन आदि जितने सम्प्रदाय भारत में स्थापित हुए हैं, सभी इस विषय पर सहमत हैं कि इसी जीवात्मा में अनन्त शक्ति अव्यक्त भाव से निहित है; चींटी से लेकर ऊँचे से ऊँचे सिद्ध पुरुष तक सभी में वह आत्मा विराजमान है, अन्तर केवल उसके प्रत्यक्षीकरण के भेद में है। **वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्** (पातञ्जल योगसूत्र, कैवल्यपाद)—किसान जैसे खेतों की मेंड़ तोड़ देता है और एक खेत का पानी दूसरे खेत में चला जाता है, वैसे ही आत्मा भी आवरण टूटते ही प्रकट हो जाती है। उपयुक्त अवसर और उपयुक्त देश-काल मिलते ही उस शक्ति का विकास हो जाता है। परन्तु चाहे विकास हो, चाहे न हो, वह शक्ति प्रत्येक जीव—ब्रह्मा से लेकर घास तक में—विद्यमान है। इस शक्ति को सर्वत्र जा जाकर जगाना होगा।

यह हुई पहली बात। दूसरी बात यह है कि इसके साथ साथ शिक्षा भी देनी होगी। बात कहने में तो बड़ी सरल है, पर काम में किस तरह लायी जाय? हमारे देश में हज़ारों निःस्वार्थ, दयालु और त्यागी पुरुष हैं। उनमें से कम से कम आधों

को उसी तरीक़े से जिसमें वे विना पारिश्रमिक लिए घूम घूम कर धर्मशिक्षा देते हैं, अपनी आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। इसके लिए पहले प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक एक केन्द्र होना चाहिए, जहाँ से धीरे धीरे भारत के सब स्थानों में फैलना होगा। मद्रास और कलकत्ते में हाल ही में दो केन्द्र बने हैं, कुछ और भी जल्द होने की आशा है। एक बात और है, ग़रीबों की शिक्षा प्रायः मौखिक रूप से ही दी जानी चाहिए। स्कूल आदि का अभी समय नहीं आया है। धीरे धीरे उन मुख्य केन्द्रों में खेती, उद्योग आदि भी सिखाये जायँगे और शिल्प की उन्नति के लिए शिल्पगृह भी खोले जायँगे। उन शिल्पगृहों का माल यूरोप और अमेरिका में वेचने के लिए उन देशों की संस्थाओं के समान ही संस्थाएँ खोली जायँगी। जिस प्रकार पुरुषों के लिए केन्द्र हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के लिए भी खोलना आवश्यक होगा। पर आप जानती ही हैं कि ऐसा होना इस देश में बड़ा कठिन है। फिर भी इन सब कामों के लिए जिस धन की आवश्यकता है, वह इंग्लैण्ड आदि पश्चिमी देशों से ही आना होगा, क्योंकि मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि जिस साँप ने काटा है, वही अपना विष भी उतारेगा। इसीलिए हमारे धर्म का यूरोप और अमेरिका में प्रचार होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान ने ईसाई आदि धर्मों की भित्ति बिल्कुल चूर चूर कर दी है। इसके सिवाय विलासिता तो प्रायः धर्मवृत्ति का ही नाश करने पर तुली हुई है। यूरोप और अमेरिका आशा-भरी दृष्टि से भारत की ओर ताक रहे हैं। परोपकार का, शत्रु के क़िले पर अधिकार जमाने का यही समय है।

पश्चिमी देशों में नारियों का ही राज, उन्हींका प्रभाव और उन्हींकी प्रभुता है। यदि आप जैसी वेदान्त जाननेवाली तेजस्विनी और विदुषी महिला इस समय धर्म-प्रचार के लिए इंग्लैण्ड जायँ तो मुझे विश्वास है कि हर साल कम से कम सैकड़ों नर-नारी भारतीय धर्म ग्रहण कर कृतार्थ हो जायँगे। अकेली रमाबाई ही हमारे यहाँ से गयी थीं, अंग्रेजी भाषा, पश्चिमी विज्ञान और शिल्प आदि में उनकी गति वहुत ही कम थी, तो भी उन्होंने सवको आश्चर्यचकित कर दिया था। यदि आप जैसी कोई वहाँ जायँ तो इंग्लैण्ड हिल जाय, अमेरिका का तो कहना ही क्या! मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि यदि भारत की नारियाँ देशी पोशाक पहने भारतीय ऋषियों के मुँह से निकले हुए धर्म का प्रचार करें तो एक ऐसी बड़ी तरंग उठेगी जो सारे पश्चिमी संसार को डुबा देगी। क्या मैत्रेयी, खना, लीलावती, सावित्री और उभयभारती की इस जन्मभूमि में किसी और नारी को यह करने का साहस नहीं होगा? प्रभु ही जानता है। इंग्लैण्ड पर हम लोग अध्यात्म के वल से अधिकार कर लेंगे, उसे जीत लेंगे—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**—इसके सिवाय मुक्ति का और दूसरा मार्ग ही नहीं। क्या सभा-समितियों के द्वारा भी कभी मुक्ति मिल सकती है?

अपने विजेताओं को अपनी अध्यात्म-शक्ति से हमें देवता बनाना होगा। मैं तो एक नगण्य भिक्षुक परिव्राजक हूँ, अकेला और असहाय ! मैं क्या कर सकता हूँ? आप लोगों के पास धन है, बुद्धि है और विद्या भी है—क्या आप लोग इस मौक़े को हाथ से जाने देंगी? अव इंग्लैण्ड, यूरोप और अमेरिका पर विजय पाना—यही हमारा महाव्रत होना चाहिए। इसीसे देश का भला होगा। विस्तार ही जीवन का चिह्न है, और हमें सारी दुनिया में अपने आध्यात्मिक आदर्शों का प्रचार करना होगा। हाय ! मेरा शरीर कितना दुर्बल है, तिस पर बंगाली का शरीर—इस थोड़े परिश्रम से ही प्राणघातक व्याधि ने इसे घेर लिया। परन्तु आशा है कि **उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।** (भवभूति)—अर्थात् मेरे समान गुणवाला कोई और है या होगा, क्योंकि काल का अन्त नहीं और पृथ्वी भी विशाल है।

शाकाहारी भोजन के विषय में मुझे पहले तो यह कहना है कि मेरे गुरु शाकाहारी थे; लेकिन देवी का प्रसाद-रूप मांस दिये जाने पर उसे शिरोधार्य करते थे। जीव-हत्या निश्चय ही पाप है, किन्तु जब तक शाकाहार रसायन की प्रगति द्वारा मानव-प्रकृति के लिए उपयुक्त नहीं बन जाता, तब तक मांस-भक्षण के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है। परिस्थितिवश जब तक मनुष्य राजसिक जीवन बिताने के लिए बाध्य है, तब तक उसे उसके लिए मांस-भक्षण करना ही पड़ेगा। यह सत्य है कि सम्राट् अशोक के दण्ड-भय से लाखों जानवरों की प्राण-रक्षा हुई थी, लेकिन हज़ारों वर्षों की गुलामी क्या उससे भयानक नहीं? इनमें से कौन अधिक पापपूर्ण है?— कुछ बकरियों की जान लेना या अपनी पत्नी-पुत्री की मर्यादा की रक्षा करने और आततायी हाथों द्वारा अपने बच्चों के मुख का ग्रास बचाने में असमर्थ होना? समाज के उन कुछ उच्चवर्गीय लोगों के, जो अपनी जीविका के लिए कोई भी शारीरिक श्रम नहीं करते, मांस न खाने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उन अधिकांश लोगों पर, जो रात-दिन परिश्रम करके अपनी रोटी कमाते हैं, शाकाहार लादना ही हमारी राष्ट्रीय परतंत्रता का एक कारण हुआ है। अच्छे और पौष्टिक भोजन से क्या क्या हो सकता है, जापान इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

सर्वशक्तिमती विश्वेश्वरी आपके हृदय में अवतीर्ण हों।

भवदीय,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

दार्जिलिंग,
२८ अप्रैल, १८९७

प्रिय मेरी,

कुछ दिन हुए, तुम्हारा सुन्दर पत्र मुझे मिला। कल हैरियट के विवाह की सूचना सम्बन्धी पत्र मिला। भगवान् सुखी दम्पति का मंगल करें।

यह सारा देश मेरे स्वागत के लिए एक प्राण होकर उठ खड़ा हुआ। हर स्थान में हजारों-लाखों मनुष्यों ने स्थान स्थान पर जयजयकार किया। राजाओं ने मेरी गाड़ी खींची, राजधानियों के मार्गों पर हर कहीं स्वागत-द्वार बनाये गये, जिन पर शानदार आदर्श-वाक्य अंकित थे। आदि! आदि!! सब बातें शीघ्र ही पुस्तक रूप में प्रकाशित होनेवाली हैं और तुम्हारे पास एक प्रति पहुँच जायगी। किन्तु दुर्भाग्यवश इंग्लैण्ड में अत्यन्त परिश्रम से मैं पहले ही थका हुआ था, और दक्षिण भारत की गर्मी में इस अत्यधिक परिश्रम ने मुझे बिल्कुल गिरा दिया। इस कारण भारत के दूसरे भागों में जाने का विचार मुझे छोड़ना पड़ा और सबसे निकट के पहाड़ अर्थात् दार्जिलिंग को शीघ्रातिशीघ्र आना पड़ा। अब मैं पहले से बहुत अच्छा हूँ और अल्मोड़ा में एक महीना और रहने से मैं पूर्णतया स्वस्थ हो जाऊँगा। वैसे इतना बता दूँ कि यूरोप आने का एक अवसर मैंने अभी अभी खो दिया है। राजा अजित सिंह और कुछ दूसरे राजा शनिवार को इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो रहे हैं। उन्होंने बहुत यत्न किया कि मैं उनके साथ जाऊँ। परन्तु अभाग्यवश डॉक्टरों ने मेरा अभी किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक श्रम करना स्वीकार न किया। इसलिए, अत्यन्त निराशा के साथ मुझे वह विचार छोड़ देना पड़ा। मैंने अब उसे किसी निकट भविष्य के लिए रख छोड़ा है।

मुझे आशा है कि डॉक्टर बरोज़ इस समय तक अमेरिका पहुँच गये होंगे। बेचारे! वे यहाँ अति कट्टर ईसाई-धर्म का प्रचार करने आये थे, और जैसा होता है, किसीने उनकी न सुनी। इतना अवश्य है कि उन्होंने प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया, परन्तु वह मेरे पत्र के कारण ही था। मैं उनको बुद्धि तो नहीं दे सकता था! इसके अतिरिक्त वे कुछ विचित्र स्वभाव के व्यक्ति थे। मैंने सुना है कि मेरे भारत आने पर राष्ट्र ने जो खुशी मनायी, उससे जलन के मारे वे पागल से हो गये थे। कुछ भी हो तुम लोगों को उनसे बुद्धिमान व्यक्ति भेजना उचित था, क्योंकि डॉ० बरोज़ के कारण हिन्दुओं के मन में धर्मप्रतिनिधि-सभा एक स्वाँग सी बन गयी है। अध्यात्म-विद्या के सम्बन्ध में पृथ्वी का कोई भी राष्ट्र हिन्दुओं का मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता, और विचित्र बात तो यह है कि ईसाई देशों से जितने लोग यहाँ आते

हैं, वे सब एक ही प्राचीन मूर्खतापूर्ण तर्क देते हैं कि ईसाई धनवान और शक्तिमान हैं और हिन्दू नहीं हैं, इसलिए ईसाई धर्म हिन्दू धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इस पर हिन्दू उचित ही यह प्रत्युत्तर देते हैं कि यही एक कारण है जिससे हिन्दू मत धर्म कहला सकता है और ईसाई मत नहीं; क्योंकि इस पाशविक संसार में अधर्म और धूर्तता ही फलती है, गुणवानों को तो दुःख भोगना पड़ता है। ऐसा लगता है कि पश्चिमी राष्ट्र वैज्ञानिक संस्कृति में चाहे कितने ही उन्नत क्यों न हों, तत्त्वज्ञान और आध्यात्मिक शिक्षा में वे निरे वालक ही हैं। भौतिक विज्ञान केवल लौकिक समृद्धि दे सकता है, परन्तु अध्यात्म विज्ञान शाश्वत जीवन के लिए है। यदि शाश्वत जीवन न भी हो तो भी आध्यात्मिक विचारों का आदर्श मनुष्य को अधिक आनन्द देता है और उसे अधिक सुखी वनाता है; परन्तु भौतिकवाद की मूर्खता स्पर्धा, असंतुलित महत्त्वाकांक्षा एवं व्यक्ति तथा राष्ट्र को अन्तिम मृत्यु की ओर ले जाती है।

यह दार्जिलिंग एक रमणीय स्थान है। वादलों के हटने पर कभी कभी भव्य कंचनजंघा (२८,१४६ फ़ुट) का दृश्य दिखता है, और कभी कभी एक समीपवर्ती शिखर से गौरीशंकर (२९,००२ फ़ुट) की झलक दिख जाती है। फिर, यहाँ के निवासी भी अत्यन्त मनोहर होते हैं—तिब्बती, नेपाली और सर्वोपरि रूपवती लेपचा स्त्रियाँ! क्या तुम किसी कौलसन टर्नबुल नामक शिकागो निवासी को जानती हो? मेरे भारत पहुँचने से कुछ सप्ताह पहले से वह यहाँ था। मालूम होता है कि मैं उसे वहुत अच्छा लगा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं को वह वहुत प्रिय हो गया। 'जो', श्रीमती ऐडम्स, वहन जोसेफ़िन और हमारे अन्य मित्रों का क्या हाल है? हमारे प्यारे मिल्स कहाँ हैं? धीरे धीरे किन्तु निश्चयात्मक रूप से काम कर रहे हैं? मैं हैरियट को विवाह का कुछ उपहार भेजना चाहता था, परन्तु आपके यहाँ की 'भयंकर' चुंगी के डर से किसी निकट भविष्य के लिए यह स्थगित कर दिया है। कदाचित् मैं उन लोगों से यूरोप में शीघ्र ही मिलूँगा। निश्चय ही मैं वहुत खुश होता, यदि तुम अपनी सगाई की घोषणा कर देतीं और मैं एक पत्र में आधे दर्जन काग़ज़ों को भरकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर देता...

मेरे गुच्छे के गुच्छे वाल सफ़ेद हो रहे हैं और मेरे मुख पर चारों ओर से झुर्रियाँ पड़ रही हैं; शरीर का मांस घटने से वीस वर्ष मेरी आयु वढ़ी हुई मालूम पड़ती है। और अव मेरा शरीर तेज़ी से घटता जा रहा है, क्योंकि मैं केवल मांस पर ही जीवित रहने को विवश हूँ—न रोटी, न चावल, न आलू और न कॉफ़ी के साथ थोड़ी सी चीनी ही। मैं एक ब्राह्मण परिवार के साथ रहता हूँ, जहाँ स्त्रियों को छोड़कर वाक़ी सव लोग नेकर पहनते हैं। मैं भी वही पहनता हूँ। यदि तुम मुझे पहाड़ी

हिरन की तरह चट्टान से चट्टान पर कूदते हुए देखतीं या पहाड़ी रास्तों में ऊपर-नीचे भागते हुए देखतीं तो आश्चर्य से स्तब्ध हो जातीं।

मैं यहाँ बहुत अच्छा हूँ, क्योंकि शहरों में मेरा जीवन यातना हो गया था। यदि राह में मेरी झलक भी दिख जाती थी तो तमाशा देखनेवालों का जमघट लग जाता था!! ख्याति में सब कुछ अच्छा ही अच्छा नहीं है! अब मैं बड़ी सी दाढ़ी रखनेवाला हूँ, जिसके बाल तो अब सफ़ेद हो ही रहे हैं। इससे रूप समादरणीय हो जाता है और वह अमेरिकन निन्दकों से भी बचाती है! हे श्वेतकेश, तुम कितना कुछ नहीं छुपा सकते हो! धन्य हो तुम!

डाक का समय हो गया है, इसलिए मैं समाप्त करता हूँ। सुस्वप्न, सुस्वास्थ्य और सम्पूर्ण मंगल तुम्हारे साथ हों।

माता, पिता और तुम सबको मेरा प्यार,

तुम्हारा,

विवेकानन्द

आलमबाजार मठ, कलकत्ता,

५ मई, १८९७

प्रिय—,

मैं अपने बिगड़े हुए स्वास्थ्य को सँभालने एक मास के लिए दार्जिलिंग गया था। मैं अब पहले से बहुत अच्छा हूँ। दार्जिलिंग में मेरा रोग पूरी तरह से भाग गया। पूर्णतया स्वस्थ होने के लिए कल मैं एक दूसरे पहाड़ी स्थान अल्मोड़ा जा रहा हूँ।

जैसा कि मैं पहले आपको लिख चुका हूँ, यहाँ सब चीज़ें बहुत आशाजनक नहीं मालूम होतीं, यद्यपि सम्पूर्ण राष्ट्र ने एक प्राण होकर मेरा सम्मान किया और उत्साह से लोग प्रायः पागल से हो गये थे। भारत में व्यावहारिक बुद्धि की कमी है। फिर कलकत्ते के निकट ज़मीन का मूल्य बहुत बढ़ गया है। मेरा विचार अभी तीनों राजधानियों में तीन केन्द्र स्थापित करने का है। ये मेरी, प्रचारकों को तैयार करने की मानो पाठशालाएँ होंगी, जहाँ से मैं भारत पर आक्रमण करना चाहता हूँ।

मैं कुछ वर्ष और जिऊँ या न जिऊँ, भारत पहले से ही श्री रामकृष्ण का हो गया है।

मुझे डॉक्टर जेन्स का एक अत्यन्त कृपापूर्ण पत्र मिला जिसमें उन्होंने पतित बौद्ध मत पर मेरे विचारों की आलोचना की है। तुमने भी लिखा है कि उस पर

धर्मपाल अति क्रुद्ध हैं। श्री धर्मपाल एक सज्जन व्यक्ति हैं और मुझे उनसे प्रेम है, परन्तु भारतीय बातों पर उनका आवेश एक बिल्कुल ग़लत चीज़ होगी।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो आधुनिक हिन्दू धर्म कहलाता है और जो दोष-पूर्ण है, वह अवनत बौद्ध मत का ही एक रूप है। हिन्दुओं को साफ़ साफ़ इसे समझ लेने दो, फिर उन्हें उसको त्याग देने में कोई आपत्ति न होगी। बौद्ध मत का वह प्राचीन रूप, जिसका बुद्धदेव ने उपदेश दिया था और उनका व्यक्तित्व मेरे लिए परम पूजनीय हैं। और तुम अच्छी तरह जानते हो कि हम हिन्दू लोग उन्हें अवतार मानकर उनकी पूजा करते हैं। लंका का बौद्ध धर्म भी किसी काम का नहीं है। लंका की यात्रा से मेरा भ्रम दूर हो गया है। जीवित और वहाँ के एकमात्र लोग हिन्दू ही हैं। वहाँ के बौद्ध यूरोप के रंग में रँगे हुए हैं, यहाँ तक कि श्री धर्मपाल और उनके पिता के नाम भी यूरोपीय थे, जो उन्होंने अब बदले हैं। अपने अहिंसा के महान् सिद्धान्त का वह इतना आदर करते हैं कि उन्होंने क़साईखाने जगह जगह खोल रखे हैं! और उनके पुरोहित इसमें उन्हें प्रोत्साहित करते हैं! वह वास्तविक बौद्ध धर्म जिस पर मैंने एक बार विचार किया था कि वह अभी बहुत कल्याण करने में समर्थ होगा, पर मैंने अब वह विचार छोड़ दिया है और मैं स्पष्ट उस कारण को देखता हूँ जिससे बौद्ध धर्म भारत से निकाला गया और हमें बड़ा हर्ष होगा यदि लंकावासी भी इस धर्म के अवशेष रूप को, उसकी विकराल मूर्तियों तथा भ्रष्ट आचारों के साथ त्याग देंगे।

थियोसॉफ़िस्ट लोगों के विषय में पहले तुमको यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत में थियोसॉफ़िस्ट और बौद्धों का अस्तित्व शून्य के बराबर है। वे कुछ समाचार-पत्र प्रकाशित करते हैं, जिनके द्वारा बड़ा हल्ला-गुल्ला मचाते हैं और पाश्चात्यों को आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं...

मैं अमेरिका में एक मनुष्य था और यहाँ दूसरा हूँ। यहाँ पूरा राष्ट्र मुझे अपना नेता मानता है, और वहाँ मैं एक ऐसा प्रचारक था जिसकी निन्दा की जाती थी। यहाँ राजा मेरी गाड़ी खींचते हैं, वहाँ मैं किसी शिष्ट होटल में प्रवेश नहीं कर सकता था। इसलिए मेरे यहाँ के उद्‌गार मेरे देशवासी तथा मेरी जाति के कल्याणार्थ होने चाहिए, चाहे वे थोड़े से लोगों को कितने ही अप्रिय क्यों न जान पड़ें। सच्ची और निष्कपट बातों के लिए स्वीकृति, प्रेम और सहिष्णुता—परन्तु पाखण्ड के लिए नहीं। थियोसॉफ़िस्ट लोगों ने मेरी चापलूसी और मिथ्या प्रशंसा करने का यत्न किया था, क्योंकि भारत में मैं अब नेता माना जाता हूँ। इसलिए मेरे लिए यह आवश्यक हो गया कि मैं कुछ बेधड़क और निश्चित शब्दों से उनका खण्डन करूँ। मैंने यह किया भी और मैं बहुत खुश हूँ। यदि मेरा स्वास्थ्य ठीक होता तो मैं इस

समय तक इन नये उत्पन्न हुए पाखण्डियों का भारत से सफ़ाया कर देता, कम से कम भरसक प्रयत्न तो करता ही... मैं तुमसे कहता हूँ कि भारत पहले ही श्री रामकृष्ण का हो चुका है और पवित्र हिन्दू धर्म के लिए मैंने यहाँ अपने कार्य को थोड़ा संगठित कर लिया है।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

आलमबाज़ार मठ, कलकत्ता,
५ मई, १८९७

प्रिय कुमारी नोबल,

तुम्हारे अत्यन्त स्नेहयुक्त तथा उत्साहपूर्ण पत्र ने मेरे हृदय में जो शक्ति-संचार किया है, वह तुम स्वयं भी नहीं जानती हो।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन को पूर्ण निराशा में डुबो देनेवाले ऐसे अनेक क्षण जीवन में आते हैं, खासकर उस समय जब किसी उद्देश्य को सफल बनाने के लिए जीवन भर प्रयास करने के बाद सफलता का क्षीण प्रकाश दिखायी देने लगा हो, ठीक उसी समय कोई प्रचण्ड सर्वस्वनाशकारी आघात उपस्थित हो जाय। दैहिक अस्वस्थता की ओर मैं विशेष ध्यान नहीं देता, मुझे तो दुःख इस बात का है कि मेरी योजनाओं को कार्य में परिणत करने का कुछ भी अवसर मुझे प्राप्त नहीं हुआ। और तुम्हें यह विदित है कि इसका मूल कारण धन का अभाव है।

हिन्दू लोग जुलूस निकाल रहे हैं तथा और भी न जाने क्या क्या कर रहे हैं; किन्तु वे आर्थिक सहायता नहीं कर सकते। जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है, वह तो मुझे दुनिया में एकमात्र इंग्लैण्ड की कुमारी स— तथा श्री स— से ही मिली है। ... जब मैं वहाँ था, तब मेरी यह धारणा थी कि एक हज़ार पौंड प्राप्त होने पर ही कम से कम कलकत्ते में प्रधान केन्द्र स्थापित किया जा सकेगा; किन्तु यह अनुमान मैंने दस-बारह वर्ष पहले की अपनी कलकत्ता सम्बन्धी धारणा के आधार पर किया था। परन्तु इस अरसे में मँहगाई तीन-चार गुनी बढ़ चुकी है।

जो भी कुछ हो, कार्य प्रारम्भ हो चुका है। एक टूटा-फूटा पुराना छोटा मकान छः-सात शिलिंग किराये पर लिया गया है जिसमें लगभग चौबीस युवक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। स्वास्थ्य-सुधार के लिए मुझे एक माह तक दार्जिलिंग रहना पड़ा था। तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि मैं पहले की अपेक्षा बहुत कुछ स्वस्थ हूँ।

और, क्या तुम्हें विश्वास होगा, बिना किसी प्रकार की औषधि सेवन किये केवल इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा ही ? कल मैं फिर एक पहाड़ी स्थान की ओर रवाना हो रहा हूँ, क्योंकि इस समय यहाँ पर अत्यन्त गर्मी है। मेरा विश्वास है कि तुम लोगों की 'समिति' अब भी चालू होगी। यहाँ के कार्यो का विवरण मैं प्रायः प्रति-मास तुम्हें भेजता रहूँगा। ऐसा सुना जा रहा है कि लन्दन का कार्य ठीक ठीक नहीं चल रहा है और इसीलिए मैं इस समय लन्दन जाना नहीं चाहता, हालाँकि 'जयंती' उत्सव के उपलक्ष्य में लन्दन जानेवाले हमारे कुछ-एक राजाओं ने मुझे अपना साथी बनाने के लिए प्रयत्न किया था, किन्तु वहाँ जाने पर वेदान्त की ओर लोगों की रुचि बढ़ाने के लिए मुझे पुनः अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता और उसका असर मेरे स्वास्थ्य के लिए विशेष हानिकर होता।

फिर भी निकट भविष्य में एकाध महीने के लिए मैं वहाँ जा सकता हूँ। बस, यहाँ के कार्यो को शुरू होते हुए मैं देख सकता तो कितने आनन्द और स्वतंत्रता से बाहर भ्रमण करने निकल पड़ता !

यहाँ तक तो कार्यो की चर्चा हुई। अब मुझे तुम्हारे बारे में कुछ कहना है। प्रिय कुमारी नोबल, तुम्हारे अन्दर जो ममता, निष्ठा, भक्ति तथा गुणज्ञता विद्यमान है, यदि वह किसीको प्राप्त हो तो वह जीवन भर चाहे जितना भी परिश्रम क्यों न करे, इन गुणों के द्वारा ही उसे उसका सौगुना प्रतिदान मिल जाता है। तुम्हारा सर्वांगीण मंगल हो ! मेरी मातृभाषा में जैसा कहा जाता है, मैं यह कहना चाहूँगा कि 'मेरा सारा जीवन तुम्हारे सेवार्थ प्रस्तुत है।'

तुम्हारे तथा इंग्लैण्ड स्थित अन्यान्य मित्रों के पत्रों के लिए मैं सदैव अत्यन्त उत्सुक रहता हूँ और भविष्य में भी ऐसा ही उत्सुक रहूँगा। श्री तथा श्रीमती हैमण्ड के अत्यन्त सुन्दर तथा स्नेहपूर्ण दो पत्र मुझे प्राप्त हुए हैं और इसके अलावा श्री हैमण्ड ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में मेरे लिए एक सुन्दर कविता भी लिखी है, यद्यपि मैं क़तई उसके योग्य नहीं हूँ। हिमालय से पुनः मैं तुम्हें पत्र लिखूंगा; उत्तप्त मैदानों की अपेक्षा वहाँ पर हिमशिखरों के सम्मुख विचार स्पष्ट एवं स्नायु अधिक शान्त होंगे। कुमारी मूलर इसी बीच अलमोड़ा पहुँच चुकी हैं। श्री तथा श्रीमती सेवियर शिमला जा रहे हैं। अब तक वे दार्जिलिंग में थे। देखो मित्र, इसी तरह से जागतिक घटनाओं का परिवर्तन हो रहा है—एकमात्र प्रभु ही निर्विकार तथा प्रेमस्वरूप हैं। तुम्हारे हृदयसिंहासन पर वे चिराविष्ठित हों—विवेकानन्द की यही निरन्तर प्रार्थना है।

अल्मोड़ा,
२० मई, १८९७
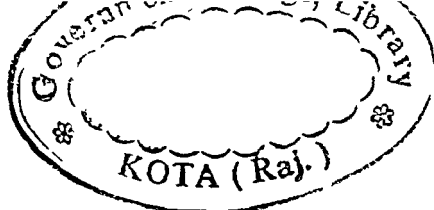
प्रिय महिम,

तुम्हारा पत्र मिलने से अत्यन्त खुशी हुई। शायद भूल से मैंने तुमको यह नहीं बतलाया होगा कि मेरे लिए लिखे जानेवाले पत्रों की नक़ल तुम अपने पास रखना। इसके अलावा भी और लोग मठ में जो आवश्यक पत्र भेजें तथा मठ की ओर से विभिन्न व्यक्तियों के पास जो पत्रादि भेजे जायँ, उनकी नक़ल रखनी आवश्यक है।

सब कार्य सुचारु रूप से हो रहे हैं, वहाँ के कार्य की क्रमोन्नति हो रही है तथा कलकत्ते का समाचार भी तदनुरूप है—यह जानकर मैं बहुत खुश हूँ।

मैं अब पूर्णतया स्वस्थ हूँ; सिर्फ़ रास्ते की कुछ थकावट है—वह भी दो-चार दिन में दूर हो जायगी।

तुम लोगों को मेरा प्यार तथा आशीर्वाद।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
२० मई, १८९७

अभिन्नहृदय,

तुम्हारे पत्र से सभी विशेष समाचार प्राप्त हुए। सुधीर का भी एक पत्र मिला तथा मास्टर महाशय ने भी एक पत्र भेजा है। नित्यानन्द (योगेन चटर्जी) के दो पत्र दुर्भिक्ष-स्थल से प्राप्त हुए हैं।

रुपये-पैसे का अभी भी कोई ठीक-ठिकाना नहीं है... पर होगा अवश्य। धन होने पर मकान, ज़मीन तथा स्थायी कोष आदि की व्यवस्था ठीक ठीक हो जायगी। किन्तु जब तक नहीं मिलता है, तब तक कोई आसरा नहीं रखना चाहिए; और मैं भी अभी दो-तीन माह तक गरम स्थान में लौटना नहीं चाहता। इसके बाद मैं एक दौरा करूँगा और निश्चय ही धन संग्रह कर लूँगा। इसलिए यदि तुम यह समझते हो कि वह सामने की आठ 'काठा' खुली ज़मीन न मिल रही हो तो ऐसा करना ... दलाल को बयाना देने में कोई हरज नहीं, समझ लो कि तुम कुछ भी नहीं खो रहे हो। इन कार्यों को तुम खुद ही सोच समझ कर करना, मैं और अधिक क्या लिख सकता हूँ? शीघ्रता करने से भूल होने की

ख़ास सम्भावना है।...मास्टर महाशय से कहना कि उन्होंने जो मन्तव्य प्रकट किया है, उससे मैं पूर्ण सहमत हूँ।

गंगाधर को लिखना कि यदि वहाँ पर भिक्षादि दुष्प्राप्य हो तो गाँठ से पैसा खर्च कर अपने भोजनादि की व्यवस्था करे तथा प्रति सप्ताह उपेन की पत्रिका (वसुमति) में समाचार प्रकाशित करता रहे। ऐसा करने पर अन्य लोगों से भी सहायता मिल सकती है।

शशि के एक पत्र से पता चला कि...उसे निर्भयानन्द की आवश्यकता है। यदि तुम उचित समझो तो निर्भयानन्द को मद्रास भेजकर गुप्त को बुला लेना ... मठ की नियमावली की बंगला प्रति या उसका अंग्रेज़ी अनुवाद शशि को भेज देना और वहाँ पर उसीके अनुसार कार्य करने को उसे लिख देना।

यह जानकर खुशी हुई कि कलकत्ते की संस्था अच्छी तरह चल रही है। यदि एक-दो व्यक्ति उसमें सम्मिलित न हों तो कोई बात नहीं। धीरे धीरे सभी आने लगेंगे। सबके साथ सद्व्यवहार करना। मीठी बात का असर बहुत होता है। जिससे नये लोग सम्मिलित हों, ऐसा प्रयास करना अत्यन्त आवश्यक है। हमें नये नये सदस्यों की आवश्यकता है।

योगेन अच्छी तरह से है। अलमोड़ा में अत्यधिक गर्मी होने की वजह से वहाँ से २० मील की दूरी पर मैं एक सुन्दर बगीचे में रह रहा हूँ; यह स्थान वहाँ से ठण्डा अवश्य है, किन्तु गर्मी भी है। जहाँ तक गर्मी का सवाल है, कलकत्ते से यहाँ पर ऐसा कोई विशेष अन्तर नहीं है।...

मुझे अब बुखार नहीं आता। और भी ठण्डे स्थान में जाने की चेष्टा कर रहा हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि गर्मी तथा चलने के श्रम से 'लीवर' की क्रिया में तुरन्त गड़बड़ी होने लगती है। यहाँ पर इतनी सूखी हवा चलती है कि दिन-रात नाक में जलन होती रहती है और जीभ भी लकड़ी जैसी सूखी बनी रहती है। तुम लोग नुक़्ताचीनी न करना; नहीं तो अब तक मज़े से मैं किसी ठण्डे स्थान में पहुँच गया होता। "स्वामी जी पथ्य सम्बन्धी नियमों की सदा उपेक्षा करते हैं", क्या व्यर्थ की बात बकते हो? क्या तुम सचमुच उन मूर्खों की बातों पर ध्यान देते हो? यह वैसे ही है, जैसे कि तुम्हारा मुझे उड़द की दाल न खाने देना, क्योंकि उसमें स्टार्च (श्वेतसार) होता है! और यह भी कि चावल और रोटी तलकर खाने से स्टार्च (श्वेतसार) नहीं रहता है! भाई वाह! यह तो अद्भुत विद्या है! असली बात यह है कि मेरी पुरानी आदत लौट रही है।...यह मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। देश के इस भाग में बीमारी यहाँ के रंग-ढंग अपना लेती है और देश के उस भाग में वहाँ के। रात में अल्प भोजन करने की सोच रहा हूँ; सुबह

तथा दोपहर में पेट भर भोजन करूँगा तथा रात में दूध, फल इत्यादि लूँगा। इसी-लिए तो भाई फलों के बगीचे में 'फल-प्राप्ति' की आशा में पड़ा हुआ हूँ। क्या इतना भी नहीं समझते ?

तुम डरते क्यों हो ? क्या दानव की मृत्यु इतनी शीघ्र हो सकती है ? अभी तो केवल सांध्य दीप ही जलाया गया है, और अभी तो सारी रात गायन-वादन करना है। आजकल मेरा मिजाज़ भी ठीक है, बुख़ार भी केवल 'लीवर' के कारण ही है।—मुझे यह अच्छी तरह से पता है। उसे भी मैं दुरुस्त कर दूँगा—डर किस बात का है ? . . . साहस के साथ कार्य में जुट जाओ; हमें एक बार तूफ़ान पैदा कर देना है। किमधिकमिति।

मठ के सब लोगों को मेरा प्यार कहना तथा समिति की आगामी बैठक में सबको मेरा सादर नमस्कार कहना और कहना कि यद्यपि मैं सशरीर उपस्थित नहीं हूँ, फिर भी मेरी आत्मा उस जगह विद्यमान है, जहाँ कि प्रभु का नाम-कीर्तन होता है। **यावत्तव कथा राम संचरिष्यति मेदिनीम्,** अर्थात् हे राम, जहाँ भी संसार में तुम्हारी कथा होती है, वहीं पर मैं विद्यमान रहता हूँ। क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापी है न !

सस्नेह,
विवेकानन्द

(डॉक्टर शशिभूषण घोष को लिखित)

अल्मोड़ा,
२९ मई, १८९७

प्रिय डॉक्टर शशि,

तुम्हारा पत्र तथा दवा की दो बोतलें यथासमय प्राप्त हुईं। कल सायंकाल से तुम्हारी दवा की परीक्षा चालू कर दी है। आशा है कि एक दवा की अपेक्षा दोनों को मिलाने से अधिक असर होगा।

सुबह-शाम घोड़े पर सवार होकर मैंने पर्याप्त रूप से व्यायाम करना प्रारम्भ कर दिया है और उसके बाद से सचमुच मैं बहुत अच्छा हूँ। व्यायाम शुरू करने के बाद पहले सप्ताह में ही मैं इतना स्वस्थ अनुभव करने लगा, जितना कि बचपन के उन दिनों को छोड़कर जब मैं कुश्ती लड़ा करता था, मैंने कभी नहीं किया था। तब मुझे सच में लगता था कि शरीरधारी होना ही एक आनन्द का विषय है। तब शरीर की प्रत्येक गति में मुझे शक्ति का आभास मिलता था तथा अंग-प्रत्यंग के संचालन

से सुख की अनुभूति होती थी। वह अनुभव अब कुछ घट चुका है, फिर भी मैं अपने को शक्तिशाली अनुभव करता हूँ। जहाँ तक ताक़त का सवाल है, जी० जी० तथा निरंजन दोनों को ही देखते देखते मैं धरती पर पछाड़ सकता था। दार्जिलिंग में मुझे सदा ऐसा लगता था, जैसे मैं कोई दूसरा ही व्यक्ति बन चुका हूँ। और यहाँ पर मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मुझमें कोई रोग ही नहीं है। लेकिन एक उल्लेखनीय परिवर्तन दिखायी दे रहा है। बिस्तरे पर लेटने के साथ ही मुझे कभी नींद नहीं आती थी--घंटे दो घंटे तक मुझे इधर-उधर करवट बदलनी पड़ती थी। केवल मद्रास से दार्जिलिंग तक (दार्जिलिंग में सिर्फ़ पहले महीने तक) तकिये पर सिर रखते ही मुझे नींद आ जाती थी। वह सुलभनिद्रा अब एकदम अन्तर्हित हो चुकी है और इधर-उधर करवट बदलने की मेरी वह पुरानी आदत तथा रात्रि में भोजन के बाद गर्मी लगने की अनुभूति पुनः वापस लौट आयी है। दिन में भोजन के बाद कोई खास गर्मी का अनुभव नहीं होता।

यहाँ पर एक फल का बगीचा है, अतः यहाँ आते ही मैंने अधिक फल खाना प्रारम्भ कर दिया है। किन्तु यहाँ पर खूबानी के सिवाय और कोई फल नहीं मिलता। नैनीताल से अन्य फल मँगवाने की मैं चेष्टा कर रहा हूँ। दिन में यहाँ पर यद्यपि गर्मी अधिक है, फिर भी प्यास नहीं लगती।... साधारणतया यहाँ पर मुझे शक्तिवर्द्धन के साथ ही साथ प्रफुल्लता तथा विपुल स्वास्थ्य का अनुभव हो रहा है। चिन्ता की बात केवल इतनी है कि अधिक मात्रा में दूध लेने के कारण चर्बी की वृद्धि हो रही है। योगेन ने जो लिखा है, उस पर ध्यान न देना। जैसे वह स्वयं डरपोक है, वैसे ही दूसरों को भी बनाना चाहता है। मैंने लखनऊ में एक बरफ़ी का सोलहवाँ हिस्सा खाया था; उसके मतानुसार अल्मोड़े में मेरे बीमार पड़ने का कारण वही है! शायद दो-चार दिन में ही योगेन यहाँ आयेगा। मैं उसकी देखभाल करूँगा। हाँ, एक बात और है, मैं आसानी से मलेरियाग्रस्त हो जाता हूँ—अल्मोड़ा आते ही जो पहले सप्ताह में मैं बीमार पड़ गया था, उसका कारण शायद तराई की तरफ़ से होकर आना ही था। ख़ैर, इस समय तो मैं अपने को अत्यन्त बलशाली अनुभव कर रहा हूँ। डॉक्टर, आजकल जब मैं बर्फ़ से ढके हुए पर्वतशिखरों के सम्मुख बैठकर उपनिषद् के इस अंश का पाठ करता हूँ—**न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्** (जिसने योगाग्निमय शरीर प्राप्त किया है, उसके लिए जरा-मृत्यु कुछ भी नहीं है) उस समय यदि एक बार तुम मुझे देख सकते!

रामकृष्ण मिशन, कलकत्ते की सभाओं की सफलता के समाचार से मैं अत्यन्त

आनन्दित हूँ। इस महान् कार्य में जो सहायता प्रदान कर रहे हैं, उनका सर्वांगीण कल्याण हो।...सम्पूर्ण स्नेह के साथ।

प्रभुपदाश्रित तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री प्रमदादास मित्र को लिखित)

अल्मोड़ा,
३० मई, १८९७

प्रिय महाशय,

मैंने सुना है कि आपके ऊपर कोई अपरिहार्य पारिवारिक दुःख आ पड़ा है। यह दुःख आप जैसे ज्ञानी पुरुष का क्या कर सकता है? फिर भी इस सांसारिक जीवन के संदर्भ में मित्रता के स्निग्ध व्यवहार की प्रेरणा से मेरे लिए इसकी चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु वे दुःख के क्षण बहुधा आध्यात्मिक अनुभव को उच्चतर रूप से व्यक्त करते हैं। जैसे कि थोड़ी देर के लिए बादल हट गये हों और सत्य रूपी सूर्य चमक उठे। कुछ लोगों के लिए ऐसी अवस्था में आधे बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं। सबसे बड़ा बन्धन है मान का—नाम डूबने का भय मृत्यु के भय से प्रबल है; और उस समय यह बन्धन भी कुछ ढीला दिखायी देता है। जैसे कि एक क्षण के लिए मन को यह अनुभव होता हो कि मानव-मत की अपेक्षा अन्तर्यामी प्रभु की ओर ध्यान देना अधिक अच्छा है। परन्तु फिर से बादल आकर घेर लेते हैं और वास्तव में यही माया है।

यद्यपि बहुत दिनों से मेरा आप से पत्र-व्यवहार नहीं था, परन्तु औरों से आपका प्रायः सब समाचार सुनता रहा हूँ। कुछ समय हुआ, आपने कृपापूर्वक मुझे इंग्लैण्ड में गीता के अनुवाद की एक प्रति भेजी थी। उसकी जिल्द पर आपके हाथ की एक पंक्ति लिखी हुई थी। इस उपहार की स्वीकृति थोड़े से शब्दों में दिये जाने के कारण मैंने सुना कि आपको मेरी आपके प्रति पुराने प्रेम की भावना में सन्देह उत्पन्न हो गया।

कृपया इस सन्देह को आधार रहित जानिए। उस संक्षिप्त स्वीकृति का कारण यह था कि पाँच वर्ष में मैंने आपकी लिखी हुई एक ही पंक्ति उस अंग्रेजी गीता की जिल्द पर देखी, इस बात से मैंने यह विचार किया कि यदि इससे अधिक लिखने का आपको अवकाश न था तो क्या अधिक पढ़ने का अवकाश हो सकता है? दूसरी बात, मुझे यह पता लगा कि हिन्दू धर्म के गौरांग मिशनरियों के आप विशेष

मित्र हैं और दुष्ट काले भारतवासी आपकी घृणा के पात्र हैं! यह मन में शंका उत्पन्न करनेवाला विषय था। तीसरे, मैं म्लेच्छ, शूद्र इत्यादि हूँ—जो मिले सो खाता हूँ, वह भी जिस किसीके साथ और सभी के सामने—चाहे देश हो या परदेश। इसके अतिरिक्त मेरी विचार-धारा में बहुत विकृति आ गयी है——मैं एक निर्गुण पूर्ण ब्रह्म को देखता हूँ, और कुछ कुछ समझता भी हूँ, और इने-गिने व्यक्तियों में मैं उस ब्रह्म का विशेष आविर्भाव भी देखता हूँ; यदि वे ही व्यक्ति ईश्वर के नाम से पुकारे जायँ तो मैं इस विचार को ग्रहण कर सकता हूँ परन्तु बौद्धिक सिद्धान्तों द्वारा परिकल्पित विधाता आदि की ओर मन आकर्षित नहीं होता।

ऐसा ही ईश्वर मैंने अपने जीवन में देखा है और उनके आदेशों का पालन करने के लिए मैं जीवित हूँ। स्मृति और पुराण सीमित बुद्धिवाले व्यक्तियों की रचनाएँ हैं और भ्रम, त्रुटि, प्रमाद, भेद तथा द्वेष भाव से परिपूर्ण हैं। उनके केवल कुछ अंश जिनमें आत्मा की व्यापकता और प्रेम की भावना विद्यमान है, ग्रहण करने योग्य हैं, शेष सबका त्याग कर देना चाहिए। उपनिषद् और गीता सच्चे शास्त्र हैं, और राम, कृष्ण, बुद्ध, चैतन्य, नानक, कबीर आदि सच्चे अवतार हैं; क्योंकि उनके हृदय आकाश के समान विशाल थे—और इन सबमें श्रेष्ठ हैं राम-कृष्ण। रामानुज, शंकर इत्यादि संकीर्ण हृदयवाले केवल पण्डित मालूम होते हैं। वह प्रेम कहाँ है, वह हृदय जो दूसरों का दुःख देखकर द्रवित हो? पण्डितों का शुष्क विद्याभिमान और जैसे-तैसे केवल अपने आपको मुक्त करने की इच्छा! परन्तु महाशय, क्या यह सम्भव है? क्या इसकी कभी सम्भावना थी या हो सकती है? क्या अहंभाव का अल्पांश भी रहने से किसी चीज़ की प्राप्ति हो सकती है?

मुझे एक बड़ा विभेद और दिखायी देता है—मेरे मन में दिनोंदिन यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि जाति-भाव सबसे अधिक भेद उत्पन्न करनेवाला और माया का मूल है। सब प्रकार का जाति-भेद चाहे वह जन्मगत हो या गुणगत, बन्धन ही है। कुछ मित्र यह सुझाव देते हैं, "सच है, मन में ऐसा ही समझो, परन्तु बाहर व्यावहारिक जगत् में जाति जैसे भेदों को बनाये रखना उचित ही है।"

...मन में एकता का भाव कहने के लिए उसे स्थापित करने की कातर निर्वीर्य चेष्टा और बाह्य जगत् में राक्षसों का नरक-नृत्य—अत्याचार और उत्पीड़न—निर्धनों के लिए साक्षात् यमराज! परन्तु यदि वही अछूत काफ़ी धनी हो जाय तो 'अरे, वह तो धर्म का रक्षक है।'

सबसे अधिक अपने अध्ययन से मैंने यह जाना है कि धर्म के विधि-निषेधादि नियम शूद्र के लिए नहीं हैं; यदि वह भोजन में या विदेश जाने में कुछ विचार

दिखाये तो उसके लिए वह सब व्यर्थ है, केवल निरर्थक परिश्रम। मैं शूद्र हूँ, म्लेच्छ हूँ, इसलिए मुझे इन सब झंझटों से क्या सम्बन्ध? मेरे लिए म्लेच्छ का भोजन हुआ तो क्या, और शूद्र का हुआ तो क्या? पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों ही में जाति जैसे पागल विचार पाये जाते हैं, ईश्वर द्वारा प्रकट की हुई पुस्तकों में नहीं। अपने पूर्वजों के कार्य का फल पुरोहितों को भोगने दो; मैं तो भगवान् की वाणी का अनुसरण करूँगा, क्योंकि मेरा कल्याण उसीमें है।

एक और सत्य, जिसका मैंने अनुभव किया है, वह यह है कि निःस्वार्थ सेवा ही धर्म है और बाह्य विधि, अनुष्ठान आदि केवल पागलपन है यहाँ तक कि अपनी मुक्ति की अभिलाषा करना भी अनुचित है। मुक्ति केवल उसके लिए है जो दूसरों के लिए सर्वस्व त्याग देता है, परन्तु वे लोग जो 'मेरी मुक्ति', 'मेरी मुक्ति' की अहर्निश रट लगाये रहते हैं, वे अपना वर्तमान और भावी वास्तविक कल्याण नष्ट कर इधर-उधर भटकते रह जाते हैं। ऐसा होते मैंने कई बार प्रत्यक्ष देखा है। इन विविध विषयों पर विचार करते हुए आपको पत्र लिखने का मेरा मन नहीं था। इन सब मतभेदों के होते हुए भी यदि आपका प्रेम मेरे प्रति पहले जैसा ही हो तो इसे मैं बड़े आनन्द का विषय समझूंगा।

आपका,
विवेकानन्द

अल्मोड़ा,
१ जून, १८९७

प्रिय श्री——,

वेदों के विरुद्ध तुमने जो तर्क दिया है, वह अखण्डनीय होता, यदि 'वेद' शब्द का अर्थ 'संहिता' होता। भारत में यह सर्वसम्मत है कि 'वेद' शब्द में तीन भाग सम्मिलित हैं——संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्। इनमें से पहले दो भाग कर्मकाण्ड सम्बन्धी होने के कारण अब लगभग एक ओर कर दिये गये हैं। सब मतों के निर्माताओं तथा तत्त्वज्ञानियों ने केवल उपनिषदों को ही ग्रहण किया है।

केवल संहिता ही वेद हैं, यह स्वामी दयानन्द का शुरू किया हुआ बिल्कुल नया विचार है, और पुरातन मतावलम्बी या सनातनी जनता में इसको माननेवाला कोई नहीं है।

इस नये मत के पीछे कारण यह था कि स्वामी दयानन्द यह समझते थे कि संहिता की एक नयी व्याख्या के अनुसार वे पूरे वेद का एक सुसंगत सिद्धान्त निर्माण कर सकेंगे। परन्तु कठिनाइयाँ ज्यों की त्यों बनी रहीं, केवल वे अब

ब्राह्मण भाग के सम्बन्ध में उठ खड़ी हुई और अनेक व्याख्याओं तथा प्रक्षिप्तता की परिकल्पनाओं के बावजूद भी बहुत कुछ शेष रह ही गयीं।

अब यदि संहिता के आधार पर एक समन्वयपूर्ण धर्म का निर्माण सम्भव हो सकता है तो उपनिषदों के आधार पर एक समन्वयपूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण मत का निर्माण सहस्र गुना अधिक सम्भव है। फिर इसमें पहले से स्वीकृत राष्ट्रीय मत के विपरीत जाना भी नहीं पड़ेगा। यहाँ अतीत के सब आचार्य तुम्हारा साथ देंगे तथा उन्नति के नये मार्गों का विशाल क्षेत्र तुम्हारे सामने खुला होगा।

निःसन्देह गीता हिन्दुओं की बाइबिल बन चुकी है और वह इस मान के सर्वथा योग्य भी है। परन्तु श्री कृष्ण का व्यक्तित्व काल्पनिक कथाओं की कुहेलिका से ऐसा आच्छादित हो गया है कि उनके जीवन से जीवनदायिनी स्फूर्ति प्राप्त करना आज असम्भव सा जान पड़ता है। दूसरे, वर्तमान युग में नयी विचार-प्रणाली और नवीन जीवन की आवश्यकता है। मैं आशा करता हूँ कि इससे तुम्हें इस ढंग से विचार करने में सहायता मिलेगी।

आशीर्वाद के साथ तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी शुद्धानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,

कल्याणवरेषु—

अवागमं कुशलम् तत्रत्यानां वार्ताञ्च सविशेषां तव पत्रिकायाम्। ममापि विशेषोऽस्ति शरीरस्य, शेषो ज्ञातव्यो भिषक्प्रवरस्य शशिभूषणस्य सकाशात्। ब्रह्मानन्देन संस्कृतया एव रीत्या चलत्वधुना शिक्षा, यदि पश्चात्परिवर्तनमर्हेत्तदपि कारयेत्। सर्वेषां सम्मतिं गृहीत्वा तु करणीयमिति न विस्मर्तव्यम्।

अहमधुना अल्मोड़ानगरस्य किञ्चिदुत्तरं कस्यचिद्वणिज उपवनोपदेशे निवसामि। सम्मुखे हिमशिखराणि हिमालयस्य प्रतिफलितदिवाकरकरैः पिण्डीकृतरजत इव भान्ति प्रीणयन्ति च। अव्याहतवायुसेवनेन, मितेन भोजनेन, समधिकव्यायामसेवया च सुदृढं सुस्थञ्च सञ्जातं मे शरीरम्। योगानन्दः खलु समधिकमस्वस्थ इति श्रृणोमि, आमन्त्रयामि तमागन्तुमत्रैव। बिभेत्यसौ पुनः पार्वत्याज्जलाद्वायोश्च। "उषित्वा कतिपय-

दिवसान्यत्रोपवने यदि न तावद्विशेषो व्याधेर्गच्छ त्वं कलिकाताम्" इत्यहमद्य तमलिखम्। यथाभिरुचि करिष्यति।

अच्युतानन्दः प्रतिदिनं सायाह्ने अल्मोड़ानगर्यां गीतादिशास्त्रपाठं जनानाहूय करोति। बहूनां नगरवासिनां स्कन्धावारसैन्यानांच समागमोऽस्ति तत्र प्रत्यहम् सर्वानसौ प्रीणाति चेति श्रृणोमि। "यावानर्थ" इत्यादि श्लोकस्य यो बङ्गार्थस्त्वया लिखितो नासौ मन्यते समीचीनः। "सति जलप्लाविते उदपाने नास्ति अर्थः प्रयोजनम्" इत्यसावर्थः। विषमोऽयमुपन्यासः, किं संप्लुतोदके सति जीवानां तृष्णा विलुप्ता भवति?

यद्येवं भवेत्प्राकृतिको नियमः, जलप्लाविते भूतले सति जलपानं निरर्थकं, केनचिदपि वायुमार्गेनाथवान्येन केनापि गूढेनोपायेन जीवानां तृष्णानिवारणं स्यात्, तदासावपूर्वोऽर्थः सार्थको भवितुमर्हेन्नान्यथा।

शंकर एवावलम्बनीयः। इयमपि भवितुमर्हति—

सर्वतः संप्लुतोदकेऽपि भूतले यावानुदपाने अर्थः तृष्णातुराणां (अल्पमात्रं जलमलं भवेदित्यर्थः),—"आस्तां तावज्जलराशिः, मम प्रयोजनम् स्वल्पेऽपि जले सिध्यति"—एवं विजानतो ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु अर्थः प्रयोजनम्। यथा संप्लुतोदके पानमात्रप्रयोजनम् तथा सर्वेषु वेदेषु ज्ञानमात्रप्रयोजनम्।

इयमपि व्याख्या अधिकतरं सन्निधिमापन्ना ग्रन्थकाराभिप्रायस्य—

उपप्लावितेऽपि भूतले, पानाय उपादेयं पानाय हितं जलमेव अन्विष्यन्ति लोका नान्यत्। नानाविधानि जलानि सन्ति भिन्नगुणधर्माणि, उपप्लावितेऽपि भूमेस्तारतम्यात्। एवं विजानन् ब्राह्मणोऽपि विविधज्ञानोपप्लाविते वेदाख्ये शब्दसमुद्रे संसारतृष्णानिवारणार्थं तदेव गृह्णीयात् यदलं भवति निःश्रेयसाय। ब्रह्मज्ञानं हि तत्।

इति शं साशीर्वादं विवेकानन्दस्य

(हिन्दी अनुवाद)

प्रिय शुद्धानन्द,

तुम्हारे पत्र से यह जानकर कि वहाँ सब कुशलपूर्वक हैं, तथा अन्य सब समाचार विस्तारपूर्वक पढ़कर मुझे हर्ष हुआ। मैं भी अब पहले से अच्छा हूँ और शेष तुम्हें सब डॉ० शशिभूषण से मालूम हो जायगा। ब्रह्मानन्द द्वारा संशोधित पद्धति के अनुसार शिक्षा जैसी चल रही है, अभी वैसी ही चलने दो और भविष्य में यदि परिवर्तन की आवश्यकता हो तो कर लेना। परन्तु यह कभी न भूलना कि ऐसा सर्वसम्मति ही से होना चाहिए।

आजकल मैं एक व्यापारी के बाग़ में रह रहा हूँ, जो अल्मोड़े से कुछ दूर उत्तर में है। हिमालय के हिम-शिखर मेरे सामने हैं, जो सूर्य के प्रकाश में रजत-राशि के समान आभासित होते हैं, और हृदय को आनन्दित करते हैं। शुद्ध हवा, नियमानुसार भोजन और यथेष्ट व्यायाम करने से मेरा शरीर बलवान तथा स्वस्थ हो गया है। परन्तु मैंने सुना है कि योगानन्द बहुत बीमार है। मैं उसको यहाँ आने के लिए निमंत्रित कर रहा हूँ, परन्तु वह पहाड़ की हवा और पानी से डरता है। मैंने आज उसे यह लिखा है कि 'इस बाग़ में कुछ दिन आकर रहो, और यदि रोग में कोई सुधार न हो तो तुम कलकत्ते चले जाना।' आगे उसकी इच्छा।

अल्मोड़ा में रोज़ शाम को अच्युतानन्द लोगों को एकत्र करता है और उन्हें गीता तथा अन्य शास्त्र पढ़कर सुनाता है। बहुत से नगरवासी और छावनी से सिपाही प्रतिदिन वहाँ आ जाते हैं। मैंने सुना है कि सब लोग उसकी प्रशंसा करते हैं।

'यावानर्थ. . . .'[1] इत्यादि श्लोक की जो तुमने बंगला में व्याख्या की है, वह मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ती।

तुम्हारी व्याख्या इस प्रकार की है--'जब (पृथ्वी) जल से आप्लावित हो जाती है, तब पीने के पानी की क्या आवश्यकता?'

यदि प्रकृति का ऐसा नियम हो कि पृथ्वी के जल से आप्लावित हो जाने पर पानी पीना व्यर्थ हो जाय, और यदि वायु-मार्ग से किसी विशेष अथवा और किसी गुप्त रीति से लोगों की प्यास बुझ सके, तभी यह अद्भुत व्याख्या संगत हो सकती है, अन्यथा नहीं। तुम्हें श्री शंकराचार्य का अनुसरण करना चाहिए। या तुम इस प्रकार भी व्याख्या कर सकते हो :

जैसे कि, जब बड़े बड़े भूमि-भाग जल से आप्लावित हुए रहते हैं, तब भी छोटे छोटे तालाब प्यासे मनुष्यों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं (अर्थात् उसके लिए थोड़ा सा जल भी पर्याप्त होता है और वह मानों कहता है, इस विपुल जल-राशि को रहने दो, मेरा काम थोड़े जल से ही चल जायगा)--इसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मण के लिए सम्पूर्ण वेद उपयोगी होते हैं। जैसे भूमि के जल में डूबे हुए होने के बावजूद भी हमें केवल पानी पीने से मतलब है और कुछ नहीं, इसी प्रकार वेदों से हमारा अभिप्राय केवल ज्ञान की प्राप्ति से है।

---

[1] **यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।**
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। गीता ।। ४६ ।।

एक और व्याख्या है जिससे ग्रन्थकर्ता का अर्थ अधिक योग्य रीति से समझ में आता है: जब भूमि जल से आप्लावित होती है, तब भी लोग हितकर और पीने योग्य जल की ही खोज करते हैं, और दूसरे प्रकार के जल की नहीं। भूमि के पानी से आप्लावित होने पर भी उस पानी के अनेक भेद होते हैं, और उसमें भिन्न भिन्न गुण और धर्म पाये जाते हैं। वे भेद आश्रयभूत भूमि के गुण एवं प्रकृति के अनुसार होते हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान ब्राह्मण भी अपनी संसार-तृष्णा को शान्त करने के लिए उस शब्द-समुद्र में से—जिसका नाम वेद है तथा जो अनेक प्रकार के ज्ञान-प्रवाहों से पूर्ण है—उसी धारा को खोजेगा जो उसे मुक्ति के पथ में ले जाने के लिए समर्थ हो। और वह ज्ञान-प्रवाह ब्रह्मज्ञान ही है, जो ऐसा कर सकता है।

आशीर्वाद और शुभकामनाओं सहित,

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(मेरी हेल्वॉयस्टर को लिखित)

अलमोड़ा,
२ जून, १८९७

प्रिय मेरी,

मैं अपना बड़ा गप्पी पत्र, जिसके लिए वादा कर चुका हूँ, आरम्भ कर रहा हूँ। इसकी वृद्धि का पूरा इरादा है और यदि यह इसमें विफल होता है तो तुम्हारे ही कर्मों का दोष होगा। मुझे विश्वास है कि तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत अच्छा होगा। मेरा स्वास्थ्य बहुत ज्यादा खराब रहा है; अब थोड़ा सुधर रहा है—आशा है, शीघ्र चंगा हो जाऊँगा।

लन्दन के कार्य का क्या हाल है? मुझे आशंका है कि वह चौपट हो रहा है। क्या तुम यदा-कदा लन्दन जाती हो? क्या स्टर्डी को नया बच्चा पैदा हुआ?

आजकल तो भारत का मैदानी प्रदेश आग सा तप रहा है। मैं वह गरमी बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए मैं इस पर्वतीय स्थान पर हूँ। मैदानों की अपेक्षा यह थोड़ा ठंडा है।

मैं एक सुन्दर बाग़ में रहता हूँ, जो अलमोड़े के एक व्यापारी का है—बाग़ कई मील तक पहाड़ों और वनों को स्पर्श करता है। परसों रात में एक चीता यहाँ

आ धमका और बाग़ में रखी गयी भेड़ों-बकरियों के झुंड से एक बकरा उठा ले गया। नौकरों का शोरगुल और रखवाली करनेवाले तिब्बती कुत्तों का भूँकना बड़ा ही भयावह था। जब से मैं यहाँ ठहरा हूँ, तब से ये कुत्ते रात भर कुछ दूरी पर जंज़ीरों से बाँधकर रखे जाते हैं, ताकि उनके भूँकने की जोर की आवाज़ से मेरी नींद में बाधा न पड़े। इससे चीते का दाँव बैठ गया और उसे बढ़िया भोजन मिल गया—शायद हफ़्तों बाद। इससे उसका खूब भला हो!

क्या तुम्हें कुमारी मूलर की याद है? वे यहाँ कुछ दिनों के लिए आयी हैं और जब उन्होंने चीतेवाली घटना सुनी तो डर सी गयीं। लन्दन में सिझायी हुई खालों की बड़ी माँग जान पड़ती है और अन्य बातों की अपेक्षा इस कारण हमारे यहाँ के चीतों और बाघों पर विपत्ति उमड़ पड़ी है।

इस वक़्त जब मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ, तब मेरे सम्मुख विशाल बर्फ़ीली चोटियों की लम्बी लम्बी क़तारें खड़ी दिखायी पड़ रही हैं, जो अपराह्न की तापोज्ज्वलता परावर्तित कर रही हैं। यहाँ से नाक की सीध में वे लगभग बीस मील दूर हैं और चक्करदार पहाड़ी मार्गों से जाने पर वे चालीस मील दूर पड़ेंगी।

मुझे आशा है कि काउन्टेस के पत्र में तुम्हारे अनुवादों का अच्छा स्वागत हुआ होगा। अपने यहाँ के कुछ देशी नरेशों के साथ इस उत्सव-काल में लन्दन आने का मेरा बड़ा मन था और बड़ा अच्छा अवसर भी मिला था, किन्तु मेरे चिकित्सकों ने इतनी जल्दी काम का जोखिम उठाने की अनुमति मुझे नहीं दी। क्योंकि यूरोप जाने का अर्थ है कार्य, है न? कार्य नहीं तो रोटी नहीं।

यहाँ गेरुआ वस्त्र काफ़ी है और इससे पर्याप्त भोजन मुझे सुलभ हो जायगा। जो हो, अति वांछनीय विश्राम ले रहा हूँ। आशा है, इससे मुझे लाभ होगा।

तुम्हारा कार्य कैसा हो रहा है? खुशी के साथ या अफ़सोस के साथ? क्या तुम पर्याप्त विश्राम करना पसंद नहीं करतीं—मान लो कुछ साल का विश्राम—और कोई काम न करना पड़े? सोना, खाना और क़सरत करना; क़सरत करना, खाना और सोना—यही आगे कुछ महीनों तक मैं करने जा रहा हूँ। श्री गुडविन मेरे साथ हैं। तुमको उन्हें भारतीय पोशाक में देखना चाहिए। मैं बहुत जल्द उनका मूड़ मुड़वाकर उन्हें पूरा सन्यासी बनाने जा रहा हूँ।

क्या तुम अब भी कुछ योगाभ्यास कर रही हो? क्या उससे तुम्हें कुछ लाभ मालूम पड़ता है? मुझे पता लगा है कि श्री मार्टिन का देहान्त हो गया। श्रीमती मार्टिन का क्या हाल है—क्या कभी कभी उनसे मिलती हो?

क्या तुम कुमारी नोबुल को जानती हो? कभी उनसे मिलती हो? यहाँ

मेरे पत्र का अन्त होता है, क्योंकि भारी अंधड़ चल रहा है और लिखना असम्भव है। प्रिय मेरी, यह सब तुम्हारा कर्म-दोष है, क्योंकि मैं तो बहुत सी अद्भुत बातें लिखना चाहता था और तुम्हें ऐसी सुन्दर कहानियाँ सुनाना चाहता था; परन्तु उन्हें भविष्य के लिए मुझे स्थगित करना पड़ेगा और तुम्हें प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

तुम्हारा सदैव प्रभुपदाश्रित,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

अल्मोड़ा,
३ जून, १८९७

प्रिय कुमारी नोबल,

. . .जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं पूर्ण संतुष्ट हूँ। मैंने बहुत से स्वदेशवासियों को जाग्रत कर दिया है, और यही मैं चाहता था। अब जो कुछ होना है, होने दो; कर्म के नियम को अपनी गति के अनुसार चलने दो। मुझे यहाँ इस लोक में कोई बन्धन नहीं है। मैंने जीवन देखा है और वह सब स्वार्थ के लिए है— जीवन स्वार्थ के लिए, प्रेम स्वार्थ के लिए, मान स्वार्थ के लिए, सभी चीजें स्वार्थ के लिए। मैं पीछे दृष्टि डालता हूँ तो यह नहीं पाता कि मैंने कोई भी कर्म स्वार्थ के लिए किया है। यहाँ तक कि मेरे बुरे कर्म भी स्वार्थ के लिए नहीं थे। अतएव मैं संतुष्ट हूँ; यह बात नहीं कि मैं समझता हूँ कि मैंने कोई विशेष महत्त्वपूर्ण या अच्छा कार्य किया है, परन्तु संसार इतना क्षुद्र है, जीवन इतना तुच्छ और जीवन में इतनी, इतनी विवशता है—कि मैं मन ही मन हँसता हूँ और आश्चर्य करता हूँ कि मनुष्य, जो कि विवेकी जीव है, इस क्षुद्र स्वार्थ के पीछे भागता है— ऐसी कुत्सित एवं घृणित वस्तु के लिए लालायित रहता है।

यही सत्य है। हम एक फन्दे में फँस गये हैं, और जितनी जल्दी उससे निकल सकेंगे, उतना ही हमारे लिए अच्छा होगा। मैंने सत्य का दर्शन कर लिया है— अब यदि यह शरीर ज्वार-भाटे के समान बहता है तो मुझे क्या चिन्ता !

जहाँ मैं अभी रह रहा हूँ, वह एक सुन्दर पहाड़ी उद्यान है। उत्तर में, प्रायः क्षितिज पर्यन्त विस्तृत हिमाच्छादित हिमालय के शिखर पर शिखर दिखायी देते हैं। वे सघन वन से परिपूर्ण हैं। यहाँ न ठंड है, न अधिक गर्मी; प्रातः और सायं अत्यन्त मनोहर हैं। मैं गर्मी में यहाँ रहूँगा और वर्षा के आरम्भ में काम करने नीचे जाना चाहता हूँ।

मैंने विद्यार्थी जीवन के लिए जन्म लिया था—एकान्त और शान्ति से अध्ययन में लीन होने के लिए। किन्तु जगदम्बा का विधान दूसरा ही है। फिर भी वह प्रवृत्ति अभी भी है।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
१४ जून, १८९७

अभिन्नहृदय,

तुमने चारु का जो पत्र भेजा है, उसके बारे में मेरी पूरी सहानुभूति है।

महारानी जी को जो मानपत्र दिया जायगा, उसमें निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :

१. वह सभी अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों से मुक्त होना चाहिए, दूसरे शब्दों में 'आप ईश्वर की प्रतिनिधि हैं' इत्यादि (व्यर्थ बातों) का उल्लेख, जैसा कि हम देशवासियों के लिए आम हो गया है, नहीं होना चाहिए।

२. आपके राज में सभी धर्मों की सुरक्षा होने के कारण भारतवर्ष तथा इंग्लैण्ड में हम लोग निर्भयता के साथ अपने वेदान्त मत का प्रचार करने में समर्थ हुए हैं।

३. दरिद्र भारतवासी के प्रति उनकी दया का उल्लेख, जैसे कि दुर्भिक्ष-कोश में स्वयं दान देकर अंग्रेजों को अपूर्व दान के प्रति प्रोत्साहित करना।

४. उनके दीर्घ जीवन तथा उनके राज्य में प्रजाओं की उत्तरोत्तर सुख-समृद्धि की कामना व्यक्त करना।

मानपत्र शुद्ध अंग्रेजी में लिखकर अल्मोड़ा के पते पर मुझे भेज दो। मैं उसमें हस्ताक्षर कर शिमला भेज दूंगा। शिमला में इसे किसके पास भेजना होगा, लिखना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

पुनश्च—शुद्धानन्द से कहो कि वह प्रति सप्ताह मठ से मुझे जो पत्र लिखता है, उसकी एक प्रतिलिपि रख लिया करे।

वि०

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
१५ जून, १८९७

कल्याणवरेषु,

तुम्हारे समाचार मुझे विस्तारपूर्वक मिलते जा रहे है, और मेरा आनन्द अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। इसी प्रकार के कार्य द्वारा जगत् पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सम्प्रदाय और मत का अन्तर क्या अर्थ रखते हैं? शावाश! मेरे लाखों आलिंगन और आशीर्वाद स्वीकार करो। कर्म, कर्म, कर्म—मुझे और किसी चीज़ की परवाह नहीं है। मृत्युपर्यन्त कर्म, कर्म, कर्म! जो दुर्वल हैं, उन्हें अपने आप को महान् कार्यकर्ता वनाना है, महान् नेता वनाना है—धन की चिन्ता न करो, वह आसमान से वरसेगा। जिनका दान तुम स्वीकार करते हो, उन्हें अपने नाम से देने दो, इसमें कुछ हानि नहीं। किसका नाम और किसका महत्त्व क्या है? नाम के लिए कौन परवाह करता है? उसे अलग रख दो! यदि भूखों को भोजन का ग्रास देने में नाम, सम्पत्ति और सब कुछ नष्ट हो जायँ तब भी—अहो भाग्यमहो भाग्यम् 'तब भी बड़ा भाग्य है'—अत्यन्त भाग्यशाली हो तुम! हृदय और केवल हृदय ही विजय प्राप्त कर सकता है, मस्तिष्क नहीं। पुस्तकें और विद्या, योग, ध्यान और ज्ञान—प्रेम की तुलना में ये सब धूलि के समान हैं। प्रेम से अलौकिक शक्ति मिलती है, प्रेम से भक्ति उत्पन्न होती है, प्रेम ही ज्ञान देता है, और प्रेम ही मुक्ति की ओर ले जाता है। वस्तुतः यही उपासना है—मानव शरीर में स्थित ईश्वर की उपासना! **नेदं यदिदमुपासते**—'वह (अर्थात् ईश्वर से भिन्न वस्तु) नहीं, जिसकी लोग उपासना करते है।' यह तो अभी आरम्भ ही है, और जब तक हम इसी प्रकार पूरे भारत में, नहीं, नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वी पर न फैल जायँ, तब तक हमारे प्रभु का माहात्म्य ही क्या है!

लोगों को देखने दो कि हमारे प्रभु के चरणों के स्पर्श से मनुष्य को देवत्व प्राप्त होता है या नहीं! जीवन्मुक्ति इसीका नाम है, जब अहंकार और स्वार्थ का चिह्न भी नहीं रहता।

शावाश! श्री प्रभु की जय हो! क्रमशः भिन्न भिन्न स्थानों में जाओ। यदि हो सके तो कलकत्ते जाओ, लड़कों की एक अन्य टोली की सहायता से धन एकत्र करो; उनमें से दो-एक को एक स्थान में लगाओ, और फिर किसी और स्थान से कार्य आरम्भ करो। इस प्रकार धीरे धीरे फैलते जाओ और उनका निरीक्षण करते रहो। कुछ समय के बाद तुम देखोगे कि काम स्थायी हो जायगा और धर्म तथा शिक्षा का प्रसार इसके साथ स्वयं हो जायगा। मैंने कलकत्ते में

उन लोगों को विशेष रूप से समझा दिया है। ऐसा ही काम करते रहो तो मैं तुम्हें सिर-आँखों पर चढ़ाने के लिए तैयार हूँ। शावाश! तुम देखोगे कि धीरे धीरे हर ज़िला केन्द्र वन जायगा—और वह भी स्थायी केन्द्र। मैं शीघ्र ही नीचे (plains) जानेवाला हूँ। मैं योद्धा हूँ और रणक्षेत्र में ही मरूँगा। क्या मुझे यहाँ पर्दानशीन औरत की तरह बैठना शोभा देता है?

सप्रेम तुम्हारा,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

अल्मोड़ा,
२० जून, १८९७

प्रिय कुमारी नोवल,

मैं निष्कपट भाव से तुम्हें यह लिख रहा हूँ। तुम्हारी प्रत्येक वात मेरे समीप मूल्यवान है तथा तुम्हारा प्रत्येक पत्र मेरे लिए अत्यन्त आकांक्षा की वस्तु है। जव इच्छा तथा सुविधा हो मुझे निःसंकोच लिखना; यह सोचकर कि मैं तुम्हारी. एक भी वात को ग़लत न समझूँगा तथा किसी भी वात की उपेक्षा न करूँगा। वहुत दिनों से मुझे कार्य का कोई विवरण नहीं मिला है। क्या तुम कोई समाचार भेज सकती हो? भारत में मुझको लेकर कितना भी उत्साह क्यों न दिखाया जाय, मुझे यहाँ से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं है, क्योंकि भारत के लोग अत्यन्त ग़रीव हैं।

फिर भी मैंने जैसी शिक्षा पायी थी, ठीक वैसे ही पेड़ों के नीचे, किसी प्रकार से खाने-पीने की व्यवस्था कर कार्य प्रारम्भ कर दिया है। काम की योजना भी थोड़ी वदली है। मैंने अपने कुछ वालकों को दुर्भिक्षपीड़ित स्थलों पर भेजा है। इससे जादू-मन्त्र जैसा असर हुआ है। मैं यह देख रहा हूँ, जैसी कि मेरी चिर काल से धारणा रही है कि हृदय, केवल हृदय के द्वारा ही संसार के मर्म को छुआ जा सकता है। अतः इस समय अधिक सख्या में युवकों को प्रशिक्षित करने की योजना है, (अभी उच्च श्रेणी से लेकर ही कार्यारम्भ करने का विचार है; निम्न श्रेणी को लेकर नहीं, क्योंकि उनके लिए हमें अभी कुछ दिन प्रतीक्षा करनी पड़ेगी) और उनमें से कुछ को किसी एक ज़िले में भेज कर अपना पहला आक्रमण शुरू करना है। धर्म के इन मार्ग-प्रशस्तकों द्वारा जव मार्ग साफ़ हो जायगा तव तत्त्व एवं दर्शन के प्रचार का समय आयेगा।

कुछ लड़कों को इस समय शिक्षा दी जा रही है; किन्तु कार्य चालू करने के लिए जो जीर्ण आवास हमें प्राप्त हुआ था, गत भूकम्प में वह एकदम नष्ट हो चुका है, ग़नीमत सिर्फ़ इतनी थी कि वह किराये का था। खैर, चिन्ता की कोई बात नहीं। मुसीबत और आवास के अभाव में भी काम चालू रखना है।··· अब तक मुण्डित मस्तक, छिन्नवस्त्र तथा अनिश्चित आहार मात्र ही हमारा सहारा रहा है। किन्तु इस परिस्थिति में परिवर्तन आवश्यक है और इसमें सन्देह नहीं कि परिवर्तन अवश्य होगा, क्योंकि हम लोगों ने पूर्ण आन्तरिकता के साथ इस कार्य में योग दिया है।...

यह सच है कि इस देश के लोगों के पास त्याग करने लायक़ कोई वस्तु नहीं है। फिर भी त्याग हमारे ख़ून में विद्यमान है। जिन लड़कों को शिक्षा दी जा रही है, उनमें से एक किसी जिले का एक्ज़िक्यूटिव इंजीनियर था। भारत में यह पद एक उच्च स्थान रखता है। उसने उसे तिनके की तरह त्याग दिया!···

मेरा असीम प्यार,

भवदीय,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
२० जून, १८९७

अभिन्नहृदय,

तुम्हारा स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा ठीक है, यह जानकर खुशी हुई। योगेन भाई की बातों पर ध्यान देना बेकार है। वे शायद ही कभी कोई ठीक बात कहते हों। मैं अब पूर्ण स्वस्थ हूँ। शरीर में ताक़त भी ख़ूब है; प्यास नहीं लगती तथा रात में पेशाब के लिए उठना भी नहीं पड़ता।...कमर में कोई दर्द-वर्द नहीं है; लीवर की क्रिया भी ठीक है। शशि की दवा से मुझे कोई खास असर होने का पता नहीं चला; अतः वह दवा लेना मैंने बन्द कर दिया है। पर्याप्त मात्रा में आम खा रहा हूँ। घोड़े की सवारी का अभ्यास भी विशेष रूप से चालू है—लगातार बीस-तीस मील तक दौड़ने पर भी किसी प्रकार के दर्द अथवा थकावट का अनुभव नहीं होता। पेट बढ़ने की आशंका से दूध लेना क़तई बन्द है।

कल अल्मोड़ा पहुँचा हूँ। पुनः बगीचे में लौटने का विचार नहीं है। अब से मिस मूलर के अतिथि-रूप में अंग्रेज़ी क़ायदे के अनुसार दिन में तीन बार भोजन किया करूँगा। किराये पर मकान लेने की व्यवस्थादि जो कुछ आवश्यक हो, करना! इस बारे में मुझसे इतनी पूछ-ताछ क्यों की जा रही है?

शुद्धानन्द ने लिखा है कि Ruddock's Practice of Medicine या ऐसा ही कुछ पढ़ाया जा रहा है। कक्षा में ऐसी वेकार की चीज़ों की पढ़ाई की क्या सार्थकता है? एक सेट भौतिक शास्त्र तथा रसायन शास्त्र के साधारण यन्त्र के एवं एक दूरबीन तथा एक अणुवीक्षण यंत्र की व्यवस्था १५०) से २००) रुपये में हो सकती है। शशि बावू सप्ताह में एक दिन प्रायोगिक रसायन के विषय में तथा हरिप्रसन्न भौतिक शास्त्र के विषय में लेक्चर दे सकते हैं। साथ ही बंगला में विज्ञान सम्बन्धी जितनी भी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उन्हें खरीदना तथा उनकी पढ़ाई की व्यवस्था करना। किमधिकमिति।

सस्नेह,
विवेकानन्द

(श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को लिखित)

अल्मोड़ा।

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय।

यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च।
रामकृष्णं सदा वन्दे शर्वं स्वतन्त्रमीश्वरम्॥

"प्रभवति भगवान् विधि" रित्यागमिनः अप्रयोगनिपुणाः प्रयोगनिपुणाश्च पौरुषं वहुमन्यमानाः। तयोः पौरुषेयापौरुषेयप्रतीकारवलयोः विवेकाग्रहनिवन्धनः कलह इति मत्वा यतस्वायुष्मन् शरच्चन्द्र आक्रमितुम् ज्ञानगिरिगुरोर्गरिष्ठं शिखरम्।

यदुक्तं "तत्त्वनिकषग्रावा विपदिति" उच्येत तदपि शतशः "तत्त्वमसि" तत्त्वाधिकारे। इदमेव तन्निदानं वैराग्यरुजः। धन्यं कस्यापि जीवनं तल्लक्षणाक्रान्तस्य। अरोचिष्णु अपि निर्दिशामि पदं प्राचीनं—"कालः कश्चित् प्रतीक्ष्यताम्" इति। समारूढक्षेपणीक्षेपणश्रमः विश्राम्यतां तन्निर्भरः। पूर्वाहितो वेगः पारं नेष्यति नावम्। तदेवोक्तं—"तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति", "न धनेन न प्रजया त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" इत्यत्र त्यागेन वैराग्यमेव लक्ष्यते। तद्वैराग्यं वस्तुशून्यं वस्तुभूतं वा। प्रथमं यदि, न तत्र यतेत कोऽपि कीटभक्षितमस्तिष्केन विना; यद्यपरं, तदेदम् आपतति—त्यागः मनसः संकोचनम् अन्यस्मात् वस्तुनः, पिण्डीकरणं च ईश्वरे वा आत्मनि। सर्वेश्वरस्तु व्यक्तिविशेषो भवितुं नार्हति, समष्टिरित्येव ग्रहणीयम्। आत्मेति वैराग्यवतो जीवात्मा इति नापद्यते, परन्तु सर्वगः सर्वान्तर्यामी सर्वस्यात्म-

रूपेणावस्थितः सर्वेश्वर एक लक्ष्यीकृतः। स तु समष्टिरूपेण सर्वेषां प्रत्यक्षः। एवं सति जीवेश्वरयो स्वरूपतः अभेदभावात् तयोः सेवाप्रेमरूपकर्मणोरभेदः। अयमेव विशेषः--जीवे जीवबुद्ध्या या सेवा समर्पिता सा दया, न प्रेम, यदात्मबुद्ध्या जीवः सेव्यते, तत् प्रेम। आत्मनो हि प्रेमास्पदत्वं श्रुतिस्मृति-प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात्। तत् युक्तमेव यदवादीत् भगवान् चैतन्यः--प्रेम ईश्वरे, दया जीवे इति। द्वैतवादित्वात् तत्र भगवतः सिद्धान्तः जीवेश्वरयोर्भेद-विज्ञापकः समीचीनः। अस्माकं तु अद्वैतपराणां जीवबुद्धिर्बन्धनाय इति। तदस्माकं प्रेम एव शरणं, न दया। जीवे प्रयुक्तः दयाशब्दोऽपि साहसिक-जल्पित इति मन्यामहे। वयं न दयामहे, अपि तु सेवामहे; नानुकम्पानुभूति-रस्माकम्, अपि तु प्रेमानुभवः स्वानुभवः सर्वस्मिन्।

सैव सर्ववैषम्यसाम्यकरी भवव्याधिनीरुजकरी प्रपञ्चावश्यम्भाव्यत्रिताप-हरणकरी सर्ववस्तुस्वरूपप्रकाशकरी मायाध्वान्तविध्वंसकरी आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्तस्वात्मरूपप्रकटनकरी प्रेमानुभूतिर्वैराग्यरूपा भवतु ते शर्मणे शर्मन्।

इत्यनुदिवसं प्रार्थयति त्वयि धृतचिरप्रेमबन्धः

विवेकानन्दः।

(हिन्दी अनुवाद)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

जिनकी शक्ति से हम सब लोग तथा समस्त जगत् कृतार्थ हैं, उन शिवस्वरूप, स्वतंत्र, ईश्वर श्री रामकृष्ण की मैं सदैव चरण वन्दना करता हूँ।

अलमोड़ा,
३ जुलाई, १८९७

आयुष्मन् शरच्चन्द्र,

शास्त्रों के वे रचनाकार जो कर्म की ओर रुचि नहीं रखते, कहते हैं कि सर्व-शक्तिमान भावी प्रबल है; परन्तु दूसरे लोग जो कर्म करनेवाले हैं, समझते हैं कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति श्रेष्ठतर है। जो मानवी इच्छा-शक्ति को दुःख हरनेवाला समझते हैं, और जो भाग्य का भरोसा करते हैं, इन दोनों पक्षों की लड़ाई का कारण अविवेक समझो और ज्ञान की उच्चतम अवस्था में पहुँचने का प्रयत्न करो।

यह कहा गया है कि विपत्ति सच्चे ज्ञान की कसौटी है, और यही बात 'तत्त्वमसि' (तू वह है) की सच्चाई के बारे में हजार गुना अधिक कही जा सकती है। यह वैराग्य की बीमारी का सच्चा निदान है। धन्य हैं वे, जिनमें यह लक्षण पाया जाता

है। हालांकि यह तुम्हें बुरा लगता है, फिर भी मैं यह कहावत दुहराता हूँ, 'कुछ देर प्रतीक्षा करो।' तुम खेते खेते थक गये हो, अब डाँड़ पर आराम करो। गति के आवेग से नाव उस पार पहुँच जायगी। यही गीता में कहा है—**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति** अर्थात् 'उस ज्ञान को शुद्धान्तःकरणवाला साधक समत्वबुद्धि-रूप योग के द्वारा स्वयं अपनी आत्मा में यथासमय अनुभव करता है।' और उपनिषद् में कहा है—**न धनेन न प्रजया त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः** अर्थात् 'न धन से, न सन्तान से, वरन् केवल त्याग से ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है' (कैवल्य २)। यहाँ 'त्याग' शब्द से वैराग्य का संकेत किया गया है। यह दो प्रकार का हो सकता है—उद्देश्यपूर्ण और उद्देश्यहीन। यदि दूसरी प्रकार का हो तो उसके लिए केवल वही यत्न करेगा, जिसका दिमाग़ सड़ चुका हो; परन्तु यदि पहले से अभिप्राय हो तो वैराग्य का अर्थ होगा कि मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर भगवान् या आत्मा में लीन कर लेना। सबका स्वामी (परमात्मा) कोई व्यक्तिविशेष नहीं हो सकता, वह तो समष्टिरूप ही होगा। वैराग्यवान मनुष्य आत्मा शब्द का अर्थ व्यक्तिगत 'मैं' न समझकर, उस सर्वव्यापी ईश्वर को समझता है, जो अन्तःकरण में अन्तर्नियामक होकर सब में वास कर रहा है। वे समष्टि के रूप में सबको प्रतीत हो सकते हैं। इस प्रकार जब जीव और ईश्वर स्वरूपतः अभिन्न हैं, तब जीवों की सेवा और ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ एक ही है। यहाँ एक विशेषता है। जब जीव को जीव समझकर सेवा की जाती है, तब वह दया है, प्रेम नहीं; परन्तु जब उसे आत्मा समझ कर सेवा की जाती है, तब वह प्रेम कहलाता है। आत्मा ही एकमात्र प्रेम का पात्र है, यह श्रुति, स्मृति और अपरोक्षानुभूति से जाना जा सकता है। भगवान् चैतन्य देव ने इसलिए यह ठीक ही कहा था—'ईश्वर से प्रेम और जीवों पर दया।' वे द्वैतवादी थे, इसलिए जीव और ईश्वर में भेद करने का उनका निर्णय उनके अनुरूप ही था। परन्तु हम अद्वैतवादी हैं। हमारे लिए जीव को ईश्वर से पृथक् समझना ही बन्धन का कारण है। इसलिए हमारा मूल तत्त्व प्रेम होना चाहिए, न कि दया। मुझे तो जीवों के प्रति 'दया' शब्द का प्रयोग विवेकरहित और व्यर्थ जान पड़ता है। हमारा धर्म करुणा करना नहीं, सेवा करना है। दया की भावना हमारे योग्य नहीं, हममें प्रेम एवं समष्टि में स्वानुभव की भावना होनी चाहिए।

जिस वैराग्य का भाव प्रेम है, जो समस्त भिन्नता को एक कर देता है, जो संसाररूपी रोग को दूर कर देता है, जो इस नश्वर संसार के त्रय-तापों को मिटा देता है, जो सब चीज़ों के यथार्थ रूप को प्रकट करता है, जो माया के अंधकार को विनष्ट करता है, और घास के तिनके से लेकर ब्रह्मा तक सब चीज़ों में आत्मा का

स्वरूप दिखाता है, वह वैराग्य, हे शर्मन्, अपने कल्याण के लिए तुम्हें प्राप्त हो। मेरी यह निरन्तर प्रार्थना है।

तुम्हें सदैव प्यार करनेवाला,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

अल्मोड़ा,
४ जुलाई, १८९७

प्रिय कुमारी नोबल,

आश्चर्य की बात है कि आजकल इंग्लैण्ड से मेरे ऊपर भले-बुरे दोनों ही प्रकार के प्रभावों की क्रियाएँ जारी हैं. . .परन्तु तुम्हारे पत्र उज्ज्वल तथा उत्साहपूर्ण हैं एवं उनसे मेरे हृदय में शक्ति तथा आशा का संचार होता है, जिसके लिए मेरा हृदय इस समय अत्यन्त लालायित है। यह प्रभु ही जानते हैं।

यद्यपि मैं अभी तक हिमालय में हूँ तथा कम से कम एक माह तक और भी रहने का विचार है, पर यहाँ आने से पूर्व ही मैंने कलकत्ते में कार्य प्रारम्भ करा दिया था तथा प्रति सप्ताह वहाँ के कार्य का विवरण मिल रहा है।

इस समय मैं दुर्भिक्ष के कार्य में व्यस्त हूँ तथा कुछ एक युवकों को भविष्य के कार्य के लिए प्रशिक्षित करने के सिवा शिक्षा-कार्य में अधिक जान नहीं डाल पाया हूँ। दुर्भिक्ष-ग्रस्त लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था करने में ही मेरी सारी शक्ति एवं पूंजी समाप्त होती जा रही है। यद्यपि अब तक अत्यन्त सामान्य रूप से ही मुझे कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ है, फिर भी आशातीत परिणाम दिखायी दे रहा है। बुद्धदेव के बाद से यह पहली बार पुनः देखने को मिल रहा है कि ब्राह्मण सन्तानें हैज़ाग्रस्त अन्त्यजों की शय्या के निकट उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न हैं।

भारत में वक्तृता तथा शिक्षा से कोई विशेष कार्य नहीं होगा। इस समय सक्रिय धर्म की आवश्यकता है। मुसलमानों की भाषा में कहना हो तो कहूँगा कि यदि 'ख़ुदा की मर्ज़ी हुई' तो मैं भी यही दिखाने के लिए कमर कसकर बैठा हूँ।. . . तुम्हारी समिति की नियमावली से मैं पूर्णतया सहमत हूँ; और विश्वास करो, भविष्य में तुम जो कुछ भी करोगी उसमें मेरी सम्मति होगी। तुम्हारी योग्यता तथा सहानुभूति पर मुझे पूर्ण विश्वास है। मैं पहले से ही तुम्हारे समीप अशेष रूप से ऋणी हूँ और प्रतिदिन तुम मुझ पर ऋण का भार बढ़ाती ही जा रही हो। मुझे इसीका सन्तोष है कि यह सब कुछ दूसरों के हित के लिए है। अन्यथा विम्बलडन के मित्रों ने मेरे प्रति जो अपूर्व अनुग्रह प्रकट किया है, मैं सर्वथा उसके

अयोग्य हूँ। तुम अत्यन्त सज्जन, धीर तथा सच्चे अंग्रेज लोग हो—भगवान् तुम्हारा सदा मंगल करें। दूर रह कर भी मैं प्रतिदिन तुम्हारा अधिकाधिक गुणग्राही बनता जा रहा हूँ। कृपया... तथा वहाँ के मेरे सब मित्रों को मेरा चिर स्नेह व्यक्त करना। संपूर्ण स्नेह के साथ,

भवदीय चिरसत्यावद्ध,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

अल्मोड़ा,
९ जुलाई, १८९७

प्रिय बहन,

तुम्हारे पत्र की पंक्तियों में जो निराशा का भाव झलक रहा है, उसे पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। इसका कारण मैं समझता हूँ। तुम्हारी चेतावनी के लिए धन्यवाद, मैं उसका उद्देश्य भली भाँति समझ गया हूँ। मैंने राजा अजित सिंह के साथ इंग्लैण्ड जाने का प्रबन्ध किया था, पर डॉक्टरों की मनाही के कारण, ऐसा न हो सका। मुझे यह सुनकर अत्यन्त हर्ष होगा कि हैरियट उनसे मिली। वे तुममें से किसीसे भी मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे।

मुझे अमेरिका के कई एक अखबारों की बहुत सी कटिंग मिलीं, जिनमें अमेरिका की नारियों के सम्बन्ध में मेरे विचारों की भीषण निन्दा की गयी है। मुझे यह अनोखी खबर भी दी गयी है कि मैं अपनी जाति से निकाल दिया गया हूँ! जैसे मेरी कोई जाति भी थी जिससे मैं निकाला जाऊँ! संन्यासी की जाति कैसी?

जातिच्युत होना तो दूर रहा, मेरे पश्चिमी देशों में जाने से यहाँ समुद्र-यात्रा के विरुद्ध जो भाव थे, वे बहुत कुछ दब गये। यदि मुझे जातिच्युत होना पड़ता तो साथ ही साथ भारत के आधे नरेशों और प्रायः सारे शिक्षित समुदाय को भी वैसा ही होना पड़ता। यह तो हुआ नहीं, उल्टे मेरे पूर्वाश्रम की जाति के एक विशिष्ट राजा ने मेरी अभ्यर्थना के लिए एक दावत की जिसमें उस जाति के अधिकांश बड़े बड़े लोग उपस्थित थे। भारत में संन्यासी जिस किसीके साथ भोजन नहीं करते, क्योंकि देवताओं के लिए मनुष्यों के साथ खान-पान करना अमर्यादासूचक है। संन्यासी नारायण समझे जाते है, जबकि दूसरे केवल मनुष्य। प्रिय मेरी, अनेक राजाओं के वंशधरों ने इन पैरों को धोया, पोंछा और पूजा है, और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक मेरा ऐसा सत्कार होता रहा, जो किसीको प्राप्त नहीं हुआ।

इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब मैं रास्तों में निकलता था, तब शान्ति-रक्षाके लिए पुलिस की ज़रूरत पड़ती थी ! जातिच्युत करना इसे ही कहते होंगे ! हाँ, इससे पादरियों के हाथ के तोते अवश्य उड़ गये। यहाँ वे है ही कौन ? कुछ भी नहीं। हमें उनके अस्तित्व की खबर ही नहीं रहती। बात यह हुई कि अपनी एक वक्तृता में मैंने इंग्लिश चर्चवाले सज्जनों को छोड़ बाक़ी कुल पादरियों तथा उनकी उत्पत्ति के बारे में कुछ कहा था। प्रसंगवश मुझे अमेरिका की अत्यंत धार्मिक स्त्रियों और उनकी बुरी अफ़वाह फैलाने की शक्ति का भी उल्लेख करना पड़ा था। मेरे अमेरिका के कार्य को बिगाड़ने के लिए, इसीको पादरी लोग सारी अमेरिकन स्त्री जाति पर लांछन कहकर शोर मचा रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अपने विरुद्ध जो कुछ भी कहा जाय, वह अमेरिकावासियों को पसन्द ही होगा। प्रिय मेरी, अगर मान भी लिया जाय कि मैंने अमेरिकनों के विरुद्ध सब तरह की कड़ी बातें कहीं हैं तो भी क्या वे हमारी माताओं और बहनों के बारे में कही गयी घृणित बातों के लक्षांश को भी चुका सकेंगी ? ईसाई अमेरिकन नर-नारी हमें भारतीय बर्बर कहकर जो घृणा का भाव रखते हैं, क्या सात समुद्रों का जल भी उसे बहा देने में समर्थ होगा ? और हमने उनका बिगाड़ा ही क्या है ? अमेरिका-वासी पहले अपनी समालोचना सुनकर धैर्य रखना सीखें, तब कहीं दूसरों की समालोचना करें। यह सर्व विदित मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जो लोग दूसरों को गाली-गलौज करने में बड़े तत्पर रहते हैं, वे उनके द्वारा अपनी तनिक भी समालोचना सहन नहीं कर सकते। फिर उनका मैं क़र्ज़दार थोड़े ही हूँ। तुम्हारे परिवार, श्रीमती बुल, लेगेट परिवार और दो-चार सहृदय जनों को छोड़ कौन मुझ पर मेहरबान रहा है ? अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने में किसने मेरा हाथ बटाया ? मुझे परिश्रम करते करते प्रायः मौत का सामना करना पड़ा है। मुझे अपनी सारी शक्तियाँ अमेरिका में खर्च करनी पड़ी, केवल इसलिए कि वहांवाले अधिक उदार और आध्यात्मिक होना सीखें। इंग्लैण्ड में मैंने केवल छः ही महीने काम किया। वहां किसीने मेरी निन्दा नहीं की, सिवा एक के और वह भी एक अमेरिकन स्त्री की करतूत थी, जिसे जानकर मेरे अंग्रेज़ मित्रों को तसल्ली मिली। दोष लगाना तो दूर रहा, इंग्लिश चर्च के अनेक अच्छे अच्छे पादरी मेरे पक्के दोस्त बने और बिना मांगे मुझे अपने कार्य के लिए बहुत सहायता मिली तथा भविष्य में और अधिक मिलने की पूरी आशा है। वहां एक समिति मेरे कार्य की देखभाल कर रही है और उसके लिए धन इकट्ठा कर रही है। वहां के चार प्रतिष्ठित व्यक्ति मेरे काम में सहायता करने के लिए मेरे साथ भारत आये हैं। दर्जनों और तैयार थे और फिर जब मैं वहां जाऊँगा, सैकड़ों तैयार मिलेंगे।

प्रिय मेरी, मेरे लिए तुम्हें भय की कोई बात नहीं। अमेरिका के लोग बड़े हैं, केवल यूरोप के होटलवालों और करोड़पतियों तथा अपनी दृष्टि में। संसार बहुत बड़ा है, और अमेरिकावालों के रुष्ट हो जाने पर भी मेरे लिए कोई न कोई जगह ज़रूर रहेगी। कुछ भी हो, मुझे अपने कार्य से बड़ी प्रसन्नता है। मैंने कभी कोई मंसूबा नहीं बाँधा। चीज़ें जैसी सामने आती गयीं, मैं भी उनको वैसे ही स्वीकार करता गया। केवल एक चिन्ता मेरे मस्तिष्क में दहक रही थी—वह यह कि भारतीय जनता को ऊँचा उठानेवाले यंत्र को चालू कर दूँ और इस काम में मैं किसी हद तक सफल हो सका हूँ। तुम्हारा हृदय यह देखकर आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता कि किस तरह मेरे लड़के दुर्भिक्ष, रोग और दुःख-दर्द के बीच काम कर रहे हैं—हैज़े से पीड़ित पैरिया की चटाई के पास बैठे उसकी सेवा कर रहे हैं, भूखे चाण्डाल को खिला रहे हैं—और प्रभु मेरी और उन सबकी सहायता कर रहे हैं। मनुष्य क्या है? वे प्रेमास्पद प्रभु ही सदा मेरे साथ हैं—जब मैं अमेरिका में था, तब भी मेरे साथ थे और जब इंग्लैण्ड में था, तब भी। जब मैं भारत में दर दर घूमता था और जहाँ मुझे कोई भी नहीं जानता था, तब भी वे प्रभु ही मेरे साथ रहे। लोग क्या कहते हैं, इसकी मुझे क्या परवाह! वे तो अबोध बालक हैं, वे उससे अधिक क्या जानेंगे? क्या? मैं जो कि आत्मा का साक्षात्कार कर चुका हूँ और सारे सांसारिक प्रपंचों की असारता जान चुका हूँ, क्या बच्चों की तोतली बोलियों से अपने मार्ग से हट जाऊँ?—मुझे देखने से क्या ऐसा लगता है?

मुझे अपने बारे में बहुत कुछ कहना पड़ा, क्योंकि मुझे तुमको क़ैफ़ियत देनी थी। मैं जानता हूँ कि मेरा कार्य समाप्त हो चुका—अधिक से अधिक तीन या चार वर्ष आयु के और बचे हैं। मुझे अपनी मुक्ति की इच्छा अब बिल्कुल नहीं। सांसारिक भोग तो मैंने कभी चाहा ही नहीं। मुझे सिर्फ़ अपने यन्त्र को मज़बूत और कार्योपयोगी देखना है, और फिर निश्चित रूप से यह जानकर कि कम से कम भारत में मैंने मानवजाति के कल्याण का एक ऐसा यन्त्र स्थापित कर दिया है, जिसका कोई शक्ति नाश नहीं कर सकती, मैं सो जाऊँगा और आगे क्या होनेवाला है, इसकी परवाह नहीं करूँगा। मेरी अभिलाषा है कि मैं बार बार जन्म लूँ और हज़ारों दुःख भोगता रहूँ, ताकि मैं उस एकमात्र सम्पूर्ण आत्माओं के समष्टिरूप ईश्वर की पूजा कर सकूँ जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है। सबसे बढ़कर, सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और दरिद्र रूपी ईश्वर ही मेरा विशेष उपास्य है।

जो तुम्हारे भीतर भी है और बाहर भी, जो सभी हाथों से काम करता

है और सभी पैरों से चलता है, जिसका बाह्य शरीर तुम हो, उसीकी उपासना करो और अन्य सब मूर्तियाँ तोड़ दो।'

'जो ऊँचा है और नीचा है, परम साधु है और पापी भी, जो देवता है और कीट है, उस प्रत्यक्ष, ज्ञेय, सत्य, सर्वशक्तिमान ईश्वर की उपासना करो और अन्य सब मूर्तियाँ तोड़ दो।'

'जिसमें न पूर्व जन्म घटित होता है न पर जन्म; न मृत्यु न आवागमन; जिसमें हम सदा एक होकर रहे है, और रहेंगे, उसी ईश्वर की उपासना करो और अन्य सब मूर्तियाँ तोड़ दो।'

'हे मूर्खो ! जीते-जागते ईश्वर और जगत् में व्याप्त उसके अनन्त प्रतिबिम्बों को छोड़कर तुम काल्पनिक छाया के पीछे दौड़ रहे हो ! उसीकी—उस प्रत्यक्ष ईश्वर की—उपासना करो और अन्य सब मूर्तियाँ तोड़ दो।'

मेरा समय कम है। मुझे जो कुछ कहना है, सब साफ़ साफ़ कह देना होगा—उससे किसीको पीड़ा हो या क्रोध, इसकी बिना परवाह किये हुए। इसलिए प्रिय मेरी, यदि मेरे मुँह से कुछ कड़ी बातें निकल पड़ें तो मत घबराना, क्योंकि मेरे पीछे जो शक्ति है वह विवेकानन्द नहीं, स्वयं ईश्वर है, और वही सबसे ठीक जानता है। यदि मैं संसार को खुश करने चला तो इससे संसार की हानि ही होगी। अधिकांश लोग जो कहते हैं वह ग़लत है, क्योंकि हम देखते हैं कि उनके नियन्त्रण से संसार की इतनी दुर्गति हो रही है। प्रत्येक नवीन विचार विरोध की सृष्टि अवश्य करेगा—सभ्य समाज में वह शिष्ट उपहास के रूप में लिया जायगा और बर्बर समाज में नीच चिल्लाहट और घृणित बदनामी के रूप में।

संसार के ये कीड़े भी एक दिन तनकर खड़े होंगे, ये बच्चे भी किसी दिन प्रकाश देख पायेंगे। अमेरिकावाले नये मद से मतवाले हैं। हमारे देश पर समृद्धि की सैकड़ों लहरें आयीं और गुजर गुजर गयीं। हमने वह सबक़ सीखा है जिसे बच्चे अभी नहीं समझ सकते। यह सब झूठी दिखावट है। यह विकराल संसार माया है—इसे त्याग दो और सुखी हो। काम-कांचन की भावनाएँ त्याग दो। ये ही एकमात्र बन्धन हैं। विवाह, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध और धन—ये ही एकमात्र प्रत्यक्ष शैतान हैं। समस्त सांसारिक प्रेम देह से ही उपजते हैं। काम-कांचन को त्याग दो। इनके जाते ही आँखें खुल जायँगी और आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार हो जायगा; तभी आत्मा अपनी अनन्त शक्ति पुनः प्राप्त कर लेगी। मेरी तीव्र इच्छा थी कि हैरियेट से मिलने इंग्लैण्ड जाऊँ। मेरी सिर्फ़ एक इच्छा

और है—मृत्यु के पहले तुम चारों बहनों से एक बार मिलना; मेरी यह इच्छा अवश्य ही पूर्ण होगी।

तुम्हारा चिर स्नेहाबद्ध,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

अल्मोड़ा,
९ जुलाई, १८९७

अभिन्नहृदयेषु,

हमारी संस्था के उद्देश्य का पहला प्रूफ़ मैंने संशोधित करके आज तुम्हारे पास वापस भेजा है। उसके नियमवाले अंश (जो हमारी संस्था के सदस्यों ने पढ़े थे) अशुद्धियों से भरे हैं। उसे सावधानी से ठीक करके छपवाना, नहीं तो लोग हँसेंगे।

...बरहमपुर में जैसा काम हो रहा है वह बहुत ही अच्छा है। इसी प्रकार के कामों की विजय होगी—क्या मात्र मतवाद और सिद्धान्त हृदय को स्पर्श कर सकते हैं? कर्म, कर्म—आदर्श जीवन यापन करो—सिद्धान्तों और मतों का क्या मूल्य? दर्शन, योग और तपस्या—पूजागृह—अक्षत चावल या शाक का भोग—यह सब व्यक्तिगत अथवा देशगत धर्म है। किन्तु दूसरों की भलाई और सेवा करना एक महान् सार्वलौकिक धर्म है। आबालवृद्धवनिता, चाण्डाल—यहाँ तक कि पशु भी इस धर्म को ग्रहण कर सकते हैं। क्या मात्र किसी निषेधात्मक धर्म से काम चल सकता है? पत्थर कभी अनैतिक कर्म नहीं करता, गाय कभी झूठ नहीं बोलती, वृक्ष कभी चोरी या डकैती नहीं करते, परन्तु इससे होता क्या है? माना कि तुम चोरी नहीं करते, न झूठ बोलते हो, न अनैतिक जीवन व्यतीत करते हो, बल्कि चार घंटे प्रतिदिन ध्यान करते हो, और उसके दुगने घंटे तक भक्तिपूर्वक घंटी बजाते हो—परन्तु अन्त में इसका उपयोग क्या है? वह कार्य यद्यपि थोड़ा ही है, परन्तु सदा के लिए बरहमपुर तुम्हारे चरणों पर नत हो गया है—अब जैसा तुम चाहते हो वैसा ही लोग करेंगे। अब तुम्हें लोगों से यह तर्क नहीं करना पड़ेगा कि 'श्री रामकृष्ण भगवान् हैं।' काम के बिना केवल व्याख्यान क्या कर सकता है! क्या मीठे शब्दों से रोटी चुपड़ी जा सकती है? यदि तुम दस ज़िलों में ऐसा कर सको तो वे दसों तुम्हारी मुट्ठी में आ जायेंगे। इसलिए समझदार लड़के की तरह इस समय अपने कर्मविभाग पर ही सबसे

ज्यादा जोर दो, और उसकी उपयोगिता को बढ़ाने की प्राण-पण से चेष्टा करो। कुछ लड़कों को द्वार द्वार जाने के लिए संगठित करो, और अलखिया साधुओं के समान उन्हें जो मिले वह लाने दो—धन, पुराने वस्त्र, या चावल या खाद्य पदार्थ या और जो कुछ भी मिले। फिर उसे बाँट दो। वास्तव में यही सच्चा कार्य है। इसके बाद लोगों को श्रद्धा होगी, और फिर तुम जो कहोगे वे करेंगे।

कलकत्ते की बैठक के खर्च को पूरा करने के बाद जो बचे उसे दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए भेज दो, या जो अगणित दरिद्र कलकत्ते की मैली-कुचैली गलियों में रहते हैं, उनकी सहायता में लगा दो—स्मारक-भवन और इस प्रकार के कार्यों का विचार त्याग दो। प्रभु जो अच्छा समझेंगे वह करेंगे। इस समय मेरा स्वास्थ्य अति उत्तम है।...

उपयोगी सामग्री तुम क्यों नहीं एकत्र कर रहे हो?—मैं स्वयं वहाँ आकर पत्रिका आरम्भ करूँगा। प्रेम और सहानुभूति से सारा संसार खरीदा जा सकता है; व्याख्यान, पुस्तकें और दर्शन का स्थान इनसे नीचा है।

कृपया शशि को लिखो कि ग़रीबों की सेवा के लिए इसी प्रकार का एक कर्मविभाग वह भी खोले।

...पूजा का खर्च घटाकर एक या दो रुपये महीने पर ले आओ। प्रभु की सन्तानें भूख से मर रही हैं...केवल जल और तुलसी-पत्र से पूजा करो और उसके भोग के निमित्त धन को उस जीवित प्रभु के भोजन में खर्च करो, जो दरिद्रों में वास करता है। तभी प्रभु की सब पर कृपा होगी। योगेन यहाँ अस्वस्थ रहा, इसलिए आज वह कलकत्ते के लिए रवाना हो गया है। मैं कल देवलधार फिर जाऊँगा। तुम सभी को मेरा प्यार।

सस्नेह,
विवेकानन्द

(कुमारी मैक्लिऑड को लिखित)

अल्मोड़ा,
१० जुलाई, १८९७

प्रिय जो जो,

तुम्हारे पत्रों को पढ़ने की फ़ुरसत मुझे है, तुम्हारे इस आविष्कार से मुझे खुशी हुई।

व्याख्यानबाज़ी तथा वक्तृता से परेशान होकर मैंने हिमालय का आश्रय लिया है। डॉक्टरों द्वारा खेतड़ी के राजा साहब के साथ इंग्लैण्ड जाने की अनुमति प्राप्त

न होने के कारण मैं अत्यन्त दुःखित हूँ; और स्टर्डी भी इससे अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा है।

सेवियर दम्पति शिमला में हैं और कुमारी मूलर यहाँ पर—अल्मोड़ा में।

प्लेग का प्रकोप घट चुका है; किन्तु दुर्भिक्ष अभी भी यहाँ पर जारी है, साथ ही अब तक वर्षा न होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि वह और भी भयानक रूप धारण करेगा।

दुर्भिक्ष-पीड़ित विभिन्न ज़िलों में हमारे साथियों ने कार्य प्रारम्भ कर दिया है और यहाँ से उनका निर्देशन करने में मैं अत्यन्त ही व्यस्त हूँ।

जैसे भी बने तुम यहाँ आ जाओ; सिर्फ़ इतना ही ख्याल रखने की बात है कि यूरोपीय एवं हिन्दुओं का (अर्थात् यूरोपीय लोग जिन्हें 'नेटिव' कहते हैं उनका) साथ रहना जल और तेल की तरह है। नेटिव लोगों के साथ मिलना-जुलना यूरोपीय लोगों के लिए एक महासंकटजनक घटना है। (प्रादेशिक) राजधानियों में भी उल्लेखयोग्य कोई होटल नहीं है। तुम्हें अधिक नौकर-चाकरों की व्यवस्था करनी पड़ेगी (यद्यपि उसका खर्च होटल की अपेक्षा कम होगा)। तुम्हें केवल लँगोटी पहनकर रहनेवालों का संग बर्दाश्त करना पड़ेगा; मुझे भी तुम उसी रूप में देखोगी। सभी जगह धूल और कीचड़ तथा काले आदमी दिखायी देंगे। किन्तु दार्शनिक विवेचन करनेवाले भी तुम्हें अनेक व्यक्ति मिलेंगे। यहाँ पर यदि तुम अंग्रेज़ों के साथ विशेष मिलती जुलती रहोगी तो तुम्हें अधिक आराम मिलेगा, लेकिन इससे हिन्दुओं का ठीक ठीक परिचय तुम्हें नहीं प्राप्त होगा। शायद तुम्हारे साथ बैठकर मैं भोजन नहीं कर सकूँगा; किन्तु मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ कि तुम्हारे साथ मैं अनेक स्थलों में भ्रमण करूँगा तथा तुम्हारी यात्रा को भरसक सुखमय बनाने का प्रयत्न करूँगा। तुम्हें यहाँ यही सब मिलेगा, यदि इससे कुछ अच्छा परिणाम निकलता है तो अच्छी ही बात है। शायद मेरी हेल भी तुम्हारे साथ आ सकती है। आर्चड लेक, आर्चड द्वीप, मिचिगन के पते पर कुमारी कैम्पबेल नाम की एक कुमारी रहती हैं, वे श्री कृष्ण की अनन्य भक्त हैं एवं उपवास तथा प्रार्थनादि के लिए उक्त द्वीप में एकान्तवास करती है। भारत-दर्शनार्थ वे सब कुछ त्यागने को प्रस्तुत हैं, किन्तु वे अत्यन्त ग़रीब है। यदि तुम उनको अपने साथ किसी प्रकार ला सको तो जिस किसी प्रकार से भी हो, मैं उनके खर्चे की व्यवस्था करूँगा। श्रीमती बुल यदि वयोवृद्ध लैण्डस्वर्ग को अपने साथ ला सकें तो शायद उस वृद्ध के जीवन की रक्षा हो जाय।

तुम्हारे साथ अमेरिका लौटने की मेरी पूरी सम्भावना है। हालिस्टर तथा उस शिशु को मेरा चुम्बन देना। अल्बर्टा, लेगेट दम्पति तथा मेबल के प्रति मेरा

स्नेह व्यक्त करना। फ़ॉक्स क्या कर रहा है? उससे भेंट होने पर उसे मेरा स्नेह कहना। श्रीमती बुल तथा सारदानन्द को मेरा स्नेह कहना। पहले की तरह ही मैं शक्तिशाली हूँ; किन्तु मेरा स्वास्थ्य आगे किस प्रकार रहेगा, यह भविष्य के समस्त झमेलों से मुक्त रहने पर निर्भर है। अब और अधिक दौड़-धूप उचित नहीं होगी।

इस वर्ष तिब्बत जाने की प्रबल इच्छा थी, किन्तु इन लोगों ने जाने की अनुमति नहीं दी, क्योंकि वहाँ का रास्ता अत्यन्त श्रमसाध्य है। अतः खड़े पहाड़ पर पूरी रफ़्तार से पहाड़ी घोड़ा दौड़ाकर ही मैं सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारी साइकिल से यह अधिक उत्तेजनाप्रद है, यद्यपि विम्बलडन में मुझे उसका भी विशेष अनुभव हो चुका है। मीलों तक पहाड़ी के ऊपर और मीलों तक पहाड़ी के नीचे जाता हुआ रास्ता, जो कुछ ही फ़ुट चौड़ा होगा, मानो खड़ी चट्टानों और हज़ारों फ़ुट नीचे के गड्ढों के ऊपर लटकता रहता है।

सदा प्रभुपदाश्रित तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—भारत आने के लिए सर्वोत्तम समय अक्तूबर का मध्य भाग अथवा नवम्बर का प्रथम भाग है। दिसम्बर, जनवरी तथा फ़रवरी में सब कुछ देखकर फ़रवरी के अन्त में तुम लौट सकती हो। मार्च से गर्मी शुरू होती है। दक्षिण भारत हमेशा ही गरम रहता है।

वि०

मद्रास से शीघ्र ही एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ होगा, गुडविन उस कार्य के लिए वहाँ गया हुआ है।

वि०

(स्वामी शुद्धानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
११ जुलाई, १८९७

प्रिय शुद्धानन्द,

तुमने हाल में मठ का जो कार्य-विवरण भेजा है, उसे पाकर मुझे अत्यन्त ख़ुशी हुई। तुम्हारी 'रिपोर्ट' के बारे में मुझे कोई विशेष समालोचना नहीं करनी है। मैं सिर्फ़ इतना ही कहना चाहता हूँ कि तुम्हें थोड़ा और स्पष्ट रूप से लिखने का अभ्यास करना चाहिए।

जितना कार्य हुआ है उससे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ, किन्तु उसे और भी आगे वढ़ाना चाहिए। पहले मैंने भौतिक तथा रसायन शास्त्र के कुछ यंत्रों को एकत्र करने तथा प्राथमिक एवं प्रायोगिक रसायन तथा भौतिक शास्त्र—विशेषतः शरीर विज्ञान की कक्षाएँ शुरू करने का सुझाव दिया था, उसके विषय में मुझे अभी तक कुछ सुनने को नहीं मिला।

और वंगला में अनूदित सभी वैज्ञानिक ग्रंथों को खरीदने के मेरे सुझाव का क्या हुआ?

अव मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मठ में एक साथ तीन महन्तों का निर्वाचन करना आवश्यक है—एक व्यावहारिक कार्यों का संचालन करेंगे, दूसरे आध्यात्मिकता की ओर ध्यान देंगे एवं तीसरे ज्ञानार्जन की व्यवस्था करेंगे।

कठिनाई तो शिक्षा-विभाग के उपयुक्त निर्देशक के प्राप्त होने में है। ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द आसानी से शेष दोनों विभागों का कार्य सँभाल सकते हैं। मुझे दुःख है कि मठ-दर्शनार्थ केवल कलकत्ते के वाबू लोग आ रहे हैं। उनसे कुछ काम नहीं होगा। हमें साहसी युवकों की आवश्यकता है जो काम कर सकते हों, मूर्खों की नहीं।

ब्रह्मानन्द से कहना कि वह अभेदानन्द तथा सारदानन्द को अपने साप्ताहिक कार्य-विवरण मठ में भेजने के लिए लिखे—उसके भेजने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए, और भविष्य में वंगला में निकलनेवाली पत्रिका के लिए लेख तथा नोट्स आदि भेजें। गिरीश वावू उस पत्रिका के लिए क्या कुछ आवश्यक व्यवस्था कर रहे हैं? अदम्य इच्छा-शक्ति के साथ कार्य करते चलो तथा सदा प्रस्तुत रहो।

अखण्डानन्द महुला में अद्भुत कार्य कर रहा है, किन्तु उसकी कार्य-प्रणाली ठीक प्रतीत नहीं होती। ऐसा मालूम हो रहा है कि वे लोग एक छोटे से गाँव में ही अपनी शक्ति क्षय कर रहे हैं, और वह भी एकमात्र चावल-वितरण के कार्य में। इसके साथ ही साथ किसी प्रकार का प्रचार-कार्य भी हो रहा है—यह वात मेरे सुनने में नहीं आ रही है। लोगों को यदि आत्मनिर्भर वनने की शिक्षा न दी जाय तो सारे संसार की दौलत से भी भारत के एक छोटे से गाँव की सहायता नहीं की जा सकती है। शिक्षा प्रदान करना हमारा पहला कार्य होना चाहिए—नैतिक तथा वौद्धिक दोनों ही प्रकार की। मुझे इस वारे में तो कुछ भी समाचार नहीं मिल रहा है, केवल इतना ही सुन रहा हूँ कि इतने भिखमंगों को सहायता दी गयी है! ब्रह्मानन्द से कहो कि विभिन्न जिलों में वह केन्द्र स्थापित करे, जिससे हम थोड़ी पूंजी से ही यथासम्भव अधिक स्थलों में कार्य कर सकें। ऐसा लगता है कि अव तक

उन कार्यों से वास्तव में कुछ भी नहीं हुआ है; क्योंकि अभी तक स्थानीय लोगों में किसी प्रकार की आकांक्षा जाग्रत करने में सफलता नहीं मिली है, जिससे वे लोक-शिक्षा के लिए किसी प्रकार की सभा-समिति स्थापित कर सकें और उस शिक्षा के फलस्वरूप आत्मनिर्भर तथा मितव्ययी बन सकें; विवाह की ओर उनका अस्वाभाविक झुकाव दूर हो और इसी प्रकार भविष्य में दुर्भिक्ष के कराल गाल में जाने से वे अपने को बचा सकें। दया से लोगों के हृदय-द्वार खुल जाते हैं, किन्तु उस द्वार से उनके सामूहिक हित साधन के लिए हमें प्रयास करना होगा।

सबसे सहज उपाय यह है कि हम छोटी सी झोपड़ी लेकर गुरु महाराज का मन्दिर स्थापित करें। ग़रीब लोग जो वहाँ एकत्र हों, उनकी सहायता की जाय और वे लोग वहाँ पर पूजार्चन भी करें। प्रतिदिन सुबह-शाम वहाँ पुराण-कथा हो। उस कथा के सहारे से ही तुम अपनी इच्छानुसार जनता में शिक्षा प्रसार कर सकते हो। क्रमशः उन लोगों में स्वतः ही इस विषय में विश्वास तथा आग्रह बढ़ेगा। तब वे स्वयं ही उस मन्दिर के संचालन का भार अपने ऊपर लेंगे, और हो सकता है कि कुछ ही वर्षों में यह छोटा सा मन्दिर एक विराट् आश्रम में परिणत हो जाय। जो लोग दुर्भिक्ष-निवारण कार्य के लिए जा रहे हैं, वे सर्वप्रथम प्रत्येक ज़िले में एक मध्यवर्ती स्थल का निर्वाचन करें तथा वहाँ पर इसी प्रकार की एक झोपड़ी लेकर मन्दिर स्थापित करें, जहाँ से अपने सभी कार्य थोड़े-बहुत प्रारम्भ किये जा सकें।

मन की प्रवृत्ति के अनुसार काम मिलने पर अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति भी उसे कर सकता है। लेकिन सब कामों को जो अपने मन के अनुकूल बना लेता है, वही बुद्धिमान है। कोई भी काम छोटा नहीं है, संसार में सब कुछ वट-बीज की तरह है, सरसों जैसा क्षुद्र दिखायी देने पर भी अति विशाल वट-वृक्ष उसके अन्दर विद्यमान है। बुद्धिमान वही है जो ऐसा देख पाता है और सब कामों को महान् बनाने में समर्थ है।

जो लोग दुर्भिक्ष-निवारण कार्य कर रहे हैं, उन्हें इस ओर भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं ग़रीबों के प्राप्य को धोखेबाज़ न झपट लें। भारत ऐसे आलसी धोखेबाज़ों से भरा पड़ा है और तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि वे लोग कभी भूखों नहीं मरते हैं—उन्हें कुछ न कुछ खाने को मिल ही जाता है। दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थलों में कार्य करनेवालों को इस ओर ध्यान दिलाने के लिए ब्रह्मानन्द से पत्र लिखने को कहना, जिससे वे व्यर्थ में धन-व्यय न कर सकें। जहाँ तक हो सके, कम से कम खर्च में अधिक से अधिक स्थायी सत्कार्य की प्रतिष्ठा करना ही हमारा ध्येय है।

अब तुम समझ ही गये होगे कि तुम लोगों को स्वयं ही मौलिक ढंग से सोचना चाहिए, नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद सब कुछ नष्ट हो जायगा। उदाहरण के लिए तुम सब लोग मिलकर इस विषय में विचार करने के लिए एक सभा का आयोजन कर सकते हो कि अपने कम से कम साधनों द्वारा हम किस प्रकार श्रेष्ठतम स्थायी फल प्राप्त कर सकते हैं। सभा की निर्धारित तिथि से कुछ दिन पूर्व सबको इसकी सूचना दी जाय, सब कोई अपने सुझाव दें, इन सुझावों पर विचार-विमर्श तथा आलोचना हो, और तब इसकी रिपोर्ट मेरे पास भेजो।

अन्त में यह कहना चाहता हूँ कि तुम लोग यह स्मरण रखो कि मैं अपने गुरु-भाइयों की अपेक्षा अपनी सन्तानों से अधिक आशा रखता हूँ—मैं चाहता हूँ कि मेरे सब बच्चे, मैं जितना उन्नत बन सकता था, उससे सौगुना उन्नत बनें। तुम लोगों में से प्रत्येक को महान् शक्तिशाली बनना होगा—मैं कहता हूँ, अवश्य बनना होगा। आज्ञा-पालन, ध्येय के प्रति अनुराग तथा ध्येय को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए सदा प्रस्तुत रहना—इन तीनों के रहने पर कोई भी तुम्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकता।

प्रेम एवं आशीर्वाद सहित,

विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

देउलधार, अलमोड़ा,
१३ जुलाई, १८९७

प्रेमास्पद,

यहाँ से अलमोड़ा जाकर योगेन के लिए मैंने विशेष प्रयत्न किया। किन्तु कुछ आराम होते ही वह देश के लिए रवाना हो गया। सुभल घाटी से वह अपने सकुशल पहुँचने का संवाद देगा। चूंकि सवारी के लिए डाँडी आदि मिलना असम्भव है, इसलिए लाटू नहीं जा सका। अच्युत और मैं यहाँ पर पुनः लौट आये हैं। धूप में गर्दनतोड़ रफ़्तार से घोड़ा दौड़ाकर आने के कारण आज मेरा शरीर कुछ खराब है। क़रीब दो सप्ताह शशि बाबू की दवा लेकर भी विशेष कोई लाभ नहीं प्रतीत हो रहा है। . . .लीवर का दर्द नहीं है और पर्याप्त क़सरत करने से हाथ-पाँव विशेष मजबूत हो गये हैं; किन्तु पेट अत्यन्त फूल रहा है, उठने-बैठने में साँस की तक़लीफ़ होती है। सम्भवतः, यह दूध पीने का फल है; शशि से पूछना कि दूध छोड़ा जा सकता है या नहीं? पहले दो बार मुझे लू लग गयी थी। तब से धूप लगने पर आँखें लाल हो जाती हैं और दो-चार दिन तक लगातार शरीर अस्वस्थ रहता है।

मठ के समाचार से अत्यन्त प्रसन्नता हुई तथा यह भी मालूम हुआ कि दुर्भिक्ष पीड़ितों में कार्य अच्छी तरह से चल रहा है। मुझे लिखो कि दुर्भिक्ष कार्य के लिए 'ब्रह्मवादिन्' ऑफ़िस से तुम्हें धन प्राप्त हुआ है या नहीं; यहाँ से भी धन शीघ्र भेजा जा रहा है। दुर्भिक्ष का प्रकोप अन्य स्थानों में भी है, इसलिए एक स्थान पर ही रुकने की आवश्यकता नहीं है। उनको अन्यत्र जाने के लिए कहना एवं प्रत्येक को विभिन्न स्थानों में जाने के लिए लिखना। इस प्रकार के कार्य ही सच्चे कार्य हैं। इस प्रकार खेत जुत जाने पर आध्यात्मिक ज्ञान का बीज बोया जा सकता है। यह हमेशा याद रखो कि इस प्रकार का कार्य ही उन कट्टरपन्थियों के लिए उचित उत्तर है, जो हमें गालियाँ दे रहे हैं। शशि एवं सारदा जैसा छपवाना चाहते हैं, उसमें मेरी कोई आपत्ति नहीं है।

मठ का नाम क्या होना चाहिए, यह तुम लोग ही निर्णय करना।. . .रुपया सात सप्ताह के अन्दर ही पहुँच जायगा, लेकिन ज़मीन के बारे में मुझे कोई भी समाचार नहीं मिला है। इस सम्बन्ध में मैं समझता हूँ कि काशीपुर के कृष्णगोपाल के बगीचे को खरीद लेना ही उचित होगा। इस बारे में तुम्हारी क्या राय है? बड़े बड़े काम पीछे होते रहेंगे। यदि इसमें तुम्हारी सहमति हो तो इस विषय की किसीसे —मठ अथवा बाहर के व्यक्तियों से—चर्चा न कर गुप्त रूप से पता लगाना। योजना गुप्त न रखने से काम प्रायः ठीक ठीक नहीं हो पाता। यदि १५-१६ हज़ार में कार्य बनता हो तो अविलम्ब खरीद लेना (यदि ऐसा तुम्हें उचित लगे तो)। यदि उससे कुछ अधिक मूल्य हो तो बयाना देकर सात सप्ताह तक प्रतीक्षा करना। मेरी राय में इस समय उसे खरीद लेना ही अच्छा है। बाक़ी काम धीरे धीरे होते रहेंगे। हमारी सारी स्मृतियाँ उस बगीचे से जुड़ी हुई हैं। वास्तव में वही हमारा प्रथम मठ है। अत्यन्त गोपनीय रूप से यह कार्य होना चाहिए—**फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्कारा प्राक्तना इव**—(फल को देखकर ही किसी कार्य का विचार किया जा सकता है, जैसे कि किसीके वर्तमान व्यवहार को देखकर उसके पूर्व संस्कारों का अनुमान लगाया जा सकता है)।. . .

इसमें सन्देह नहीं कि काशीपुर के बगीचे की ज़मीन का मूल्य अधिक बढ़ गया है, किन्तु दूसरी ओर हमारे पास धन भी कम पड़ गया है। जैसे भी हो, इसकी व्यवस्था करना, और शीघ्र करना। काहिली से सब काम नष्ट हो जाता है। यह बगीचा तो खरीदना ही होगा, चाहे आज या दो दिन बाद—और चाहे गंगा तट पर कितने ही विशाल मठ की स्थापना क्यों न करनी हो। अन्य व्यक्तियों के द्वारा यदि इसकी व्यवस्था हो सके तो और भी अच्छा है। यदि उनको पता चल गया कि हम लोग खरीद रहे हैं तो वे लोग अधिक दाम माँगेंगे। इसलिए बहुत ही सँभल कर

काम करो। अभी:, श्री रामकृष्ण सहाय हैं, डर किस बात का? सबसे मेरा प्यार कहना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

पुनश्च (लिफ़ाफ़े पर लिखित)...काशीपुर के लिए विशेष प्रयास करना ...बेलूड़ की ज़मीन छोड़ दो।

जब कि तुम ऊँचे लोग श्रेय मिलने के विवाद में पड़े हुए हो तो क्या तब तक ग़रीब बेचारे भूखे मरेंगे? यदि 'महाबोधि संस्था' पूरा श्रेय लेना चाहती है तो लेने दो। ग़रीबों का उपकार होने दो। कार्य अच्छी तरह से चल रहा है, यह बहुत ही अच्छी बात है। और भी ताक़त से जुट जाओ। मैं लेख भेजने की व्यवस्था कर रहा हूँ। सैकरिन तथा नीबू पहुँच गये हैं।

वि०

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

अल्मोड़ा,
२३ जुलाई, १८९७

प्रिय कुमारी नोबल,

मेरे संक्षिप्त पत्र के लिए बुरा न मानना। अब मैं पहाड़ से मैदान की ओर रवाना हो रहा हूँ। किसी एक निर्दिष्ट स्थल पर पहुँच कर तुम्हें विस्तृत पत्र लिखूँगा।

तुम्हारी इस बात का कि घनिष्ठता के बिना भी स्पष्टवादिता हो सकती है, मैं तात्पर्य नहीं समझ सका। अपनी ओर से तो मैं यह कह सकता हूँ कि प्राच्य औपचारिकता का जो भी अंश अभी तक मुझमें मौजूद है, उसका अन्तिम चिह्न तक मिटाकर बालसुलभ सरलता से बातें करने के लिए मैं सब कुछ करने को प्रस्तुत हूँ। काश, एक दिन के लिए भी स्वतन्त्रता के पूर्ण आलोक में जीने का सौभाग्य प्राप्त हो एवं सरलता की मुक्त वायु में श्वास लेने का अवसर मिले! क्या यह उच्चतम प्रकार की पवित्रता नहीं है?

इस संसार में लोगों से डरकर हम काम करते हैं, डरकर बातें करते हैं तथा डरकर ही चिन्तन करते हैं। हाय, शत्रुओं से घिरे हुए लोक में हमने जन्म लिया है! इस प्रकार की भीति से यहाँ कौन मुक्त हो सका है कि जैसे प्रत्येक वस्तु गुप्तचर की तरह उसका पीछा कर रही हो? और जो जीवन में अग्रसर होना चाहता है, उसके भाग्य में दुर्गति लिखी हुई है। क्या यह संसार कभी मित्रों से पूर्ण होगा? कौन जानता है? हम तो केवल प्रयत्न कर सकते हैं।

कार्य प्रारम्भ हो गया है तथा इस समय दुर्भिक्ष-निवारण ही हमारे लिए प्रधान कर्तव्य है। अनेक केन्द्र स्थापित हो चुके हैं एवं दुर्भिक्ष-सेवा, प्रचार तथा साधारण शिक्षा-प्रदान की व्यवस्था की गयी है। यद्यपि अभी तक कार्य अत्यन्त नगण्य रूप से ही हो रहा है, फिर भी जिन युवकों को शिक्षा दी जा रही है, आवश्यकतानुसार उनसे काम लिया जा रहा है। इस समय मद्रास तथा कलकत्ता ही हमारे कार्यक्षेत्र हैं। श्री गुडविन मद्रास में कार्य कर रहा है। कोलम्बो में भी एक व्यक्ति को भेजा गया है। यदि अभी तक तुम्हें कार्य-विवरण नहीं भेजा गया हो तो आगामी सप्ताह से सम्पूर्ण कार्यो का एक मासिक विवरण तुमको भेजा जायगा। मैं इस समय कार्य-क्षेत्र से दूरी पर हूँ, इससे सभी कार्य कुछ शिथिलता से चल रहे हैं, यह तुम देख ही रही हो; किन्तु साधारणतया कार्य सन्तोषजनक है।

यहाँ न आकर इंग्लैण्ड से ही तुम हमारे लिए अधिक कार्य कर सकती हो। दरिद्र भारतवासियों के कल्याणार्थ तुम्हारे विपुल आत्म-त्याग के लिए भगवान् तुम्हारा मंगल करें!

तुम्हारे इस मन्तव्य को मैं भी मानता हूँ कि मेरे इंग्लैण्ड जाने पर वहाँ का कार्य बहुत कुछ सजीव हो उठेगा। फिर भी यहाँ का कर्म-चक्र जब तक चालू न हो और मुझे विश्वास न हो जाय कि मेरी अनुपस्थिति में कार्य-संचालन करनेवाले और भी व्यक्ति हैं, मेरे लिए भारत छोड़ना उचित न होगा। जैसा कि मुसलमान कहते हैं, 'खुदा की मर्ज़ी से' कुछ एक माह में ही उसकी व्यवस्था हो जायगी। मेरे अन्यतम श्रेठ कार्यकर्ता खेतड़ी के राजा साहब इस समय इंग्लैण्ड में हैं। आशा है कि वे शीघ्र ही भारत वापस आयेंगे एवं अवश्य ही मेरे विशेष सहायक होंगे।

अनन्त प्यार तथा आशीर्वाद सहित,

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

अल्मोड़ा,
२४ जुलाई, १८९७

कल्याणीय,

तुम्हारे पत्र में सविस्तर समाचार पाकर अत्यन्त खुशी हुई। अनाथालय के बारे में तुम्हारा जो अभिमत है, वह अति उत्तम है। श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) अविलम्ब ही उसे अवश्य पूर्ण करेंगे। एक स्थायी केन्द्र स्थापित करने के लिए

पूर्णतया प्रयास करते रहना। . . .रुपयों के लिए कोई चिन्ता नहीं है—कल अल्मोड़ा से समतल प्रदेश में आने की मेरी अभिलाषा है। जहाँ भी हलचल होगी, वहीं दुर्भिक्ष के लिए चन्दा एकत्र करूँगा— चिन्ता न करना। कलकत्ते में जैसा हमारा मठ है, उसी नमूने से प्रत्येक ज़िले में जब एक एक मठ स्थापित होगा, तभी मेरी मनोकामना पूरी होगी। प्रचार-कार्य बन्द न होने पाये एवं प्रचार की अपेक्षा विद्या-दान ही प्रधान कार्य है; ग्रामीण लोगों में भाषण आदि के द्वारा धर्म, इतिहास इत्यादि की शिक्षा देनी होगी—खासकर उन लोगों को इतिहास से परिचित कराना होगा। हमारे इस शिक्षा-कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए इंग्लैण्ड में एक सभा स्थापित की गयी है; उसका कार्य अत्यन्त सन्तोषजनक है, बीच बीच में मुझे ऐसा समाचार मिलता रहता है। इसी तरह धीरे धीरे चारों ओर से सहायता मिलती रहेगी—चिन्ता की क्या बात है? जो लोग यह समझते हैं कि सहायता मिलने पर कार्य प्रारम्भ किया जाय, उनसे कोई कार्य नहीं हो सकता। जो यह समझते हैं कि कार्य-क्षेत्र में उतरने पर अवश्य सहायता मिलेगी, वे ही कार्य सम्पादन कर सकते हैं।

सारी शक्तियाँ तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं—इसमें विश्वास रखो। वे अभिव्यक्त हुए विना नहीं रह सकतीं। मेरा हार्दिक प्यार तथा आशीर्वाद लेना तथा ब्रह्मचारी से कहना। तुम बीच बीच में अत्यन्त उत्साहपूर्ण पत्र मठ में भेजते रहना, जिससे कि सब लोग उत्साहित होकर कार्य करते रहें। वाह गुरु की फ़तह! किमधिकमिति।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(मेरी हेल्बॉयस्टर को लिखित)

अल्मोड़ा,
२५ जुलाई, १८९७

प्रिय मेरी,

अपना वादा पूरा कर देने के लिए अब मेरे पास अवकाश, इच्छा और अवसर है। इसलिए पत्र आरम्भ कर रहा हूँ। कुछ समय से मैं बहुत कमज़ोर हूँ और उसकी वजह से तथा अन्य कारणों से इस जयन्ती महोत्सव काल में मुझे अपनी इंग्लैण्ड की यात्रा स्थगित करनी पड़ी।

पहले तो मुझे अपने अच्छे तथा अत्यन्त प्रिय सुहृदों से एक बार फिर न मिलने की असमर्थता पर बड़ा दुःख हुआ, किन्तु कर्म का परिहार नहीं हो सकता और मुझे अपने हिमालय से ही सन्तोष करना पड़ा। किन्तु है तो यह दुःखद ही सौदा; क्योंकि

जीवन्त आत्मा का जो सौन्दर्य मनुष्य के चेहरे पर चमकता है, वह जड़ पदार्थों के कितने ही सौन्दर्य की अपेक्षा अत्यधिक आह्लादकारी होता है।

क्या आत्मा संसार का आलोक नहीं है?

कई कारणों से लन्दन में कार्य को धीमी गति से चलना पड़ा, जिनमें अन्तिम कारण, जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, रुपया है, मेरी दोस्त! जब मैं वहाँ रहता हूँ, रुपया येनकेन प्रकारेण आ ही जाता है, जिससे कार्य चलता रहता है। अब हर आदमी अपना कन्धा झाड़ रहा है। मुझको फिर अवश्य आना है और कार्य को पुनरुज्जीवित करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना है।

मैं काफ़ी घुड़सवारी एवं व्यायाम कर रहा हूँ; किन्तु डॉक्टरों की सलाह से मुझे अधिक मात्रा में मखनिया दूध पीना पड़ा था, जिसका फल यह हुआ कि मैं पीछे की बजाय आगे की ओर अधिक झुक गया हूँ। यद्यपि मैं हमेशा से ही एक अग्रगामी मनुष्य हूँ, फिर भी मैं तत्काल ही बहुत अधिक मशहूर होना नहीं चाहता, और मैंने दूध पीना छोड़ दिया है।

मुझे यह पढ़कर ख़ुशी हुई कि तुमको अपने भोजन के लिए अच्छी भूख लगने लगी है।

क्या तुम विम्बलडन की कुमारी मार्गरेट नोबल को जानती हो? वह हमारे लिए परिश्रम के साथ कार्य कर रही है। अगर हो सके तो तुम उसके साथ पत्र-व्यवहार प्रारम्भ कर देना, और तुम मेरी वहाँ काफ़ी सहायता कर सकती हो। उसका पता है, ब्रॉण्टवुड, वॉरप्ले रोड, विम्बलडन।

तो, हाँ, तुमने मेरी छोटी सी मित्र कुमारी आर्चर्ड से भेंट की और तुमने उसको पसन्द भी किया—यह अच्छी बात रही। उसके प्रति मेरी महान् आशाएँ हैं। जब मैं बहुत ही वृद्ध हो जाऊँगा तो जीवन के कर्मों से कैसे पूर्णतया विमुक्त होना चाहूँगा? तुम्हारे एवं कुमारी आर्चर्ड के सदृश अपने छोटे प्यारे मित्रों के नामों से संसार को प्रतिध्वनित होता हुआ सुनूँगा!

और हाँ, मुझे ख़ुशी है कि मैं शीघ्रता से वृद्धत्व को प्राप्त हो रहा हूँ, मेरे बाल सफ़ेद हो रहे हैं। 'स्वर्ण के बीच रजत-सूत्र'—मेरा तात्पर्य काले से है—शीघ्रता से चले आ रहे हैं।

एक उपदेष्टा के लिए युवक होना बुरा है, क्या तुम ऐसा नहीं सोचतीं? मैं तो ऐसा ही समझता हूँ, जैसा कि मैंने जीवन भर समझा। एक वृद्ध मनुष्य में लोगों की अधिक आस्था रहती है, और वह अधिक पूज्य नजर आता है। तथापि वृद्ध दुर्जन संसार में सबसे बुरे दुर्जन होते हैं। क्या ऐसी बात नहीं?

संसार के पास अपना न्याय-विधान है, जो दुर्भाग्य से सत्य से बहुत ही भिन्न है।

तो तुम्हारा 'सार्वभौमिक धर्म' 'द मंडे रिव्यू' के द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया है। इसकी कदापि चिन्ता न करना, किसी अन्य पत्र में प्रयत्न करो। एक बार कार्यारम्भ हो जाने पर तुम अधिक तेजी से बढ़ सकोगी, ऐसा मुझे विश्वास है। और मैं कितना प्रसन्न हूँ कि तुम कार्य से प्रेम करती हो : इससे मार्ग प्रशस्त होगा, इसके विषय में मुझे किंचित् भी संशय नहीं। हमारे विचारों के लिए एक भविष्य है, प्रिय मेरी—और यह शीघ्र ही कार्य रूप में परिणत होगा।

मैं सोचता हूँ कि यह पत्र तुम्हें पेरिस में मिलेगा—तुम्हारे मनोरम पेरिस में—और मैं आशा करता हूँ कि तुम मुझे बहुत कुछ लिखोगी, फ़्रांसीसी पत्रकारिता एवं वहाँ होनेवाले आगामी 'विश्व-मेला' के सम्बन्ध में।

मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि वेदान्त एवं योग के द्वारा तुम्हें सहायता मिली है। दुर्भाग्य से कभी कभी मैं सरकस के उस विचित्र विदूषक के सदृश हो जाता हूँ, जो दूसरों को तो हँसाये किंतु स्वयं खिन्न हो।

स्वभावतः तुम प्रफुल्ल प्रवृत्ति की हो। कोई भी वस्तु तुम्हें नहीं स्पर्श करती लगती। साथ ही तुम एक दूरदर्शी लड़की हो, इस सीमा तक कि तुमने 'प्यार' एवं इसकी सम्पूर्ण मूर्खताओं से अपने को समझ-बूझ कर अलग रखा है। अतः तुमने अपने शुभ कर्म का अनुष्ठान कर लिया है और अपने आजीवन मंगल का बीज-वपन कर लिया है। जीवन में हमारी कठिनाई यह है कि हम भविष्य के द्वारा प्रेरित न होकर वर्तमान के द्वारा होते हैं। वर्तमान में जो वस्तु थोड़ा भी सुख देती है, हमें अपनी ओर खींच ले जाती है, और फलस्वरूप वर्तमान समय के थोड़े से सुख के लिए हम भविष्य के लिए एक बहुत बड़ी आपत्ति मोल ले लेते हैं।

मैं चाहता हूँ कि मुझे कोई प्यार करनेवाला होता, और बाल्यावस्था में अनाथ होता। मेरे जीवन की सबसे महान् विपत्ति मेरे अपने लोग रहे हैं—मेरे भाई-बहन एवं माँ आदि सम्बन्धी जन व्यक्ति की प्रगति में भयावह अवरोध की तरह हैं, और क्या यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि लोग फिर भी वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा नये सम्बन्धियों की खोज करते रहेंगे ! ! !

जो एकाकी है, वह सुखी है। सबका समान मंगल करो, लेकिन किसीसे 'प्यार मत करो।' यह एक बन्धन है, और बन्धन सदा दुःख की ही सृष्टि करता है। अपने मानस में एकाकी जीवन बिताओ—यही सुख है। देख-भाल करने के लिए किसी व्यक्ति का न होना और इस बात की चिन्ता न करना कि मेरी देख-भाल कौन करेगा—मुक्त होने का यही मार्ग है।

तुम्हारी मानसिक रचना से मैं बड़ी ईर्ष्या करता हूँ—शान्त, सौम्य, विनोदी, फिर भी गम्भीर एवं विमुक्त। मेरी, तुम मुक्त हो चुकी हो, पहले से ही मुक्त।

तुम जीवन्मुक्त हो। मैं नारी अधिक हूँ, पुरुष कम, तुम पुरुष अधिक हो एवं नारी कम। मैं सदा दूसरे के दु:ख को अपने ऊपर ओढ़ता रहा हूँ—विना किसी प्रयोजन के, किसीको कोई लाभ पहुँचाने में समर्थ हुए विना—ठीक उन स्त्रियों की तरह जो सन्तान न होने पर अपने सम्पूर्ण स्नेह को किसी विल्ली पर केन्द्रित कर देती हैं!!!

क्या तुम समझती हो कि इसमें कोई आध्यात्मिकता है? सब निरर्थक, ये सब भौतिक स्नावयिक वन्धन हैं—यह वस इतना ही भर है। ओह, भौतिकता के साम्राज्य से कैसे मुक्त हुआ जाय!!

तुम्हारी मित्र श्रीमती मार्टिन हर महीने अपनी पत्रिका की प्रतियाँ मुझे भेजा करती हैं—परन्तु स्टर्डी का थर्मामीटर ऐसा लगता है, शून्य के नीचे हो गया है। इस गर्मी में मेरे इंग्लैण्ड न पहुँचने के कारण वह वहुत ही निराश हो गया लगता है। मैं कर ही क्या सकता था?

हम लोगों ने यहाँ दो मठों का कार्य प्रारम्भ कर दिया है—एक कलकत्ते में और एक मद्रास में। कलकत्ते का मठ (जो किराये में लिया गया एक जीर्ण मकान है) पिछले भूचाल में भीषण रूप से प्रकम्पित हो गया था।

हमें वालकों की अच्छी संख्या प्राप्त हो चुकी है; उन्हें अव प्रशिक्षित किया जा रहा है। अनेक स्थानों में हमने अकाल-सहायता का कार्य प्रारम्भ कर दिया है और कार्य अच्छी गति में आगे वढ़ रहा है। भारत के विभिन्न स्थानों में इस प्रकार के और भी केन्द्र स्थापित करने की चेष्टा हम लोग करेंगे।

कुछ दिनों बाद मैं नीचे मैदानों की ओर जाऊँगा, और वहाँ से पश्चिमी पर्वतों की ओर। जब मैदानों में ठण्डक पड़ने लगेगी, मैं सर्वत्र एक व्याख्यान-यात्रा करूँगा, और देखना है कि क्या काम हो सकता है।

अव यहाँ लिखने के लिए मैं अधिक समय न पा सकूँगा—कितने लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं—अत: मैं लिखना वन्द करता हूँ, प्यारी मेरी, तुम सब लोगों के सुख एवं प्रसन्नता की कामना करते हुए।

भौतिकता तुम्हें कभी भी आकर्षित न करे, यही मेरी सतत प्रार्थना है—

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(श्रीमती लेगेट को लिखित)

अल्मोड़ा,
२८ जुलाई, १८९७

मेरी प्यारी माँ,

आपके सुन्दर कृपा-पत्र के लिए अनेक धन्यवाद। काश, मैं लंदन में होता

और खेतड़ी के राजा साहब का निमंत्रण स्वीकार कर सकता। पिछली बार, लंदन में मैं बहुत से प्रीतिभोजों में सम्मिलित हुआ। लेकिन, दुर्भाग्यवश अस्वस्थता के कारण मैं राजा साहब का साथ न दे सका।

तो, अल्बर्टा फिर अपने घर—अमेरिका पहुँच गयी है। उसने रोम में मेरे लिए जो कुछ किया उसके लिए मैं ऋणी हूँ। हॉली कैसे हैं? हॉली-दम्पति को मेरा स्नेह दें तथा नवागत शिशु—मेरी सबसे छोटी बहन को मेरी ओर से प्यार करें।

मैं पिछले नौ महीने हिमालय में कुछ विश्राम करता रहा हूँ। अब फिर—मैदानों की ओर जा रहा हूँ—काम में जुट जाने के लिए!

फ़्रैन्किनसेन्स और जो-जो और मेबेल को मेरा प्यार—और आपको भी—चिरंतन!

आपका,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

अल्मोड़ा,
२९ जुलाई, १८९७

प्रिय कुमारी नोबल,

श्री स्टर्डी का एक पत्र कल मुझे मिला, जिससे मुझे यह मालूम हुआ कि तुमने भारत आने का, और स्वयं सब चीज़ों को देखने का विचार मन में ठान लिया है। उसका उत्तर कल मैं दे चुका हूँ, परन्तु मैंने कुमारी मूलर से तुम्हारे इस संकल्प के विषय में जो कुछ सुना उससे यह दूसरा संक्षिप्त पत्र आवश्यक हो गया, और अच्छा है कि मैं तुम्हें सीधे ही लिखूँ।

मैं तुमसे स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि मुझे विश्वास है कि भारत के काम में तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है। आवश्यकता है स्त्री की, पुरुष की नहीं—सच्ची सिंहिनी की जो भारतीयों के लिए, विशेषकर स्त्रियों के लिए काम करे।

भारत अभी तक महान् महिलाओं को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसे दूसरे राष्ट्रों से उन्हें उधार लेना पड़ेगा। तुम्हारी शिक्षा, सच्चा भाव, पवित्रता, महान् प्रेम, दृढ़ निश्चय और सबसे अधिक तुम्हारे केल्टिक (celtic) रक्त ने तुमको वैसी ही नारी बनाया है, जिसकी आवश्यकता है।

परन्तु कठिनाइयाँ भी बहुत हैं। यहाँ जो दुःख, कुसंस्कार और दासत्व है, उसकी तुम कल्पना नहीं कर सकतीं। तुम्हें एक अर्द्धनग्न स्त्री-पुरुषों के समूह में रहना होगा, जिनके जाति और पृथकता के विचित्र विचार हैं, जो भय और द्वेष

से सफ़ेद चमड़े से दूर रहना चाहते हैं और जिनसे सफ़ेद चमड़ेवाले स्वयं अत्यन्त घृणा करते हैं। दूसरी ओर श्वेत जाति के लोग तुम्हें सनकी समझेंगे और तुम्हारे आचार-व्यवहार को सशंकित दृष्टि से देखते रहेंगे।

फिर यहाँ भयंकर गर्मी पड़ती है; अधिकांश स्थानों में हमारा शीतकाल तुम्हारी गर्मी के समान होता है और दक्षिण में हमेशा आग बरसती रहती है।

नगरों के वाहर विलायती आराम की कोई भी सामग्री नहीं मिल सकती। ये सब बातें होते हुए भी यदि तुम काम करने का साहस करोगी तो हम तुम्हारा स्वागत करेंगे, सौ बार स्वागत करेंगे। मेरे विषय में यह बात है कि जैसे अन्य स्थानों में वैसे ही मैं यहाँ भी कुछ नहीं हूँ, फिर भी जो कुछ मेरा सामर्थ्य होगा, वह तुम्हारी सेवा में लगा दूंगा।

इस कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले तुमको अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए, और यदि काम करने के बाद तुम असफल हो जाओगी अथवा अप्रसन्न हो जाओगी तो मैं अपनी ओर से तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि चाहे तुम भारत के लिए काम करो या न करो, तुम वेदान्त को त्याग दो या उसमें स्थित रहो, मैं आमरण तुम्हारे साथ हूँ। 'हाथी के दाँत बाहर निकलते हैं, परन्तु अन्दर नहीं जाते।' —इसी तरह मर्द के वचन वापस नहीं फिर सकते। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ। फिर से मैं तुमको सावधान करता हूँ। तुमको अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए, और कुमारी मूलर आदि के आश्रित न रहना चाहिए। अपने ढंग की वह एक शिष्ट महिला है, परन्तु दुर्भाग्यवश जब वह बालिका ही थी, तभी से उसके मन में यह बात समा गयी है कि वह जन्म से ही एक नेता है और संसार को हिलाने के लिए धन के अतिरिक्त किसी गुण की आवश्यकता नहीं है। यह भाव फिर फिर कर उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके मन में उठता है और थोड़े दिनों में तुम देखोगी कि उसके साथ मिलकर रहना तुम्हारे लिए असम्भव होगा। अब उसका विचार कलकत्ते में एक मकान लेने का है, जहाँ तुम और वह तथा अन्य यूरोपीय या अमरीकी मित्र यदि आकर रहना चाहें तो रह सकें।

उसका विचार शुभ है, परन्तु महन्तिन बनने का उसका संकल्प दो कारणों से कभी सफल न होगा—उसका क्रोधी स्वभाव और अहंकारयुक्त व्यवहार, तथा उसका अत्यन्त अस्थिर मन। बहुतों से मित्रता करना दूर से ही अच्छा रहता है और जो मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है, उसका हमेशा भला होता है।

श्रीमती सेवियर नारियों में एक रत्न हैं, ऐसी गुणवती और दयालु। केवल सेवियर दम्पति ऐसे अंग्रेज़ हैं जो भारतवासियों से घृणा नहीं करते, स्टर्डी की भी गिनती इनमें नहीं है। श्रीमान् और श्रीमती सेवियर दो ही व्यक्ति हैं जो अभिमान-

पूर्वक हमें उत्साह दिलाने नहीं आये थे, परन्तु उनका अभी कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं है। जब तुम आओ, तब तुम उन्हें अपने साथ काम में लगाओ। इससे तुमको भी सहायता मिलेगी और उन्हें भी। परन्तु अन्त में अपने पैरों पर ही खड़ा होना परमावश्यक है।

अमेरिका से मैंने यह सुना है कि बोस्टन निवासी मेरी दो मित्र श्रीमती बुल और कुमारी मैक्लिऑड शरद ऋतु में भारत आनेवाली हैं। कुमारी मैक्लिऑड को तुम लन्दन में जानती थीं—वह पेरिस के वस्त्र पहने हुए अमेरिकी युवती; श्रीमती बुल पचास वर्ष के लगभग हैं और अमेरिका में वे सहानुभूति रखनेवाली मेरी मित्र थीं।

मैं तुमको यह सम्मति दूंगा कि यदि तुम उनके साथ ही आओगी तो यात्रा की क्लान्ति कम हो जायगी, क्योंकि वे भी यूरोप होते हुए आ रही हैं।

श्री स्टर्डी का बहुत दिनों के बाद पत्र पाकर मुझे हर्ष हुआ। किन्तु वह पत्र रूखा और प्राणहीन था। मालूम होता है कि लन्दन के कार्य के असफल होने से वे निराश हुए।

तुम्हें मेरा अनन्त प्यार।

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
२९ जुलाई, १८९७

प्रिय शशि,

तुम्हारा काम-काज ठीक ठीक चल रहा है, यह समाचार मिला। तीनों भाष्यों का अच्छी तरह से अध्ययन करना तथा यूरोपीय दर्शन एवं तत्सम्बन्धी विषयों का भी सम्यक् अध्ययन आवश्यक है, इसमें त्रुटि नहीं होनी चाहिए। दूसरों से लड़ने के लिए उपयुक्त अस्त्र चाहिए, इस बात को कदापि भूल न जाना। अब तो गुकुल (स्वामी आत्मानन्द) पहुँच गया है, तुम्हारी सेवा इत्यादि की समुचित व्यवस्था हो गयी होगी। सदानन्द यदि वहाँ नहीं रहना चाहे तो उसे कलकत्ते भेज देना एवं प्रति सप्ताह एक रिपोर्ट, आय-व्यय इत्यादि सभी विवरण सहित, मठ में भेजने की व्यवस्था करना, इस कार्य में भूल नहीं होनी चाहिए। आलासिंगा के बहनोई यहाँ पर बद्रीदास से चार सौ रुपये क़र्ज़ लेकर घर गये हैं—पहुँचते ही भेज देने की बात थी, किन्तु पता नहीं अब तक क्यों नहीं भेजा। आलासिंगा से पूछना एवं

शीघ्र भेजने को कहना; क्योंकि परसों मैं यहाँ से रवाना हो रहा हूँ—मसूरी अथवा अन्यत्र जहाँ कहीं भी जाना हो, बाद में निश्चय करूँगा। कल यहाँ पर अंग्रेज़ लोगों के बीच एक व्याख्यान हुआ था, उससे सब लोग अत्यन्त आनन्दित हुए हैं। किन्तु उससे पूर्व दिवस हिन्दी में मेरा भाषण हुआ, उससे मैं स्वयं अत्यन्त आनन्दित हूँ— मुझे पहले ऐसी धारणा नहीं थी कि हिन्दी में भी मैं वक्तृता दे सकूँगा। क्या मठ के लिए युवक एकत्र किये जा रहे हैं? यदि ऐसा होता हो तो कलकत्ते में जैसा कार्य चल रहा है, ठीक उसी प्रकार से कार्य करते रहो। अभी कुछ दिन अपनी बुद्धि को विशेष खर्च न करना, क्योंकि ऐसा करने से उसके समाप्त हो जाने का भय है— कुछ दिन बाद उसका प्रयोग करना।

तुम अपने शरीर का विशेष ध्यान रखना—किन्तु विशेष देखभाल करने से शरीर स्वस्थ न रहकर कहीं अधिक खराब हो जाता है। विद्याबल के बिना मान्यता नहीं मिल सकती—यह निश्चित है एवं इस ओर ध्यान रखकर कार्य करते रहना।

मेरा हार्दिक प्यार तथा आशीर्वाद जानना एवं गुडविन आदि से कहना।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

अलमोड़ा,
३० जुलाई, १८९७

प्रिय अखण्डानन्द,

तुम्हारे कथनानुसार डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट लेविंज साहब को मैंने एक पत्र लिख दिया है। साथ ही, तुम भी उनके विशेष कार्यों का उल्लेख कर डॉक्टर शशि के द्वारा संशोधन कराके 'इण्डियन मिरर' में प्रकाशनार्थ एक विस्तृत पत्र लिखना एवं उसकी एक प्रति उक्त महोदय को भेजना। हम लोगों में जो मूर्ख हैं, वे केवल दोष ही ढूंढ़ते रहते हैं, वे कुछ गुण भी तो देखें।

आगामी सोमवार को मैं यहाँ से रवाना हो रहा हूँ।...

अनाथ बालकों को एकत्र करने की क्या व्यवस्था हो रही है? नहीं तो मठ से चार-पाँच जनों को बुला लो, गाँवों में ढूंढ़ने से दो दिन में ही मिल जायँगे।

स्थायी केन्द्र की स्थापना तो होनी ही चाहिए। और—दैव कृपा के बिना इस देश में क्या कुछ हो सकता है? राजनीति इत्यादि में कभी सम्मिलित न होना तथा उससे कोई सम्बन्ध न रखना। किन्तु उनसे किसी प्रकार का वाद-विवाद करने

की आवश्यकता नहीं है। जो कार्य करना है, उसमें तन-मन-धन लगा देना चाहिए। यहाँ पर साहबों के बीच मैंने एक अंग्रेज़ी भाषण तथा भारतीयों के लिए एक भाषण हिन्दी में दिया था। हिन्दी में मेरा यह प्रथम भाषण था—किन्तु सभी ने बहुत पसन्द किया। साहब लोग तो जैसे हैं वैसे ही हैं, चारों ओर यह सुनायी दिया 'काला आदमी', 'भाई, बहुत आश्चर्य की बात है।' आगामी शनिवार को यूरोपियन लोगों के लिए एक दूसरा भाषण होगा। यहाँ पर एक बड़ी सभा स्थापित की गयी है। भविष्य में कितना कार्य होता है—यह देखना है। विद्या तथा धार्मिक शिक्षा प्रदान करना इस सभा का मुख्य उद्देश्य है।

सोमवार को यहाँ से बरेली रवाना होना है, फिर सहारनपुर तथा उसके बाद अम्बाला जाना है, वहाँ से कैप्टन सेवियर के साथ सम्भवतः मसूरी जाऊँगा, अनन्तर कुछ सर्दी पड़ने पर वापस लौटने का विचार है एवं राजपूताना जाना है।

तुम पूरी लगन के साथ कार्य करते रहो, डरने की क्या बात है? 'पुनः जुट जाओ'—इस नीति का पालन करना मैंने भी प्रारम्भ कर दिया है। शरीर का नाश तो अवश्यम्भावी है, फिर उसे आलस्य में क्यों नष्ट किया जाय? 'जंग लगकर मरने से घिस घिस कर मरना कहीं अधिक अच्छा है'। मर जाने पर भी मेरी हड्डी हड्डी से जादू की करामात दिखायी देगी, फिर अगर मैं मर भी जाऊँ तो चिन्ता किस बात की है? दस वर्ष के अन्दर सम्पूर्ण भारत में छा जाना होगा—'इससे कम में नशा ही न होगा।' पहलवान की तरह क़मर कस कर जुट जाओ—'वाह गु की फ़तह!' रुपये-पैसे सब कुछ अपने आप आते रहेंगे, मनुष्य चाहिए, रुपयों की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य सब कुछ कर सकता है, रुपयों में क्षमता कितनी है?—मनुष्य चाहिए—जितने मिलें उतना ही अच्छा है। . . 'म' ने तो बहुत रुपया एकत्र किया था, किन्तु मनुष्य के बिना उसे सफलता कितनी मिली? किमधिकमिति।

सस्नेह,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

बेलूड़ मठ,
११ अगस्त, १८९७

प्रिय 'जो',

. . . सुनो, माँ के काम में कोई बाधा नहीं आयेगी। क्योंकि उसका निर्माण

सत्य, निश्छलता और पवित्रता से किया गया है और वह सब आज तक अक्षुण्ण रहा है। पूर्ण निश्छलता ही इसका मूल मंत्र रहा है।

प्यार के साथ
तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

अम्बाला,
१९ अगस्त, १८९७

प्रिय शशि,

अर्थाभाव के कारण मद्रास का कार्य उत्तम रूप से नहीं चल रहा है, यह जानकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। आलासिंगा के बहनोई के द्वारा उधार लिये गये रुपये अलमोड़ा पहुँच चुके हैं, यह जानकर खुशी हुई। गुडविन ने व्याख्यान सम्बन्धी जो धन अवशिष्ट है, उसमें से कुछ रुपये लेने के लिए स्वागत समिति को पत्र देने को लिखा है।...उस व्याख्यान के धन को स्वागत में व्यय करना अत्यन्त हीन कार्य है—इस बारे में मैं किसीसे कुछ भी कहना नहीं चाहता। रुपयों के सम्बन्ध में हमारे देशवासियों का आचरण किस प्रकार का है, यह मैंने अच्छी तरह से जान लिया है। तुम स्वयं मेरी ओर से अपने मित्रों को यह बात नम्रतापूर्वक समझा देना कि यदि वे खर्च वहन करने का कोई साधन ढूंढ़ निकालें तो ठीक है, अन्यथा तुम लोग कलकत्ते के मठ में चले जाना अथवा मठ को वहाँ से उठाकर रामनाड़ ले जाना।

मैं इस समय धर्मशाला के पहाड़ पर जा रहा हूँ। निरंजन, दीनू, कृष्णलाल, लाटू एवं अच्युत अमृतसर में रहेंगे। सदानन्द को अभी तक मठ में क्यों नहीं भेजा गया? यदि वह अभी तक वहीं हो तो अमृतसर से निरंजन के पत्र मिलते ही उसे पंजाब भेज देना। मैं पंजाब के पहाड़ों पर और भी कुछ विश्राम लेने के बाद पंजाब में कार्य प्रारम्भ करूँगा। पंजाब तथा राजपूताना वास्तविक कार्यक्षेत्र हैं। कार्य प्रारम्भ कर तुम लोगों को सूचित करूँगा।

बीच में मेरा स्वास्थ्य अत्यन्त खराब हो गया था। अब धीरे धीरे सुधर रहा है। पहाड़ पर कुछ दिन रहने से ही ठीक हो जायगा। आलासिंगा, जी० जी०, आर० ए० गुडविन, गुप्त (स्वामी सदानन्द), शुकुल आदि सभी को मेरा प्यार कहना तथा तुम स्वयं जानना। इति।

सस्नेह,
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

वेलूड़ मठ[1],
१९ अगस्त, १८९७

प्रिय श्रीमती बुल,

मेरा शरीर विशेष अच्छा नहीं है; यद्यपि मुझे कुछ विश्राम मिला है, फिर भी आगामी जाड़े से पूर्व पहले जैसी शक्ति प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है। 'जो'—के एक पत्र से पता चला कि आप दोनों भारत आ रही हैं। आप लोगों को भारत में देखकर मुझे जो खुशी होगी, उसका उल्लेख अनावश्यक है; किन्तु पहले से ही यह जान लेना आवश्यक है कि यह देश समग्र पृथिवी में सबसे अधिक गन्दा तथा अस्वास्थ्यकर है। बड़े शहरों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र ही यूरोपीय जीवन-यात्रा के अनुकूल सुख-सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं।

इंग्लैण्ड से समाचार मिला है कि श्री स्टर्डी अभेदानन्द को न्यूयार्क भेज रहे हैं। मेरे विना इंग्लैण्ड में कार्य चलना असम्भव सा प्रतीत हो रहा है। इस समय एक पत्रिका प्रकाशित कर श्री स्टर्डी उसका संचालन करेंगे। इसी ऋतु में इंग्लैण्ड रवाना होने की मैंने व्यवस्था की थी; किन्तु चिकित्सकों की मूर्खता के कारण वह सम्भव न हो सका। भारत में कार्य चल रहा है।

यूरोप अथवा अमेरिका के कोई व्यक्ति इस देश के किसी कार्य में इस समय आत्मनियोग कर सकेंगे—मुझे ऐसी आशा नहीं है। साथ ही यहाँ की जलवायु को सहन करना किसी भी पाश्चात्य देशवासी के लिए नितान्त कष्टप्रद है। एनी बेसेन्ट की शक्ति असाधारण होने पर भी वे केवल थियोसॉफ़िस्टों में ही कार्य करती हैं; फलस्वरूप म्लेच्छों को जिस प्रकार इस देश में सामाजिक परिवर्जनादि विविध असम्मानों का सामना करना पड़ता है, उन्हें भी उसी प्रकार करना पड़ रहा है। यहाँ तक कि गुडविन भी बीच बीच में अत्यन्त उग्र हो उठता है तथा मुझको उसे शान्त करना पड़ता है। गुडविन बहुत अच्छी तरह से कार्य कर रहा है, पुरुष होने के कारण लोगों से मिलने में उसे किसी प्रकार की बाधा नहीं है। किन्तु इस देश के पुरुष-समाज में नारियों का कोई स्थान नहीं है, वे केवल मात्र अपने लोगों में ही कार्य कर सकती हैं। जो अंग्रेज़ मित्र इस देश में आये हैं, अभी तक किसी कार्य में उनका उपयोग नहीं हो सका है, भविष्य में हो सकेगा अथवा नहीं, यह भी पता नहीं।

---

१. यह पत्र वस्तुतः अम्बाला से ही लिखा गया है, स्थायी पते के कारण 'बेलूड़' का उल्लेख किया गया है।

इन सब विषयों को जानकर भी यदि कोई प्रयास करने के लिए प्रस्तुत हों तो उन्हें मैं सादर आह्वान करता हूँ।

यदि सारदानन्द आना चाहे तो आ जाय; मेरा स्वास्थ्य इस समय खराब हो चुका है; अतः उसके आने से समूचे कार्यो की व्यवस्था में विशेष सहायता मिलेगी, इसमें कोई सन्देह नही है।

स्वदेश लौटकर इस देश के लिए कार्य करने के उद्देश्य से कुमारी मार्गरेट नोबल नाम की एक अंग्रेज़ युवती भारत आकर यहाँ की परिस्थिति के साथ प्रत्यक्ष रूप में परिचित होने के लिए विशेष उत्सुक हैं। आप लोग यदि लन्दन होकर आयें तो आपके साथ आने के लिए मैं उन्हें पत्र दे रहा हूँ। सबसे बड़ी असुविधा यह है कि दूर रहकर यहाँ की परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान होना असम्भव है। दोनों देशों की रीति-रिवाज़ में इतनी भिन्नता है कि अमेरिका अथवा लन्दन से उसकी धारणा नहीं की जा सकती।

आप लोग अपने मन में यह सोचें कि आपको अफ्रीका के आभ्यन्तरिक देश में यात्रा करनी है; यदि दैवयोग से कहीं उत्कृष्टतर कुछ दिखायी पड़े तो उसे अच्छा ही समझना चाहिए।

भवदीय,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अमृतसर,
२ सितम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

योगेन ने एक पत्र में बागबाज़ार वाले घर को २०,००० रु० में ख़रीद लेने के लिए मुझे लिखा है। यदि हम उस मकान को खरीद भी लेते हैं तो भी बहुत सी दिक़्क़तें होंगी। जैसे उसके कुछ भाग को हमें गिराना पड़ेगा और इसके बैठनेवाले कमरे का एक बड़ा कमरा बनाना होगा, तथा इसी तरह के और भी परिवर्तन, और मरम्मत करनी होगी। साथ ही, मकान बहुत पुराना एवं जीर्ण है। फिर भी गिरीश बाबू एवं अतुल से राय-मशविरा करके जैसा ठीक समझना, करना। आज मैं अपनी पूरी पार्टी के साथ दो बजेवाली ट्रेन से काश्मीर के लिए रवाना हो रहा हूँ। हाल में धर्मशाला पहाड़ियों पर के प्रवास से मेरे स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ है, एवं टांसिल, बुखार आदि बिल्कुल ग़ायब हो गये हैं।

तुम्हारे एक पत्र से मैं सब समाचारों से अवगत हुआ। निरंजन, लाटू, कृष्ण-लाल, दीननाथ, गुप्त एवं अच्युत, सभी लोग मेरे साथ काश्मीर जा रहे हैं।

मद्रास के जिन सज्जन ने अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए १५०० ० का दान दिया था, वे हिसाब जानना चाहते हैं कि रुपया किस तरह खर्च किया गया। उनको उसका हिसाब भेज देना। हम लोग अच्छे ही हैं।

सस्नेह त्वदीय,
विवेकानन्द

पुनश्च—मठ के सभी लोगों से मेरा स्नेह सूचित करना।

वि०

(श्री हरिपद मित्र को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर,
१८९७

प्रिय हरिपद,

पिछले नौ महीने से मेरा स्वास्थ्य बहुत ही खराब चल रहा है, एवं गर्मी ने तो उसे और भी खराब कर दिया है। अतः मैं पहाड़ पर एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण कर रहा हूँ। अभी मैं काश्मीर में हूँ। मैं चारों ओर बहुत घूमा हूँ, परन्तु ऐसा देश मैंने कभी नहीं देखा। मैं शीघ्र ही पंजाब के लिए प्रस्थान करूँगा और पुनः कार्य में लग जाऊँगा। सारदानन्द से तुम्हारा सारा समाचार मुझे मिला और बराबर मिलता रहता है। पंजाब के बाद मैं निश्चय ही कराची जाऊँगा। अतः वहाँ पर हम लोगों की भेंट होगी।

साशीष,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

प्रधान न्यायाध्यक्ष
श्री ऋषिवर मुखोपाध्याय का मकान,
श्रीनगर, काश्मीर
१३ सितम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

अब मैं काश्मीर आ पहुँचा हूँ। इस देश के बारे में जो प्रशंसा सुनी जाती है, वह सत्य है। ऐसा सुन्दर देश और नहीं है, यहाँ के सभी लोग देखने में सुन्दर हैं,

किन्तु उनकी आँखे अच्छी नहीं होती हैं। परन्तु इस प्रकार नरक सदृश गन्दे गाँव तथा शहर अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। श्रीनगर में ऋषिवर वाबू के मकान में आश्रय लिया है। वे अत्यन्त आवभगत भी कर रहे हैं। मेरे नाम के पत्रादि उन्हींके पते पर भेजना। दो-एक दिन के अन्दर ही भ्रमणार्थ मैं अन्यत्र जाऊँगा; किन्तु लौटते समय पुनः श्रीनगर वापस आऊँगा, अतः पत्रादि मुझे मिल जायँगे। गंगाधर के बारे में तुम्हारा भेजा हुआ पत्र मिला। उसको लिख देना कि मध्यप्रदेश में अनेक अनाथ हैं एवं गोरखपुर में भी। वहाँ से पंजावी लोग अधिक संख्या में वालक मँगवा रहे हैं। महेन्द्र वाबू से कह-सुनकर इसके लिए एक आन्दोलन करना उचित है—जिससे कलकत्ते के लोग उन अनाथों के पालन-पोषणादि का उत्तरदायित्व ग्रहण करें; तदर्थ एक आन्दोलन होना चाहिए। खासकर मिशनरियों ने जितने अनाथ लिये हैं, उन्हें वापस दिलवाने के लिए सरकार को एक स्मृति-पत्र भेजना आवश्यक है। गंगाधर को आने के लिए लिख दो तथा श्री रामकृष्ण-सभा की ओर से इसके लिए एक विराट् आन्दोलन करना उचित है। क़मर कसकर घर घर जाकर इसके लिए आन्दोलन करो। सार्वजनिक सभा की व्यवस्था करो। चाहे सफलता मिले अथवा नहीं, एक विराट् आन्दोलन प्रारम्भ कर दो। मध्यप्रदेश तथा गोरखपुर आदि स्थानों में जो मुख्य मुख्य बंगाली हैं, उन्हें पत्र लिखकर तमाम विवरण अवगत करा दो एवं घोर आन्दोलन शुरू करो। श्री रामकृष्ण-सभा एकदम प्रकाश में आ जाय। आन्दोलन पर आन्दोलन होना चाहिए—विराम न हो, यही रहस्य है। सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) की कार्यप्रणाली को देखकर मैं अत्यन्त आनन्दित हूँ। गंगाधर तथा सारदा जहाँ जिस ज़िले में भी जायँ, वहाँ केन्द्र स्थापित किये विना विश्राम न लें।

अभी अभी गंगाधर का पत्र मिला। वह उस ज़िले में केन्द्र स्थापित करने के लिए कटिबद्ध है—वहुत ही अच्छी वात है। उसे लिखना कि उसके मजिस्ट्रेट मित्र ने मेरे पत्र का अत्यन्त सुन्दर जवाव दिया है, काश्मीर से नीचे आते ही लाटू, निरंजन, दीनू तथा खोका को मैं भेज दूंगा; क्योंकि उन लोगों के द्वारा यहाँ पर कोई कार्य सम्पादन सम्भव नहीं है, एवं बीस-पच्चीस दिन के अन्दर शुद्धानन्द, सुशील तथा और किसी एक व्यक्ति को भेज देना। उन लोगों को अम्वाला छावनी मेडिकल हॉल, श्यामाचरण मुखोपाध्याय के मकान में भेजना। वहाँ से मैं लाहौर जाऊँगा। प्रत्येक के लिए दो दो गेरुए रंग के मोटे वनियान, विछाने तथा ओढ़ने के लिए दो दो कम्बल और हर समय के लिए गरम चद्दर आदि लाहौर से मैं खरीद दूंगा। अगर 'राजयोग' का अनुवाद-कार्य पूरा हो चुका हो तो प्रकाशन का सभी खर्च वर्दाश्त कर उसको प्रकाशित करवा दो।...इसमें जो भाषा की दुरूहता हो उसको अत्यधिक

स्पष्ट एवं सुबोध बना देना। और तुलसी से उसको हिन्दी में रूपान्तरित करवा दो अगर वह कर सकता है। यदि ये किताबें प्रकाशित हो जाती हैं तो वे मठ के लिए सहायक सिद्ध होंगी।

तुम्हारा शरीर सम्भवतः अब ठीक होगा। धर्मशाला पहुँचने के बाद अभी तक मेरा शरीर ठीक है। मुझे सर्दी अनुकूल प्रतीत होती है एवं शरीर भी ठीक रहता है। काश्मीर में दो-एक स्थान देखने के पश्चात् किसी उत्तम स्थान में चुपचाप बैठने की अभिलाषा है, अथवा नदियों में भ्रमण करता रहूँगा। डॉक्टर जैसी सलाह देंगे, उसे पालन करूँगा। इस समय राजा साहब यहाँ पर मौजूद नहीं हैं। उनके मध्यम भ्राता, जो कि सेनापति हैं, यहाँ पर मौजूद हैं। उनकी देख-रेख में एक वक्तृता का आयोजन हो रहा है। जैसा होगा बाद में सूचित करूँगा। दो-एक दिन के अन्दर यदि वक्तृता की व्यवस्था हो सकती हो तो प्रतीक्षा करूँगा; वरना भ्रमण के लिए चल दूँगा। सेवियर मरी में ही विश्राम कर रहे हैं। ताँगे की यात्रा से उनका शरीर अत्यन्त अस्वस्थ हो गया है। मरी में जो बंगाली लोग रहते हैं, वे अत्यन्त ही अच्छे तथा भद्रपुरुष हैं।

गिरीशचन्द्र घोष, अतुल, मास्टर महाशय इत्यादि सभी से मेरा साष्टांग प्रणाम कहना और सभी लोगों में पर्याप्त रूप से उत्साह तथा उत्तेजना बढ़ाते रहना। योगेन ने जो मकान खरीदने के बाबत कहा था, उसका क्या हुआ? अक्तूबर माह में यहाँ से उतरकर पंजाब में दो-चार व्याख्यान देने का मेरा विचार है। उसके बाद सिन्ध होते हुए कच्छ, भुज तथा काठियावाड़—सुयोग-सुविधा होने पर पूना तक जा सकता हूँ। अन्यथा बड़ौदा होकर राजपूताना एवं राजपूताना से उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश एवं नेपाल, अनन्तर कलकत्ता—इस समय यही कार्यक्रम है, आगे प्रभु की इच्छा। सबसे मेरा प्रणाम, आशीर्वाद आदि कहना।

सस्नेह,

विवेकानन्द

(स्वामी शुद्धानन्द को लिखित)

काश्मीर के प्रधान न्यायाधीश

श्री ऋषिवर मुखोपाध्याय का मकान,

श्रीनगर

१५ सितम्बर, १८९७

प्रिय शुद्धानन्द,

आखिर में हम काश्मीर आ पहुँचे हैं। यहाँ की सारी सुन्दरता की बातें तुम्हें

लिखने से लाभ ही क्या होगा? मैं समझता हूँ कि यही एकमात्र देश है, जो कि योगियों के लिए अनुकूल है। किन्तु इस देश के जो वर्तमान अधिवासी हैं, उनका शारीरिक सौन्दर्य तो अपूर्व है, किन्तु वे हैं नितान्त गन्दे! इस देश के द्रष्टव्य स्थलों को देखने तथा शक्ति प्राप्त करने के लिए एक माह तक नदियों की सैर करने का मेरा विचार है। किन्तु इस समय शहर में भयानक 'मलेरिया' का प्रकोप है, सदानन्द तथा कृष्णलाल को बुखार आ गया है। सदानन्द आज कुछ अच्छा है, किन्तु कृष्णलाल को अभी बुखार है। आज डॉक्टर ने उसे जुलाब लेने के लिए कहा है। आशा है कि वह कल तक स्वस्थ हो जायगा एवं हम यात्रा भी कल प्रारम्भ करेंगे। काश्मीर सरकार ने अपनी एक बड़ी नाव मुझे इस्तेमाल करने को दी है, वह अत्यन्त सुन्दर तथा सुखप्रद है। उन्होंने ज़िले के तहसीलदारों के प्रति भी आदेश जारी किया है। हमें देखने के लिए दल बाँधकर यहाँ के लोग आ रहे हैं तथा हमारी सुख-सुविधा के लिए जो कुछ आवश्यक है, उसकी सारी व्यवस्था की गयी है।

अमेरिका के किसी समाचार-पत्र में प्रकाशित डॉक्टर बरोज़ का एक लेख 'इन्डियन मिरर' में उद्धृत किया गया है। किसी एक व्यक्ति ने अपना नामोल्लेख न कर 'इन्डियन मिरर' का उक्त अंश मुझे भेज दिया है एवं उसका क्या उत्तर होगा—यह जानना चाहा है। मैं उक्त अंश को ब्रह्मानन्द के पास भेज रहा हूँ तथा जो अंश एकदम मिथ्या हैं, उनका ज़वाब भी लिखे दे रहा हूँ।

तुम वहाँ सकुशल हो तथा अपने दैनिक कार्य का संचालन कर रहे हो, यह जानकर मुझे खुशी हुई। मुझे शिवानन्द का भी एक पत्र मिला है; उसमें वहाँ के कार्यों का विस्तृत विवरण है।

एक माह के बाद मैं पंजाब जा रहा हूँ; आशा है कि तुम तीनों मुझसे अम्बाला में मिलोगे। यदि कोई केन्द्र स्थापित हो सके तो तुम लोगों में से किसीको उसका कार्यभार सौंप दूँगा। निरंजन, कृष्णलाल तथा लाटू को वापस भेज दूँगा।

एक बार शीघ्रतया पंजाब तथा सिन्ध होते हुए काठियावाड़ एवं बड़ौदा होकर राजपूताना लौटने की मेरी इच्छा है। वहाँ से नेपाल जाने का विचार है, उसके बाद कलकत्ता।

मुझे श्रीनगर में ऋषिबाबू के मकान के पते पर पत्र देना। लौटते समय मुझे पत्र मिल जायेंगे। सबको मेरा प्यार तथा आशीर्वाद कहना।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती इन्दुमती मित्र को लिखित)

काश्मीर,
१८९७

कल्याणीया,

इतने दिन तुम्हें पत्र न देने एवं वेलगाँव न जाने के कारण तुम नाराज न होना। मैं वहुत वीमार था और उस समय जाना मेरे लिए असम्भव था। अव हिमालय-भ्रमण के फलस्वरूप पहले जैसा स्वास्थ्य अधिक अंश में मै प्राप्त कर सका हूँ। शीघ्र ही पुनः कार्य प्रारम्भ करने का विचार है। दो सप्ताह के अन्दर पंजाव जाना है तथा लाहौर एवं अमृतसर में दो-एक व्याख्यान देकर तुरन्त ही कराची होते हुए गुजरात तथा कच्छ आदि के लिए रवाना होना है। कराची में निश्चित ही तुम लोगों से भेंट करूँगा।

काश्मीर वास्तव में ही भूस्वर्ग है—ऐसा देश पृथ्वी में दूसरा नहीं है। यहाँ पर जैसे सुन्दर पहाड़, वैसी ही नदियाँ, वैसी ही वृक्ष-लताएँ, वैसे ही स्त्री-पुरुष एवं पशु-पक्षी आदि सभी सुन्दर हैं। अव तक न देखने के कारण चित्त दुःखी होता है। अपनी शारीरिक तथा मानसिक अवस्था मुझे सविस्तर लिखना तथा मेरा विशेष आशीर्वाद जानना। सदा ही तुम लोगों की मंगलकामना कर रहा हूँ, यह निश्चित जानना।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

श्रीनगर, काश्मीर,
३० सितम्वर, १८९७

प्रिय शशि,

अव काश्मीर देखकर लौट रहा हूँ। दो-एक दिन के अन्दर पंजाव रवाना हो रहा हूँ। आजकल शरीर वहुत कुछ स्वस्थ होने के कारण पहले जैसा पुनः भ्रमण करने का मेरा विचार है। व्याख्यान आदि विशेष नहीं देना है—यदि पंजाव में दो-एक भाषणों की व्यवस्था हुई तो होगी, वरना नहीं। अपने देश के लोगों ने तो अभी एक भी पैसा मेरे मार्गव्यय के लिए भी नहीं दिया—ऐसी हालत में तुम्हारे साथ मण्डली लेकर भ्रमण करना कितना कष्टसाध्य है, यह तुम खुद ही समझ सकते हो। केवल उन अंग्रेज शिष्यों के सम्मुख हाथ पसारना भी नितान्त लज्जा की वात

है। अतः पहले जैसा 'कम्वल' मात्र के साथ ही रवाना हो रहा हूँ। यहाँ पर गुडविन आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं है, यह तुम स्वयं ही समझ सकते हो।

पी० सी० जिनवर वमर नामक एक साधु ने लंका से मुझे एक पत्र लिखा है; वे भारत आना चाहते हैं। सम्भवतः ये ही वे श्यामदेश के राजकुमार साधु हैं। वल्लवाट्टा, लंका उनका पता है। यदि सुविधा हो तो उन्हें मद्रास में आमंत्रित करो। उनका वेदान्त में विश्वास है। मद्रास से उन्हें अन्यत्र भेजने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। और उन जैसे व्यक्ति का सम्प्रदाय में रहना भी अच्छा है। सभी से मेरा प्यार तथा आशीर्वाद कहना एवं स्वयं भी जानना।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—खेतड़ी के राजा साहव १० अक्तूवर को वम्वई पहुँचेंगे; उन्हें अभिनन्दन-पत्र देने में भूल न होनी चाहिए।

वि०

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर,
३० सितम्वर, १८९७

अभिन्नहृदय,

तुम्हारा प्रेमपूर्ण पत्र मिला एवं मठ से भी पत्र प्राप्त हुआ। दो-तीन दिन के अन्दर ही मैं पंजाव रवाना हो रहा हूँ। विलायत से वुलावा आया है। कुमारी नोवल ने अपने पत्र में जो जो प्रश्न किये हैं, उनके वारे में मेरे उत्तर निम्नलिखित हैं:—

१. प्रायः सभी शाखा-केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं, किन्तु अभी आन्दोलन का प्रारम्भ मात्र है।

२. संन्यासियों में अधिकांश शिक्षित हैं, जो लोग ऐसे नहीं हैं उनको व्यावहारिक शिक्षा दी जा रही है। किन्तु सर्वोपरि निष्कपट स्वार्थशून्यता ही सत्कार्य के लिए नितान्त आवश्यक है। तदर्थ अन्यान्य शिक्षाओं की अपेक्षा आध्यात्मिक शिक्षा की ओर ही विशेप ध्यान दिया जाता है।

३. व्यावहारिक शिक्षक-वर्ग—जो कि हमारे कार्यकर्ता हैं—उनमें अधिकांश शिक्षित हैं। इस समय केवल उन लोगों को हमारी कार्यप्रणाली की शिक्षा देना तथा उनके चरित्र का निर्माण करना आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य है—उनको आज्ञावाहक तथा निर्भीक वनाना; और उसकी प्रणाली है—सर्वप्रथम ग़रीवों की

शरीर-यात्रा की व्यवस्था करना तथा क्रमशः मानसिक उच्चतर स्तरों की ओर अग्रसर होना।

शिल्प एवं कला—अर्थाभाव के कारण हमारी कार्यसूची के अन्तर्गत केवल इस अंग को अभी हम प्रारम्भ नहीं कर पा रहे है। इस समय जो कार्य करने का सीधा-सादा ढंग अपनाया जा सकता है, वह यह है कि भारतवासियों में स्वदेशी वस्तु काम में लाने की भावना जाग्रत करनी होगी तथा भारत की बनी हुई वस्तुओं को भारत के बाहर बेचने के लिए बाज़ार की व्यवस्था की ओर ध्यान देना पड़ेगा। जो स्वयं दलाल नहीं हैं, साथ ही इस शाखा के द्वारा जो लाभ होगा उसे जो कारीगरों के उपकारार्थ व्यय करने के लिए प्रस्तुत हों—एकमात्र ऐसे लोगों के द्वारा ही यह कार्य होना चाहिए।

४. विभिन्न स्थानों में पर्यटन करना तब तक ही आवश्यक समझा जायगा, जब तक 'जनता शिक्षा की ओर आकृष्ट न हो, परिव्राजक संन्यासियों के लिए धार्मिक भावना तथा धार्मिक जीवन अन्य सब कार्यों की अपेक्षा अत्यधिक फलदायक होगा।

५. बिना किसी प्रकार के जातिगत भेद के अपने प्रभाव का विस्तार करना होगा। अब तक केवल उच्चतम वर्ग में ही कार्य होता रहा है; किन्तु दुर्भिक्ष-सहायता केन्द्रों में हमारे कार्य-विभाग के द्वारा कार्य प्रारम्भ किये जाने के बाद से निम्नतर जातियों को हम प्रभावान्वित करने में सफल हो रहे हैं।

६. प्रायः सभी हिन्दू हमारे कार्य का समर्थन करते हैं, किन्तु इस प्रकार के कार्य में प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करने के लिए वे अभ्यस्त नहीं हैं।

७. हाँ, एक बात यह भी है कि हम पहले से ही दान तथा अन्यान्य सत्कार्यों में भारतीय विभिन्न धर्मावलम्बियों के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते हैं।

इन सूत्रों के आधार पर कुमारी नोबल को पत्र लिखना पर्याप्त होगा। योगेन की चिकित्सा में किसी प्रकार की त्रुटि न होनी चाहिए—आवश्यकता पड़ने पर मूल धनराशि से भी खर्च करना। भवनाथ की पत्नी को क्या तुम देखने गये थे ?

ब्रह्मचारी हरिप्रसन्न यदि आ सके तो बहुत ही उत्तम है। श्री सेवियर कोई घर प्राप्त करने के लिए अत्यन्त अधीर हो उठे हैं—शीघ्र ही इसकी कोई व्यवस्था हो जाय तो अच्छा है। हरिप्रसन्न इंजीनियर है—इस बारे में शीघ्रता से वह कुछ कर सकता है तथा समुचित स्थान आदि का ज्ञान उसे अच्छा है। देहरादून-मसूरी के समीप वे लोग (सेवियर दम्पति) जगह लेना चाहते हैं; अर्थात् जहाँ सर्दी अधिक न हो तथा बारहों महीने रहा जा सके। अतः इस पत्र को पाते ही हरिप्रसन्न को श्री श्यामापद मुखोपाध्याय के मकान, मेडिकल हॉल, अम्बाला कैंट—इस पते पर

रवाना कर देना। मैं पंजाब में आते ही सेवियर को उसके साथ भेज दूंगा। मैं शीघ्र ही पंजाब होता हुआ काठियावाड़-गुजरात न जाकर कराची एवं वहाँ से राजपूताना के अन्दर होकर नेपाल का चक्कर लगाता हुआ जल्द ही वापस (मठ) आ रहा हूँ। दुर्भिक्ष में कार्य करने के लिए क्या तुलसी मध्यभारत गया है? यहाँ पर हम लोग सकुशल हैं—'पेशाब में शक्कर' इत्यादि की कोई शिकायत नहीं है। डॉक्टर मित्र ने परीक्षा की थी। कभी पेट गरम होने पर पेशाब में गाढ़ापन (specific gravity) की कुछ वृद्धि होती है—बस इतना ही। साधारण स्वास्थ्य बहुत अच्छा है तथा डाइबेटिस तो बहुत दिन पहले ही भाग चुका है—अब आगे डरना नहीं है। चावल, चीनी आदि के व्यवहार से भी जब कोई हानि नहीं हुई तो डरने की कोई बात नहीं है।

सब से मेरा आशीर्वाद तथा प्यार कहना। मुझे समाचार प्राप्त हुआ है कि काली न्यूयार्क पहुँच चुका है; किन्तु उसने कोई पत्र नहीं दिया है। स्टर्डी ने लिखा है कि उसका कार्य इतना बढ़ गया था कि लोग आश्चर्य करने लगे थे—साथ ही दो-चार व्यक्तियों ने उसकी विशेष प्रशंसा कर पत्र भी लिखा है। अस्तु, अमेरिका में इतनी अधिक गड़बड़ी नहीं है—काम किसी तरह चलता रहेगा। शुद्धानन्द तथा उसके भाई को भी हरिप्रसन्न के साथ भेज देना। वर्तमान दल में से केवल गुप्त तथा अच्युत मेरे साथ रहेंगे।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर,
३० सितम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

गोपाल दादा के पत्र से मालूम हुआ कि कोन्नगर वाली उस ज़मीन को तुमने देख लिया है। ऐसा लगता है कि जमीन क़िराया-मुक्त है और १६ बीघे (करीब ५ एकड़) है, और क़ीमत आठ या दस हजार रुपये से कम। वहाँ के जलवायु आदि का विचार करते हुए जैसा उचित समझना वैसा करना। दो-एक दिन में मैं पंजाब के लिए प्रस्थान करूँगा। अतः इस पते से मुझे कोई पत्र अब न लिखना। मैं अपना अगला पता तुम्हें तार से सूचित करूँगा। हरिप्रसन्न को भेजना न भूलना। गोपाल दादा से कहना, "आपका स्वास्थ्य शीघ्र ही ठीक हो जायगा—जाड़ा आ रहा है, भय किस बात का? खूब खाइए और खुश रहिए।" योगेन के स्वास्थ्य की स्थिति

की सूचना देने के लिए स्प्रिंगडेल, मरी के पते से श्रीमती सी० सेवियर को एक पत्र लिख देना। लिफ़ाफ़े पर 'आने की प्रतीक्षा करें' लिख देना। सबको मेरा आशीष एवं प्यार देना।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—खेतड़ी के महाराज १० अक्तूबर को बम्बई पहुँच रहे हैं। उनको एक 'अभिनन्दन' समर्पित करना मत भूलना।

वि०

(कुमारी जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर,
३० सितम्बर, १८९७

प्रिय मैक्लिऑड,

यदि सचमुच आना चाहती हो तो शीघ्र ही चली आओ। नवम्बर से फ़रवरी के मध्य तक भारत में ठंडक रहती है; उसके पश्चात् वह गर्म हो जाता है। तुम जो कुछ देखना चाहती हो वह इस अवधि के भीतर देख सकती हो, परन्तु सब कुछ देखने में तो वर्षों का समय लग जायगा।

मैं जल्दी में हूँ। इसलिए जल्दी में लिखे इस कार्ड के लिए क्षमा करना। कृपया श्रीमती बुल को मेरा स्नेह कहना एवं गुडविन के शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ के लिए मेरी शुभ कामनाएँ तथा हार्दिक प्रार्थनाएँ। माँ, अल्बर्टा, बच्चे, होलिस्टर और अन्त में, लेकिन किसीसे कम नहीं, फ़्रैंकी को मेरा स्नेह देना।

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर,
१ अक्तूबर, १८९७

प्रिय मार्गो,

कुछ लोग किसीके नेतृत्व में सर्वोत्तम काम करते हैं। हर मनुष्य का जन्म पथ-प्रदर्शन के लिए नहीं होता है। परन्तु सर्वोत्तम नेता वह है जो 'शिशुवत् मार्ग-

की सूचना देने के लिए स्प्रिंगडेल, मरी के पते से श्रीमती सी० सेवियर को एक पत्र लिख देना। लिफ़ाफ़े पर 'आने की प्रतीक्षा करें' लिख देना। सबको मेरा आशीष एवं प्यार देना।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—खेतड़ी के महाराज १० अक्तूबर को बम्बई पहुँच रहे हैं। उनको एक 'अभिनन्दन' समर्पित करना मत भूलना।

वि०

(कुमारी जोसेफ़िन मैक्लिऑड को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर,
३० सितम्बर, १८९७

प्रिय मैक्लिऑड,

यदि सचमुच आना चाहती हो तो शीघ्र ही चली आओ। नवम्बर से फ़रवरी के मध्य तक भारत में ठंडक रहती है; उसके पश्चात् वह गर्म हो जाता है। तुम जो कुछ देखना चाहती हो वह इस अवधि के भीतर देख सकती हो, परन्तु सब कुछ देखने में तो वर्षों का समय लग जायगा।

मैं जल्दी में हूँ। इसलिए जल्दी में लिखे इस कार्ड के लिए क्षमा करना। कृपया श्रीमती बुल को मेरा स्नेह कहना एवं गुडविन के शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ के लिए मेरी शुभ कामनाएँ तथा हार्दिक प्रार्थनाएँ। माँ, अल्बर्टा, बच्चे, हॉलिस्टर और अन्त में, लेकिन किसीसे कम नहीं, फ़्रैंकी को मेरा स्नेह देना।

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर,
१ अक्तूबर, १८९७

प्रिय मार्गो,

कुछ लोग किसीके नेतृत्व में सर्वोत्तम काम करते हैं। हर मनुष्य का जन्म पथ-प्रदर्शन के लिए नहीं होता है। परन्तु सर्वोत्तम नेता वह है जो 'शिशुवत् मार्ग-

प्रदर्शन करता है'। शिशु सब पर आश्रित रहते हुए भी घर का राजा होता है। कम से कम मेरे विचार से यही रहस्य है. . . बहुतों को अनुभव होता है, पर प्रकट कोई कोई ही कर सकते हैं। दूसरों के प्रति अपना प्रेम, गुण-ग्राहकता और सहानुभूति प्रकट करनेकी शक्ति जिसमें होती है, उसे विचारों के प्रचार करने में औरों से अधिक सफलता प्राप्त होती है. . .

मैं काश्मीर के वर्णन करने का यत्न तुमसे नहीं करूँगा। इतना कहना पर्याप्त होगा कि इस भूलोक के स्वर्ग के अतिरिक्त किसी अन्य देश को छोड़ने का दुःख मुझे नहीं हुआ; एक केन्द्र स्थापित करने के लिए मैं राजा को प्रभावित करने का यथा-शक्ति प्रयत्न कर रहा हूँ। यहाँ काम करने को बहुत है और कार्यक्षेत्र भी आशाप्रद है।. . .

महान् कठिनाई यह है : मैं देखता हूँ कि लोग प्रायः अपना सम्पूर्ण प्रेम मुझे देते हैं। परन्तु इसके बदले में मैं किसीको अपना पूरा पूरा प्रेम नहीं दे सकता, क्योंकि उसी दिन कार्य का सर्वनाश हो जायगा। परन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो ऐसा बदला चाहते हैं, क्योंकि उनमें व्यक्तिनिरपेक्ष सर्वव्यापक दृष्टि का अभाव होता है। कार्य के लिए यह परम आवश्यक है कि अधिक से अधिक लोगों का मुझसे उत्साहपूर्ण प्रेम हो, परन्तु मैं स्वयं बिल्कुल निःसंग व्यक्तिनिरपेक्ष रहूँ। नहीं तो ईर्ष्या और झगड़ों में कार्य का सर्वनाश हो जायगा। नेता को व्यक्तिनिरपेक्ष निःसंग होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि इसे तुम समझती हो। मेरा यह आशय नहीं कि मनुष्य को पशु-समान होकर, अपने मतलब के लिए दूसरों की भक्ति का उपयोग करके उनके पीठ-पीछे उनका मजाक करना चाहिए। तात्पर्य यह कि मेरा प्रेम नितान्त व्यक्तिसापेक्ष (personal) है, परन्तु जैसा कि बुद्धदेव ने कहा है, 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' यदि आवश्यक हो तो अपने हृदय को अपने हाथ से निकालकर फेंक देने की मुझमें शक्ति है। प्रेम में मतवालापन और फिर भी बंधन का अभाव; प्रेम-शक्ति से जड़ का भी चैतन्य में रूपान्तर—यही तो हमारे वेदान्त का सार है। वह एक ही है जिसे अज्ञानी जड़ के रूप में देखते हैं और ज्ञानी ईश्वर के रूप में। और जड़ में अधिकाधिक चैतन्य-दर्शन—यही है सभ्यता का इतिहास। अज्ञानी निराकार को साकार रूप में देखते हैं तथा ज्ञानी साकार में भी निराकार का दर्शन करते हैं। सुख और दुःख में, सन्तोष और सन्ताप में हम यही एक सबक सीख रहे हैं।. . . कर्म के लिए अधिक भावप्रवणता अनिष्टकर है। 'वज्र के समान दृढ़ तथा कुसुम के समान कोमल'—यही है सार नीति।

चिरस्नेहशील सत्याबद्ध,
विवेकानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

मरी,
१० अक्तूबर, १८९७

प्रिय अखण्डानन्द,

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे हर्ष हुआ। इस समय तुम्हें बड़े बड़े कामों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु जो वर्तमान परिस्थिति में सम्भव है उतना ही करो। धीरे धीरे तुम्हारे लिए मार्ग खुल जायगा। अनाथालय अवश्य होना चाहिए, इसमें कोई सोच-विचार की बात नहीं है। बालिकाओं को भी हम आपत्ति में नहीं छोड़ सकते। परन्तु बालिका-अनाथालय के लिए हमें एक स्त्री पदाधिकारी की आवश्यकता होगी। मैं समझता हूँ कि माँ---उसके लिए सुयोग्य होगी। या गाँव की किसी सन्तानहीन विधवा को इस काम में लगाओ। और लड़के-लड़कियों के रहने का स्थान पृथक् होना चाहिए। कैप्टन सेवियर इस काम की सहायता के लिए धन भेजने को तैयार हैं। नेडोस होटल, लाहौर---यह उनका पता है। यदि तुम उन्हें लिखो तो ये शब्द भी पत्र के ऊपर लिख देना, 'आने की प्रतीक्षा की जाय।' मैं शीघ्र ही रावलपिण्डी जानेवाला हूँ, कल या परसों। तब मैं जम्मू होता हुआ लाहौर और दूसरे स्थानों को देखता हुआ कराची होकर राजपूताना लौटूंगा। मैं अच्छा हूँ।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च---तुम्हें मुसलमान लड़कों को भी ले लेना चाहिए; परन्तु उनके धर्म को कभी दूषित न करना। तुम्हें केवल यही करना होगा कि उनके भोजन आदि का प्रबन्ध अलग कर दो और उन्हें शुद्धाचरण, पुरुषार्थ और परहित में श्रद्धापूर्वक तत्परता की शिक्षा दो। यह निश्चय ही धर्म है।

अपने उलझानेवाले दार्शनिक विचारों को कुछ समय के लिए अलग रख दो।

इस समय हमारे देश में पुरुषार्थ और दया की आवश्यकता है। **स ईशः अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः**---'ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेम का स्वरूप है'। परन्तु **प्रकाश्यते क्वापि पात्रे**---'विशेष पात्रों में उसका प्रकाश होता है'; यह कहने के बदले, '**स प्रत्यक्ष एव सर्वेषां प्रेमरूपः**'---'वह सब जीवों में प्रेमरूप से सतत अभिव्यक्त है,' यह कहना चाहिए। इसे छोड़ और किस ईश्वर की---जिसे कि तुम्हारे मन ने ही निर्माण किया है---तुम पूजा करोगे ? वेद, क़ुरान, पुराण और सब शास्त्रों को कुछ समय के लिए विश्राम करने दो---मूर्तिमान् ईश्वर जो प्रेम और दया स्वरूप है, उसकी उपासना देश में होने दो। भेद के सब भाव बंधन हैं, और अभेद के मुक्ति। विषयों के

मद से मतवाले संसारी जीवों के शब्दों से मत डरो। अभीरभीः—'निर्भय बनो।' 'मनुष्य नहीं, कीड़े!' सब धर्मों के लड़कों को लेना—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या कुछ भी हों, परन्तु धीरे धीरे आरम्भ करना—अर्थात् यह ध्यान रखना कि उनका खान-पान अलग हो, तथा धर्म की सार्वभौमिकता का ही केवल उन्हें उपदेश देना।

इस भाव में पागल हो जाओ, तथा औरों को भी बना दो! इस जीवन का और कुछ उद्देश्य नहीं है। प्रभु के नाम का प्रचार करो, संसार की रग-रग में उनकी शिक्षा को भिद जाने दो। कभी न भूलो। अपने दैनिक कार्य करते हुए, अन्तरात्मा में निरन्तर इस मंत्र का जप करते रहो।

तुम्हारा,
वि०

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

मरी,
१० अक्तूबर, १८९७

अभिन्नहृदय,

परसों सायंकाल काश्मीर से मरी पहुँच चुका हूँ। सभी लोग बहुत आनन्द-पूर्वक थे। केवल कृष्णलाल तथा गुप्त को बीच बीच में ज्वर हो आया था—किन्तु विशेष नहीं। इस अभिनन्दन-पत्र को खेतड़ी के राजा साहब के लिए भेजना होगा—सुनहरे रंग में छपवा कर। राजा साहब २१-२२ अक्तूबर तक बम्बई पहुँच जायँगे। इस समय हम लोगों में से कोई भी बम्बई में नहीं है। यदि कोई हो तो उसे एक 'प्रति' भेज देना—जिससे कि वह जहाज़ में ही राजा साहब को उक्त अभिनन्दन-पत्र प्रदान करे अथवा बम्बई शहर के किसी स्थान में। जो 'प्रति' सबसे उत्तम हो उसे खेतड़ी भेज देना। किसी सभा में उसे पढ़ लेना। यदि किसी अंश को बदलने की इच्छा हो तो कोई हानि नहीं है। इसके बाद सभी लोग हस्ताक्षर कर देना; केवल मेरे नाम की जगह खाली छोड़ देना—मैं खेतड़ी पहुँचकर हस्ताक्षर कर दूँगा। इस बारे में कोई त्रुटि न हो। पत्र के देखते ही योगेन कैसा है, लिखना; लाला राजहंस सोहनी, वक़ील, रावलपिण्डी—इस पते पर। राजा विनयकृष्ण की ओर से जो अभिनन्दन-पत्र दिया जायगा, उसमें भले ही दो दिन की देरी हो—हम लोगों को पहुँच जाना चाहिए।

अभी अभी तुम्हारा ५ तारीख का पत्र मिला। योगेन के समाचार से मुझे विशेष आनन्द प्राप्त हुआ; मेरे इस पत्र के पहुँचने से पूर्व ही हरिप्रसन्न सम्भवतः

अम्वाला पहुँच जायगा। मैं वहाँ पर उन लोगों को ठीक ठीक निर्देश भेज दूंगा। परमाराध्या माता जी के लिए दो सौ रुपये भेज रहा हूँ—प्राप्ति का समाचार देना।.. तुमने भवनाथ की पत्नी के बारे में कुछ भी क्यों नहीं लिखा है? क्या तुम उसे देखने गये थे?

कैप्टन सेवियर कह रहे हैं कि जगह के लिए वे अत्यन्त अधीर हो उठे हैं। मसूरी के समीप अथवा अन्य कोई केन्द्रीय जगह पर एक स्थान शीघ्र होना चाहिए—यह उनकी अभिलाषा है। वे चाहते हैं कि मठ से दो-तीन व्यक्ति आकर स्थान को पसन्द करें। उनके द्वारा पसन्द होते ही मरी से जाकर वे उसे खरीद लेंगे तथा मकान वनाने का कार्य शुरू कर देंगे। इसके लिए जो कुछ खर्च होगा उसकी व्यवस्था वे स्वयं ही करेंगे। वात यह है कि स्थान ऐसा होना चाहिए, जो कि न तो अधिक ठण्डा ही हो और न अधिक गरम। देहरादून गर्मी के दिनों में असह्य है, किन्तु जाड़े में अनुकूल है। मैं कह सकता हूँ कि मसूरी भी जाड़े में सम्भवतः सवके लिए उपयुक्त न होगा। उससे आगे अथवा पीछे—अर्थात् ब्रिटिश या गढ़वाल राज्य में उपयुक्त स्थान अवश्य प्राप्त हो सकेगा। साथ ही स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ कि वारह महीने नहाने-धोने तथा पीने के लिए जल प्राप्त हो सके। इसके लिए श्री सेवियर तुम्हें खर्च भेज रहे हैं तथा पत्र भी लिख रहे हैं। उनके साथ इस विषय में सव कुछ ठीक-ठाक करना। इस समय मेरी योजना इस प्रकार है—निरंजन, लाटू तथा कृष्णलाल को मैं जयपुर भेजना चाहता हूँ; मेरे साथ केवल अच्युतानन्द तथा गुप्त रहेंगे। मरी से रावलपिण्डी, वहाँ से जम्मू तथा जम्मू से लाहौर और वहाँ से एकदम कराची जाना है। मठ के लिए धन-संग्रह करना मैंने यहीं से प्रारम्भ कर दिया है। चाहे जहाँ से भी तुम्हारे नाम रुपये क्यों न आवे, तुम उन्हें मठ के 'फ़ण्ड' में जमा करते रहना तथा ठीक ठीक हिसाव रखना। दो 'फ़ण्ड' पृथक्-पृथक् हों—एक कलकत्ते के मठ के लिए और दूसरा दुर्भिक्ष कार्य इत्यादि के लिए। आज सारदा तथा गंगाधर का पत्र मिला। कल उनको पत्र लिखूंगा। मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि सारदा को वहाँ न भेजकर मध्यप्रदेश में भेजना अच्छा था। वहाँ पर सागर तथा नागपुर में मेरे अनेक परिचित व्यक्ति हैं—जो कि धनी हैं तथा आर्थिक सहायता भी कर सकते हैं। अस्तु, अगले नवम्वर में इसकी व्यवस्था की जायगी। मैं वहुत व्यस्त हूँ। यहाँ ही इस पत्र को समाप्त करता हूँ।

शशि वावू से मेरा विशेष आशीर्वाद तथा प्यार कहना। इतने दिनों के वाद अव यह पता चल रहा है कि मास्टर साहव भी क़मर कसकर खड़े हो गये हैं। उनसे मेरा विशेष स्नेहालिंगन कहना। अव वे जाग्रत हो उठे हैं—यह देखकर मेरा साहस वहुत कुछ वढ़ गया है। मैं कल ही उन्हें पत्र लिख रहा हूँ। अलमिति—वाह

गुरु की फ़तह। कार्य में जुट जाओ, कार्य में जुट जाओ! तुम्हारे भेजे हुए सभी पत्र मुझे प्राप्त हुए हैं।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को लिखित)

मरी,
१० अक्तूबर, १८९७

प्रिय सारदा,

तुम्हारे पत्र से यह जानकर कि तुम्हारा शरीर ठीक नहीं है, मुझे दुःख हुआ। अप्रिय लोगों को यदि लोकप्रिय बना सको तभी तो वहादुरी है! वहाँ पर कार्य होने की कोई सम्भावना नहीं है। वहाँ न जाकर ढाका अथवा अन्यत्र कहीं जाना ही अच्छा था। अस्तु, नवम्बर में काम वन्द करना ही अच्छा है। यदि शरीर विशेष खराव हो तो वापस चले आना। मध्यप्रदेश में अनेक कार्यक्षेत्र हैं एवं दुर्भिक्ष के अलावा भी हमारे देश में ग़रीव लोगों की कमी कहाँ है? जहाँ कहीं भी हो भविष्य की ओर ध्यान रखकर जम जाने से कार्य हो सकता है। अस्तु, तुम्हें दुःख नहीं महसूस करना चाहिए।

जो कुछ भी किया जाता है, वह कभी नष्ट नहीं होता; भविष्य में वहाँ पर सोने की उपज नहीं होगी—यह कौन कह सकता है?

मैं शीघ्र ही देश में कार्य प्रारम्भ करना चाहता हूँ। अब पहाड़ों में भ्रमण करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शरीर की ओर ध्यान रखना। किमधिकमिति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री जगमोहन लाल को लिखित)

मरी,
११ अक्तूबर, १८९७

प्रिय जगमोहन लाल,

जव तुम वम्वई जाने लगना तो जिन तीन संन्यासियों को जयपुर भेज रहा हूँ, उनकी समुचित देखभाल के लिए किसीसे कहे जाना। उनके भोजन और आवास की अच्छी व्यवस्था करवा दो। मेरे आने तक वे जयपुर में ही रहेंगे। वे वड़े विद्वान् नहीं, किन्तु निरीह प्राणी हैं। वे मेरे अपने हैं। और उनमें से एक तो मेरा गुरुभाई ही है। यदि वे चाहें तो उन्हें खेतड़ी ले जाना—जहाँ मैं शीघ्र ही पहुँचनेवाला हूँ। मैं अभी चुपचाप यात्रा कर रहा हूँ। मैं इस वर्ष ज़्यादा व्याख्यान भी नहीं दूँगा।

अब इस शोरगुल और पाखंड में मेरी आस्था नहीं रह गयी है, इससे कोई लाभ नहीं होता। कलकत्ते में अपनी संस्था आरंभ करने के लिए मैं अपना मूक प्रयत्न अवश्य करता रहूँगा। इसी उद्देश्य से मैं चुपचाप विभिन्न केन्द्रों में कोष जमा करने जा रहा हूँ।

साशीष तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

(सम्भवतः) मरी,
११ अक्तूबर, १८९७

अभिन्नहृदय,

आज तक दस दिन पर्यन्त काश्मीर से जो भी कुछ कार्य किया गया है, मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि मैंने उसे किसी प्रकार के आवेश में किया है। चाहे उसका सम्बन्ध शरीर से रहा हो अथवा मन से। अब मैं इस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि इस समय मैं और किसी कार्य के योग्य नहीं रह गया हूँ।...मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मैंने तुम लोगों के प्रति अत्यन्त कटु व्यवहार किया है। फिर भी मैं यह जानता हूँ कि तुम मेरी सारी बातों को बर्दाश्त करोगे; मठ में इसको सहन करनेवाला और कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। तुम्हारे साथ मैंने अत्यधिक कटु व्यवहार किया है; जो होना था सो हो गया—भाग्य की बात है। मैं इसके लिए पश्चात्ताप क्यों करूँ, उसमें मेरा विश्वास नहीं है—यह भी भाग्य की बात है! 'माँ' का कार्य जितना मुझसे हो सकता था, उतना सम्पादन कराकर अन्त में 'माँ' ने मेरे शरीर तथा मन को अपहरण कर मुझे त्याग दिया। माँ की जो इच्छा!

अब मैं इन तमाम कार्यों से छुट्टी लेना चाहता हूँ। दो-एक दिन के अन्दर सब... कुछ त्याग कर अकेला ही मैं कहीं चल दूँगा एवं चुपचाप कहीं पर अपना बाक़ी जीवन व्यतीत करूँगा। तुम लोग यदि चाहो तो मुझे क्षमा कर देना, अथवा जो इच्छा हो करना। श्रीमती बुल ने अधिक धन प्रदान किया है। शरत् पर उनका अधिक विश्वास है। शरत् के परामर्शानुसार समस्त मठों की व्यवस्था करना, अथवा जो चाहो करना। किन्तु यह ध्यान रखना कि मैंने सदा वीर की तरह जीवन बिताया है—मेरा कार्य तड़ित् जैसा क्षिप्र तथा वज्र जैसा अटल होना चाहिए। अन्तिम समय तक मैं इसी तरह बना रहना चाहता हूँ। अतः मेरे कार्य को सम्पादन कर देना—हार-जीत के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं कभी लड़ाई में पीछे नहीं हटा हूँ; अब क्या पीछे हट सकूँगा...? सभी कार्यों में हार-जीत अवश्यम्भावी है; किन्तु मेरा विश्वास है कि कायर मरकर निश्चित ही कृमिकीट बनता है। युग युग तपस्या करने पर भी कायरों का उद्धार नहीं हो सकता। क्या मुझे अन्त में

कृमिकीट होकर जन्म लेना पड़ेगा? . . .मेरी दृष्टि में यह संसार एक खेल के सिवाय और कुछ नहीं है—और सदैव यह ऐसा ही रहेगा। सांसारिक मान-अपमान, लाभ-हानि को लेकर क्या छः माह तक सोचते रहना पड़ेगा? . . .मैं काम करना पसन्द करता हूँ। केवल विचार-विमर्श ही हो रहा है, कोई कुछ परामर्श दे रहा है, तो कोई कुछ; कोई आतंकित कर रहा है, तो कोई डरा रहा है। मेरी दृष्टि में यह जीवन इतना अधिक मधुर नहीं है कि इस तरह भयभीत होकर सावधानी के साथ इसकी रक्षा करनी होगी। धन, जीवन, बन्धु-बान्धव, मनुष्यों के स्नेह आदि के बारे में यदि कोई सिद्धि-प्राप्ति में निःसन्दिग्ध होकर कार्य करना चाहे, अथवा तदर्थ यदि इतना भयभीत होना पड़े तो उसकी गति वही होती है जैसे श्री गुरुदेव कहा करते थे कि कौआ अधिक सयाना होता है लेकिन. . .आदि। चाहे और कुछ भी क्यों न हो, रुपये-पैसे, मठ-मन्दिर, प्रचारादि की सार्थकता ही क्या है? समग्र जीवन का एकमेव उद्देश्य है—शिक्षा। शिक्षा के विना धन-दौलत, स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता ही क्या है?

इसलिए रुपयों का नाश हुआ अथवा किसी वस्तु की हानि हुई—मैं इन बातों के लिए न तो चिन्ता कर सकता हूँ और न करूँगा ही। जब मैं लड़ता हूँ, क़मर कस कर लड़ता हूँ—इस बात को मैं अच्छी तरह से समझता हूँ; और जो यह कहता है कि 'कुछ परवाह नहीं, वाह बहादुर, मैं साथ में ही हूँ,' उसे मैं मानता हूँ, उस वीर को, उस देवता को मैं मानता हूँ। उस प्रकार के नरदेव के चरणों में मेरे कोटि कोटि नमस्कार; वे जगत्पावन हैं, वे जगत् के उद्धार करनेवाले हैं! और जो लोग केवल यह कहते हैं कि—'अरे आगे न बढ़ना, आगे डर है, आगे डर है'—ऐसे जो कायर (डिसपेप्टिक) हैं, वे सदा भय से काँपते हैं। किन्तु जगन्माता की कृपा से मुझमें इतना साहस है कि भयानक डिस्पेप्सिया के द्वारा कभी मैं कायर नहीं बन सकता हूँ। कायरों से और क्या कहा जाय, उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। किन्तु जो वीर इस संसार में महान् कार्यों को करते हुए निष्फल हुए हैं, जिन्होंने कभी किसी कार्य से मुँह नहीं मोड़ा हो, जिन लोगों ने भय एवं अहंकार के वशीभूत होकर कभी आदेश की अवहेलना नहीं की है, वे मुझे अपने चरणों में आश्रय प्रदान करें—यह मेरी कामना है। मैं ऐसी दिव्य माँ की सन्तान हूँ, जो सभी शक्तियों की धात्री हैं। मेरी दृष्टि में मैले-कुचैले फटे वस्त्र के सदृश तमोगुण तथा नरक-कुण्ड में कोई भेद नहीं है, दोनों ही बराबर हैं। माँ जगदम्बे, हे गुरुदेव! आप सदा यह कहते थे कि—'यह वीर है!' मुझे कायर बनकर मरना न पड़े।—भाई, यही मेरी प्रार्थना है।. . . **उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा**—श्री रामकृष्णदेव के दासानुदासों में से कोई न कोई मुझ जैसा अवश्य बनेगा, जो मुझे समझेगा।

'हे वीर, स्वप्न को त्याग कर जाग्रत हो; मृत्यु सिर पर खड़ी है...वह तुम्हें भयभीत न करे।' जो मैंने कभी नहीं किया है, रण में पीठ नहीं दिखायी है, क्या आज वही होगा? हारने के भय से क्या मैं युद्धक्षेत्र से पीछे हटूँगा? हार तो वीर के अंग का आभूषण है; किन्तु क्या विना लड़ ही हार मान लूँ?

तारा! माँ!...ताल देनेवाला एक भी व्यक्ति नहीं है; किन्तु मन में यह पूर्ण अहंकार है कि —'हम सव कुछ समझते हैं।'...मैं अव जा रहा हूँ...सव कुछ तुम्हारे लिए छोड़े जा रहा हूँ। माँ यदि पुनः ऐसे व्यक्ति प्रदान करें कि जिनके हृदय में साहस, हाथों में शक्ति तथा आँखों में अग्नि हो, जो जगदम्वा की वास्तविक सन्तान हों—ऐसा यदि एक भी व्यक्ति मुझे दें तो मैं काम करूँगा, पुनः वापस लौटूँगा; अन्यथा मैं यह समझूँगा कि माँ की इच्छा केवल इतनी ही थी। मैं अव प्रतीक्षा करना नहीं चाहता, मैं चाहता हूँ कि कार्य में वायु-वेग सी तीव्रता हो, मुझे निर्भीक हृदय व्यक्ति मिलें।

सारदा वेचारे को मैंने वहुत सी गालियाँ दी हैं। क्या करूँ...मैं गालियाँ देता हूँ, किन्तु मुझे भी तो शिकायत में वहुत कुछ कहना है।...मैंने खड़े होकर हाँफते हुए उसके लिए लेख लिखा है।...सव कुछ ठीक है, अन्यथा वैराग्य कैसे होगा? माँ क्या अन्त में मुझे इन झमेलों में फँसाकर मार डालना चाहती हैं? सभी के समीप मैं विशेष अपराधी हूँ—जो उचित हो करना।

तुम सभी को मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। शक्तिरूप से तुम्हारे अन्दर माँ का आविर्भाव हो, **अभयं प्रतिष्ठाम्**—माँ तुम्हें अभय जो एक मात्र सहारा है, प्रदान करे। मैंने अपने जीवन में यह अनुभव किया कि जो स्वयं सावधान रहना चाहता है, पग पग पर उसे विपत्ति का सामना करना पड़ता है। जो सम्मान एवं प्रतिष्ठा के खो जाने के भय से पीड़ित रहता है, उसकी अवमानना होती है। जो सदा नुक़सान से घवराता है, उसके भाग्य में सदा नुक़सान ही उपस्थित है।...तुम लोगों का कल्याण हो। अलमिति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी व्रह्मानन्द को लिखित)

मरी,
१२ अक्तूवर, १८९७

अभिन्नहृदय,

कल मैं तुमको विस्तृत पत्र लिख चुका हूँ। कोई कोई विषयों में विशेप निर्देश देना आवश्यक समझता हूँ।...१. जो लोग धन एकत्र कर भेजेंगे...उसका

प्राप्ति-स्वीकार मठ से होना चाहिए। २. रसीद की दो प्रतियाँ होनी चाहिए—एक प्रति उसे दी जायगी और दूसरी प्रति मठ में रहेगी। ३. एक बड़े रजिस्टर में धन एकत्र करनेवालों के नाम तथा पते लिपिबद्ध कर रखने होंगे। ४. मठ के कोष में जो रुपये जमा होंगे, उनके पैसे पैसे का हिसाब रखना आवश्यक होगा और सारदा तथा अन्यों को जो दिया जा रहा है, उनसे उसका पूरा हिसाब लेना होगा। हिसाब न रहने के कारण मुझे चोर न बनना पड़े। बाद में उस हिसाब को छपाकर प्रकाशित करना होगा। ५. तुरन्त एक वक़ील के पास जाकर उसकी राय से यह वसीयतनामा लिख दो कि मेरे तथा तुम्हारे मरणोपरान्त हरि एवं शरत् मठ की सम्पत्ति के अधिकारी होंगे।

अम्बाला से हरिप्रसन्न आदि के पहुँचने का अभी तक कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ है। दूसरा पत्र मास्टर महाशय को दे देना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री रामकृष्ण वचनामृत के लेखक श्री 'म'[1] को लिखित)

लाल हंसराज जी का मकान,
रावलपिण्डी,
१२(?) अक्तूबर, १८९७

प्रिय 'म',

C'est bon, mon ami (मित्र, ठीक चल रहा है)—अब आपने यथार्थ कार्य प्रारम्भ किया है। हे वीर, अपना आत्मविकास कीजिए! जीवन क्या निद्रा में ही व्यतीत होगा? समय तो बीतता जा रहा है! शाबास, यही तो मार्ग है!

आपने जो पुस्तिका प्रकाशित की है, तदर्थ असंख्य धन्यवाद; उसका जो आकार है, उससे व्यय का निर्वाह हो सकेगा या नहीं—मैं यही सोच रहा हूँ।...फिर भी लाभ हो अथवा नहीं, इस पर ध्यान न दें—उसे प्रकाश में तो आने दीजिए! इसके लिए एक ओर जहाँ आपको असंख्य आशीर्वाद प्राप्त होंगे, दूसरी ओर उनसे भी कहीं अधिक आपको अभिशाप मिलेंगे—संसार में यही रीति सदा से चली आ रही है।

यही तो वास्तविक समय है!

भगवदाश्रित,
विवेकानन्द

---

१. महेन्द्रनाथ गुप्त या मास्टर महाशय

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

जम्मू,
३ नवम्बर, १८९७

प्रिय कुमारी नोबल,

...अधिक भावुकता कार्य में बाधा पहुँचाती है; **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि**—यह हमारा मंत्र होना चाहिए।

मैं शीघ्र ही स्टर्डी को पत्र दूंगा। उसने तुमसे यह ठीक ही कहा है कि आपत्ति पड़ने पर मैं तुम्हारे समीप रहूँगा। भारत में यदि मुझे एक रोटी का टुकड़ा भी मिले तो तुम्हें उसका समग्र अंश प्राप्त होगा—यह तुम निश्चित जानना। कल मैं लाहौर जा रहा हूँ; वहाँ पहुँच कर स्टर्डी को पत्र लिखूँगा। काश्मीर महाराज की ओर से कुछ ज़मीन प्राप्त होने की आशा है, तदर्थ मैं गत १५ दिनों से यहाँ पर हूँ। यदि मुझे यहाँ रहना पड़ा तो आगामी गर्मी के दिनों में पुनः काश्मीर जाने का विचार है, एवं वहाँ पर कुछ कार्य प्रारम्भ करने की अभिलाषा है।

मेरा असीम स्नेह ग्रहण करना।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

लाहौर,
११ नवम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

लाहौर में व्याख्यान किसी तरह समाप्त हो गया। दो-एक दिन के अन्दर देहरादून रवाना होना है। तुम लोगों की असम्मति तथा और भी अनेक बाधाओं के कारण सिन्ध यात्रा इस समय मैंने स्थगित कर दी है। विलायत से आयी हुई मेरी दो चिट्ठियों को किसीने रास्ते में खोला है। अतः अब मुझे पत्रादि न भेजना। खेतड़ी से जब मैं पत्र दूँ, तब भेजना। यदि तुम उड़ीसा जाना चाहो तो इस प्रकार की व्यवस्था करके जाना कि जिससे कोई व्यक्ति तुम्हारा प्रतिनिधि होकर समस्त कार्यों का संचालन कर सके—जैसे कि हरि (स्वामी तुरीयानन्द) यह कार्य कर सकता है। इस समय मैं प्रतिदिन खासकर अमेरिका से पत्रादि की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

शायद वह वसीयतनामा जो हरि एवं शरत् के नाम करना था अब तैयार हो गया है।

एक समिति स्थापित कर सदानन्द तथा सुधीर को यहाँ छोड़ जाने की इच्छा है। इस बार व्याख्यान नहीं देना है—एकदम सीधा राजपूताना जा रहा हूँ। मठ

स्थापित किये विना और कुछ नहीं करना है। नियमित व्यायाम के विना शरीर कभी ठीक नही रहता है, अधिक वातें करने के फलस्वरूप ही वीमार हो जाता हूँ— यह निश्चित जानना। सवसे मेरा प्यार कहना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्रीमती इन्दुमती मित्र को लिखित)

लाहौर,
१५ नवम्वर, १८९७

कल्याणीया,

माँ, यह अत्यन्त दुःख का विषय है कि इच्छा होने पर भी अव की वार सिन्ध जाकर तुम लोगों से मिलना सम्भव न हो सका। पहला कारण यह है कि कैप्टन तथा श्रीमती सेवियर जो कि इंग्लैण्ड से यहाँ आकर आज प्रायः नौ महीने से मेरे साथ घूम रहे हैं, देहरादून में ज़मीन खरीदकर एक अनाथालय स्थापित करने के लिए विशेष उत्सुक हैं। उनका विशेष आग्रह है कि मैं वहाँ जाकर उक्त कार्य प्रारम्भ करूँ— इसलिए देहरादून गये विना मेरा छुटकारा नहीं है।

दूसरा यह है कि मूत्राशय में गड़वड़ी हो जाने के कारण मुझे अपने जीवन पर भरोसा नहीं है। मैं अभी भी यह चाहता हूँ कि कलकत्ते में एक मठ स्थापित हो, किन्तु उसकी कुछ भी व्यवस्था मैं नहीं कर पाया हूँ। साथ ही देशवासियों ने, इससे पूर्व हमारे मठ में जो सहायता प्रदान करते थे, वह भी वन्द कर दी है। उनका खयाल है कि इंग्लैण्ड से पर्याप्त मात्रा में धन लेकर मैं लौटा हूँ!! इतना ही नहीं, इस वर्ष श्री रामकृष्ण महोत्सव तक होना नितान्त कठिन है, क्योंकि विलायत हो आने के कारण रासमणि के उत्तराधिकारी मुझे वगीचे में नहीं जाने देंगे!! अतः राजपूताना आदि स्थलों में मेरे जो दो-चार मित्र हैं, उनमें मिलकर कलकत्ते में अपना एक केन्द्र निर्माण करने के लिए आप्राण प्रयास करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। इन सव कारणों से नितान्त दुःख के साथ इस समय सिन्ध-यात्रा स्थगित करनी पड़ी। राजपूताना तथा काठियावाड़ होकर लौटते समय जाने का विशेष प्रयास करूँगा। तुम दुःखित न होना। एक दिन के लिए भी मैं तुम लोगों को नहीं भूला हूँ, किन्तु कर्तव्य पालन करना पहले उचित है। कलकत्ते में एक मठ स्थापित हो जाने पर मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा। तभी मुझे यह भरोसा हो सकता है कि जीवन भर दुःख-कष्ट उठाकर मैंने जो कुछ कार्य किया है, मेरे शरीरान्त के वाद वह समाप्त नहीं हो जायगा। आज ही देहरादून रवाना हो रहा हूँ—वहाँ पर सात-एक

दिन रहने के बाद राजपूताना और फिर वहाँ से काठियावाड़ आदि जाने का विचार है।

साशीर्वाद तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

लाहौर,
१५ नवम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

सम्भवतः तुम्हारा तथा हरि का स्वास्थ्य अब ठीक होगा। अत्यन्त धूमधाम के साथ लाहौर का कार्य समाप्त हो चुका है। अब मैं देहरादून रवाना हो रहा हूँ। सिन्ध-यात्रा स्थगित कर दी गयी है। दीनू, लाटू तथा कृष्णलाल जयपुर पहुँचे हैं या नहीं, अभी तक कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ है। मठ के खर्च के लिए बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त महोदय यहाँ से चन्दा एवं दान की रक़म को एकत्र कर भेजेंगे। उनके पास रसीद की किताबें भेज देना। मरी, रावलपिण्डी तथा सियालकोट से तुम्हें कुछ प्राप्त हुआ है अथवा नहीं, मुझे सूचित करना।

इस पत्र का उत्तर 'द्वारा पोस्ट मास्टर, देहरादून'—इस पते पर देना। अन्य पत्रादि देहरादून से मेरा पत्र मिलने पर भेजना। मेरा स्वास्थ्य ठीक है। रात में दो-एक बार उठना पड़ता है। नींद भी ठीक आती है। अधिक व्याख्यान देने पर भी नींद की कोई हानि नहीं होती है, साथ ही व्यायाम भी प्रतिदिन जारी है। . . .कोई गड़बड़ी नहीं है। अब क़मर कसकर जुट जाओ एवं दूनी शक्ति के साथ कार्य करो। उस बड़ी जगह पर चुपचाप दृष्टि रखना। इस समय वहीं पर महोत्सव (श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव) करने की यथोचित व्यवस्था की जा रही है। सबसे मेरा प्यार कहना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—मास्टर महाशय यदि बीच बीच में हम लोगों के बारे में 'ट्रिब्यून' में लिखते रहें तो बहुत ही अच्छा हो। फिर तो लाहौर में हलचल बन्द नहीं होगी। अब पर्याप्त उत्साह है। भली-भाँति सोच-विचार कर रुपये-पैसे खर्च करना; तीर्थ-यात्रा का भार अपने ऊपर तथा प्रचारादि का व्यय मठ से हो।

वि०

(श्रीमती इन्दुमती मित्र को लिखित)

देहरादून,
२४ नवम्बर, १८९७

कल्याणीया,

माँ, तुम्हारा तथा हरिपद का पत्र यथासमय प्राप्त हुआ। तुम लोगों के दुःखी होने का पर्याप्त कारण है। क्या किया जाय—तुम ही बताओ? मैं देहरादून जिस कार्य से आया था, वह भी निष्फल हुआ; सिन्ध भी नहीं जा सका। प्रभु की जो इच्छा! अब राजपूताना तथा काठियावाड़ होकर सिन्ध होता हुआ कलकत्ते लौटने की इच्छा है। मार्ग में एक और विघ्न होने की सम्भावना है। यदि वह न हो तो निश्चित ही मैं सिन्ध आ रहा हूँ। छुट्टी लेकर वृथा ही हैदराबाद आने आदि में अवश्य ही बहुत कुछ असुविधा हुई होगी। बर्दाश्त किया हुआ थोड़ा सा भी कष्ट महान् फल का जनक होगा। आगामी शुक्रवार को यहाँ से मैं रवाना हो जाऊँगा, एवं सहारनपुर होकर एकदम राजपूताना जाने का विचार है। मेरा स्वास्थ्य अब ठीक है। आशा है कि तुम लोग भी सकुशल होगे। यहाँ पर तथा देहरादून के समीप प्लेग फैलने के कारण बहुत गड़बड़ी मची हुई है, इसलिए हम लोगों को भी बहुत कुछ असुविधा का सामना करना पड़ रहा है तथा भविष्य में करना पड़ेगा। मठ के पते पर पत्र देने से मैं जहाँ कहीं भी रहूँ, मुझे वह पत्र मिल जायगा। हरिपद तथा तुम मेरा स्नेह तथा विशेष आशीर्वाद जानना। इति।

साशीर्वाद तुम्हारा,
विवेकानन्द

('मास्टर महाशय' को लिखित)

देहरादून,
२४ नवम्बर, १८९७

प्रिय 'म',

आपके दूसरे पत्रक ('वचनामृत' के कुछ पृष्ठ) के लिए अनेकानेक धन्यवाद। यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है। यह आयोजन नितान्त मौलिक है। किसी महान् आचार्य का जीवन-चरित्र लेखक के मनोभावों की छाप पड़े बिना जनता के सामने कभी नहीं आया, पर आप वैसा करके दिखा रहे हैं। आपकी शैली नवीन और निश्चित रूप की है, साथ ही भाषा की सरलता एवं स्पष्टता के लिए जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है।

पत्रकों के पढ़ने से मुझे कितना हर्ष हुआ है मैं उसका यथार्थ शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। जब मैं उसे पढ़ता हूँ तो सचमुच हर्ष से उन्मत्त हो जाता हूँ। यह बात विचित्र है न ? हमारे गुरु और प्रभु इतने मौलिक थे कि हममें से प्रत्येक को या तो मौलिक बनना पड़ेगा या 'कुछ नहीं'। अब मेरी समझ में आया कि उनकी जीवनी लिखने का प्रयत्न हममें से किसीने क्यों नहीं किया। यह महान् कार्य आपके लिए सुरक्षित था। वे निश्चय ही आपके साथ हैं।

प्रेम और नमस्कार के साथ,

आपका,
विवेकानन्द

पुनश्च—सक्रेटिस के वार्तालाप में प्लेटो ही प्लेटो की छाप है, परन्तु आप स्वयं तो इनमें अदृश्य ही हैं। साथ ही उसका नाटकीय पहलू परम सुन्दर है। यहाँ और पश्चिम में दोनों जगह लोग इसे बहुत पसंद करते हैं।

वि०

(स्वामी प्रेमानन्द को लिखित)

देहरादून,
२४ नवम्बर, १८९७

प्रिय बाबूराम,

हरिप्रसन्न से तुम्हारे विषय में सब समाचार मुझे मिले। यह सुनकर मैं बहुत खुश हूँ कि राखाल एवं हरि अब बिल्कुल स्वस्थ हैं।

इस समय टेहरी के बाबू रघुनाथ भट्टाचार्य गले के दर्द से बहुत कष्ट उठा रहे हैं। बहुत दिनों से गर्दन के पिछले भाग में दर्द से मैं भी पीड़ित हूँ। अगर तुम्हें बहुत पुराना घी मिल सके तो थोड़ा उनको देहरादून भेज देना और थोड़ा मुझको खेतड़ी के पते से भेज देना। शरत् (वक़ील) या हाबू के यहाँ वह तुम्हें ज़रूर मिल जायगा। पता लिखना : बाबू रघुनाथ भट्टाचार्य, देहरादून, पश्चिमोत्तर प्रान्त . . .और वह उनके यहाँ पहुँच जायगा।

परसों मैं सहारनपुर के लिए प्रस्थान करूँगा; वहाँ से फिर राजपूताना।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—मेरा सबको प्यार।

वि०

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

दिल्ली,
३० नवम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

कुमारी मूलर ने जो दान देने के बारे में लिखा है, उसमें से कुछ अंश कलकत्ते पहुँच चुका है। अवशिष्टांश शीघ्र ही आनेवाला है। उसमें हम लोगों का भी कुछ है। कुमारी मूलर तुम्हारे एवं मेरे नाम से ग्रिण्डाल कम्पनी में रुपये जमा करेंगी। तुम्हारे नाम मुख़्तारनामा रहने के कारण तुम अकेले ही तमाम रुपये उठा सकते हो। ज्योंही रुपया जमा हो जाय, त्योंही हरि के साथ तुम स्वयं पटना जाकर उस व्यक्ति से वार्तालाप करो एवं जैसे भी बने उसे राज़ी करो; और यदि उस ज़मीन का मूल्य उचित समझो तो उसे ख़रीद लो। अन्यथा दूसरी ज़मीन के लिए प्रयत्न करो। मैं भी इधर रुपये एकत्र करने की व्यवस्था कर रहा हूँ। चाहे कुछ भी क्यों न हो, अपनी ज़मीन में महोत्सव करके ही दम लेना है। इस बात को न भूलना।

इन ८-९ महीनों में तुमने जो कुछ किया है, बहुत किया है—बहुत बहादुरी दिखायी है। अब झटपट एक मठ तथा कलकत्ते में अपना एक केन्द्र स्थापित कर लेने के बाद आगे बढ़ना है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए काम-काज मेहनत के साथ एवं बहुत ही गोपनीय रूप में करना। काशीपुर के मकान का भी ख़याल रखना। कल मैं अलवर होकर खेतड़ी रवाना हो रहा हूँ। यद्यपि मुझे जुक़ाम हुआ है फिर भी शरीर ठीक है। पत्रादि खेतड़ी के पते पर भेजना। सबसे प्यार कहना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—उस वसीयतनामे का क्या हुआ जिसको मैंने शरत् एवं हरि के नाम करने के लिए तुमसे कहा था? अथवा क्या तुम ज़मीन आदि मेरे नाम से ख़रीदोगे जिससे कि मैं ही वसीयत कर सकूँ?

वि०

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

खेतड़ी,
८ दिसम्बर, १८९७

अभिन्नहृदय,

कल हम लोग खेतड़ी के लिए रवाना होंगे। देखते देखते हम लोगों का सामान बहुत बढ़ गया है। खेतड़ी पहुँचकर सभी को मठ में भेजने का विचार है। इनके

द्वारा जिन कार्यो की मुझे आशा थी, उसका कुछ भी न हो सका। अर्थात् मेरे साथ रहने से कोई भी व्यक्ति कुछ भी कार्य नहीं कर सकेगा—यह निश्चित है। स्वतंत्र रूप से भ्रमण किये विना इन लोगों के द्वारा कुछ भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् मेरे साथ रहने से इनको कौन पूछेगा—केवल मात्र समय नष्ट करना है। इसीलिए इन लोगों को मठ में भेज रहा हूँ।

दुर्भिक्ष कोप में जो धन अवशिष्ट है, उसे किसी स्थायी कार्य के लिए पृथक् कोप में जमा रखने की व्यवस्था करना। अन्य किसी कार्य में उस पैसे को खर्च न करना तथा दुर्भिक्ष-कार्य का पूर्ण विवरण देकर यह लिख देना कि 'इतने रुपये किसी अन्य अच्छे कार्य के लिए रखे हुए हैं।'

मैं काम चाहता हूँ—किसी प्रकार की धोखाधड़ी नहीं चाहता हूँ। जिन लोगों की काम करने की इच्छा नहीं है, उनसे मुझे यही कहना है कि वे अभी से अपना रास्ता देखें। यदि तुम्हारा मुख्तारनामा खेतड़ी पहुँच गया होगा तो वहाँ पहुँचते ही मैं उस पर हस्ताक्षर कर तुम्हें भेज दूँगा। अमेरिका के वोस्टन की मुहर जिन पत्रों पर हो, केवल उन्हीं पत्रों को खोलना; अन्य पत्रादि नहीं खोलना। मेरे पत्रादि खेतड़ी के पते पर भेज देना। राजपूताना में ही मुझे धन मिल जायगा, तदर्थ चिन्तित न होना। तुम लोग जी-जान से जगह के लिए प्रयास करो—अव की वार अपनी ज़मीन पर ही महोत्सव करना होगा।

रुपये क्या वंगाल वैंक में जमा हैं अथवा तुमने अन्यत्र कहीं रखे हैं? रुपये-पैसों के वारे में विशेप ध्यान रखना; पूरा पूरा हिसाव रखना एवं यह ख़्याल रखना कि धन के वारे में अपने वाप पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

सवसे प्यार कहना। हरि का स्वास्थ्य कैसा है, लिखना। देहरादून में उदासी साधु कल्याणदेव तथा और भी दो-एक जनों के साथ भेंट हुई थी। हृपीकेश के लोग मुझे देखने के लिए विशेप उत्सुक हैं—'नारायण हरि' की वात वार वार पूछी जाती है।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी व्रह्मानन्द को लिखित)

खेतड़ी,
१४ दिसम्वर, १८९७

अभिन्नहृदय,

आज तुम्हारे मुख्तारनामा पर अपना हस्ताक्षर कर भेज दिया।...जितना शीघ्र हो सके तुम रुपये निकाल लेना एवं वैसा करते ही मुझे 'तार' से सूचित करना।

छतरपुर नामक किसी एक वुन्देलखण्डी राज्य के राजा ने मुझे आमन्त्रित किया है। मठ लौटते समय उनके यहाँ होता जाऊँगा। लिमडी के राजा साहव भी अत्यन्त आग्रह के साथ वुला रहे हैं; वहाँ भी जाना ही पड़ेगा। एक वार झटपट काठियावाड़ का चक्कर लगाकर जाना है। कलकत्ते पहुँचने पर कहीं शान्ति मिलेगी।... वोस्टन के समाचार भी तो अभी तक कुछ भी नहीं मिले हैं, ऐसा मालूम होता है कि सम्भवत: शरत् वापस आ रहा है। अस्तु, जहाँ से भी जो कुछ समाचार प्राप्त हो, तत्क्षण ही मझे सूचित करना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—कन्हाई का स्वास्थ्य कैसा है? पता लगा कि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। उसकी देखभाल अच्छी तरह से करना तथा इस वात का ध्यान रखना कि किसी पर हुकूमत न होने पावे। हरि की तथा अपनी कुशलता का समाचार देना।

वि०

(स्वामी शिवानन्द को लिखित)

जयपुर,
२७ दिसम्वर, १८९७

प्रिय शिवानन्द,

वम्वई के गिरगाँव निवासी श्री शेतलूर ने, जिनके साथ मद्रास में रहते समय तुम्हारा घनिष्ट परिचय हुआ था, अफ़ीका में रहनेवाले भारतवासियों के आध्यात्मिक अभाव को दूर करने के निमित्त किसी को वहाँ भेजने के लिए लिखा है। यह निश्चित है कि वे ही उस मनोनीत व्यक्ति को अफ़्रीका भेजेंगे एवं उसका समस्त व्यय-भार स्वयं ग्रहण करेंगे।

इस समय यह कार्य नितान्त सरल अथवा झंझटरहित प्रतीत नहीं होता है। किन्तु सत्पुरुषों को इस कार्य के लिए अग्रसर होना उचित है। तुम जानते हो कि वहाँ पर श्वेत जातियाँ भारतीय प्रवासियों को विल्कुल ही पसन्द नहीं करतीं। वहाँ का कार्य है—भारतीयों का जिससे भला हो, वह करना; किन्तु यह कार्य इतना सावधान एवं शान्त चित्त होकर करना होगा कि जिससे नवीन किसी झगड़े की सृष्टि न होने पावे। कार्य प्रारम्भ करने के साथ ही साथ फल-प्राप्ति को कोई सम्भावना नहीं है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आगे चलकर आज तक भारत के कल्याण के लिए जितने भी कार्य किये गये हैं, उन समस्त कार्यों की अपेक्षा इसमें अधिक फल प्राप्त होगा। मेरी इच्छा है कि तुम एक वार इस कार्य में अपने भाग्य की परीक्षा करो। यदि इसमें तुम्हारी सम्मति हो तो इस पत्र का उल्लेख कर शेतलूर को तुम

अपना अभिप्राय सूचित करना तथा अन्यान्य समाचार पूछना। **शिवा वः सन्तु पन्थानः।** मेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं है; किन्तु शीघ्र ही मैं कलकत्ता रवाना हो रहा हूँ, एवं शरीर भी ठीक हो जायगा। इति।

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

मठ, बेलूड़, हावड़ा,
२५ फ़रवरी, १८९८

प्रिय शशि,

मद्रास के महोत्सव (श्री रामकृष्ण का जन्मोत्सव) के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने का संवाद पाकर हम सभी तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं। मैं समझता हूँ कि लोगों की उपस्थिति पर्याप्त मात्रा में हुई होगी एवं उनके लिए आध्यात्मिक ख़ुराक की भी यथेष्ट व्यवस्था रही होगी।

तुम अपने अत्यन्त प्रिय आसन-मुद्रादि तथा 'क्लीं फट्' के बदले में मद्रासियों को आत्मविद्या की शिक्षा प्रदान करने के लिए विशेष रूप से कटिबद्ध हुए हो—यह जानकर हम सभी को अत्यन्त ख़ुशी हुई। श्री रामकृष्णदेव के सम्बन्ध में तुम्हारा भाषण वास्तव में अत्यन्त सुन्दर हुआ था। जिस समय मैं खँडवा में था, उस समय 'मद्रास मेल' नामक समाचार पत्र में उसका एक विवरण मुझे यद्यपि सामान्य रूप से देखने को मिला था; किन्तु मठ को तो उसका कुछ भी अंश प्राप्त नहीं हुआ। तुम उसकी एक प्रतिलिपि हमें क्यों नहीं भेज देते?

मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे पत्रादि तुम्हें प्राप्त न होने के कारण तुम दुःखित हो, क्या यह सत्य है? सच बात तो यह है कि तुमने मुझे जितने पत्र भेजे हैं, उनसे कहीं अधिक पत्र मैंने अमेरिका तथा यूरोप से तुमको लिखे हैं। मद्रास से प्रति सप्ताह जहाँ तक हो सके, मुझे समाचार भेजना तुम्हारे लिए उचित है। इसका सरल तरीक़ा यह है कि प्रतिदिन एक काग़ज़ पर कुछ समाचार तथा कुछ एक पंक्तियाँ लिखकर रखने की व्यवस्था की जाय।

कुछ दिनों तक मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अब कुछ अच्छा है। इस समय कलकत्ते में अन्यान्य वर्षों की अपेक्षा कुछ अधिक जाड़ा है एवं इसके फलस्वरूप अमेरिका से मेरे जो मित्र आये हैं, वे अत्यन्त कुशलपूर्वक है। जो ज़मीन ख़रीदी गयी है, आज उसका अधिकार लिया जायगा। यद्यपि अधिकार लेते ही वहाँ पर महोत्सव करना संभव नहीं है, फिर भी रविवार के दिन वहाँ पर कुछ न कुछ करने की व्यवस्था मैं अवश्य ही रखूंगा। कम से कम श्री रामकृष्णदेव का भस्मावशेष उस दिन के लिए अपनी निजी ज़मीन में ले जाकर वहीं पर उसकी पूजा की व्यवस्था

अवश्य ही की जायगी। गंगाधर यहीं है एवं वह तुम्हें यह सूचित करना चाहता है कि यद्यपि उसने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के कुछ ग्राहक बनाये हैं, किन्तु पत्रिका निर्धारित समय पर न आने के कारण उसे यह डर है कि कहीं उनसे भी उसे शीघ्र ही हाथ न धोना पड़े। तुमने एक युवक को जो प्रशंसा-पत्र दिया है, वह मुझे प्राप्त हुआ है एवं उस पत्र के साथ वही पुरानी कहानी दुहरायी गयी है—'महोदय, मेरे जीवन-निर्वाह का कोई भी प्रबन्ध नहीं है।' विशेषकर इस कहानी का मद्रासी संस्करण में इतना अंशविशेष जोड़ दिया गया है कि 'मेरी सन्तानों की संख्या भी अधिक है' जिसको विकसित करने में किसी सिफ़ारिश की आवश्यकता नहीं थी। यदि मुझसे उसकी कुछ सहायता होती तो मुझे ख़ुशी होती; किन्तु सच बात यह है कि इस समय मेरा हाथ ख़ाली है—मेरा जो भी कुछ था, सब कुछ मैंने राखाल को सौंप दिया है। वे लोग कहते हैं कि मैं अधिक खर्च करने का आदी हूँ। अतः मेरे पास पैसा रखने से वे लोग डरते हैं। अस्तु, मैंने उस पत्र को राखाल के पास भेज दिया है—यदि किसी प्रकार वह तुम्हारे युवक मित्र को सहायता पहुँचा सके जिससे कि वह कुछ और अधिक बच्चों को पैदा कर सके। उसने लिखा है कि ईसाई धर्म ग्रहण करने पर ईसाई लोग उसकी सहायता करने को प्रस्तुत हैं; किन्तु वह ईसाई नहीं बनेगा। सम्भवतः उसे यह डर है कि कहीं उसके ईसाई बन जाने से हिन्दू भारत अपना एक उज्ज्वल रत्न खो बैठेगा एवं हिन्दू समाज भी उसके चिर दारिद्र्य को प्रचारित करने की शक्ति के लाभ से वंचित हो जायगा !

नदी के किनारे नवीन मठ में रहने के फलस्वरूप एवं यहाँ पर जिस मात्रा में विशुद्ध और ठण्डी वायु सेवन करना पड़ा है, उसमें अनभ्यस्त होने के कारण सभी बच्चे विशेष हैरान हो उठे हैं। सारदा दिनाजपुर से 'मलेरिया' लेकर लौटा है। दूसरे दिन मैंने उसे अफ़ीम की एक ख़ुराक दी जिससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ; केवल उसके मस्तिष्क पर कुछ प्रभाव पड़ा जो कुछ घंटों के लिए अपनी स्वाभाविक अवस्था, बेवक़ूफ़ी, की तरफ़ गतिशील हुआ। हरि को भी 'मलेरिया' हो गया था। मैं समझता हूँ कि इससे उनकी चरबी कुछ घट जायगी। कार्य प्रारम्भ कर दिया है; यदि हरि, सारदा तथा स्वयं मुझको तुम वॉल्स नृत्य (waltz) करते देखते तो तुम्हारा हृदय आनन्द से भर जाता। मैं स्वयं ही अत्यन्त आश्चर्यान्वित हो उठता हूँ कि कैसे हम अपने को सँभाल लेते हैं।

शरत् आ पहुँचा है एवं वह अपनी आदत के अनुसार कठिन परिश्रम कर रहा है। अब हम लोगों के लिए कुछ अच्छे फ़र्नीचर प्राप्त हुए हैं। तुम स्वयं ही सोच सकते हो कि उस पुराने मठ की चटाई के स्थान पर सुन्दर टेबल, कुर्सी और तीन खाटों की प्राप्ति कितनी बड़ी उन्नति है। हम लोगों ने पूजा के कार्य को बहुत कुछ

संक्षिप्त वना दिया है। तुम्हारे 'क्लीं-फट्', झाँझ और घंटे की जो काटछाँट की गयी है, उसे कहीं तुम देख लो तो तुम्हें मूर्छा आने लगेगी! जन्मतिथि-पूजा केवल दिन में की गयी थी और रात में सभी सुख की नींद सोये थे। तुलसी और खोका कैसे हैं? तुलसी को अपना काम सौंपकर तुम एक वार कलकत्ते आ जाओ न। किन्तु उसमें व्यय अधिक होगा और लौटकर भी तो तुम्हें पुनः वहीं जाना पड़ेगा; क्योंकि मद्रास के कार्य को भी तो पूर्ण रूप देना होगा। मैं कुछ एक माह के वाद ही श्रीमती वुल के साथ पुनः अमेरिका रवाना हो रहा हूँ।

गुडविन से मेरा प्यार कहना एवं उससे कहना कि जापान जाते समय हम उससे अवश्य मिलेंगे। शिवानन्द यहीं पर है और उसकी हिमालय के लिए चिर-प्रस्थान की प्रवल इच्छा को वहुत कुछ प्रशमित करने में मैं सफल हुआ हूँ। क्या तुलसी का भी यही विचार है? मैं समझता हूँ कि वहाँ वड़े वड़े चूहों के विलों में उसकी साध मिट सकती है—तुम्हारी क्या राय है?

यहाँ पर मठ तो स्थापित हुआ। मैं भी अधिक सहायता प्राप्ति के लिए विदेश जा रहा हूँ।...शक्ति के साथ कार्य करो। भारत, वाहर एवं भीतर दोनों तरफ़ से सड़ा मुर्दा हो गया है। श्री गुरुदेव के आशीर्वाद से भारत जीवित हो उठेगा। मेरा हार्दिक प्यार जानना। इति।

भगवत्पदाश्रित तुम्हारा,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

वेलूड़ मठ,
जिला, हावड़ा,
वंगाल, भारत,
२ मार्च, १८९८

प्रिय मेरी,

मैंने 'मदर चर्च' को जो पत्र लिखा है, आशा है, उससे तुमको मेरा समाचार मिल गया होगा। तुम सव, तुम्हारा सारा परिवार, मेरे प्रति इतना ममतालु है। लगता है, जैसा कि हम हिन्दू कहा करते हैं, निश्चय ही पूर्व जन्म में मैं तुम लोगों से सम्वन्धित रहा हूँगा। करोड़पति आविर्भूत नहीं होते, मुझे केवल इसी वात का दुःख है और उन लोगों की मुझे तत्काल ही वड़ी आवश्यकता है, क्योंकि निर्माण एवं संगठन के कार्य में मैं दिन-प्रतिदिन जर्जर, वृद्ध एवं चूर होता जा रहा हूँ। यद्यपि हैरियट में लाखों अच्छाइयाँ हैं, फिर भी मुझे विश्वास है कि नक़द गुण के कुछ लाख ही इसको और भी प्रकाशमान वना देते; अतः तुम भी वही भूल न करना।

एक तरुण युगल के पास पति-पत्नी वनने के लिए और सव कुछ था, महज लड़की का पिता इस वात पर अड़ा था कि वह अपनी लड़की को करोड़पति के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं देगा। यह तरुण युगल हताश हो गया, लेकिन तभी एक चतुर विवाह तय करानेवाला उनकी रक्षा के लिए उपस्थित हो गया। उसने वर से पूछा कि क्या वह १० लाख रुपये मिलने पर अपनी नाक देने के लिए तैयार है। उसने कहा—नहीं। तव शादी तय करानेवाले ने लड़की के पिता के सामने यह क़सम खायी कि वर के पास करोड़ों का सामान है, और शादी तय हो गयी। इस तरह के करोड़ों को तुम न लेना। हाँ, तो तुम करोड़पति नहीं पा सकीं, और इसलिए मैं रुपये नहीं पा सका; अतः मुझे वड़ी चिन्ता करनी पड़ी, और व्यर्थ ही घोर परिश्रम करना पड़ा। इसीलिए मैं वीमार पड़ गया। सच्चे कारण को खोज निकालने के लिए मेरे जैसे तेज़ दिमाग़वालों की ज़रूरत होती है, मैं अपने पर मुग्ध हूँ।

हाँ, जव मैं लंदन से लौटा तो यहाँ दक्षिण भारत में, जव लोग आयोजनों और भोजों में व्यस्त थे, और जितना संभव था, उतना काम मुझसे निचोड़ रहे थे, तव एक पुरानी पैत्रिक वीमारी उभरी। उसकी प्रकृति तो सदा से रही थी, किन्तु मानसिक कार्य की अति ने उसे 'आत्माभिव्यक्ति' का अवसर दे दिया। शक्ति का पूर्ण ह्रास एवं आत्यन्तिक अवसाद उसका परिणाम हुआ, और अपेक्षाकृत ठंडे उत्तर भारत के लिए मद्रास से तत्काल प्रस्थान करना पड़ा। एक दिन के विलम्व का अर्थ था, उस भीषण गर्मी में दूसरे स्टीमर के लिए एक सप्ताह प्रतीक्षा करना। हाँ, तो मुझे वाद में ज्ञात हुआ कि दूसरे दिन श्री वरोज़ मद्रास पहुँचे एवं अपेक्षानुसार मुझे वहाँ न पाकर वड़े खिन्न हुए। मैंने वहाँ उनके स्वागत और आवास का प्रवन्ध कर दिया था। उन वेचारों को क्या पता कि उस समय मैं यमलोक के द्वार पर था।

पिछली गरमी भर मैं हिमालय पर भ्रमण करता रहा। मैंने अनुभव किया कि ठंडे जलवायु में तो मैं स्वस्थ रहता हूँ; लेकिन मैदानी इलाक़ों की गर्मी में ज्यों ही आता हूँ, पुनः वीमार पड़ जाता हूँ। आज से कलकत्ते में गर्मी तीव्र होती जा रही है और शीघ्र ही मुझे भागना पड़ेगा। चूंकि श्रीमती वुल एवं कुमारी मैक्लिऑड इस समय यहाँ (भारत में) हैं, अमेरिका ठंडा पड़ गया है। संस्था के लिए कलकत्ते के नज़दीक़ गंगा-तट पर मैंने थोड़ी सी ज़मीन ख़रीद ली है। उसमें एक छोटा सा मकान है, जिसमें इस समय वे लोग रह रहे हैं; नज़दीक ही वह मकान है जिसमें इस समय मठ है; और हम लोग रहते हैं।

अतः मैं उनसे रोज़ ही मिल लेता हूँ और वे भारत में वहुत ही आनन्द प्राप्त कर रही हैं। एक महीने के वाद वे काश्मीर का भ्रमण करना चाहती हैं, और

यदि उनकी इच्छा हुई तो पथ-प्रदर्शक, मित्र एवं शायद एक दार्शनिक के रूप में उनके साथ जा सकता हूँ। उसके पश्चात् हम सब लोग पर-चर्चा एवं स्वतंत्रता के देश के लिए समुद्र-मार्ग से प्रस्थान करेंगे।

मेरे कारण तुम्हें उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि वुरा ही होना है तो मुझे उड़ा ले जाने में वीमारी को दो-तीन साल लग जायँगे। अन्यथा वह एक अनपकारी साथी के रूप में वनी रहेगी। मैं संतुष्ट हूँ। कार्य के सुव्यवस्थित करने के लिए ही मैं कठिन परिश्रम कर रहा हूँ जिससे रंगमंच से मेरे विलुप्त होने के वाद भी मशीन चलती रहे। मृत्यु पर तो मैं बहुत पहले ही—जब मैंने जीवन का उत्सर्ग कर दिया था, तभी—विजय प्राप्त कर चुका हूँ। मेरी चिन्ता का विषय केवल काम है और उसे भी प्रभु को समर्पित कर दिया है, उनको ही सब कुछ ज्ञात है।

सतत भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

(सम्भवतः) मार्च, १८९८

प्रिय शशि,

तुम्हें दो वातें लिखना मैं भूल गया था।

१. गुडविन से संकेत-लिपि—कम से कम तत्सम्वन्धी प्रारम्भिक वातें—तुलसी को सीख लेनी चाहिए। २. जब मैं भारत से वाहर था, तव प्रायः प्रत्येक डाक में मद्रास के लिए मुझे पत्र लिखना पड़ता था। उन पत्रों की प्रतिलिपि भेजने के लिए मैं वार वार पत्र लिखकर हैरान हो चुका हूँ। उन पत्रों को मेरे पास भेज देना। मैं अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिखना चाहता हूँ। उन्हें भेजना न भूलना। कार्य समाप्त होते ही मैं उन्हें लौटा दूँगा। 'डान' (Dawn) पत्रिका की प्रति संख्या के लिए ४०) रुपये खर्च होंगे तथा दो सौ ग्राहक मिलते ही उसका नियमित प्रकाशन हो सकेगा—यह समाचार उल्लेखनीय है। 'प्रवुद्ध भारत' की स्थिति अव्यवस्थित है, ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है; उसकी सुव्यवस्था के लिए यथासाध्य प्रयत्न करते रहो। वेचारे आलासिंगा के लिए मैं अत्यन्त दुःखित हूँ। उसके लिए मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ कि एक वर्ष तक अपने सांसारिक उत्तरदायित्व से वह छुटकारा पा सके, जिससे कि 'ब्रह्मवादिन्' के लिए वह अपनी सारी शक्ति का प्रयोग कर सके। उससे कहना कि वह चिन्तित न हो। मुझे सर्वदा उसका ख्याल है। मेरे प्रिय वत्स, उसकी भक्ति का प्रतिदान मैं कभी नहीं दे सकूँगा।

श्रीमती वुल एवं कुमारी मैक्लिऑड के साथ पुनः काश्मीर जाने की मैं सोच रहा हूँ। तदुपरान्त कलकत्ता लौटकर वहाँ से अमेरिका रवाना होना है।

कुमारी नोवल जैसी नारी वास्तव में दुर्लभ है। मेरा विश्वास है कि भाषण देने में वह शीघ्र ही श्रीमती वेसेंट से भी आगे बढ़ जायँगी।

आलासिंगा पर थोड़ा ध्यान रखना। मुझे ऐसा मालूम होता है कि कार्य में निमग्न होकर वह अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ रहा है। उससे कहना कि श्रम के बाद विश्राम और विश्राम के बाद श्रम करने से ही भली भाँति कार्य हो सकता है। उससे मेरा हार्दिक प्यार कहना। कलकत्ते की जनता के लिए हम लोगों के दो भाषण हुए थे—एक तो कुमारी नोवल ने तथा दूसरा शरत् ने दिया था। वास्तव में उन दोनों ने ही अत्यन्त सुन्दर भाषण दिये। श्रोताओं में प्रबल उत्साह देखने को मिला था। इससे मालूम होता है कि कलकत्ते की जनता हमें भूली नहीं है। मठ के कुछ लोगों को जुक़ाम एवं ज्वर हो गया था। इस समय वे सभी अच्छे हैं। कार्य सुचारु रूप से चल रहा है। श्री माँ यहीं पर हैं। यूरोपियन और अमेरिकन महिलाएँ उस दिन उनके दर्शन करने गयी थीं। सोचो तो सही, माँ ने उनके साथ मिलकर भोजन किया! क्या यह एक अद्भुत घटना नहीं है? हम लोगों पर प्रभु की दृष्टि है; कोई डर नहीं है; साहस न खोओ, स्वास्थ्य की ओर ख्याल रखना तथा किसी विषय के बारे में चिन्तित न होना। कुछ देर तक तेज़ी से नाव चलाने के बाद विश्राम लेना चाहिए—यही सदा की परम्परा है। नयी ज़मीन तथा मकान के कार्य में राखाल लगा हुआ है। इस वर्ष के महोत्सव से मैं सन्तुष्ट नहीं हो पाया हूँ। प्रत्येक महोत्सव में यहाँ की भावधारा का एक अपूर्व समावेश होना चाहिए। आगामी वर्ष में हम इसके लिए प्रयास करेंगे और उसकी पूरी व्यवस्था मैं ठीक कर दूँगा। तुम लोग मेरा प्यार तथा आशीर्वाद जानना। इति।

विवेकानन्द

(कुमारी मैक्लिऑड को लिखित)

दार्जिलिंग,
१८ अप्रैल, १८९८

प्रिय 'जो-जो',

ज्वर से पीड़ित होने से मुझे खटिया की शरण लेनी पड़ी थी। इसका कारण सम्भवतः अत्यधिक पर्वतारोहण एवं अस्वास्थ्यकर स्थिति है। पहले की अपेक्षा आज कुछ ठीक हूँ, दो-एक दिन के अन्दर यहाँ से चल देना चाहता हूँ। कलकत्ते में गर्मी अधिक होने पर भी वहाँ रात को मुझे नींद अच्छी आती थी और भूख भी ठीक लगती थी। यहाँ उन दोनों से ही हाथ धोना पड़ा है—इतना ही लाभ है।

मारगरेट के बारे में कुमारी मूलर से मिलकर अभी तक कोई बात नहीं कर पाया हूँ, किन्तु आज उन्हें पत्र लिखने की इच्छा है। यह जानकर कि मारगरेट यहाँ आ रही हैं, उन्होंने सारी व्यवस्था कर ली है। उन लोगों को बंगला सिखाने के लिए गुप्त को भी आमन्त्रित किया गया है। कुमारी मूलर भी सम्भवतः मारगरेट के लिए अब कुछ करने को प्रस्तुत हैं; फिर भी मैं उन्हें पत्र दूंगा।

यहाँ रहती हुई मारगरेट जब चाहे काश्मीर देख सकती है; किन्तु कुमारी 'म' यदि राज़ी न हों, तब कोई बड़ी गड़बड़ी होने की सम्भावना है और उससे उनको तथा मारगरेट को अर्थात् उन दोनों को ही विशेष क्षति पहुँचेगी।

मैं पुनः अलमोड़ा जाऊँगा अथवा नहीं, इसका कोई निश्चय नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि घोड़े पर अधिक चढ़ने के फलस्वरूप पुनः बीमार पड़ना निश्चित सा है। तुम्हारे लिए मैं शिमला में प्रतीक्षा करूँगा। इस बीच में तुम सेवियरों के साथ मिल-जुल लो। कार्य प्रारम्भ करने के बाद मैं इस बारे में विचार कर लूंगा। कुमारी नोवल ने रामकृष्ण मिशन में एक भाषण दिया था, यह जानकर मुझे अत्यन्त खुशी हुई।

तुम त्रिमूर्तियों को मेरा हार्दिक स्नेह। इति।

सदैव भगवदाश्रित तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

दार्जिलिंग,
२३ अप्रैल १८९८

अभिन्नहृदय,

सन्दुकफ़ू (Sondukphu 11, 924) इत्यादि स्थानों से लौटने के बाद मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, किन्तु पुनः दार्जिलिंग आते ही प्रथम मुझे ज्वर हो आया था, बाद में इस समय ज्वर तो नहीं है, किन्तु जुक़ाम से पीड़ित हूँ। प्रतिदिन ही चले जाने का प्रयत्न करता हूँ; किन्तु 'आज जाना, कल जाना' करके इन लोगों ने देरी कर दी। अस्तु, कल रविवार को यहाँ से रवाना होकर मार्ग में 'खर्सान' में एक दिन रुककर सोमवार को कलकत्ता चल दूंगा। रवाना होते ही 'तार' से सूचित करूँगा। रामकृष्ण मिशन की एक वार्षिक सभा होनी चाहिए तथा मठ की भी होनी चाहिए। दोनों जगह ही दुर्भिक्ष-सहायता का हिसाब प्रस्तुत करना होगा तथा अकाल-पीड़ित सहायता सम्बन्धी विवरण प्रकाशित करना होगा। ये सब तैयार रखना।

नृत्यगोपाल कहता है कि अंग्रेज़ी पत्रिका के लिए खर्च कम करना पड़ेगा। अतः पहले उसे प्रकाशित करने के उपरान्त बंगला के लिए बाद में विचार किया जायगा। इन सारी बातों के लिए सोचना पड़ेगा। क्या योगेन पत्र-प्रकाशन के उत्तरदायित्व को सँभालना चाहता है? शशि ने लिखा है कि यदि शरत् का मद्रास जाना सम्भव हो तो वे दोनों व्याख्यान देते हुए भ्रमण कर सकते हैं। परन्तु इस समय अत्यधिक गर्मी है! शरत् से पूछना कि जी० सी०, सारदा, शशि बाबू आदि ने लेख तैयार कर रखे हैं या नहीं? श्रीमती बुल, मैक्लिऑड तथा निवेदिता को मेरा स्नेह तथा आशीर्वाद कहना।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(कुमारी मैक्लिऑड को लिखित)

दार्जिलिंग,
२९ अप्रैल, १८९८

प्रिय 'जो-जो',

मैं कई बार ज्वराक्रान्त हुआ—अन्त में इन्फ़्लुएंज़ा से पीड़ित होना पड़ा था। अब कोई शिकायत नहीं है; किन्तु अत्यन्त दुर्बल हो गया हूँ। भ्रमण लायक़ शक्ति आते ही मैं कलकत्ता रवाना होऊँगा।

रविवार के दिन मैं दार्जिलिंग छोड़ना चाहता हूँ; मार्ग में सम्भवतः दो-एक दिन कर्सियंग रुकना पड़ेगा, उसके बाद सीधे कलकत्ता पहुँचना है। इस समय कलकत्ते में निश्चित ही भयानक गर्मी होगी। इसके लिए तुम चिन्तित न होना—इन्फ़्लुएंज़ा के लिए वह उपयुक्त ही सिद्ध होगा। कलकत्ते में यदि 'प्लेग' शुरू हो जाय तो मेरे लिए कहीं जाना सम्भव न होगा। तब तुम सदानन्द के साथ काश्मीर चले जाना। वयोवृद्ध श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में तुम्हारी क्या राय है? चन्द्रदेव तथा सूर्यदेव के साथ श्री 'हन्सबाबा' जिस प्रकार सुसज्जित रहते हैं, ये उस प्रकार नहीं हैं। अँधेरी रात में जब अग्निदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव तथा नक्षत्रसमूह निद्रित हो जाते हैं, उस समय तुम्हारे हृदय को कौन आलोकित करता है? मैंने तो यह आविष्कार किया है कि क्षुधा ही मेरे चैतन्य को जाग्रत रखती है! अहा, 'आलोक का ऐक्य' विषयक मतवाद कितना अपूर्व है! सोचो तो सही, इस मतवाद के अभाव में संसार युगों तक कितने अन्धकार में रहा होगा! जो कुछ ज्ञान, प्रेम तथा कर्म था एवं बुद्ध, कृष्ण, ईसा आदि जो भी आये थे, सब कुछ व्यर्थ ही था। उनके जीवन तथा कार्य एकदम निरर्थक हैं; क्योंकि रात्रि में जब सूर्य एवं चन्द्र अन्धकार में डूब जाते हैं तब कौन हृदय को आलोकित करता रहता है, इस तत्त्व

का आविष्कार उनसे न हो सका! कितनी मनमोहक चर्चा है—क्यों ठीक है न?

मैंने जिस शहर में जन्म लिया है, वहाँ पर यदि 'प्लेग' का प्रादुर्भाव हो तो उसके प्रतिकार के लिए मैंने आत्मोत्सर्ग करना निश्चित कर लिया है। जितने ज्योतिष्क आज तक प्रकट हुए हैं, उनके हेतु आत्माहुति देने की अपेक्षा मेरा यह उपाय निर्वाण प्राप्ति का श्रेष्ठतर उपाय है और ऐसे दृश्य भी अनेक हैं!

मद्रास के साथ अधिकाधिक पत्र-व्यवहार का फल यह हुआ है कि उनके लिए मुझे अभी कोई सहायता नहीं देनी होगी। प्रत्युत कलकत्ते से मैं एक पत्रिका प्रकाशित करूँगा। यदि तुम पत्रिका चालू करने में मेरी सहायता करो तो मैं तुम्हारा विशेष कृतज्ञ रहूँगा। सर्वदा की भाँति मेरा अनन्त स्नेह जानना।

सदा प्रभुपदाश्रित,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

अल्मोड़ा,
२० मई, १८९८

प्रिय नोवल,

...कर्तव्य का अन्त नहीं है; संसार भी नितान्त स्वार्थपर है।

तुम दुःखी न हो; न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गति तात गच्छति—शुभ कार्य करनेवाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
२० मई, १८९८

अभिन्नहृदय,

तुम्हारे पत्र से सब समाचार विदित हुए; तुम्हारे 'तार' का जवाब पहले ही दे चुका हूँ। निरंजन तथा शाह गोविन्दलाल काठगोदाम में योगेन-माँ के लिए प्रतीक्षा करेंगे। मेरे नैनीताल पहुँचने पर किसीका कहना न मानते हुए घोड़े पर सवार होकर बाबूराम यहाँ से नैनीताल पहुँचा एवं वहाँ से लौटने के दिन भी हमारे साथ घोड़े पर सवार होकर ही वह लौटा है। डण्डी पर चढ़कर आने के कारण मैं पीछे रह गया था। रात में जब मैं डाकबँगले पहुँचा, तब पता लगा कि बाबूराम

पुनः घोड़े से गिर गया था एवं उसके हाथ में चोट लगी है—यद्यपि हड्डी नहीं टूटी है। मेरे फटकारने के भय से वह देशी डाकबँगले में ठहरा है; क्योंकि उसके गिर जाने के कारण कुमारी मैक्लिऑड ने उसे अपनी डण्डी देकर और स्वयं घोड़े पर सवार होकर लौटी है। उस रात्रि में उससे मेरी भेंट नहीं हुई। दूसरे दिन जब मैं उसके लिए डण्डी की व्यवस्था कर रहा था, तब पता लगा कि वह पैदल ही चला गया है। तब से उसका और कोई समाचार नहीं मिला है। दो-एक जगह 'तार' दे चुका हूँ, किन्तु कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ है। सम्भवतः किसी गाँव में वह ठहरा होगा। यह अच्छी बात नहीं है! ऐसे लोग केवल परेशानी ही बढ़ाते हैं। योगेन-माँ के लिए डण्डी की व्यवस्था रहेगी; किन्तु और लोगों को पैदल चलना होगा।

मेरा स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा बहुत कुछ अच्छा है। किन्तु डिस्पेप्सिया (बदहजमी) अभी दूर नहीं हुआ है एवं नीद न आने की शिकायत भी दिखायी देने लगी है। यदि डिस्पेप्सिया की कोई लाभप्रद आयुर्वेदिक दवा तुम भेज सको तो अच्छा है।

वहाँ पर इस समय जो दो-एक 'केस' (रोग का आक्रमण) हो रहे हैं, उनकी उचित व्यवस्था के लिए सरकारी प्लेग-अस्तपाल में पर्याप्त स्थान है और प्रति मुहल्ले में अस्पताल खोलने की चर्चा चल रही है। इन बातों की ओर ध्यान रखकर जैसा उचित समझो व्यवस्था करना। किन्तु बाग़बाज़ार में कौन क्या कह रहा है, इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, उसे जनता का मत नहीं मान बैठना। . . .ज़रूरत के समय अभाव नहीं होना चाहिए, साथ ही धन का अपव्यय न हो—यह ख़्याल रखकर कार्य करना। बहुत सोच समझकर रघुवीर के नाम से रामलाल के लिए इस समय कोई जगह ख़रीद देना। परमाराध्या माता जी एवं उनके बाद रामलाल, फिर शिबू उनका उत्तराधिकारी सेवक बनेगा, अथवा तुम जैसा उचित समझो वैसी व्यवस्था करना। यदि इस समय मकान का कार्य प्रारम्भ करना तुम्हारी राय में ठीक प्रतीत हो तो शुरू कर देना। क्योंकि नये बने हुए मकान में नमी होने के कारण एक-दो माह तक न रहना ही उचित है। . . .दीवाल का कार्य पीछे होता रहेगा। पत्रिका के लिए अर्थ-संग्रह की चेष्टा हो रही है, १२००) रु० पत्रिका के लिए मैंने जो भेजे हैं, उनको उसी कार्य के लिए रख देना।

यहाँ पर और सब लोग सकुशल हैं। कल सदानन्द के पैर में मोच आ गयी। उसका कहना है कि शाम तक यह ठीक हो जायगी। इस बार अल्मोड़ा की जलवायु अत्यन्त सुन्दर है। साथ ही सेवियर ने जो बँगला लिया है, अल्मोड़ा में उसे उत्कृष्ट माना जाता है। दूसरी ओर चक्रवर्ती के साथ एनी बेसेण्ट एक छोटे बँगले में हैं।

चक्रवर्ती इस समय गगन (गाज़ीपुर) का जमाई है। मैं एक दिन मिलने गया था। एनी वेसेण्ट ने मुझसे अत्यन्त विनम्रता के साथ कहा कि मेरे सम्प्रदाय के साथ उनके सम्प्रदाय की संसार भर में सर्वत्र प्रीति बनी रहनी चाहिए। आज चाय पीने के लिए वेसेण्ट की यहाँ आने की बात है। हमारे साथ की महिलाएँ निकट ही एक दूसरे छोटे बँगले में हैं और वे कुशलपूर्वक हैं। केवल आज कुमारी मैक्लिऑड कुछ अस्वस्थ हो गयी है। हैरि सेवियर दिनोंदिन साधु बनता जा रहा है।...तुम हरिभाई का नमस्कार तथा सदानन्द, अजय एवं सुरेन्द्र का प्रणाम जानना। मेरा प्यार ग्रहण करना तथा सबसे कहना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—सुशील से मेरा प्यार कहना तथा कन्हाई इत्यादि सभी को मेरा प्यार।
वि०

(खेतड़ी के महाराज को लिखित)

अल्मोड़ा,
९ जून, १८९८

महाराज,

यह जानकर कि आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं—वहुत दुःख हुआ। आप वहुत शीघ्र ही ठीक हो जायँगे।

मैं अगले शनिवार काश्मीर के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ। मेरे पास आपके रेसिडेण्ट के नाम परिचय-पत्र है। लेकिन, अच्छा हो कि आप कृपया उन्हें एक पत्र लिख कर सूचित कर दें कि आपने मुझे परिचय-पत्र दिया है।

कृपया जगमोहन से कहें कि वह किशनगढ़ के दीवान साहव को उनके वचन की याद दिला दे। उन्होंने वादा किया था कि वे 'व्याससूत्र' का निम्बार्क भाष्य तथा अन्य भाष्य अपने पंडितों के द्वारा भेजेंगे।

प्रेम और मंगल कामनाओं के साथ,

आपका,
विवेकानन्द

पुनश्च—वेचारे गुडविन का देहान्त हो गया। जगमोहन उसे अच्छी तरह जानता है। यदि मिल सकें तो मुझे दो व्याघ्रचर्म चाहिए—मठ के यूरोपियन वन्धुओं के लिए। पश्चिमवासियों के निमित्त यह सवसे उपयुक्त उपहार है।

वि०

(मुहम्मद सरफ़राज़ हुसेन को लिखित)

अल्मोड़ा,
१० जून, १८९८

प्रिय मित्र,

आपका पत्र पढ़ कर मैं मुग्ध हो गया और मुझे यह जानकर अति आनन्द हुआ कि भगवान् चुपचाप हमारी मातृभूमि के लिए अभूतपूर्व चीज़ों की तैयारी कर रहे हैं।

चाहे हम उसे वेदान्त कहें या और किसी नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसीके दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य के प्रबुद्ध मानवी समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने इसकी सर्वप्रथम खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरबी और हिब्रू दोनों जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद का—जो समस्त मनुष्य-जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है, तथा उसीके अनुकूल आचरण करता है—विकास हिन्दुओं में सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी शेष है।

इसके विपरीत हमारा अनुभव यह है कि यदि किसी धर्म के अनुयायी व्यावहारिक जगत् के दैनिक कार्यों के क्षेत्र में, इस समानता को योग्य अंश में ला सके हैं तो वे इस्लाम और केवल इस्लाम के अनुयायी हैं—यद्यपि सामान्यतः जिस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे आचरण का अवलम्बन है, उसके गम्भीर अर्थ से वे अनभिज्ञ हैं, जिसे कि हिन्दू साधारणतः स्पष्ट रूप से समझते हैं।

इसलिए हमें दृढ़ विश्वास है कि वेदान्त के सिद्धान्त कितने ही उदार और विलक्षण क्यों न हों, परन्तु व्यावहारिक इस्लाम की सहायता के बिना, मनुष्य जाति के महान् जनसमूह के लिए वे मूल्यहीन हैं। हम मनुष्य जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं जहाँ न वेद है, न बाइबिल है, न क़ुरान; परन्तु वेद, बाइबिल और क़ुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य जाति को यह शिक्षा देनी चाहिए कि सब धर्म उस धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न-भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धर्मों में से अपना मनोनूकूल मार्ग चुन सकता है।

हमारी मातृभूमि के लिए इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य—हिन्दुत्व और इस्लाम—वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर—यही एक आशा है।

मैं अपने मानस-चक्षु से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और संघर्ष से तेजस्वी और अजेय रूप में वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा।

सर्वदा मेरी यही प्रार्थना है कि प्रभु आपको मनुष्य जाति की सहायता के लिए, विशेषतः हमारी अत्यन्त दरिद्र मातृभूमि के लिए, एक शक्तिसम्पन्न यंत्र बनावे।

भवदीय स्नेहबद्ध,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

काश्मीर,
३ जुलाई, १८९८

प्रिय स्टर्डी,

दोनों ही संस्करणों के लिए मैंने स्वीकृति दे दी है। हमने यही निश्चय किया था कि किसी के भी द्वारा मेरी पुस्तकों के प्रकाशन पर हमें आपत्ति न होगी। श्रीमती बुल इस संबंध में सब जानती हैं और वे तुम्हें पत्र लिख रही हैं।

हाल ही में कुमारी साउटर का एक सुन्दर पत्र मुझे मिला, वह सदा की भाँति ही सौहार्दपूर्ण है।

तुम्हारे, श्रीमती स्टर्डी एवं बच्चों के लिए प्यार के साथ,

सतत भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

अल्मोड़ा,
१७ जुलाई, १८९८

अभिन्नहृदय,

तुम्हारे पत्र से सब समाचार विदित हुए।...सारदा के बारे में तुमने जो लिखा है, उसमें मेरा कहना इतना ही है कि बंगभाषा में पत्रिका को आयप्रद बनाना कठिन है; किन्तु यदि सब मिलकर घर घर जाकर ग्राहक बनावें तो यह सम्भव हो सकता है। इस विषय में तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, करना। बेचारा सारदा एक बार विफल-मनोरथ हो चुका है। जो व्यक्ति इतना कार्यशील तथा स्वार्थशून्य है, उसकी सहायता के लिए यदि एक हज़ार रुपये पर पानी भी फिर जाय तो क्या कोई नुक़सान की बात है? 'राजयोग' के मुद्रण का क्या समाचार है? अन्तिम

उपाय के रूप में तुम इसका भार उपेन पर सौंप सकते हो––इस शर्त पर कि विक्रय के लाभ का कुछ अंश उसे प्राप्त हो सकता है। रुपये-पैसे के बारे में मैंने पहले जो कुछ लिखा है, उसे ही अन्तिम निर्णय समझना। अब लेन-देन के बारे में तुम स्वयं ही सोच समझकर कार्य करते रहना। मुझे यह साफ़ दिखायी दे रहा है कि मेरी कार्यप्रणाली ठीक नहीं है। तुम्हारी नीति ठीक है––दूसरों को सहायता देने के सम्बन्ध में––अर्थात् एकदम अधिकाधिक देने से लोग कृतज्ञ न बनकर उल्टा यह समझने लगते हैं कि अच्छा बेवक़ूफ़ फँसा है। दान के फलस्वरूप दान लेनेवालों में नैतिक पतन होता है, इस बात का कभी मुझे ख्याल भी नहीं था। दूसरी बात यह है कि जिस विशेष कार्य के लिए लोग दान देते हैं, उससे थोड़ा बहुत इधर उधर करने का अधिकार हमें नहीं है। काश्मीर के प्रधान न्यायाधीश श्री ऋषिवर मुकर्जी के पते पर भेजने से ही श्रीमती बुल को माला मिल जायगी। मित्र साहब तथा जज साहब इन लोगों को अच्छी तरह से देखभाल कर रहे हैं। काश्मीर में अभी तक हमें जमीन नहीं मिल सकी है––शीघ्र ही मिलने की आशा है। जाड़े की ऋतु में एक बार यहाँ रहने से ही तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो जायगा। यदि उत्तम मकान तथा पर्याप्त मात्रा में लकड़ी हो एवं साथ में गरम कपड़े रहें तो बर्फ़ के देश में आनन्द ही है, दुःख का नाम भी नहीं है। पेट की बीमारी के लिए ठण्डा देश रामबाण औषधि है। योगेन भाई को भी साथ लेते आना; क्योंकि यह पहाड़ी देश नहीं है, यहाँ की मिट्टी भी बंग देश जैसी है।

अल्मोड़ा से पत्रिका निकालने पर बहुत कुछ कार्य अग्रसर हो सकता है; क्योंकि इससे बेचारे सेवियर को भी एक कार्य मिल जायगा तथा अल्मोड़ा के लोगों को भी कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा। सबको उनके मन के अनुसार कार्य देना ही विशेष कुशलता की बात है। कलकत्ते में जैसे भी हो सके 'निवेदिता बालिका विद्यालय' को सुस्थापित करना ही होगा। मास्टर महाशय को काश्मीर लाना अभी बहुत दूर की बात है, क्योंकि यहाँ पर कॉलेज स्थापित होने में अभी बहुत देर है। किन्तु उन्होंने लिखा है कि उन्हें आचार्य बनाकर कलकत्ते में एक कॉलेज स्थापित करने की दिशा में एक हजार रुपये प्रारम्भिक व्यय से कार्य प्रारम्भ कर देना सम्भव हो सकता है। मैंने सुना है कि इसमें तुम लोग भी राजी हो। इस बारे में जैसा उचित समझो व्यवस्था करना। मेरा स्वास्थ्य ठीक है। रात में प्रायः उठना नहीं पड़ता है, यद्यपि सुबह-शाम भात, आलू, चीनी जो कुछ मिलता है, खा लेता हूँ। दवा किसी काम की नहीं है––ब्रह्मज्ञानी के शरीर पर दवा का कोई असर नहीं होता! वह हज़म हो जायगी––कोई डर की बात नहीं है।

महिलाएँ सब कुशलपूर्वक हैं और वे तुम लोगों को स्नेह ज्ञापन कर रही हैं।

शिवानन्दजी के दो पत्र आये हैं। उनके आस्ट्रेलियन शिष्य का भी एक पत्र मिला है। सुनता हूँ कि कलकत्ते में प्लेग बिल्कुल बन्द हो गया है। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

श्रीनगर,
१ अगस्त, १८९८

अभिन्नहृदय,

तुम्हारी समझ में सदा एक भ्रम है एवं दूसरों की प्रवल वुद्धि के दोप अथवा गुण से वह दूर नहीं हो पाता। वह यह है कि जब मैं हिसाव-किताव की वातें कहता हूँ, तव तुम यह समझने लगते हो कि तुम लोगों पर मेरा विश्वास नहीं है।...वात यह है कि इस समय तो कार्य चालू कर दिया गया; वाद में हमारे चले जाने पर कार्य जिससे चलता रहे एवं दिनोंदिन वढ़ता रहे, मैं दिन-रात उसी चिन्ता में मग्न रहता हूँ। चाहे हज़ार गुना तात्त्विक ज्ञान क्यों न रहे—प्रत्यक्ष रूप से किये विना कोई कार्य सीखा नहीं जाता। निर्वाचन एवं रुपये-पैसे के हिसाव की चर्चा करने को इसलिए मैं वार वार कहता हूँ कि जिससे और लोग भी कार्य करने के लिए तैयार रहें। एक की मृत्यु हो जाने से अन्य कोई व्यक्ति, दूसरा एक ही क्यों आवश्यकता पड़ने पर दस व्यक्ति, कार्य करने को प्रस्तुत रहे। दूसरी वात यह है कि कोई भी व्यक्ति तव तक अपनी पूरी शक्ति के साथ कार्य नहीं करता है, जव तक उसमें उसकी रुचि न पैदा की जाय; सभी को यह वतलाना उचित है कि कार्य तथा संपत्ति में प्रत्येक का ही हिस्सा है एवं कार्य-प्रणाली में अपना मत प्रकट करने का सभी को अधिकार है एवं अवसर रहते ही यह हो जाना चाहिए। एक के वाद एक प्रत्येक व्यक्ति को उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य देना, परन्तु हमेशा एक कड़ी नजर रखना जिससे आवश्यकता पड़ने पर तुम नियंत्रण कर सको; तव कहीं कार्य के लिए व्यक्ति का निर्माण हो सकता है। ऐसा यन्त्र खड़ा करो जो कि अपने आप चलता रहे, चाहे कोई मरे अथवा जीवित रहे। हमारे भारत का यह एक महान् दोप है कि हम कोई स्थायी संस्था नहीं वना सकते हैं और उसका कारण यह है कि दूसरों के साथ हम कभी अपने उत्तरदायित्व का वँटवारा नहीं करना चाहते और हमारे वाद क्या होगा—यह भी नहीं सोचते।

प्लेग के वारे में मैं सव कुछ लिख चुका हूँ। श्रीमती वुल एवं कुमारी मूलर आदि का यह मत है कि जव प्रत्येक मुहल्ले में अस्पताल स्थापित हो गया है, फिर रुपये व्यर्थ खर्च करना वांछनीय नहीं। सेवक आदि के रूप में हम लोग अपनी

सेवाएँ अर्पित करते हैं। जो पैसा देगा उसके आदेशानुसार वादक को धुनें बजानी पड़ती हैं।

काश्मीर के राजा साहब ज़मीन देने के लिए सहमत हैं। मैंने ज़मीन भी देख ली है। यदि प्रभु की इच्छा होगी तो अब दो-चार दिन में कार्य हो जायगा। अब की बार यहाँ पर एक छोटा सा मकान बनवाना है। जाते समय न्यायाधीश मुकर्जी की देख-रेख में छोड़ जाऊँगा। अथवा तुम यहाँ और किसीके साथ आकर जाड़े भर रह जाओ। स्वास्थ्य भी ठीक हो जायगा तथा एक कार्य भी सम्पन्न हो जायगा। प्रकाशनार्थ जो पैसे मैंने अलग कर रखे हैं वे तदर्थ समुचित हैं, परन्तु यह सब तुम्हारी इच्छा पर निर्भर करता है। इस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश, राजपूताना आदि स्थानों में निश्चित ही कुछ धन मिलेगा। ठीक है, कुछ लोगों को. . .इस प्रकार से रुपये देना। ये रुपये मठ से मैं क़र्ज़ ले रहा हूँ तथा तुमको ब्याज सहित चुका दूँगा।

मेरा स्वास्थ्य एक प्रकार से ठीक ही है। मकान का कार्य प्रारम्भ हो गया है—यह अच्छी बात है! सबसे मेरा प्यार कहना। इति।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

काश्मीर,
२५ अगस्त, १८९८

प्रिय मार्गट,

गत दो महीनों से मैं आलसी की तरह दिन बिता रहा हूँ। भगवान् की दुनिया में जिसे उज्ज्वल सौन्दर्य की पराकाष्ठा मानी जाती है, उसके अन्दर होकर प्रकृति के इस नैसर्गिक उद्यान में—जहाँ पृथ्वी, वायु, भूमि, तृण, गुल्मराजि, वृक्षश्रेणी पर्वतमालाएँ, हिमराशि एवं नरदेह के कम से कम बाहरी हिस्सों में भगवत्सौन्दर्य अभिव्यक्त हो रहा है—मनोहर झेलम के वक्षस्थल पर नाव में तैर रहा हूँ। वही मेरा मकान है; और मैं प्रायः काम से मुक्त हूँ—यहाँ तक कि लिखना-पढ़ना भी नहीं जैसा है; जब जैसा मिल रहा है, उसीसे उदरपूर्ति की जा रही है—मानो रिप वान-विंकल के साँचे में ढला हुआ जीवन है! . . .

कार्य के बोझ से अपने को समाप्त न कर डालना। उससे कोई लाभ होने का नहीं; सदा यह ख्याल रखना कि—'कर्तव्य मानो मध्याह्नकालीन सूर्य है—उसकी तीव्र किरणों से जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है।' साधना की ओर से उसका मूल्य अवश्य है—उससे अधिक अग्रसर होने पर वह एक दुःस्वप्न मात्र है। चाहे हम जागतिक कार्यों में हाथ बटावें अथवा नहीं, जगत् तो अपनी चाल से चलता ही

रहेगा। मोहान्धकार में केवल हम अपने को चकनाचूर कर डालते हैं। एक प्रकार की भ्रान्त धारणा निःस्वार्थ भाव का चेहरा लगाकर उपस्थित होती है; किन्तु सब प्रकार के अन्याय के सम्मुख नतमस्तक होकर अन्त में वह दूसरों का अनिष्ट ही करती है। अपने निःस्वार्थ भाव से दूसरों को स्वार्थी बनाने का हमारा कोई अधिकार नहीं है—क्या ऐसा अधिकार हमें प्राप्त है?

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

श्रीनगर, काश्मीर
२८ अगस्त, १८९८

प्रिय मेरी,

तुम्हें और पहले लिखने के लिए मुझे अवसर नहीं मिल सका, और यह जानकर कि तुम्हें पत्र पाने के लिए कोई विशेष जल्दी नहीं थी, मैं क्षमा-याचना भी नहीं करने जा रहा हूँ। मैंने सुना है कि कुमारी मैक्लिऑड द्वारा श्रीमती लेगेट को लिखित पत्र से तुम हमारे और काश्मीर के विषय में सारी बातें जान लेती हो। इसलिए व्यर्थ में लम्बी-चौड़ी बकवास करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

काश्मीर में हेनशोल्ड (Heinsholdt) के महात्माओं की खोज करना एकदम व्यर्थ है; और अभी तो यही निश्चित होना है कि ये सब बातें विश्वस्त सूत्र से प्राप्त हुई हैं या नहीं, अतः अभी यह प्रयत्न करना जल्दबाज़ी होगा। 'मदर चर्च' और 'फ़ादर पोप' कहाँ और कैसे हैं? तुम सब तरुण और वृद्ध महिलाओ, कैसी हो? एक व्यक्ति के साथ छोड़ देने के कारण अधिक उत्साह से काम कर रही हो या नहीं? फ़्लोरेन्स की एक मूर्ति सदृश प्रतीत होनेवाली उस महिला का क्या हाल है? (नाम भूल गया हूँ)। जब तुलनात्मक ढंग से सोचता हूँ, मैं सदा ही उसकी बाँहों की प्रशंसा करता हूँ।

कुछ दिन मैं बाहर रहा। अब मैं महिलाओं का साथ देने जा रहा हूँ। तब हमारी पार्टी, पहाड़ी के पीछे स्थित, कलकल ध्वनि करती एक धारा से युक्त जंगल में एक शांतिपूर्ण स्थान में बुद्ध की तरह पद्मासन लगा कर देवदारु तरुओं के नीचे गंभीर और दीर्घ ध्यानाभ्यास करने जायगी। यह क़रीब एक महीने तक चलेगा। तब तक हमारे पुण्य कर्म क्षीण हो गये होंगे और हम लोग इस स्वर्ग से पुनः पृथ्वी पर पतित होंगे। तत्पश्चात् कुछ महीने अपने अपने कर्म सम्पादित करेंगे और तब अपने बुरे कर्मों के भोग के लिए नरक

सदृश चीन देश को जाना पड़ेगा और हमारे दुष्कर्म कैण्टन तथा अन्य शहरों में हमें संसार के साथ दुर्गन्ध में डुबो देंगे। तत्पश्चात् जापान शोधन-स्थान बनेगा? और फिर एक बार संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वर्ग की प्राप्ति होगी। 'कुम्हड़ा स्वामी' के भाई 'भतुआ स्वामी' यही भविष्यवाणी करते हैं। वे अपने हाथों से बड़े दक्ष हैं। वास्तव में उनके हाथों की यह दक्षता कई बार उनको बड़ी विपत्ति में डाल चुकी है।

मैं तुमको कई सुन्दर वस्तुएँ भेजना चाहता था, लेकिन खेद है कि चुंगी का ध्यान आते ही 'स्त्री के यौवन एवं याचक के स्वप्न' की तरह मेरी इच्छाएँ भग्न हो जाती हैं।

हाँ, तो अब मैं खुश हूँ कि धीरे धीरे मेरे बाल सफ़ेद होते जा रहे हैं। अगली बार जब तुमसे मेरी भेंट होगी, मेरा सिर पूर्ण रूप से विकसित श्वेत कमल की भाँति हो जायगा।

आह मेरी, काश, तुम काश्मीर देख सकतीं—केवल काश्मीर; कमल एवं हंसखचित अद्भुत सरोवर (वहाँ हंस नहीं, बतखें हैं—कवि का स्वच्छन्द प्रयोग)। एवं वायुचालित कमलों पर बैठने के लिए बड़े काले भौंरों का प्रयास (यहाँ कमल मानों भौंरों को चुम्बन देने से इन्कार कर रहे हैं—कविता), तब तुम अपनी मृत्यु-शय्या पर शांति प्राप्त कर सकती हो। चूँकि यह एक भू-स्वर्ग है और चूँकि बुद्धिमत्ता की बात है, नौ नगद न तेरह उधार, इसलिए इसकी एक झांकी पा लेना अधिक बुद्धिमानी है; किन्तु आर्थिक दृष्टि से दूसरा (स्वर्ग) इससे अधिक अच्छा है; कोई झंझट नहीं, कोई श्रम नहीं, कोई व्यय नहीं, गुड़िया की तरह एक क्षुद्र चंचल जीवन, और सब की इतिश्री।

मेरा पत्र 'बोर' होता जा रहा है. . .अतः लिखना बंद करता हूँ (यह मात्र आलस्य है)। शुभ रात्रि।

सदैव मेरा पता यह है :

मठ, बेलूड़, जिला, हावड़ा, बंगाल, भारत।

भगवत्पदाश्रित,

विवेकानन्द

अनुक्रमणिका

42490